समास
19

यहाँ से काटिए

समास की सदस्यता ग्रहण करें

सम्पादक
समास
नयी दिल्ली

प्रिय महोदय,
समास के एक वर्ष (४ अंक+डाक व्यय) ३४०/- तीन वर्ष (१२ अंक) १०००/- पाँच वर्ष (२० अंक) १६००/- रुपये का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ। या यह धनराशि 'समास' के खाते (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया खाता क्रमांक-६५१६७३२८५०७, आई.एफ.एस.सी.SBIN0050203) में जमा करवाकर नीचे लिखे ईमेल पर सूचित कर दें।
(अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के ४०/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....
ईमेल : .....

(चेक/ड्राफ्ट- समास के नाम पर बनाएँ जो नयी दिल्ली में देय हो और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें)

प्रबन्धक - संजीव चौबे
रज़ा फाउण्डेशन, सी-4
139, सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
ईमेल - <ms.razafoundation@gmail.com>
टेलीफ़ोन : 9425674851, 9810166953, 011-46526269/67

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/8 ब्रिटिश पाउण्ड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 पाउण्ड

समास

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

द रज़ा फाउण्डेशन |THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 2019
वर्ष-७, अंक-१९

त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी,
द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३९ सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-110016
फ़ोन- +91–11–46526269
सम्पादक : उदयन वाजपेयी

सम्पादन सहयोग : **संगीता गुन्देचा**
आवरण : **शिवदत्त शुक्ला** की परिकल्पना

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ 90/45 तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन : +91-755-2556940, +91-9753882343
ईमेल - <udayanvajpeyi@gmail.com>

विक्रय सम्बन्धी पत्र व्यवहार : **संजीव चौबे**, फ़ोनः +91-9810166953
E-mail: msrazafoundation@gmail.com

Samas, A literary Quarterly Magazine
Editor : Udayan Vajpeyi
Language : Hindi

Published by : Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation,
C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016

मूल्य : 80 रुपये

कम्पोज़िंग : **मनोज कुमार डेकाटे**
मुद्रण : **भण्डारी ऑफ़सेट**, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

समास - १६

सम्पादकीय

बातचीत

आधुनिक भारत की निर्मिति पर न्यायशास्त्रीय दृष्टि ०१

प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय से उदयन वाजपेयी की बातचीत

कविताएँ

सबा - कुमार शहानी ६६

हे कवि - अनुराधा महापात्र ७०

कलि का छला कवि - शिरीष ढोबले ८१

टूट बटूट - सूफ़ी तबस्सुम (भूमिका- शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी) ६५

तट पर धुन - अरूण देव १०६

कविताएँ - मनोज कुमार झा ११६

कीता करूईज़ावा की डायरी - शुन्तारो तानीकावा १२४

निबन्ध

कविता का सत्य - अशोक वाजपेयी १३१

अनेकधा भक्ति - वागीश शुक्ल १४२

कभी न चुकाये जा सकने वाले ऋण - शशिकान्त अनन्ताचारी १५४

नृत्यालोचना के सन्दर्भ में प्राश्निक की भूमिका - चेतना ज्योतिषी ब्योहार १७६

रसख़ान - योगेश प्रताप शेखर १८३

बूझती अंगुलियाँ २ - जगदीश स्वामीनाथन १६४

गाँधी और उनके हत्यारे - जेम्स डब्ल्यू. डॅगलस २३४

कैच-२२ एक कालजयी रचना - विकास कपूर ३२७

कहानियाँ और उपन्यास अंश

अलफतिया - ध्रुव शुक्ल ३३८

तिस्तापार का वृत्तान्त - देवेश राय ३५८

समीक्षा

अब ? - गिरधर राठी ३९५

'नक्षत्रहीन समय में' कवि का होना - रघुवीर चौधरी ४००

भीतर के अँधेरे की कलात्मक माँग - मिथिलेशशरण चौबे ४०७

लिखने के ढंग में लेखन का रहस्य - मिथिलेशशरण चौबे ४१२

लेखक परिचय ४१७

सम्पादकीय

कई वर्ष पहले की बात है, मैंने एक कहानी सुनी थी। एक बार एक हिन्दी लेखक जो लिखना शुरू ही कर रहे थे, अपने गुरू से बोले कि चूँकि वे केवल लेखन ही कर सकते हैं इसलिए वे अपनी पढ़ाई छोड़ देते हैं। वे युवा थे और किसी ऐसे महाविद्यालय में पढ़ते थे जिसमें साहित्य की पढ़ाई नहीं होती थी। उनका साहित्य और अन्य कलाओं, दर्शन आदि के अलावा कुछ और पढ़ने का मन नहीं होता था और वे यह सोच रहे थे कि अगर उनके गुरू इज़ाजत दे देंगे, वे अपनी यह पढ़ाई छोड़ देंगे और अपना पूरा समय साहित्य आदि के अध्ययन में ही व्यय करेंगे। गुरू ने उनकी बात को ध्यान से सुना और कुछ देर बाद बोले, 'आप केवल लिखना चाहते हैं क्योंकि आप अपने भीतर उसी की चाहना अनुभव करते हैं, यह अच्छी बात है। एक तरह से आपको वह पता लग गया है जो अनेकों को जीवनभर नहीं लग पाता। आप यह जान गये हैं कि आपका स्वाभाविक धर्म क्या है। पर आधुनिक समय में इतने भर से बात बनती नहीं है। संयोग से या शायद सायास इस समय को इस तरह गढ़ा गया है कि साहित्य, कलाएँ और चिन्तन की तमाम पद्धतियाँ व्यापक सामाजिक उपक्रमों में अर्थहीन होती चली जा रही हैं। समाज को यह अहसास होना लगभग बन्द हो गया है कि साहित्य और कलाएँ उसके लोकतान्त्रिक जीवन के लिए अनिवार्य है। आधुनिक समाज यह लगभग भूल गया है कि साहित्य और कलाओं में न सिर्फ़ आपको सौन्दर्य का अनुभव होता है, वह अनुभव फैलकर आपके रोज़मर्रा जीवन में भी आ जाता है पर साथ ही यह इनकी ही बरकत है कि समाज के सभी सदस्य अपनी अद्वितीयता या एकवचनात्मकता को अनुभव कर पाते हैं। समाज की इस विस्मृति का परिणाम यह हुआ है कि लेखकों को अपने श्रेष्ठ लेखन के बावजूद जीविकोपार्जन के लिए कोई और काम-धन्धा करना ही पड़ता है। अगर आप अपना यह विशेष अध्ययन छोड़कर केवल लेखन करना चाहेंगे, आपको अपने जीविकोपार्जन के लिए या तो हिन्दी विभाग में अध्यापन करना होगा (वह केवल तभी मुमकिन होगा जब आप वहाँ स्नातकोत्तर अध्ययन के उपरान्त शोध प्रबन्ध आदि लिखकर एक और ऊँची डिग्री पा सकेंगे) या आप मजबूरन पत्रकारिता करेंगे। इन दोनों ही जगहों पर आपके लेखन के कमज़ोर हो जाने के खतरे बने रहेंगे।'

युवक को अपने उस्ताद के इस कथन पर भरोसा नहीं हुआ बल्कि यह कहना चाहिए कि वह उसमें अन्तर्निहित अभिप्रायों को समझ नहीं सका। वह कुछ देर सोचता रहा, फिर उससे न रहा गया। उसने उस्ताद से पूछ ही लिया, 'हिन्दी का अध्यापन या उसकी पत्रकारिता करने में हर्ज़ ही क्या है?' उसके उस्ताद एक जाने माने अपूर्व लेखक थे जिनसे वह युवा लेखक बेहद मुतास्सिर था। उस्ताद को पहले तो आश्चर्य हुआ क्योंकि वे

सोचते थे कि इन दोनों ही ग़लत विकल्पों के दोषों को वह युवक खुद समझ लेगा। वे उन लेखकों में नहीं थे जिन्हें हर बात देर तक समझाने की आदत होती है। वे बोले, 'अगर आप हिन्दी विभाग में पढ़ाने लगते हैं, आप जब भी कबीर की कविताएँ पढ़ेंगे, आप यह भूल नहीं पायेंगे कि आप किसी भक्तिकालीन कवि की कविताएँ पढ़ रहे हैं। कबीर की कविता तब बहुत हद तक भक्तिकालीन कविता का उदाहरण बनकर रह जा सकती है। आप हमेशा ही उनकी तुलना अन्य भक्ति कवियों से करते रहेंगे और इस तरह कबीर के काव्य की अद्वितीयता पर सीधे-सीधे पहुँचने या उन्हें एक अत्यन्त व्यापक, सर्जनात्मक सन्दर्भ में रखकर देखने की जगह, उसे एक तयशुदा, जड़ीभूत सन्दर्भ में रखकर पढ़ने को बाध्य हो जायेंगे। इस तरह आप सभी कविताओं को उनके जड़ीभूत तयशुदा सन्दर्भों में रखकर ही पढ़ सकेंगे और ऐसा करने पर आप ज़्यादातर किसी भी कवि का अपपाठ करेंगे। यह सम्भव है कि इस तरह आप साहित्य से घिरे रहकर भी उसके आस्वादन करने के अयोग्य हो जाएँ। यह इसलिए कहा जा रहा है कि ऐसा होते बार-बार देखा गया है।

'आपके लिए पत्रकारिता इसलिए उपयुक्त नहीं है कि उसमें आप अपनी भाषा को एक तरह का कर देंगे। इसमें शक नहीं कि पत्रकारिता आधुनिक समय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है या निभा सकती है। और पत्रकार इस समय राज और समाज के बीच उत्पन्न हो गये अन्तराल को पार कर समाज की बात राज तक पहुँचाने का एक नितान्त महत्वपूर्ण कर्त्तव्य निभा सकता है। वह राजकीय सदस्यों के न्यायबोध को जागृत करने का प्रयास करता है। पर इसके लिए उसे एक ख़ास तरह की भाषा भी विकसित करना होती है। यह भाषा अत्यन्त सपाट और तथ्यपूर्ण होती है। पत्रकारिता में रूपकात्मक भाषा का स्थान केन्द्रीय नहीं होता। वह धीरे-धीरे सपाट होती जाने को अभिशप्त है। इस प्रक्रिया का भी आपके लेखन पर गहरा असर पड़ेगा अगर आप पत्रकारिता को अपने जीविकोपार्जन का साधन बनाते हैं।' यह सुनकर युवक चुप हो गया।

यह क़िस्सा जब-जब भी मेरे दिमाग में आता है, मैं सोच में पड़ जाता हूँ पर साथ ही यह पाता हूँ कि हिन्दी लेखन में हाथ अजमाने निकले उस युवक को कितनी बढ़िया सलाह दी गयी थी। अगर हम अपने विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का सर्वेक्षण करके यह पता करने का प्रयास करें कि इनमें काम करते और इनसे पढ़कर निकले कितने लोग साहित्य के गहरे आस्वादक हो सके हैं, हमें गहरी निराशा हाथ लगेगी। हिन्दी पत्रकारिता में कुछ अपवाद छोड़कर अधिकांश पत्रकार लेखक साधारण लेखन ही कर सके हैं। इससे यही साबित हो सकेगा कि ये अपवाद उस नियम को ही पुष्ट करते हैं जो उस युवक को बताने की उसके उस्ताद कोशिश कर रहे थे।

५ नवम्बर, २०१६

उदयन वाजपेयी

आधुनिक भारत की निर्मिति पर न्यायशास्त्रीय दृष्टि

प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय से उदयन वाजपेयी की बातचीत

प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय का नाम पहली बार मैंने अपने मित्र और भारत के श्रेष्ठ दार्शनिकों में एक नवज्योति सिंह से सुना था। उन्होंने मुझे यह भी बताया था कि श्री मुखोपाध्याय न्यायशास्त्र के अद्वितीय दार्शनिक है और यह कि वे तरह-तरह के विचार-सम्पन्न बौद्धिकों से संवाद में रुचि लेते हैं। नवज्योति प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय को 'मुखोपाध्याय जी' कहकर बुलाते थे। बाद में मैं भी उन्हें इसी नाम से सम्बोधित करने लगा। मुखोपाध्याय जी लम्बे समय तक कोलकाता के जाधवपुर विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के आचार्य (प्रोफ़ेसर) रहने के बाद सेवानिवृत्त होकर इन दिनों बनारस में रहते हैं। कुछ बरस पहले नवज्योति सिंह की प्रेरणा और प्रयासों से भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, बनारस में नाट्यशास्त्र पर कार्यशाला आयोजित हुई थी। मैंने उसी कार्यशाला में लगातार पाँच दिनों तक मुखोपाध्याय जी से न्यायशास्त्रीय दृष्टि से कला के दर्शन को विकसित होते सुना था। यह मेरी उनसे पहली मुलाकात थी। वे हर सुबह तेज़ी से चलते हुए आते और एक घण्टे या उससे कुछ अधिक कला के दर्शन पर अपना व्याख्यान देते, उससे उठते प्रश्नों का पूरी स्पष्टता से जवाब देते और फिर उठकर श्रोताओं के बीच आ बैठते जहाँ वे बचे हुए व्याख्यानों को उसी ध्यान से सुनते जैसे वहाँ उपस्थित अन्य श्रोता सुनते थे। उस कार्यशाला के बाद एक बार उनसे भेंट दिल्ली में नवज्योति के साथ हुई थी। नवज्योति के कैंसर से बचने की उम्मीद कम हो चली थी और अस्सी वर्षीय मुखोपाध्याय जी अपने अपेक्षाकृत युवा दार्शनिक मित्र और सहयात्री से आखिरी बार मिलने आये थे। नवज्योति सिंह की मृत्यु के बाद मुझे मुखोपाध्याय जी से मिलने की बहुत अधिक उत्सुकता हुई। उन्होंने 'इण्डियन रियलिज़्मः ए रिगरस डेस्क्रिप्टिव मेटाफ़िज़िक्स' आदि अनेक किताबें अँग्रेज़ी और बंगाली में लिखी हैं और उनके आलेख विभिन्न दार्शनिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। मुखोपाध्याय जी बनारस में रहते हैं, यह मैं जानता था। बनारस अलग-अलग अवसरों पर मैं जाता रहा हूँ। शायद तीसरी बार की बनारस यात्रा में मुखोपाध्याय जी से मिलने उनके घर जा सका। उनका घर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से कुछ दूर एक प्रसिद्ध चौराहे के पास है। वे पहली मंज़िल पर एक छोटे-से घर में रहते हैं जिसमें शाम होने पर कुछ देर तक पास के चौराहे की आवाज़ें धीरे-धीरे आती रहती हैं। वे हमेशा बेहद साफ़ और सफ़ेद कुर्त्ता-धोती पहनते हैं और उनके चेहरे पर चमक बनी रहती है। यह बातचीत उनके घर में ही हुई। जब मैं इस बातचीत के लिए तीन-चार दिनों तक उनके घर जाता था, मेरे साथ विश्वविद्यालय के मेरे दो मित्र, प्रोफ़ेसर राजकुमार और प्रोफ़ेसर संजय कुमार और एक छात्र भी पूरी जिज्ञासा से साथ आते थे। बातचीत के दौरान उनसे पढ़ रहा एक बालक भी इसे सुनता रहा। उसने भी बीच में एकाध प्रश्न पूछा, जिसका बहुत सीधा सम्बन्ध हमारी बातचीत से नहीं था लेकिन तब भी मुखोपाध्याय जी ने पूरे धीरज के साथ उसका जवाब दिया और फिर हमारी बातचीत को आगे बढ़ाने लगे। मुझे याद है, पहले दिन की बातचीत के चलने के समय भीतर के कमरे में पण्डित भीमसेन जोशी का राग मालवा का रिकार्ड बजता रहा था।

उदयन– आपने रामकृष्ण परमहंस के विषय में सोचा है और उन्हें विवेकानन्द से अलगाने का दार्शनिक प्रयास भी किया है...

मुखोपाध्याय– हमारी समस्या यह है कि हम रामकृष्ण को विवेकानन्द के माध्यम से जानने का प्रयास करते हैं। इस कारण हमारी धारणाएँ बिगड़ जाती हैं। विवेकानन्द रामकृष्ण के शिष्य होने के लिए बने ही नहीं थे। उन्होंने अपना कार्य-व्यापार अपने गुरू को नकारकर ही शुरू किया था। मेरे पास इसके कुछ तर्क हैं। भारतीय संस्कृति में खुद को अदृश्य रखना एक बड़ा मूल्य है, पश्चिमी संस्कृति में इससे ठीक विपरीत खुद को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना। यह इन दोनों संस्कृतियों का बुनियादी अन्तर है।

रामकृष्ण ने एक अवसर पर खुद से पूछा था कि महान व्यक्ति कौन है। फिर उन्होंने उसका उदाहरण दियाः महान व्यक्ति दीवार में छेद की तरह होता है। इस छेद से व्यापक संस्कृति के दर्शन होते हैं, स्वयं व्यक्ति के नहीं। विवेकानन्द ने अपने लेखन और काम में इस सुन्दर रूपक पर कभी ध्यान नहीं दिया। इससे ठीक उल्टा किया। वे अपने को संन्यासी या भिक्षु की तरह प्रस्तुत करने बहुत उत्सुक रहते थे, उसी तरह के कपड़े पहनते थे, खूबसूरत और प्रभावशाली पोशाक से खुद को विभूषित करते थे। अपने को आगे बढ़कर प्रस्तुत किया करते थे। विवेकानन्द पर ध्यान देने से कोई भी चूक नहीं सकता था। लेकिन रामकृष्ण पर ध्यान न जाना स्वभाविक था। मेरे कहने का आशय विवेकानन्द का किसी भी तरह का असम्मान नहीं है बल्कि उनकी अपनी संस्कृति और देश के प्रति निष्ठा है। वह निष्ठा सर्वोपरि है, फिर मैं भले ही विवेकानन्द के बारे में सोच रहा होऊँ या रामकृष्ण, गाँधी या रबीन्द्रनाथ के बारे में। अगर मैं उनके माध्यम से अपने देश को बेहतर या भव्यतर नहीं देख सकता, उनका मेरे लिए मूल्य नहीं है। यह मेरा मत है और अपनी संस्कृति की मेरी अपनी समझ इसका आधार है। रामकृष्ण दरअसल यह कह रहे हैं कि महान व्यक्ति वह है जो आपकी दृष्टि को बाधित करने के स्थान पर उसे बेहतर लक्ष्य तक पहुँचाने में मदद करे। दीवार आपकी दृष्टि को बाधित करने बनायी जाती है, आपको उसके दूसरी ओर का कुछ दिखायी नहीं देता। रामकृष्ण का कहना यह था कि महान गुरू या व्यक्ति आपकी दृष्टि को बाधित या सीमित न करे बल्कि वह उसे अपने आर-पार जाने दे और कुछ अधिक व्यापक देख सकने की सम्भावना को उद्घाटित करे। रामकृष्ण खुद को दिखाना नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि उनसे मिलने आये व्यक्ति को कहीं अधिक व्यापक यथार्थ के दर्शन हों, जो उनके परे है। ये दो ढंग हैं। एक ढंग खुद बोलने का है और लोगों की दृष्टि को इस तरह बाधित करना का कि वे कहीं अधिक समृद्ध, अधिक दूरस्थ, अधिक व्यापक वास्तविकता न देख सकें। मुझे यह ढंग आधुनिक मानस का लक्षण लगता है। आधुनिकता को दो चीज़ों ने आक्रान्त कर रखा है। पहला व्यक्तिवाद (इण्डिविजुअलिज़्म) और दूसरा मौलिकता। ज़्यादातर मौलिकता का यह दावा अज्ञान आधारित होता है। हमारी अधिकांश मौलिकता का अर्थ इतना भर है कि हमें यह पता नहीं रहता कि हमारी मौलिक बात कोई और कह चुका है।

उदयन– आधुनिक मनुष्य कई बार शायद बार-बार पहिये का आविष्कार करता रहता है, विशेषकर भारत का आधुनिक।

मुखोपाध्याय– वह सारे समय व्यक्तिवाद, व्यक्तिवाद रटता रहता है। हमारी प्रवृत्ति इससे अलग है। वह अपने को ग़ायब करने की है। इसीलिए अगर मैं किसी से बातचीत करता हूँ तो मुझे यह सोचना चाहिए कि मैं ऐसा क्यों करूँ। क्या मैं उसे कुछ भी दे सकता हूँ? मेरा मूल्य इसी बात में है कि मैं किन्हीं मूल्यों का वाहक हूँ। मेरा व्यापक अर्थ वे सांस्कृतिक मूल्य हैं।

उदयन– जिनमें दार्शनिक मूल्य भी शामिल ही हैं। आप कह रहे हैं कि बात करते हुए अपने को आरोपित करने के स्थान पर एक विशेष तरह का दीवार में छेद बनूँ जिससे मुझसे बात करने वाला व्यक्ति उस मूल्य सम्पदा के दर्शन कर सके, या उन्हें अनुभव कर सके, जो मुझसे होकर प्रकट हो रहे हैं।

मुखोपाध्याय– कुछ समय पहले एक भारतीय लेखक* बनारस में कई लोगों से बात कर रहे थे। उनसे किसी ने मेरा ज़िक्र किया और वे मेरे पास दो-तीन बार आये। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि वे मुझे जानना चाहते हैं। मैंने उनसे पूछा कि इस 'मुझे' का क्या अर्थ है। आप यह सूचना दर्ज़ कर लें कि मैं पाँच फुट, गौर वर्ण आदि का हूँ और लौट जाएँ। वर्ना आप यह परिभाषित करें कि आपका मेरे विषय में 'मुझ' कहने का क्या आशय है? अन्ततः उन्होंने कुछ तार्किक बात छेड़ी और बातचीत होती रही। जब वे दूसरी बार आये तो मैंने उनसे कुछ कहा और उन्होंने अपनी नोटबुक बन्द कर ली और कहा कि इतना बहुत है। अब मैं कुछ और नहीं पूछूँगा, इसी पर विचार करूँगा। मैंने उनसे कहा था कि आप भारत को एक विषय के रूप में समझना चाहते हैं और आपने भारतीय समझ और विचार के आधार पर कुछ नहीं सोचा। मैं उनसे यह कहना चाहता थाः मैं यह सोचता हूँ कि मेरे अस्तित्व, शिक्षा और जीवन का मूल्य इस बात पर निर्भर है कि मैंने उन शाश्वत मूल्यों को किसी हद तक अन्तस्थ किया है और उन पर विचार किया है, जो भारतीय संस्कृति में बद्धमूल हैं। दूसरे शब्दों में हम भारत की समझ और विचार के बारे में क्या समझते और सोचते हैं, यह हमारे जीवन से प्रकट होना चाहिए। पर इसमें एक जोखिम है, हो सकता है, हमारी समझ ग़लत हो इसीलिए उसमें मेरी समझ की ईमानदार अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वह ग़लत ही क्यूँ न हो। मैं उदाहरण देता हूँ। नवज्योति सिंह के बौद्धिक विकास के दूसरे चरण में हम कुछ लोगों, विशेषकर मुझे और एम.डी. श्रीनिवास को उन्होंने भारतीय विज्ञान के सैद्धान्तिक और पद्धतिमूलक आधारों पर विचार करने को प्रेरित किया। यह एक व्यापक परियोजना थी, जिसके चौदह भाग थे, जिनमें से दो भाग नव्य न्याय और व्याकरण थे। वह परियोजना वित्तीय सहयोग के लिए डी.एस.टी. (विज्ञान और तकनीकी विभाग) के समक्ष प्रस्तुत की

---

* श्री मुखोपाध्याय यहाँ अँग्रेज़ी के लेखक आतिश ताहीर का ज़िक्र कर रहे है। आतिश ने नयी किताब 'द ट्वाइस बॉर्न' (२०१८) में इस मुलाकात का विवरण दिया है।

गयी। हमसे वैज्ञानिकों ने इसके लिए गहरायी से बातचीत भी की थी। मैं वहाँ था, हमने उन वैज्ञानिकों को विश्वास में ले लिया था। वह ऐसी पहली परियोजना थी जिसे करने में नवज्योति में साहस और हमें पूरा भरोसा था। हम यह मानते थे कि नव्य न्याय और व्याकरण को सम्मिलित कर बनी इस परियोजना का डी.एस.टी. को सहयोग करना चाहिए। उसके चौदह भागों में से इन दो को कलकत्ते में किया जाना था। हमने यह विचार किया था कि हमारी परियोजना का परिप्रेक्ष्य क्या होना चाहिए, हमारी दृष्टि क्या होनी चाहिए। हम उसके लिए बहुत समय तक ठीक शब्द ढूँढ़ते रहे, अन्ततः हम जिस पर पहुँचे वह था, 'प्रस्थान मीमांसा'। इसे हम कई बार अँग्रेज़ी में 'मॉडर्न ट्रेडिशनलिस्ट' कहते थे। नवज्योति ने भी आपके साथ प्रकाशित हुई बातचीत के दौरान उस बारे में एक जगह कहा है। उस मूल्य के बारे में शायद कोई नहीं जानता और मैं आज भी यह मानता हूँ कि उस वैचारिक दृष्टि को मानने वाले केवल दो लोग थे, एक नवज्योति और दूसरा मैं। अब केवल मैं बचा हूँ, मेरे जाने के बाद कोई नहीं होगा। लेकिन दरअसल ऐसा है नहीं। यह सशक्त विचार है जिसमें यह अपेक्षा है कि हमारी जड़ें अपनी संस्कृति में होनी चाहिए और उसके बाद ही हमें विचार-विमर्श करना चाहिए। जितना सम्भव हो सके, उतना स्वतन्त्र ढंग से विचार करना चाहिए, जितना आलोचनात्मक और खुले रूप में हो सके उतना लेकिन तब भी उसकी जड़ें अपनी सांस्कृतिक अन्तश्चेतना में होनी चाहिए। एक ओर हमारी जड़ें अपनी संस्कृति में होना चाहिए, दूसरी ओर हममें उसके प्रति निष्ठा होना चाहिए। निष्ठा इस तरह आएगी कि हम अपने प्रयासों से लोगों को यह बताने की कोशिश कर सकें कि ये हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति है, हम भले ही इन प्रयासों में विफल हो जाएँ। मैं यह कहता भी हूँ कि हमारी संस्कृति और हमारा समाज खुली बहस का समाज है। यह यहाँ के लोगों का मूलभूत विचार रहा है। इस खुलेपन का अर्थ 'फ्रीलांस' विचार नहीं है। 'फ्रीलांस' विचार नौसिखियों के लिए उचित होंगे, हमारे लिए नहीं। हम इस विषय में यह वर्गीकरण करते हैंः एक है शास्त्रीय विचार और दूसरा उपशास्त्रीय विचार। लोग शास्त्रीय शब्द को ग़लत समझते हैं। वे सोचते हैं कि शास्त्रीय विचार का अर्थ परम्परा का अन्धानुकरण है। यह सच नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या आप अपने काम से कुछ हासिल करना चाहते हैं। क्या मैं अपने काम से आत्ममहिमा पाना चाहता हूँ, यह भारतीय संस्कृति के लिए सिरे से अस्वीकार्य है। दरअसल, मैं अपने काम से अपनी संस्कृति को बेहतर ढंग से समझने का प्रयास करता हूँ और इस तरह उसमें योगदान करता हूँ।

उदयन- क्या आप सोचते हैं कि नवज्योति सिंह यही कर रहे थे?

मुखोपाध्याय- नवज्योति ने इसे बहुत गहरायी से समझ लिया था। यह एक ऐसा देश प्रेम है, जिसे हम अनेक स्रोतों से आमन्त्रित करते हैं। नवज्योति एक बात कहते थेः 'उऋण'। हमें यूरोप का ऋण चुकाना है। उससे हमें 'उऋण' होना है। यूरोप से हमने बहुत कुछ लिया है, ओरिएण्टलिस्टों का यह कहना ग़लत है कि यूरोप ने यह सब हम पर थोपा है। हमने उनसे तमाम चीज़ें ली हैं। नवज्योति ठीक

कह रहे थे, यही हुआ है। जब एक बार वे यह कह चुके, हमें लगा कि इसमें ग़लत क्या है। ग़लत यह होगा कि हम हमेशा के लिए ऋणी बने रहें। हमें उसे लौटना है। उऋण होने का यह विचार गाँधी में था, के.सी. भट्टाचार्य में था और हम इन सबको 'मॉडर्न ट्रेडिशनलिस्ट' मानते हैं। वे बाकी संसार के बारे में सजग थे, उन्हें पता था, समकालीन परिप्रेक्ष्य में यूरोप में क्या हो रहा है, लेकिन उन्होंने काम के स्वरूप पर से नज़रें नहीं हटायीं। मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ, टैगोर, गाँधी और विवेकानन्द लगभग समकालीन ही हैं। कई कारणों से मैं महात्मा गाँधी का आलोचक भी हूँ लेकिन एक बात निर्विवाद है कि मेरी दृष्टि में केवल गाँधी राष्ट्रीय दृष्टि से सोचते हैं, बाकी सब अन्तर्राष्ट्रीयवादी हैं। वे रबीन्द्रनाथ हों या विवेकानन्द, ये दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीयवादी हैं। गाँधी निष्ठावान राष्ट्रीय थे। जब रोमां रोलां ने उन्हें यूरोप आकर अपना सन्देश वहाँ फैलाने का न्यौता दिया, गाँधी ने इंकार करते हुए कहा कि मेरा काम भारत में है। अगर मैं यहाँ सफल होता हूँ, मैं वहाँ आने पर विचार करूँगा।

उदयन– क्या आपको इस तरह का देशप्रेम और किसी व्यक्ति में नहीं दीखता?

मुखोपाध्याय– मैं इसे किसी और में नहीं पाता। गाँधी इस विषय में स्पष्ट विचार रखते थे। इसकी तुलना आप रबीन्द्रनाथ से करिये। उनके लिए राष्ट्रवाद गन्दा शब्द था। वे राष्ट्रवाद के इतना खिलाफ़ थे कि वे जापान के कटु आलोचक और विरोधी थे। जापान का केवल इतना दोष था कि वह राष्ट्रवादी देश था। रबीन्द्रनाथ सोचते थे कि जापान का राष्ट्रवाद उन्हें एकबार फिर चीन बल्कि भारत तक पर आक्रमण करने को प्रेरित कर सकता है। चूँकि उनका राष्ट्रवाद का यह विचार था, वे अन्तर्राष्ट्रीयवादी हुए। यह ज़रूर है कि जापान के विषय में उनके विचार आकाकुरा काकूजो के भारत आते ही बदल गये। मेरी दृष्टि में राष्ट्रवाद का आशय अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठा है। यह मेरे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण मूल्य है।

उदयन– क्या आप राष्ट्रवाद के अपने विचार का कुछ विस्तार कर सकते हैं? इन दिनों इस प्रत्यय के बारे में कई तरह के विचार व्यक्त किये जा रहे हैं। कई विचारक इस पर अलग-अलग तरह से विचार कर रहे हैं। इसलिए यह महत्वपूर्ण होगा कि राष्ट्रवाद के बारे में आपके विचारों में किसी हद तक स्पष्टता हो?

मुखोपाध्याय– इन दिनों हम राष्ट्रवाद की चर्चा राजनीति के सन्दर्भ में अधिक करते हैं लेकिन राष्ट्रवाद के विषय में सोचने का एक और मार्ग है जिसे हम संस्कृति कहते हैं। संस्कृति में राष्ट्रवाद का क्या अर्थ हो सकता है? राष्ट्रवाद के प्रश्न ने आधुनिक भारत में ही महत्व ग्रहण किया है। आधुनिक भारत में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध और लगभग सारी ही बीसवीं शती में राष्ट्रवाद क्रमशः दो बार में आया है। राजनैतिक राष्ट्रवाद बाद में आया, उसके पहले ही एक और तरह का राष्ट्रवाद अस्तित्व में आया। वह आधुनिक भारत की पश्चिम की आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में आया था। यह दरअसल धार्मिक राष्ट्रवाद था। पश्चिम से भारत के संयोग के पहले तक भारत के अधिकांश बौद्धिकों बल्कि गृहस्थों

को भी विशेष रूप से परिवर्तित नहीं किया गया था। इसके पीछे कौन-सा रहस्य छिपा है? ऐसा कैसा हो सका कि जब भारत पर मुसलमानों का शासन था, भारत में बेहद खूबसूरत साहित्य रचा गया, खूबसूरत विज्ञान और खूबसूरत दर्शनशास्त्र भी। यह तर्क दिया गया था कि किसी विदेशी लोगों द्वारा शासित होने का अर्थ अपना राष्ट्रवाद छोड़ना नहीं होता। स्वातन्त्र्य और स्वजाति शासन में अन्तर होता है। शासन से जुड़ा राष्ट्रवाद बहुत बाद में आया है। पहला राष्ट्रवाद देश की उस प्रतिक्रिया में है जो वह बाहरी लोगों की भारत की व्याख्या में हस्तक्षेप करने की प्रक्रिया में आया है जो ज़रूरी नहीं राजनैतिक क्षेत्र में भी हो। आज़ादी और शासन राष्ट्रवाद का बहुत छोटा-सा हिस्सा है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जैसे ही मुसलमान शासकों से सत्ता ली, भारत में कोई बड़े परिवर्तन नहीं हुए, उससे हमारे लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी पर कोई खास असर नहीं पड़ा। हमें स्थानीय शासकों या राजाओं के बीच के संघर्षों की जानकारी थी पर वे संघर्ष उनके आपस में होते थे। व्यापक जन समुदाय का जीवन इससे अछूता बना रहता था। इसलिए लोग राजनैतिक दृष्टि से अधिक सजग नहीं थे। राजनीति के अपने उतार-चढ़ाव होते रहते थे, कई बार शासक अच्छे होते थे, कई बार नहीं। इसीलिए भारत पर मुसलमान इतने लम्बे समय तक शासन कर सके। राजनीति के स्तर पर बहुत कुछ होता रहता था पर इससे सामान्य लोग अप्रभावित रहते थे। इसका एक कारण यह था कि उन दिनों सामाजिक आवागमन कम था और सम्प्रेषण की सुविधा कम थीं। लोग अपने घरों, गाँवों और देश के विभिन्न भीतरी इलाकों में सामान्य जीवन बिताते रहे और उन्हें राजनीति में हुए परिवर्तन की कोई ख़बर नहीं थी। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक स्वार्थों के साथ-साथ ब्रिटिश ईसाई मिशनरियों ने इन्हें बहुत उकसाया, भारत को पहली बार आमने-सामने प्रतिक्रिया करने की आवश्यकता पड़ी। पहले के मुस्लिम शासक यहाँ की स्थानीय संस्कृति में कभी-कभार ही हस्तक्षेप करते थे। अँग्रेज़ शासकों ने यह नहीं किया लेकिन ब्रिटिश मिशनरियों ने अवश्य किया। वे यहाँ आये और उन्होंने यहाँ की स्थानीय परम्पराओं को चुनौती दी। उन्होंने यह पाया कि हिन्दू धर्म अस्वीकार्य है। उन्होंने कहा कि ये लोग विधर्मी (हीदेन) हैं और ऐसी ही कुछ और बातें। उन्हीं दिनों भारत का नागर आभिजात्य पश्चिमी विज्ञान, टेक्नोलॉजी, साहित्य और अन्य ज्ञान से सकारात्मक रूप से भी प्रभावित हुआ था।

उदयन- ऐसी स्थिति में जब हमारे नागर आभिजात्य जन पश्चिम के विज्ञान आदि से प्रभावित थे इस प्रभाव का असर उनकी धर्म और व्यापक ज्ञान की समझ पर ही पड़ा होगा। ऐसा प्रभाव किसी एक अनुशासन (यहाँ विज्ञान) में बँधकर कैसे रह सकता था।

मुखोपाध्याय- पश्चिम के ज्ञान का और धर्म का भी प्रभाव उन लोगों पर हो रहा था। इनमें से अनेक लोग पश्चिमी संस्कृति और ईसाई मज़हब के सम्बन्ध के बारे में स्पष्ट नहीं थे। इसलिए भारत के कई नागर आभिजात्य ईसाईयत के प्रति भी सकारात्मक हो गये। उन्हें यह लगा कि ईसाईयत की बदौलत ही पश्चिम को उच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त हुआ है। इनमें से कुछ लोग, जिन्होंने अपने को ईसाईयत

में ढाल लिया था, जैसे माईकल मधुसूदन दत्त, हिन्दू धर्म के विरुद्ध प्रचार-प्रसार और उसे निन्दित करने के मिशनरी प्रयासों को किसी हद तक स्वीकार नहीं कर पाये। और उन्होंने पहली बार इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया की। उस समय बौद्धिकों की प्रतिक्रिया का रूप दो स्तरों पर था। इससे अधिकतर पारम्परिक लोग अप्रभावित बने रहे। वे सोचते थे कि इन्हें यह सब प्रचार-प्रसार करने दो, ये अज्ञानी हैं। उन्होंने इन मिशनरियों को सीधे-सीधे नकार दिया और कोई प्रतिक्रिया देना ठीक नहीं समझा। यह कई बार हुआ। नागर आभिजात्यों ने सोचा कि यह नहीं चल सकता, हमें इसका उत्तर देना ही होगा। उन्होंने हिन्दू धर्म की ईसाई मिशनरियों द्वारा की गयी आलोचना की प्रतिक्रिया को जाने-अनजाने एक विशेष मोड़ दिया। उन्होंने पश्चिम के हिन्दू धर्म के आलोचकों को पराजित करने ख़ुद हिन्दू धर्म की आलोचना करना शुरू कर दिया। इस तरह उन्होंने पश्चिमी आलोचकों को यह दर्शाया कि इस परम्परा की आलोचना हम तुमसे बेहतर कर सकते हैं। वे यह कह रहे थे कि जो आलोचना तुम कर रहे हो, हमें पहले से पता है। उन्होंने इस प्रक्रिया में परायी आलोचना को इस हद तक अन्तस्थ कर लिया कि वह उनकी ज़ुबान बन गयी। इसी क्रम में उन्होंने धार्मिक सुधार आन्दोलन शुरू किया। तथाकथित भारतीय पुनर्जागरण (हालाँकि मैं उसे पुनर्जागरण मानता नहीं) के चार सोपान हैं। इनमें से हमें इसके राजनैतिक तत्व के अलावा बाकी तीनों की बहुत कम जानकारी है जबकि वह सबसे बाद का सोपान है। आरम्भिक सोपान धार्मिक सुधार आन्दोलन है। इसमें उन्होंने विदेशी आलोचकों को यह कहकर पराजित किया था कि आपकी आलोचना जिस हद तक उचित है, वह हिन्दू धर्म के उस भाग पर लागू होती है जो वास्तविक हिन्दू धर्म नहीं है। पर एक वास्तविक हिन्दू धर्म है जिसके विषय में आप जानते नहीं हैं और वह हिन्दू परम्परा आपकी धार्मिक परम्परा से बेहतर है। इस प्रक्रिया में उन्होंने अपने धर्म के बारे में स्वयं अपनी दृष्टि को परिवर्तित कर लिया।

उदयन- मुझे आप इस परिवर्तन के वास्तविक स्वरूप के विषय में बताएँ? उससे उनकी समझ में क्या फ़र्क पड़ा? यह पूछते समय मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि महज़ प्रत्यय बदल देने से दृष्टि में बदलाव नहीं आता। जब तक किसी संघटना, (यहाँ जिस तरह संस्कृति है) की व्याख्या का भीतरी ढाँचा नहीं बदलता, कुछ विशेष नहीं बदलता।

मुखोपाध्याय- इन बौद्धिकों ने वेद और वैदिक संस्कृति के बीच ऐतिहासिक अन्तराल के कारण अन्तर दिखाया। दूसरे शब्दों में उन्होंने यह कहा कि जिसे हिन्दू परम्परा या धर्म कहा जाता है, वह दरअसल लम्बे समय से विकासमान एक प्रक्रिया है जिसके विभिन्न चरण हैं। उन्होंने कहा, इस धर्म परम्परा में तीन मुख्य चरण हैं। आरम्भिक चरण और मध्यकालीन चरण के बीच एक और भी चरण था। उस दूसरे चरण में धर्म के आरम्भिक स्वरूप को नकारा गया था और एक नया उच्चतर धर्म भारत में विकसित हुआ जो सारी दुनिया में अब तक उत्पन्न अन्यान्य धर्मों से कहीं उच्चतर था। तीसरे चरण, मध्य युग में धर्म के पहले चरण का पुनराविष्कार या पुनराख्यान हुआ। धार्मिक सुधारवादियों

ने हिन्दू धर्म के आलोचकों को यह कहकर प्रश्नांकित किया कि आप लोग जिस धर्म की आलोचना कर रहे हैं, वह मध्यकाल में हिन्दू धर्म के आरम्भिक चरण का पुनर्वास है, जो दरअसल इस धर्म का अपेक्षाकृत दरिद्र रूप है। उन्होंने पश्चिमी आलोचना को इस तरह प्रतिरोध दिया था कि उन्होंने वैदिक संस्कृति और वैदिक साहित्य के बीच अन्तर दिखाया था। यह करते हुए उन्होंने वैदिक साहित्य को देखने की पश्चिमी दृष्टि को आत्मसात कर लिया। यह काफ़ी उलझी हुई पर दिलचस्प घटना है। हमें यह जानना ज़रूरी है कि वे हिन्दू धर्म की पश्चिमी आलोचना परास्त करने के लिए पश्चिम की दृष्टि का ही उपयोग कर रहे थे। भारतीय दृष्टि में समूची वैदिक परम्परा में न कोई अन्तराल है और न आपसी स्वीकार या नकार। उसमें शुरू से आखिर तक एक-वाक्यता है। उसमें निरन्तरता है और द्वन्द्वहीन लय है। मेक्समूलर और उनके जैसे अन्य अध्येताओं ने भाषा-शास्त्रीय और विकासवादी दृष्टियों के मिश्रण से यह पाया कि जिसे वैदिक साहित्य कहा जाता है, उसमें कम-से-कम तीन भिन्न सोपान या कम-से-कम दो स्पष्ट सोपान रहे हैं। पहला आरम्भिक वैदिक साहित्य है जिसे संहिता कहा जाता है। बाद का सोपान उपनिषद् हैं। उपनिषद् भाग संहिता के बाद का है। उनके वैदिक साहित्य (संहिता) को उपनिषदों से अलग मानते ही उन्होंने इन दोनों के बीच विषमता उत्पन्न कर दी। यह विषमता काल की भी थी और कथ्य की भी।

उदयन- क्या आप यह कह रहे हैं, भारतीय बौद्धिकों ने अपनी परम्परा को देखने की पश्चिमी पद्धति अपना ली और इस तरह अपनी ही परम्परा का इस नयी दृष्टि के आधार पर पुनर्विन्यास कर लिया?

मुखोपाध्याय- यह दृष्टि भारतीयों के लिए भले नयी हो, पश्चिम के अध्येताओं के लिए सहज थी क्योंकि उनके चिन्तन में विकासवाद अन्तर्निहित है। इसीलिए वे मानते थे (हैं) कि जो भी पुराना है, वह नये की तुलना में आदिम (कम विकसित) है और बाद की चीज़ या विचार अपेक्षाकृत अधिक विकसित है। इसी कारण ये पश्चिमी अध्येता पश्चिम को यह बताने लगे कि प्राचीन धर्म परम्परा अपेक्षया निम्न कोटि की थी। इस विचार को भारत के शहरी आभिजात्य बौद्धिकों ने स्वीकार कर लिया। उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि भारत में उपनिषदों में वर्णित धर्म ही श्रेष्ठतम था लेकिन मध्ययुग में इस श्रेष्ठ धर्म को तिरस्कृत कर पुरोहितों ने स्वार्थ के लिए आरम्भिक वैदिक धर्म का पुनर्वास किया ताकि वे लोगों का शोषण कर सकें। यह सारी-की-सारी पश्चिम की समझ थी। उन्होंने कहा कि वे औपनिषदिक् धर्म की पुर्नस्थापना में लगे हैं। इस तरह वैदिक धर्म फिर औपनिषदिक फिर वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना और अन्त में औपनिषदिक् धर्म की पुनर्स्थापना, ऐसी हिस्ट्री तैयार हो गयी। औपनिषदिक् धर्म की पुनर्स्थापना ही ब्रह्मो धर्म है। यही अपने दूसरे रूप में आर्य समाज है। इसी का एक और रूप पार्थ समाज है।

उदयन- इन्हें अलग-अलग आन्दोलनों की तरह भी, बल्कि वैसे ही देखा जाता रहा है...

मुखोपाध्याय- इनमें आपसी अन्तर भी है पर वह अलग बात है। इन सभी ने सीधे-सीधे या परोक्षतः

हिन्दू धर्म के निम्नकोटि होने की पश्चिमी दृष्टि के आगे घुटने टेक दिये, आत्म समर्पण कर दिया। उन्होंने उस दृष्टि में केवल इतना संशोधन किया कि उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म का केवल एक चरण यानी वैदिक धर्म ही निम्न कोटि का है पर वह अतीत हो चुका है। उसके बाद का औपनिषदिक् चरण बेहतर है। उन्होंने पश्चिम की दृष्टि की आलोचना नहीं की। उदाहरण के लिए जब यह कहा गया कि हिन्दू धर्म मूर्ति पूजा का समर्थक है, इन बौद्धिकों ने यह तर्क दिया कि ये और बहुईश्वरवाद, दोनों ही तत्व औपनिषदिक् धर्म में नहीं हैं। इसलिए औपनिषदिक् धर्म हिन्दू दृष्टि का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। चूँकि हिन्दू धर्म का श्रेष्ठ रूप उसके औपनिषदिक् रूप में प्रकट होता है, ब्रह्मो समाज ने उसे पुनर्जीवित किया। इस सब पर सोचने को वे सारे लोग धार्मिक राष्ट्रवाद के कारण प्रेरित हुए थे। वे हिन्दू धर्म के पराये लोगों द्वारा किये जा रहे निरन्तर अपमान को सह नहीं पा रहे थे। दरअसल, यह भले होता रहा हो पर हिन्दू कोई धर्म नहीं, संस्कृति है और हम भारतीय संस्कृति के अनेक अँग्रेज़ों द्वारा किये गये निरन्तर अपमान को सह नहीं सके। उस समय एक और घटना घटी.

उदयन– आप वह घटना बताएँ, इसके पहले जैसा कि आप करते आये हैं, उसकी पीठिका को कुछ और स्पष्ट करने का प्रयास करें...

मुखोपाध्याय– मैंने आपसे कहा ही है कि एक ही समय पर चार बड़े आन्दोलन हुए थे। सबसे आरम्भ में वह धार्मिक आन्दोलन था जिसकी हम चर्चा कर रहे थे। दूसरा शिक्षा आन्दोलन था। भारत के शहरी शिक्षित जन ज्ञान के क्षेत्र में पश्चिम के प्रदर्शन से अत्यन्त प्रभावित थे। उनमें से कुछ प्रगतिशीलों ने यह सोचा कि इस प्रदर्शन का सम्बन्ध निश्चय ही पश्चिम की सामाजिक प्रगति से रहा होगा। उन्हें यह लगा कि पश्चिम की ज्ञान और अकादेमिक शिक्षा में प्रगति और उनका सामाजिक विकास जुड़े हुए हैं। इसलिए उन्हें लगा कि भारत को राष्ट्र निर्माण के लिए सामाजिक विकास करना है तो पश्चिम के ज्ञान को अनुकुलित करना होगा।

सम्भवतः सन् १८२३* में अँग्रेज़ शासक भारत की शिक्षा व्यवस्था के लिए एक लाख रुपये का छोटा-सा प्रावधान करना चाहते थे। वे यह सोचने लगे कि इस धन को किस तरह खर्च किया जाए। बहुत-सी बैठकें हुईं, बहुत-सी बातचीत हुई। उनमें शामिल हुए लोग दो भागों में बँट गये। इनमें से एक ओरिएण्टलिस्ट स्कूल था, दूसरा एंगलिसाईज़ (अँग्रेजीकरण का हिमायती) स्कूल। अँग्रेजीकरण के हिमायती लोगों में कई भारतीय शामिल थे, ओरिएण्टल स्कूल में भी। ये दोनों ही समूह मिश्रित थे। उनमें कुछ भारतीय थे, कुछ यूरोपीय। उस समय एक महान भारतीय, जिससे अँग्रेज़ों को भी संवाद

---

* संयोग से इसी के दस वर्ष पहले है जब ब्रिटिश संसद में 'भारत के ईसाईकरण' (क्रिस्चिएनाइज़ेशन ऑफ़ इण्डिया) का प्रस्ताव पेश किया था, उस प्रस्ताव पर हुई बहस में विलियम विल्बरफ़ोर्थ जैसे दिग्गज सांसदों ने भाग लिया था। उस पूरी बहस को धर्मपाल जी ने पुस्तकाकार प्रकाशित किया था। उस बहस को पढ़ने पर यह पता चलता है कि उसमें दिये गये झूठे तर्कों से किस हद तक सावरकर जैसे लोग आगे चलकर प्रभावित हुए थे।

करना ज़रूरी था, राजा राम मोहन राय थे। उन्होंने १८२३ में भारत के अँग्रेज़ गवर्नर जनरल एमहर्स्ट को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा कि अगर आप यह पैसा भारत में पश्चिमी शैली की शिक्षा व्यवस्था को लागू करने में खर्च नहीं करते, आप इस देश के लोगों (जो आपकी रियाया है) का बहुत अहित करेंगे। आप उन्हें अन्तहीन अन्धकार में रहने को छोड़ देंगे। उन्होंने यह स्वीकार किया कि हम अंधेरे में रहते लोग हैं, हमें यूरोप के सहारे प्रकाश में आना होगा। मिशनरियों का भी ठीक यही एजेण्डा था। मिशनरी यहाँ यह कभी नहीं कहते थे कि वे मज़हबी शिक्षा दे रहे हैं, वे यह कहते थे कि वे भारतीयों को प्रकाश की ओर ले जाने का प्रयास कर रहे हैं। वे हमें ईसाई बनाकर आलोक में ला रहे थे। यहाँ तक कहना सहनीय था। राम मोहन राय ने कहा कि भारतीयों को भी गणित, एनॉटमी, विज्ञान आदि पढ़ने का अवसर होना चाहिए लेकिन उन्होंने इसके बाद एक पंक्ति और जोड़ी कि इसके साथ ही व्याकरण, न्याय और अन्य शास्त्रों का अध्ययन बन्द कराना चाहिए। इस पत्र की प्रतिक्रिया स्वरूप कई लोग, जिनमें मैं भी शामिल हूँ, यह सोचने लगे कि राजा राम मोहन राय के कारण ही भारत की शिक्षा व्यवस्था का अँग्रेज़ीकरण हुआ है। लेकिन बाद में मुझे पता चला कि मैं ग़लत था क्योंकि लॉर्ड एमहर्स्ट को लिखे उनके पत्र का उनकी मृत्यु तक कोई जवाब नहीं दिया गया था। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उनके पत्र को अँग्रेज़ी शासन ने गम्भीरता से लिया हो।

उदयन- यह बात इस हद तक अप्रसारित रही होगी कि आप जैसे दार्शनिक भी इससे अनभिज्ञ रहे आये। लेकिन फिर भारत की शिक्षा का अँग्रेज़ीकरण या पश्चिमीकरण हुआ कैसे? यह जानना इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि अब यह शिक्षा व्यवस्था कुछ इस तरह बरती जा रही है मानो यहाँ हमेशा से यही व्यवस्था रही हो और धर्मपाल के इससे सम्बन्धित हज़ारों आँकड़े प्रकाशित करने के बाद भी हमारे शिक्षितों में यही राय बनी हुई है।

मुखोपाध्याय- वह मैं आपको चौथे चरण के बारे में बताते समय बताऊँगा। नवज्योति यह कहना सही है कि उन दिनों तक हममें पश्चिमी शिक्षा के लिए बहुत अधिक उत्सुकता और तत्परता विकसित हो चुकी थी। लोग मानो इसके लिए तैयार बैठे थे। शासकीय रास्ते से पश्चिमी शिक्षा को भारत पर लागू किये जाने के पहले ही कलकत्ता में कई लोगों ने अँग्रेज़ी शिक्षा देने की संस्थाएँ खोल ली थीं। १८३५ तक यह निर्णय लिया जा चुका था कि शिक्षा के लिए निर्धारित धन अँग्रेज़ी शिक्षा पर खर्च किया जाएगा। अन्ततः १८५७ के आसपास तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में। यह भारत में पश्चिमी शिक्षा की शुरुआत का इतिहास है। इसकी बीच-बीच में आलोचना आदि होती रही है। यह सब जानकारी आम है। पर जो बात ज्ञात नहीं है, वह यह है कि १८६० से १६०५ के बीच भारत में राष्ट्रवादी शिक्षा आन्दोलन चला था। वह क्या था, हमें इसकी गहरायी से पड़ताल करना चाहिए। इसके पहले यह बात ध्यान रखने की है कि पश्चिमी शिक्षा को यहाँ शासकीय स्तर पर १८५७ में आरम्भ किया गया था। १८८० तक यह बात बहुप्रचारित हो गयी कि पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था विफल हो गयी है। उसे रेखांकित करने वाले लोगों में एनी बेसेण्ट, रबीन्द्रनाथ टैगोर आदि थे, जिन्होंने पूरा

ज़ोर देकर कहा कि यह व्यवस्था विफल हो गयी है। पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था के आलोचकों में हार्वर्ड स्पेन्सर भी थे जिन्होंने इस बारे में लिखा भी है और उनका लिखा आज भी मौजूद है। १९०५ के आते-आते बंगाल के विभाजन का प्रस्ताव आ गया। भारत ने जब शिक्षा कमीशन आया, उसके पहले से ही शिक्षा व्यवस्था की योजना में भारतीयों की भागीदारी को बेहद सीमित रखने की बहुत आलोचना हुई। इस समय दो विचार सामने आये। पहला था एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव। इस पर एनी बेसेण्ट और अरविन्दो का विवाद हुआ जो वन्दे मातरम् अखबार में प्रकाशित हुआ। दूसरा था, राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन। यह आन्दोलन इतना सफल रहा कि इसका एक परिणाम भारत के एक श्रेष्ठ जाधवपुर विश्वविद्यालय की स्थापना में हुआ। यह राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन कुछ ही वर्षों में बंगाल से पंजाब तक फैल गया और तीन सौ से चार सौ राष्ट्रीय विद्यालय खुले। उन्होंने अपना पाठ्यक्रम विकसित और लागू किया, परीक्षाएँ हुईं, जिनमें उनके अपने बनाये हुए प्रश्नपत्र हल करने होते थे। प्रश्नपत्र बनाने वालों में रबीन्द्रनाथ टैगोर जैसे महान लेखक भी थे। उन्होंने उत्तर पुस्तिकाओं को भी जाँचा। कुल मिलाकर तीन सौ राष्ट्रीय विद्यालय थे और ये सारे संस्थान लोगों की आर्थिक मदद से संचालित होते थे।

उदयन- यह इतना सफल आन्दोलन हुआ और इसकी जानकारी तक व्यापक जन-चेतना बल्कि व्यापक बौद्धिक समाज में लगभग है ही नहीं। यह हमारी सभ्यता के साथ हुई दुर्घटनाओं में एक मानी जायेगी।

मुखोपाध्याय- जब राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन आरम्भ हुआ, उसने इन सारे आन्दोलनों को हाशिये पर फेंक दिया। जब हम १९४७ में राजनैतिक रूप से स्वतन्त्र हो गये, हमने यह मान लिया कि हम शैक्षिक दृष्टि से भी स्वतन्त्र हो गये हैं। उसके बाद से पहले राधाकृष्ण कमीशन, कोठारी कमीशन और फिर राज्य शिक्षा परियोजनाएँ बनती रहीं। उनके अधिकतर सुझाव पूरे नहीं हो सके। जहाँ तक मुझे पता है, इन सभी समितियों के सदस्यों में से किसी ने भी राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के दस्तावेज़ नहीं पढ़े थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हम यह भूल गये कि उस आन्दोलन की कितनी गहरी पैठ थी और कितनी बारीक़ी-से वह आन्दोलन खड़ा किया गया था। वह आन्दोलन केवल पारम्परिक शिक्षा का पुनर्वास भर नहीं था, उसमें आधुनिक शिक्षा और तकनीकी के ज्ञान का भी स्थान था। इस आन्दोलन की तकनीकी शिक्षा के फलस्वरूप ही बंगाल इंजिनियरिंग महाविद्यालय खुला था। दरअसल, उसी महाविद्यालय से जाधवपुर विश्वविद्यालय पैदा हुआ है। इस सफल आन्दोलन पर बाद में ध्यान नहीं दिया गया।

संक्षेप में, विचार यह है कि पहले राष्ट्रीय धार्मिक आन्दोलन विकसित हुआ जिसने हमें अपनी संस्कृति पर पुनर्विचार करने और पश्चिम की वैचारिक चुनौती का प्रत्युत्तर देने प्रेरित किया। दूसरा आन्दोलन राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन था। वह भी पश्चिम को जवाब देने का प्रयास था। शिक्षा आन्दोलन ने विशेषकर

इन दोनों संस्कृतियों में सम्यक सन्तुलन बिठाने का प्रयास किया। उनका कहना था कि हम अपनी संस्कृति में प्रतिष्ठित होकर पश्चिम से उसके श्रेष्ठ तत्वों को ले लें। यही गाँधी की योजना थी और यही के.सी. भट्टाचार्य की। के.सी. भट्टाचार्य का सोचना यह था कि हमें कुछ भी झुककर स्वीकार नहीं करना चाहिए। वे विवेक-सम्मत समन्वय के पक्षधर थे। गाँधीजी ने अपने शब्दों में यही कुछ कहा था कि हमें उनसे कुछ भी लेने में तब तक कोई हर्ज़ नहीं है जब तक हम उस सबको पर्याप्त ब्याज के साथ वापस कर सकें। यही नवज्योति सिंह का कहना था, यही के.सी. भट्टाचार्य का। इस सारे विचार की हमने अवहेलना कर दी। ये ही असली आधुनिक शिक्षाविद् थे।

उदयन- आपने एक तीसरे राष्ट्रीय आन्दोलन का भी ज़िक्र किया था, साहित्य आन्दोलन। उसके बारे में भी बात करें।

मुखोपाध्याय- मैंने एक आलेख लिखा था जिसे मैंने शरारतन चौथा महान आन्दोलन कहा था। उसमें मैंने कहा था कि चार बड़े राष्ट्रीय आन्दोलन हुए हैं, जिनमें से चौथे को उसी के प्रणेता रबीन्द्रनाथ टैगोर ने भुला दिया। रबीन्द्रनाथ ने अपने एक लेख (जिसे राधाकृष्णन ने प्रकाशित किया था, उसमें एक लेख महात्मा गाँधी का भी था) में कहा था कि जब वे पैदा हुए, बंगाल में तीन महान राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहे थे। राष्ट्रीय धार्मिक सुधार आन्दोलन, राष्ट्रीय साहित्य आन्दोलन और राजनैतिक आन्दोलन। वे भी राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन का ज़िक्र करना भूल गये। मैंने सोचा कि उनकी इस भूल को कैसे समझा जाए।

उदयन- यह कैसी विडम्बना है कि वे उसी आन्दोलन का नाम लेना भूल गये जिसके वे स्वयं अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग रहे थे। बल्कि जिसके वे प्रणेताओं में एक थे।

मुखोपाध्याय- वे उसका केन्द्रीय भाग थे और पूरी उम्र उसमें रहे। उनके शान्ति निकेतन की स्थापना भी इस महान शिक्षा आन्दोलन का ही परिणाम था। मेरा सोचना यह है कि उन्होंने यह तथ्य जान-बूझकर अनकहा छोड़ा था।

रबीन्द्रनाथ के कई चेहरे थे, उसमें से एक ब्रह्मो समाजी का था। एक ब्राह्मो सदस्य के रूप में उनके नेता राजा राम मोहन राय थे, और जहाँ तक राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन का प्रश्न है, राम मोहन राय और अन्य विचारकों के मत में काफ़ी अन्तर था। अगर रबीन्द्रनाथ शिक्षा आन्दोलन की चर्चा करते, उन्हें राम मोहन राय की आलोचना करनी पड़ती इसलिए उन्होंने यही ठीक समझा कि उसकी बात न की जाए। दरअसल, राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन का उद्घाटन व्याख्यान रबीन्द्रनाथ ने ही दिया था। उनका वह अन्तर्दृष्टिपूर्ण उद्घाटन व्याख्यान प्रकाशित भी हुआ था। उसमें उन्होंने ठीक ही सतीशचन्द्र मुखर्जी की बहुत प्रशंसा की।

उदयन- ये कौन चिन्तक हैं? मैंने इनका ज़िक्र कहीं पढ़ा नहीं है। आप अपनी बातचीत में कई जगह ऐसे चिन्तकों को ले आते हैं जिनसे अनेक लोग अनभिज्ञ हैं और ऐसा करके आप हमारे न पढ़े चिन्तकों की सूची बढ़ाते जाते हैं।

मुखोपाध्याय– वे एक और ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें आज भुला दिया गया है। उनके बारे में ज़रूर जानना चाहिए। वे बनारस शहर में डूबे हुए थे। वे यहाँ क़रीब सत्रह-अठारह वर्षों तक रहे या शायद उससे कुछ ज़्यादा। वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर मलकानी के साथ लम्बे समय तक संवाद करते रहे। उनके वे संवाद आज भी सुरक्षित हैं। महात्मा गाँधी उन्हें अपने क़रीब मानते थे। वे राष्ट्रीय शिक्षा समिति (काउंसिल) के संस्थापक थे। वे डान सोसायटी और *डान* पत्रिका के भी संस्थापक थे। वे महान बौद्धिक ही नहीं, वैसे ही धार्मिक भी थे।

उदयन– वे कलकत्ता और बनारस में ही रहे?

मुखोपाध्याय– वे उस समय कलकत्ता में वकालत करते थे। इतने सारे कामों को वे किस तरह संयोजित कर सके? यह प्रश्न किसी को भी आश्चर्य में डाल सकता है। भारत का ऐसा कोई कोना नहीं था, जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन, वह शिक्षा आन्दोलन हो या राजनैतिक आन्दोलन और वे इनसे किसी तरह जुड़े न रहे हों। वे अद्वितीय चिन्तक और महान आयोजक थे। उन्होंने ही श्री अरविन्द को बड़ौदा रियासत से लाकर राष्ट्रीय शिक्षा समिति का अध्यक्ष बनाया था। श्री अरविन्द के तत्वावधान में ही उनके आक्रामक राष्ट्रवादी जीवन का आरम्भ हुआ था और बाद में उनका रूपान्तरण हुआ। उन्हें एक महान वैष्णव विजय कृष्ण ने दीक्षित किया था। रामकृष्ण परमहंस के बाद के दिनों में वे सक्रिय हुए थे। वे जैसे ही दीक्षित हुए, विजय कृष्ण गोस्वामी ने उनसे कहा कि अब तुम कमाना छोड़ दो। तुम्हारे पास जो भी है, उसे त्याग दो, न केवल यह बल्कि तुम *डान* सोसायटी आदि सभी संगठनों को छोड़ दो। तुम कलकत्ता छोड़कर बनारस जाओ, वहाँ रहो। वहाँ कैसे रहोगे, इसकी चिन्ता मत करो। वहाँ जाओ और रहो। सतीश चन्द्र बनारस जाकर सोलह-सत्रह बरस रहे, एक पैसा भी नहीं कमाया और अन्त तक सक्रिय रहे। जब बनारस विश्वविद्यालय के १९०५ से १९१३ के बीच कभी बनने पर विचार हो रहा था, उन्होंने एक ऐसा प्रश्न उठाया जिसका ध्यान बहुत कम लोगों को था। उन्होंने यह पूछा कि जिस जगह बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित होने जा रहा है, वह उसके लिए उचित स्थान है या नहीं। उन्होंने यह प्रश्न अखबारों में प्रकाशित करवाकर सार्वजनिक किया और उसके परिणामस्वरूप कई जवाब आये। कई लोगों ने कहा कि जो स्थान तय किया गया है, उचित नहीं है। उस सारी बहस के सारे विवरण उपलब्ध नहीं हैं पर मैं उस बहस का परिणाम समझ सकता हूँ। इस विश्वविद्यालय के दो नाम हैंः अपने अँग्रेज़ी नाम में यह बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय है और इसका हिन्दी या भारतीय नाम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय है। उसमें काशी शब्द आता है लेकिन परम्परानुसार यह विश्वविद्यालय न काशी में है न वाराणसी में। उसके बहुत सारे विवरण मुझे नहीं मालूम पर इसका सम्बन्ध निश्चय ही विश्वविद्यालय के स्थान के औचित्य से होगा।

उदयन– लेकिन अब हमें दोबारा अपने उस बिन्दू पर आना चाहिए, जिसकी चर्चा करते समय आपने टैगोर के हवाले से सतीशचन्द्र मुखर्जी का ज़िक्र छेड़ा और ठीक ही किया क्योंकि ऐसे ऐतिहासिक महत्व

के व्यक्तियों का विस्मृति में लोप हो जाना, समूची भारतीय सभ्यता के लिए दुःखद है।

मुखोपाध्याय- राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन से कहीं पहले शासन व्यवस्था पर केन्द्रित प्रश्न अन्य राष्ट्रीय आन्दोलनों में उठाये गये। ये सारे प्रश्न राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन से कहीं पहले राष्ट्रीय सांस्कृतिक आन्दोलन में उठाये गये जो दरअसल ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू धर्म के निरन्तर अपमान के फलस्वरूप शुरू हुआ था। लोगों को यह महसूस हुआ कि हिन्दूवाद धर्म भर नहीं, हमारी संस्कृति का भाग है। इस प्रक्रिया में कई आन्दोलनकारी सुधारवाद की ओर मुड़ गये। उनका सुधार का ढंग बहुत सुन्दर था। हालाँकि, वे इस विषय में बहुत स्पष्ट नहीं थे, वह तो एक अधूरा काम था जिसमें बाद के लोगों पर स्पष्टता लाने की ज़िम्मेदारी है कि वे इसे गहरायी-से समझें और बताएँ। उन सुधारकों ने सबसे पहले मिशनरियों की आलोचना को अन्तस्थ किया फिर उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया कि वे हिन्दूवाद के जिस हिस्से की आलोचना कर रहे हैं, वह सारा हिन्दूवाद नहीं है। यह करते हुए उन्होंने खुद को परायी दृष्टि से पराजित कर लिया। उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया को वैदिक परम्परा के विभाजन पर आधारित किया। मिशनरियों के विचारकों का कहना यह था कि वेद इस परम्परा के आरम्भिक भाग हैं और उपनिषद् उसके बाद के। हम इसे नहीं मानते पर 'हम' बहुत कम संख्या में हैं। हमारे पहले शिक्षा संस्थाओं से जुड़े अनेक विद्वान उस विभाजन को मानते हैं। लेकिन इस सन्दर्भ में भारत की अपनी वैचारिक स्थिति को भुला दिया गया।

उदयन- आप इसे कुछ और अधिक स्पष्ट करें। दयानन्द सरस्वती के विषय में यह जाना-माना तथ्य है कि वे भी एक धार्मिक सुधारक रहे हैं। यह ज़रूर है कि वे सुधारों से अधिक रूपान्तरण में लगे थे।

मुखोपाध्याय- जब ब्रह्मो समाज कलकत्ता के भद्रलोक में लोकप्रिय हुआ, उसी समय रामकृष्ण परमहंस का नाम होना भी शुरू हुआ। वे बिना किसी क्षमा भाव या प्रतिशोध के पारम्परिक हिन्दू व्यवहारिक थे। द्विज पूजा, काली पूजा, काली से बातें करना, इस तरह के कार्यकलापों में उनका जीवन व्यतीत होता। भद्रलोक उन्हें अनदेखा नहीं कर सकता था। विवेकानन्द की दृष्टि इससे भिन्न है। विवेकानन्द ने ऊपर की दोनों विचार-व्यवहार दृष्टियों को मिला दिया। वे ब्रह्मो समाज में ही पैदा हुए और पले बढ़े थे। वे अद्वैत-अद्वैत भी कहते थे पर साथ में यह भी कहते थे कि काली पूजा करो। यह थिगड़े लगाने जैसा था। वे दरअसल राजनैतिक मन के व्यक्ति थे; वे लोगों को सिर्फ़ खुश करना चाहते थे जिससे उनको समर्थन मिल सके। इन लोगों की अपनी संस्कृति के प्रति बेहद कम निष्ठा थी। अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठा का अर्थ उसे अपनी आँखों से देखना है।

उदयन- अपनी आँखों से देखना? इसके बहुत-से अर्थ हो सकते हैं।

मुखोपाध्याय- मैं एक किताब लिख रहा हूँ; 'इण्डिया इन इट्स सेल्फ़ परसेप्शन'। भारत अपनी दृष्टि में क्या है। इस तरह का काम और भी होना चाहिए। भारत के विषय में ऐसे कितने विचार हैं जो

स्वयं भारत के हैं। कई कारणों से, और लोगों को यह पता भी है कि इस परम्परा में टूटन आ गयी है; इसके हर क्षेत्र की चिन्तन प्रक्रियाओं में। इसमें कुछ ग़लत नहीं है, सिर्फ़ इतना ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हम इसे कोई दिया हुआ सत्य न मान लें। अगर यह टूटन हुई भी है, वह हो गयी है, पर उसके प्रति सजगता होना चाहिए। हमें अपनी स्थिति को स्वयं परिभाषित करने का प्रयास करना चाहिए। आप अपनी तरह से मुझसे यह पूछ रहे हैं कि मैं कौन हूँ। मेरा उत्तर यह है कि मैंने शुरू से ही आत्म चेतस भारतीय होने का यत्न किया था। यह हासिल करने का पूरा प्रयत्न करता रहता हूँ। मैं अपना नया भारत बनाकर भारतीय नहीं होना चाहता, मैं उस भारत को स्वीकार करना चाहता हूँ जो वह हमेशा से है और मेरे ख़याल से आज भी है। मैं यह सब खुले मन और खुली आँखों से करना चाहता हूँ। मैं यह समझता हूँ कि भीतरी लोगों के अलावा कोई भी किसी भी संस्कृति की सृजनशील आलोचना नहीं कर सकता। वही विश्वसनीय सृजनशील आलोचना है, उसी से देश की निर्मिति होती है। किसी परायी विचार परम्परा के हस्तक्षेप से देश की निर्मिति नहीं हो सकती। मैंने यह बात सीधे-सीधे भी एक जगह कही है कि हर संस्कृति में विकास की अपनी धारणा हुआ करती है। हमने सामाजिक प्रगति की भारतीय अवधारणा पर बहुत कम ध्यान दिया। हम पश्चिम की विकास की अवधारणा पर ही ध्यान देते रहे हैं।

उदयन- विकासवाद पश्चिम के विकास की अवधारणा में केन्द्र-स्थानीय है। आप यह कह रहे हैं कि हम लोग वैसे नहीं हैं। हमारा विकास का या प्रगति का विचार काल से बँधा नहीं है, क्या आप यह भी कह रहे हैं?

मुखोपाध्याय- नहीं। हमारे समय का विचार अलग है। मैं आपको उदाहरण देता हूँ। वह एक शब्द है। जब वह शब्द मैंने उस अँग्रेज़ी के लेखक से कहा, उसने अपनी नोटबुक बन्द करके कहा था कि अब हम बातचीत बाद में करेंगे क्योंकि मैं इस विचार पर सोचूँगा। पश्चिम और हमारी काल की अवधारणा में यह फ़र्क है: पश्चिम के अनुसार अतीत सान्त (स+अन्त) है और भविष्य अनन्त। हमारी दृष्टि में अतीत अनन्त है और भविष्य सान्त। यह समय की हमारी अवधारणाओं में अन्तर का मर्म है। हमारे देश के योजनाकार, हमारे नेता, जो सामाजिक विकास के पक्षधर हैं, उन्होंने यह कभी सोचा ही नहीं है कि हमारा समाज किस तरह का है और उसमें किस किस्म का विकास या प्रगति होनी चाहिए, कि हर संस्कृति में विकास की अपनी अलग और विशिष्ट दृष्टि हुआ करती है। उन्होंने यह कभी सोचा ही नहीं कि मूलतः समाज दो तरह के होते हैं। एक सपाट समाज होता है, यूरोप इसका उदाहरण है। लेकिन एक और तरह का समाज भी होता है, जो सपाट नहीं होता। भारत का समाज सपाट नहीं है। सपाट समाज में विकास की विचारधारा को इस तरह परिभाषित किया जा सकता है: ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों की अधिक-से-अधिक खुशी। यह मात्रात्मक है यानी क्षैतिज विकास है। लेकिन जिस समाज में क्षैतिज विकास को उर्ध्व विकास के साथ जोड़कर देखा जाता है, जहाँ सार्वजनिक विकास को वैयक्तिक विकास के साथ जोड़ा जाता हो, वहाँ आप विकास को केवल सपाट या क्षैतिज अर्थों में

नहीं बाँध सकते। वैसा करना केवल सपाट समाजों के लिए ही उचित है। भारत वह नहीं है। इस समाज में आप अधिक-से-अधिक लोगों की ज़्यादा-से-ज़्यादा खुशी का प्रयास तो करते ही हैं, (सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः) इसके साथ ही यह समाज यह भी मानता है कि व्यक्ति की भी मुक्ति होनी चाहिए। विवेकानन्द ने इसे किस तरह किया? उन्होंने कहा, 'सात्मन मोक्षार्थं जगतहिताय च' (अपने और जगत की मुक्ति दोनों के लिए)। यह कहने भर से नहीं हो जाता। व्यक्ति और जगत की मुक्ति को कैसे जोड़ा जाए, यह उन्होंने कभी नहीं दिखाया। यही भारत ने कहा और इसकी व्याख्या की। यह हमारे मानस से बाहर कैसे चला गया? इसका कारण यह है कि हम व्यवस्थित रूप से अपने पारम्परिक लोगों को हाशिये पर फेंकते चले गये। हमने यूरोप के प्रभाव में यह विचार उत्पन्न कर लिया कि पारम्परिक लोग अनिवार्यतः आदिम होते हैं, रूढ़िवादी होते हैं। ये सारी शब्दावली पश्चिम की बनायी हुई है, हमारी नहीं। भारत के पारम्परिक लोगों ने इस तरह कभी नहीं सोचा। दयानन्द सरस्वती को पारम्परिक लोगों ने कोई भी प्रताड़ना नहीं दी पर करपात्री बनारस में बैठे हुए विरक्त संन्यासी थे, उन्होंने दयानन्द सरस्वती के हर विचार का शब्दशः खण्डन किया। हमारी संस्कृति यह है। हम जो लोग शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं, उनका यह कर्त्तव्य है कि हम अपनी चेतना के स्तर पर यह सजगता लाएँ कि हम भारत के विषय में क्या सोचते हैं। क्या हमारे मन में भारत के स्वरूप को लेकर कोई धारणाएँ हैं?

उदयन- क्या आप अतीत की अनन्तता पर कुछ और विस्तार कर सकते हैं, विशेषकर हमारे व्यवहारिक जीवन में? यह तो आप और मैं जानते ही हैं कि तमाम विचारों के मूल में जीवन-व्यवहार धड़कता है। इसकी जीवन्तता के बिना वे निष्प्राण हो जाते हैं। मैं यह इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि आपकी भारतीय संस्कृति की अवधारणा में यह एक मुख्य कारक जान पड़ता है...

मुखोपाध्याय- ऐसे अनेक महत्वपूर्ण विचार हैं अगर हम उन्हें अपने मन में स्पष्ट नहीं करते, देश में आत्म सजगता लाना सम्भव नहीं होगा। यह एक आधुनिक अवधारणा है कि भारत एक बहुसांस्कृतिक समाज है। बहुसांस्कृतिक समाज का यह विचार सांस्कृतिक अस्मिता के विचार को हाशिये पर डालने के प्रयास का ही एक भाग था। आज शायद ही ऐसा कोई देश है, जो बहुसांस्कृतिक न हो। फिर भारत को भी वही कहने का क्या अर्थ है? अमर्त्य सेन जब यह कहते हैं, उनका आशय यह है कि भारत में हिन्दू परम्परा, बौद्ध परम्परा आदि समानान्तर परम्पराएँ हैं। अगर वे यह बता सकें तो यह प्रमाणित हो जाएगा कि भारत की संस्कृति में कोई ऐक्य नहीं है। ऐसा क्या किसी और शिक्षित भारतीय विद्वान ने कहा है जिसे भारतीय साहित्य और संस्कृति का सीधा (फर्स्ट हैण्ड) ज्ञान हो? क्या ऐसा कुछ मेरे गुरू गोपीनाथ भट्टाचार्य ने कहा है? क्या ऐसा कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने कहा है या हरदत्त शास्त्री ने? इन सभी ने इसे अस्वीकार किया है। बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति की ही उपशाखा है। अगर आप मुझसे यह कहेंगे कि तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है, मैं आपको वह आसानी-से दे सकता हूँ। भारतीय कौन है? इसके लिए उसमें निश्चय ही कुछ मौलिक विश्वास और व्यवहार होने चाहिए।

हमें उसे परिभाषित कर पाना चाहिए। वे कौन-से विश्वास और व्यवहार हैं जिनसे सांस्कृतिक अस्मिता किसी हद तक निर्धारित होती है? उनमें से एक यह है; आपको ऐसा शायद ही कोई भारतीय मिलेगा, जो कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म में विश्वास न करता हो, चाहे वह बौद्ध हो या जैन या हिन्दू। इस तथ्य को दबाने की क्या ज़रूरत है? ये सभी कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं और कर्म के सिद्धान्त की तार्किक परिणति अतीत की अनन्तता में होती है। साथ ही इसका अन्तर्सम्बन्ध भारत की समय की धारणा से जुड़ा हुआ है। यह कहना कि अतीत में अनन्तता है और भविष्य में सीमा, कोई राजनैतिक वक्तव्य नहीं कि कपोल कल्पित हो। लेकिन अतीत की अनन्तता का यह विश्वास किस तरह लोक व्यवहार में आता है? यह कर्म के सिद्धान्त में विश्वास के रास्ते आता है। ऐसा कोई भारतीय लगभग नहीं हुआ, जो इस विचार पर विश्वास न करता हो। इसका सम्बन्ध निश्चय ही पुनर्जन्म से है, जिसकी तार्किक परिणति अतीत की अनन्तता में है।

उदयन- आपने चौथे राष्ट्रीय आन्दोलन के विषय में कुछ देर पहले बात की। वह राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन था। आप उसकी शुरुआत और फिर उसके व्यापक विस्तार पर जितनी हो सके, विस्तार से कहिए।

मुखोपाध्याय- इस आन्दोलन की शुरुआत बहुत मामूली और लगभग अनदेखी थी। यह राजा राम मोहन राय के समय हुई थी। संयोग से उसी समय मिशनरियाँ इस संस्कृति की निन्दा में संलग्न थीं। लेकिन तब राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन विकसित नहीं हो पाया। राम मोहन राय के समूचे लेखन में हमारी राजनैतिक परतन्त्रता पर ज़रा-सी भी बेचैनी नहीं दिखायी देती। लेकिन रबीन्द्रनाथ के साहित्य में देश की परतन्त्रता की गहरी आत्म सजगता है। अँग्रेज़ी राज और भारत पर उसके प्रभाव आदि के बारे में। लेकिन उनके लिए भी इससे कोई खास फ़र्क नहीं पड़ता था कि भारत का शासन अँग्रेज़ों के हाथ में है या किसी और के। राममोहन राय जब समुद्री यात्रा पर थे, फ्राँसीसी क्रान्ति सफल हुई, वे अपने जहाज़ से उतरकर पास के एक दूसरे जहाज़ में गये, जिसमें फ्राँसीसी नागरिक यात्रा कर रहे थे। उन्होंने वहाँ जाकर उन्हें बधाई दी। लेकिन उन्हें भारत की राजनैतिक स्थिति को लेकर कोई बेचैनी नहीं थी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसकी सजगता विकसित हुई और पहला व्यापक जन राजनैतिक आन्दोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्य में हुआ। उसके पहले ऐसा कोई राजनैतिक राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं था। उसके पहले तक राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन ज़रूर था पर वह व्यापक जन-आन्दोलन नहीं था। १९०५ से १९१४ तक जब देश की राजधानी कलकत्ते से दिल्ली स्थानान्तरित हुई, राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन की शुरुआत हुई और धीरे-धीरे इसके सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन बनने के क्रम में बाकी सारे राष्ट्रीय आन्दोलन हाशिये पर चले गये। इस आन्दोलन का आकर्षण इतना अधिक था कि भारतीय समाज के लगभग हर हिस्से के लोग इसमें शामिल हुए। ग्रामीण किसानों से लेकर दिल्ली के नागरिकों तक। ऐसा कोई आन्दोलन तब तक नहीं हुआ था जिसमें ऐसी व्यापक भागीदारी रही हो। अन्य सारे राष्ट्रीय आन्दोलन शहरी शिक्षित लोगों तक सीमित थे। इसका श्रेय उसकी पुकार और गाँधी को जाता है। यह

आन्दोलन अपने में सफल था पर यदि इसमें अन्य सारे राष्ट्रीय आन्दोलन भी शामिल किये जा सके होते, भारत पूरी तरह स्वतन्त्र हो सका होता। आज हम स्वतन्त्र देश में अवश्य हैं, पर यह किस हद तक भारत है और किस हद तक ग़ैरभारत, इसे परखा जाना अभी बाक़ी है।

उदयन– क्या आपको इसके, आपके शब्दों में, पूर्ण स्वतन्त्र होने की कोई सूरत बनती नज़र आती है?

मुखोपाध्याय– जीवन के अन्तिम छोर पर पहुँचकर भी मुझमें अब तक उम्मीद बाकी है। हम पूरी तरह विफल नहीं हुए। भारत में कभी पुनर्जागरण नहीं हुआ, लेकिन मैं सोचता हूँ कि युवा लोग, जिन्होंने हमें विफल होते देखा है, वे एक दिन ऐसा देश बना पाएँगे, जहाँ इसकी अपनी जीवन्त संस्कृति फिर से प्रतिष्ठित हो सके। लेकिन यह केवल तब होगा, जब ऐसे विवेकवान युवाओं के हाथ में शक्ति होगी। वे हमारी विफलता, बेईमानी, झूठ, दोगलापन आदि से साक्षात् कर चुके हैं। मुझे लगता है कि इस अनुभव के कारण वे यह सब करने से बच सकेंगे। कुछ बुद्धिमान, ईमानदार और निष्ठावान लोग देश की संस्कृति का पुनर्वास करेंगे पर यह सिर्फ़ उम्मीद है। केवल उम्मीद...

उदयन– यहाँ एक महत्वपूर्ण सवाल उठता है कि ऐसे क्या कारण थे कि राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन के चलते अन्य सारे राष्ट्रीय आन्दोलनों की अवज्ञा हुई? वह विस्मृति क्यों हुई? एक का कारण आपने कुछ हद तक बताया है, जहाँ आपने कहा कि राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के एक स्तम्भ रबीन्द्रनाथ टैगोर ने ही उसे अपनी राजा राम मोहन राय के प्रति निष्ठा के कारण रेखांकित नहीं किया। क्या इसके अलावा भी इस विस्मृति के पीछे कुछ और था?

मुखोपाध्याय– राजनैतिक आन्दोलन के अलावा जैसा कि मैंने आपको बताया, बाकी सारे आन्दोलन शहरी आभिजात्यों तक ही सीमित रहे आये। उनमें से एक भी वास्तविक जन आन्दोलन नहीं था।

उदयन– आपके कहने का क्या यह आशय है कि इस आन्दोलन में शामिल लोग इसे ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाने में समर्थ नहीं हो पाये?

मुखोपाध्याय– उनकी पहुँच व्यापक जन समुदाय की अन्तश्चेतना तक नहीं थी। वे शहरों में फँसकर रह गये और अकादमिक रहे आये। उनकी समझ की जड़ें लोकमानस में नहीं थीं। इसलिए व्यापक जन समुदाय इनसे लगभग अछूता रहा आया जबकि राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन ने भारत के व्यापक जनसमुदाय के जीवन को प्रभावित किया। समाज का वह प्रकार, जो हमने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्थापित किया, वह समाजवादी लोकतान्त्रिक गणतन्त्र था। यह करते ही हमें स्वार्थ पूर्ति का अवसर मिल गया। हर व्यक्ति अपने हिस्से के लिए प्रयत्नशील हो गया, चाहे वह फैक्ट्री में काम करने वाला मज़दूर हो या ग्रामीण किसान, वह हिन्दू हो या मुसलमान, सभी अपनी-अपनी स्वार्थ सिद्धि में जुट गये। इस अवसर का लाभ लेकर राजनैतिक नेतृत्व भी भ्रष्ट हो गया। वे अपनी स्वार्थ सिद्धि में जुट गये।

उदयन– आप कुछ देर पहले विज्ञान-तकनीकी के विकास से सम्बन्ध पर बता रहे थे...

मुखोपाध्याय– मैंने आई.आई.टी. संस्थानों और अन्य संस्थानों के विज्ञान विभागों में दिये अपने व्याख्यानों में कहा है कि हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि भारत समेत कई देशों में सामाजिक विकास का अधिकांश वैचारिक निवेश विज्ञान और तकनीकी से आता है। एक समय था जब विश्व पर शक्ति (पॉवर) का प्रभुत्व था, अब विश्व पर धन शासन करता है। शक्ति को खरीदा जा सकता है। अब विज्ञान और तकनीकी को कम्पनियों ने अपनी गिरफ़्त में लिया है। वे ही इनके आविष्कार की दिशाएँ तय करती हैं और फिर उसे बेचती हैं। मानव शास्त्र के विद्वानों को दरकिनार कर दिया गया है। तब भी इन शास्त्रों के विद्वानों ने किसी हद तक अपना स्वातन्त्र्य बचाकर रखा है। इस सीमित स्वातन्त्र्य के साथ क्या किया जा सकता है? हम बिना किसी भय या पक्षपात के यह तो अनवरत बल्कि जीवन भर कहते रह सकते हैं कि यह हो रहा है, हम इसे इस तरह देखते हैं और ऐसा करके हम इस सबके प्रति सजग हो सकते हैं। किसी भी मूलभूत परिवर्तन का यही आधार होता है कि जो कुछ भी हो रहा है, हम उसके प्रति चौकस रहें। अगर भ्रष्ट आचरण है, हमें उसके प्रति सजग होना चाहिए। जब हमारे शिक्षक संसद में जाते हैं, वे वहाँ संसदीय कर्त्तव्य नहीं निभाते और कहते हैं कि वे शिक्षक हैं और वे लोग ही वहाँ से लौटकर अपने शिक्षा संस्थानों में यह कहते हुए पढ़ाने से बचते हैं कि वे सांसद हैं।

उदयन– अगर मैं आपको इस बातचीत के कुछ पहले ले चलूँ जहाँ आपने यह कहा था कि राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन के प्रभुत्वशाली होने का एक बड़ा कारण यह था कि वह शहरी शिक्षित आभिजात्यों से निकलकर गाँव-देहात तक में फैल गया था और उसके ऐसा होने के साथ ही बाकी तीनों राष्ट्रीय धार्मिक, सांस्कृतिक और शिक्षा आन्दोलन हाशिये पर चले गये क्योंकि वे शहरी शिक्षितों तक ही सीमित रहे आये, क्या ये आन्दोलन, विशेषकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक आन्दोलन अपने में दोषमुक्त थे या कोई और ऐतिहासिक कारण इनके व्यापक न हो पाने का होगा? मिसाल के तौर पर भक्ति आन्दोलन सांस्कृतिक आन्दोलन होते हुए भी देश के लगभग हर कोने में फैला था।

मुखोपाध्याय– इन सब चीज़ों पर बात होनी चाहिए। मेरा विचार यह है कि भक्ति आन्दोलन जैसी कोई घटना नहीं हुई। भक्ति आन्दोलन काल्पनिक है। जैसे भारतीय रेनेसाँ कल्पना भर था, वैसे भक्ति आन्दोलन की भी कल्पना की गयी। अगर आप भक्ति आन्दोलन के काल को ध्यान से देखें, आप पाएँगे कि यह लगभग वही काल है जब यूरोपीय रेनेसाँ हो रहा है। हम लोग इस तरह शिक्षित हुए हैं कि अपनी संस्कृति और इतिहास को यूरोपीय आँखों से देखें जिसके अनुसार पहले कोई अन्धकार युग होना चाहिए, उसके बाद प्रकाश का, ज्ञानादेय का काल आना चाहिए। फिर मध्य युग होना चाहिए, उसके बाद पुनर्जागरण (रेनेसाँ) फिर विज्ञान का युग वगैरह... हम जिसे भक्तिकाल कह रहे हैं, वह छह सौ वर्षों में फैला है और हम आज उसके कितने कवियों आदि के नाम लेते हैं? कुछ सुदूर दक्षिण के हैं, कुछ पंजाब के हैं, इन सारी जगहों पर आन्दोलन जैसा लगभग कुछ नहीं था, सामाजिक गतिशीलता नहीं थी। इस सबको औपचारिक रूप से आन्दोलन कहने की शब्दावली कहाँ से आयी?

आपको आश्चर्य होगा कि खुद यूरोप में रेनेसाँ शब्द बीसवीं शताब्दी में बनाया गया है, वह भी उस आन्दोलन के लिए जो १३वीं से १६वीं सदी तक हुआ। भक्ति आन्दोलन के साथ भी यही हुआ है। वर्षों बाद एक ऐसी संघटना को नाम देने का प्रयत्न करना, जो बहुत पहले घट चुकी है, उस घटना का वर्णन नहीं, उसकी निर्मिति है और यह निर्मिति निःस्वार्थ नहीं थी। यह मौलिक भारतीय संस्कृति के अर्थ को धूमिल करने के विचार से प्रेरित थी। उस संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कहा गया, उसे अतीत की चीज़ माना गया, उसके बारे में यह कहा गया कि वह रूढ़िवादी है, खराब है, शोषण पर आधारित है आदि। भक्ति आन्दोलन को इसकी प्रतिक्रिया के रूप में चित्रित किया गया। भारत की परम्परा में एक दरार डाली गयी और यह कहा कि भक्ति भारत में अज्ञात थी। मैं भक्ति और उससे जुड़े विचार के वैदिक साहित्य से शुरू करके महाभारत के समय तक के सैकड़ों उदाहरण दे सकता हूँ। भक्ति आन्दोलन की अवधारणात्मक निर्मिति के पीछे कोई उद्देश्य रहा होगा, जिसके चलते उन्होंने भक्ति को किसी ऐसी चीज़ के बरक्स रखा है जिसकी इसे प्रतिक्रिया दर्शायी जा सके। भक्ति आन्दोलन को पहले से चली आ रही धर्म परम्परा के विरुद्ध निर्मित किया गया था, क्योंकि यह बताने की कोशिश की गयी कि प्राचीन धर्म परम्परा शोषक मशीन है और केवल कुछ निहित स्वार्थों से संचालित होती आयी है। इसी शोषक व्यवस्था को भक्ति आन्दोलन में शामिल विभूतियों ने चुनौती दी। एक बार बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में संगोष्ठी हुई और जहाँ तक मुझे याद है, वह नानक पर थी। वहाँ मुझे सम्बोधित नहीं करना था, पर मैं गया। वहाँ लोगों ने कहा चूँकि ये आ गये हैं, इसलिए क्यूँ न इन्हें भी सुना जाए। मुझसे आग्रह करने वालों में एक सिक्ख थे, जिन्होंने उसी विश्वविद्यालय से पढ़ाई की थी। मैंने वहाँ कहा, मैं वह कहूँगा जो मुझे महसूस होता है। मैंने कहा कि मेरा एकमात्र प्रश्न यह है कि मुझे यह समझ में ही नहीं आ रहा कि आप इस विचार गोष्ठी में क्या करने का प्रयास कर रहे हैं। मुझे इसमें शक नहीं कि आप यह मानते हैं कि नानक एक महान धार्मिक व्यक्तित्व थे और सिक्ख एक महान धार्मिक परम्परा है। पर आप यह दर्शाने का प्रयास कर रहे हैं कि नानक हिन्दू धर्म के सभी दोषों और रहस्यों को उजागर करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस तरह आप उन्हें एक महान धार्मिक सुधारक की तरह प्रस्तुत कर रहे हैं। यह मेरी समझ से बाहर है। इसका कारण यह है कि कोई भी सच्चा धार्मिक व्यक्ति धार्मिक सुधारक नहीं हो सकता। अगर आप महान व्यक्तित्व बताने के प्रयास में उन्हें धार्मिक सुधारक कह रहे हैं, आप उनकी अवमानना कर रहे हैं। किसी महान धार्मिक व्यक्ति का मूलभूत गुण यह होता है कि वह अदोषदर्शी होता है। अगर कोई व्यक्ति अन्य में दोष दर्शन करता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता। मैंने कहा इसीलिए आपको अपना मन बना लेना चाहिए कि अगर आप नानक को महान धार्मिक व्यक्तित्व बताना चाहते हें तो उन्हें दोषदर्शी मत बताइये। आप नानक में दोनों गुण एकसाथ नहीं दिखा सकते।

कुछ वर्ष पहले मैं और नवज्योति तिब्बतन इंस्टीट्यूट, सारनाथ गये थे, यह पता करने कि क्या वह कार्यशाला, जो हमने बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में की, वहाँ हो सकती है। जब हम वहाँ पहुँचे,

सामदोंग रिनपोछे ने हमें बताया कि वहाँ एक व्याख्यान आयोजित हुआ है जो कबीर पंथ के प्रमुख दे रहे हैं।

उदयन– वे सम्भवतः विवेकदास रहे होंगे?

मुखोपाध्याय– उस व्याख्यान को हुए बहुत बरस हो गये, मुझे ठीक से याद नहीं। मैंने उनसे कहा कि 'आप कह रहे हैं कि वेदों को कचरा पेटी में फेंक देना चाहिए। आप यह क्यूँ कहते हैं? क्या यह कहना आपको महान बना सकता है?' मैंने उनसे फिर वही कहा जो बनारस की गोष्ठी में कहा था कि 'क्या कोई धार्मिक व्यक्ति दोष दर्शी हो सकता है? रामकृष्ण परमहंस या रमण महर्षि या आनन्दमयी माँ, ये सभी इस परम्परा को मानते हैं और इससे प्रतिकृत होते हैं, क्या ये सारे संवेदनहीन हैं या क्षीण बुद्धि हैं? ऐसा तो नहीं है।' दिलीप राय ने यह प्रश्न महर्षि अरविन्द से पूछा था, 'आप इस व्यापक जन पीड़ा से उदासीन कैसे रह सकते हैं? आप जो एक समय पर उग्र राष्ट्रवादी रहे हैं, जिसने इतने ढेरों लेख 'वन्देमातरम्' में लिखे हैं।' अरबिन्दो ने इसका कोई जवाब नहीं दिया पर कृष्णप्रेम ने जवाब दिया, 'वही उनका कर्त्तव्य है।' हमें उन्हें उनकी आँखों से ही देखना होगा। इस पर दिलीप राय कुछ नहीं बोले। मेरा खयाल है कि हम कबीर और नानक को अपने हिसाब से गढ़ने में लगे हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि वास्तव में नानक या कबीर क्या थे लेकिन मैं यह कह सकता हूँ कि हम लोगों ने उन्हें कुछ का कुछ बना दिया है। मैं यह भी कह सकता हूँ कि महान व्यक्तित्वों के स्वीकार में हमने उनके साथ बहुत अन्याय किया है।

उदयन– हमने उन्हें अपनी धारणाओं में ढाल लिया है... उन्हें आधुनिक पश्चिमी प्रत्ययों में अनुकूलित कर लिया है।

मुखोपाध्याय– यह शायद अनजाने हुआ होगा पर इस कारण हम उन्हें अपने लाभ के लिए उपयोग में ला रहे हैं। हमने उन्हें उनकी शर्तों पर स्वीकारने की कभी तैयारी नहीं की। रामकृष्ण परमहंस के किसी शिष्य ने उनसे कहा कि मैं कुछ परोपकार करना चाहता हूँ। रामकृष्ण का यह जवाब था, 'कुछ दिन तो आत्मोपकार करो। परोपकार होता रहेगा।' और रामकृष्ण मिशन क्या कर रहा है?

उदयन– केवल परोपकार...

मुखोपाध्याय– वृन्दावन के विशेष सन्त हैं, गुरू शरणानन्दजी। वे पंजाब के हैं, उनका बहुत बड़ा आश्रम है। वे जब भी आते हैं, कई लोगों से मिलते हैं। कभी-कभी मुझे भी वहाँ आमन्त्रित किया जाता है। एक बार मैं उनके पास बैठा था, कुछ और लोग भी बैठे थे, मैंने उनसे कहा कि आप लोग यहाँ बैठकर अपना समय क्यूँ बर्बाद कर रहे हैं, क्यों न किसी विषय पर चर्चा की जाए? मैंने गुरू शरणानन्दजी से एक प्रश्न पूछने की अनुमति ली। मैंने पूछा, 'आप हमारे समाज को क्यूँ अस्थिर कर रहे हैं?' वे मेरे सवाल को समझ नहीं पाये। मैंने कहा, 'आप महात्मा हैं, संन्यासी हैं, आप यह क्या कर रहे हैं? यह कौन-सी सेवा कर रहे हैं? आप मुझे बताइये कि क्या आपका धर्म, सेवा धर्म है?

सेवा धर्म गृही (गृहस्थ) का धर्म है। आप यह क्यूँ कर रहे हैं? आपने गृही का धर्म छोड़ दिया और जो आपका धर्म नहीं है, आप वह कर रहे हैं।' उन्होंने जवाब दिया, 'यह हमारी मौज है।' मैंने कहा, 'यह कोई जवाब नहीं हुआ। ये सारी हमारी नयी धारणाएँ हैं। ये हमारे मौलिक विचार नहीं हैं।' एकबार दिल्ली में भारतीय दार्शनिक परिषद् (आई.सी.पी.आर.) की एक गोष्ठी कुन्दकुन्द भारती में हुई थी। कार्यक्रम यह था कि वहाँ सत्र के खत्म होने पर कुछ विद्वानों का सम्मान किया जाए। सम्मान करने कुछ दिगम्बर संन्यासी मंच पर आ गये। फिर घोषणा हुई कि हम लोगों को कुछ सम्मान राशि दी जाएगी। मैंने वह लेने से मना कर दिया और मैं चला आया। मैंने कहा कि विरक्त संन्यासी हमें कुछ कैसे दे सकता है, इसके उलट होना यह चाहिए कि हम उन्हें कुछ दें। क्या हम संन्यासियों से पैसा लें? यह एकदम ग़लत था। स्थिति यह है कि किसी भी क्षेत्र में हमारी परम्परा, आचार, व्यवहार और हमारा विषय-इन सबका उल्लंघन हो गया है। हमारी चेतना की हालत यह है कि हमें इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं दीखता। हम संन्यासी होकर भी दान करेंगे और गृहस्थ होकर भी दान लेंगे, यह अन्तर्विरोध दिखना बन्द हो गया है। आप खुद सोचिए क्या ज़माना चल रहा है। ऐसे लोग भी अब इस समाज में हैं, जो संन्यासी के पास जाकर उसे दस हज़ार रुपये दे देंगे और जिसकी सेवा करना चाहिए, उसकी सेवा करेंगे नहीं। यह पैसा इसलिए दिया जाता है कि उससे वे अपने को विज्ञापित कर सकें। यह कह सकें कि हम फलाँ संन्यासी के शिष्य हैं और हमने उन्हें इतना पैसा दिया है।

उदयन- अगर आप हमारे इस समय को व्याख्यायित करना चाहें, आप क्या कहेंगे?

मुखोपाध्याय- एक तथ्य यह है कि आज दोयम दर्ज़े के लोग हर क्षेत्र में शासन कर रहे हैं। यह क्षेत्र चाहे राजनीति का हो या संस्कृति का या यान्त्रिकी का, वह हर जगह शासन कर रहे हैं। यह न सिर्फ़ अपने आप में ग़लत है बल्कि इसके कारण वास्तविक प्रतिभा सम्पन्न लोगों को ऊपर नहीं आने दिया जाता। इस दोयम दर्ज़े के शासन का लम्बे समय तक असर रहता है। कोई नहीं जानता कि यह कब तक चलेगा लेकिन अगर यह चलता रहा क़रीब पचास साल तक, बिना कमज़ोर हुए, तब मेरे ख़याल से हम हमेशा के लिए बर्बाद हो जाएँगे। दूसरी बात यह है कि हम लोगों ने सोच-विचार करना बन्द कर दिया है। अँग्रेज़ी लेखक बर्नार्ड शॉ ने कहा था, 'सतहीपन एक बीमारी है जो दूसरी बीमारियों की तरह हमने ही बनायी है। यह मृत्यु है जो हमने खुद पर आरोपित की है।' हम आलसी लोग नहीं हैं, विशेषकर वे जो मानव शास्त्र पढ़ा रहे हैं। हम कुछ-न-कुछ तो कर ही रहे हैं, हम सोचने वाले लोग हैं। वैचारिकता किसी भी संस्कृति की आधारशिला होती है, उसके जीवत्व के लिए, उसे बनाये रखने के लिए। हमें ही यानी मानवशास्त्र के अध्येताओं को यह कहने पर मजबूर होना पड़ता है कि हम समाज में कोई भी महत्वपूर्ण योगदान नहीं कर रहे। इसलिए हम यह सोचने लगते हैं कि हम जो कर रहे हैं, वह कुछ नहीं है। जबकि मेरे अपने मत में हम जो कर रहे हैं वह बिल्कुल वही है जो हमें अपनी संस्कृति के लिए करना चाहिए था।

इसलिए मेरे मन में कोई पश्चाताप नहीं है। यह सच है कि मैं उतना नहीं कर सका जितना करना चाहिए था पर मैंने उतना ज़रूर किया जो मैं कर सका। मैं इस संसार को कम-से-कम न्यूनतम ईमानदारी के साथ छोड़ने का मन रखता हूँ।

उदयन- आपने यह बहुत महत्वपूर्ण तथ्य रेखांकित किया कि मानवशास्त्र अपने तमाम रूपों में आज सांस्कृतिक सजगता और आलोचना का प्रमुख वाहक हो सकता है, जैसा कि हर संस्कृति में हुआ करता है पर विज्ञान बल्कि तकनीकी ज्ञान के आगे उसे बहुत छोटा कर दिया गया है और इस तरह भाषा, साहित्य, दर्शनशास्त्र आदि विभिन्न विधाओं की सम्भावित भूमिकाओं को निरन्तर अवरुद्ध किया गया है। इस सन्दर्भ में आपका अपने कर्म यानी दर्शन के प्रति निष्ठा बनाए रखने और उसे पर्याप्त कर्म मानने का उपक्रम अर्थपूर्ण है।

मुखोपाध्याय- यह कहा जाता है कि मनुष्य को 'सादा जीवन और उच्च विचार' के रास्ते चलना चाहिए। इसका क्या अर्थ हो सकता है? अपने दैहिक अस्तित्व में मैं कई शक्तियों के अधीन होता हूँ लेकिन अपने चिन्तन में मैं कुछ स्वातन्त्र्य बनाये रख सकता हूँ। यहीं मैं कुछ स्वतन्त्र होता हूँ। इसीलिए मुझे अपने चिन्तन में जितना हो सके स्वातन्त्र्य बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए। मुझे वह ईमानदारी से कहना चाहिए जिसे मैं सत्य मानता हूँ, कोई मुझे सुने-न-सुने, मुझे वही कहना है। बिना किसी क्षमा भाव या बदले की भावना के। यही मेरा धर्म है। मैं इस तरह ही आधुनिक तनावों को देखता हूँ। यही तनाव एक समय तक सभी शिक्षक महसूस करते थे चाहे वे साहित्य पढ़ाते हों या राजनीति, पर उनका नैतिक परिप्रेक्ष्य यही होता था। वर्जिनिया वूल्फ़ का जाना-माना लेख 'द लीनिंग टॉवर (झुकती मीनार) है, उसी तरह मैंने भी समाज से बहुत कुछ लिया है। मैं उसे वापस क्या कर रहा हूँ? किसी विदेशी संस्कृति को नहीं, स्वयं अपनी संस्कृति को।

उदयन- आप कोई कहानी सुना रहे थे...

मुखोपाध्याय- ...हाँ कहानी, मेरे शिक्षक कहा करते थे कि कहानी सुनाने जैसा और कुछ नहीं है। आपने सेमुअल जॉनसन के बारे में सुना होगा। इंग्लैण्ड में उन दिनों यह कहा जाता था कि वहाँ छह राजा हैं जिनका दरबार लगता है। उनमें एक इंग्लैण्ड के राजा थे, चार ताश के राजा (लाल पान का इक्का, दुक्कुम, चिड़ी और ईंट का) और छठवें राजा थे, सेमुअल जॉनसन। उनके चारों ओर दरबार रहा करता था। उनमें साहित्यिक दृश्य के हाशिये के लोग, उनके दोस्त और प्रशंसक हुआ करते थे। वह अद्भुत दृश्य होता था। सेमुअल जॉनसन की बॉसवेल लिखित जीवनी अवश्य पढ़नी चाहिए। केवल न्याय शास्त्र पढ़ने से नहीं होगा। इन सबसे कहीं-न-कहीं नवज्योति का सम्बन्ध है। एक बार नवज्योति, मैं, दयाकृष्ण और कुछ और लोग लॉन में बैठकर बातें कर रहे थे। यहाँ-वहाँ की बातें हो रही थीं। तभी किसी ने नवज्योति से पूछ लिया कि क्या आपने साहित्य पढ़ा है। नवज्योति बोले, 'अगर मैंने एक कहानी भी पढ़ी होती तो पर्याप्त रही होती।' वे चेस्टरटन की 'द क्लब ऑफ़ क्यूवर ट्रेड्स' ज़िक्र

कर रहे थे। वह कमाल का जवाब था। दो बातें हो सकती हैं या तो आपके दिमाग में आप जो कहने वाले हैं उसके विषय में पूर्वधारणा हो, वैसा करने पर आपका कथन अधिक व्यवस्थित होता है। दूसरा रास्ता हमने हमेशा अपनाया। मैंने क़रीब बयालिस वर्षों तक एक ही तरह के दृश्य के प्रति निष्ठा रखी, यह दृश्य था कि मैं बिना किसी तैयारी के कक्षा में जा रहा हूँ और अपना व्याख्यान दे रहा हूँ। यह इसलिए नहीं था कि मैं कोई महान अध्येता था, जो कुछ भी कह सकता था। मैं यह सोचता था, तब भी और अब भी, कि हर कक्षा या बहस जीवन्त घटना है। हमें अधिक तैयारी से उसकी हत्या नहीं करनी चाहिए। इसका एक उदाहरण यह है कि गाते बहुत सारे लोग हैं लेकिन बेगम अख़्तर का गाना कुछ और है, क्रिकेट बहुत-से लोग खेलते हैं पर कॉलिन काउड्रे और मुश्ताक अली का खेलना कुछ अलग था। इसका कारण यह है कि ऑस्ट्रेलिया आदि के क्रिकेट खिलाड़ी इतने अधिक पेशेवर हैं, उनके चेहरे इतने गम्भीर होते हैं कि यह स्पष्ट ही है कि वे खेल का आनन्द नहीं ले रहे। असली खिलाड़ी वह है, जो हमें भी आनन्द दे और साथ ही खुद भी आनन्दित हो। मैं सोचता था कि कक्षा चूँकि जीवन्त है, उसे अपने आप विकसित होना चाहिए।

उदयन– मैं यह समझ सकता हूँ। मैं खुद भले ही विज्ञान पढ़ाता हूँ पर इसी तरह पढ़ाने का प्रयत्न करता रहा हूँ। पढ़ाना भी यान्त्रिक होता जा रहा है। मानो मनुष्य की जगह मशीन पढ़ा रही हो।

मुखोपाध्याय– अधिकतर समय जीवन्त पढ़ाना फलप्रद ही रहा है। मेरी कक्षा में कुछ चीज़ों पर पाबन्दी थी और कुछ चीज़ें प्रेरित की जाती थीं। नोट्स लेने पर पाबन्दी थी, मेरी दृष्टि में तो वह लगभग पाप था। मेरे व्याख्यान में किसी भी क्षण हस्तक्षेप करने की खुली अनुमति थी। अगर मेरे व्याख्यान में संगति थी तो वह प्रकट होकर रहती थी। कई लोगों का अपने दर्शन के प्रति कोई गहरा सरोकार नहीं होता। यह अध्यापक के लिए बहुत अच्छा है। उसे अपने दर्शन पर अनावश्यक ज़ोर नहीं देना चाहिए। बेहतर परिणाम समय रहते अपने आप आने लगेंगे। मुझे ऐसा ही करना चाहिए था। मुझे अपने विचारों, अपनी भावनाओं, उद्देश्यों पर ज़ोर नहीं देना था। वही मैंने किया। लेकिन अब जब मैं मुड़कर देखता हूँ, मुझे लगता है कि ऐसे कुछ विचार, उद्देश्य और आदर्श थे जिन्होंने अन्ततः हमें बचा लिया। मैं दरअसल अपने अतीत को देखने का प्रयास कर रहा था कि आखिर हम यह सब सोचने की स्थिति में कैसे आ सके। यह सोचना ग़लत है कि मेरे आज के विचार हमेशा से थे। इनमें से कोई भी विचार शुरुआत से नहीं था। लेकिन समय बीतने के साथ ये सारे विचार मेरे या नवज्योति के पास आये होंगे।

उदयन– आप अपने आरम्भिक जीवन के बारे में कुछ कहें। हमारे देश में अनेक बेहतर दार्शनिकों की जीवनियाँ लिखी नहीं गयीं। बहरहाल लिखी तो हमने महान गणितज्ञ रामाजुनन तक की नहीं है। हम इस बातचीत में आपका टुकड़ा-जीवनी ही ले आयें, तो बेहतर होगा।

मुखोपाध्याय– जब हमने अपना छात्र-जीवन शुरू किया, तब का कुछ बताता हूँ। मैं संयोग से कोलकाता के पास के गाँव में पैदा हुआ था। वह खास तरह का गाँव था। उस गाँव में एक थियेटर

हॉल था।

उदयन- आपके गाँव में?

मुखोपाध्याय- हाँ, बकायदा एक थियेटर हॉल था। वहाँ मैं जिस स्कूल में पढ़ता था, वह कोलकाता विश्वविद्यालय के दस बरस पहले स्थापित हो गया था। उस समय उस स्कूल की आधार शिला की स्थापना या उसका शुभारम्भ लॉर्ड बेन्टिंग ने किया था। उस स्कूल में नियमित रूप से संगीत समारोह होते थे। मैं यह १९४० के दशक की बात कर रहा हूँ। उस गाँव में ऐसे कम-से-कम ४५ घर थे जिनमें दुर्गा पूजा होती थी। उस गाँव की संस्कृति कुछ ऐसी थी कि उन सारे ४५ घरों से हर घर को आमन्त्रण मिलते थे और हरेक से यह अपेक्षा होती थी कि वे इन सभी घरों की पूजा में शामिल हों। हमने पिछले दशकों में ऐसे गाँवों को खत्म कर दिया। मेरे देखते-देखते ही वहाँ कुछ बाकी नहीं रहा।

उदयन- ऐसे गाँव और उसमें इस तरह के स्कूल की कल्पना आजकल बिल्कुल भी नहीं है। ऐसे स्कूल मिलना अब शायद गाँवों में मुश्किल है, और कस्बों में भी। कुछ बड़े शहरों को छोड़कर कहीं भी।

मुखोपाध्याय- वह अच्छा स्कूल था पर मेरे मन में उसके लिए कुछ प्रश्न भी रहे हैं, पर वे उतने महत्व के नहीं हैं। मैंने आपको बताया भी था और कई बार लिखा भी है कि ऐसा कोई समय नहीं था, जब इस देश में तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की आलोचना न हुई हो, लेकिन कभी ऐसा समय भी नहीं था जब कोई श्रेष्ठ शिक्षक न रहा हो। हमें इन दोनों स्थितियों के संयोग को समझना होगा, तभी हम शिक्षा के मर्म को छू सकेंगे। मनुष्यता के इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं आया जब उसके किसी हिस्से की आलोचना न हुई हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उस स्थिति में फँसकर रह जाएँ। हमें हमेशा ही उसके परे निकलने का प्रयास करना होता है। अच्छे शिक्षक या मनुष्य स्वर्ग से नहीं टपकते, वे खुद को बनाते हैं। उनके रास्ते में कितने भी दुर्भाग्य क्यूँ न आते हों। हम अपने विद्यार्थी जीवन से ही यह जानते थे, अगर ऐसा कुछ उस वय में सचेत रूप से जाना जा सकता था कि संस्कृतियाँ दो किस्म की हैं, एक भारतीय और एक ब्रितानी।

उदयन- आप यह बात अपने स्कूल के दिनों की कर रहे हैं, इसका आशय यह भी है कि यह १९४० का दशक है...

मुखोपाध्याय- हाँ बिल्कुल। उन दिनों यह सामान्य ज्ञान था। युवा लोग भी यह अनुभव करते थे कि हम भारतीय लोग हैं, हमारी संस्कृति भारतीय है, ये लोग अँग्रेज़ हैं और हम पर शासन कर रहे हैं।

उदयन- तब आपकी उम्र क्या रही होगी?

मुखोपाध्याय- मैं पाँचवीं या छठी कक्षा में रहा हूँगा।

उदयन- यानी आप १०-११ बरस के रहे होंगे।

मुखोपाध्याय- पर यह समझ आम थी। सभी इसमें साझा करते थे। यह ज़रूर है कि हमें इसके इस

विभाजन के परिणाम नहीं मालूम थे पर हम यह ज़रूर जानते थे कि ये साहब लोग हैं और निश्चय ही बुरे हें। लेकिन हमें यह भी अनुभूति थी कि ये गोरे लोग हमारे देश में कई चीज़ें लेकर आये हैं। साथ ही, हमें यह समझ भी थी कि ये लोग विभाजनकारी भी हैं।

उदयन- क्या इस किस्म की बातें परिवारों में भी होती थीं?

मुखोपाध्याय- हर परिवार में तो नहीं पर मेरे परिवार में कभी-कभी ये बातें अवश्य होती थीं। यह मेरे परिवार की अच्छी बात थी। हमारे परिवार की कुछ विशेषताएँ थीं मसलन, जब मैं दूसरी, तीसरी, चौथी या पाँचवीं कक्षा में था, मैं ही नहीं, मेरे बड़े भाई और बहनें भी जब पढ़ते थे, हमारे घर में यह कोई नहीं कहता था कि तुम लोगों को पढ़ाई में लगे रहना चाहिए, कभी भी नहीं। अगर कोई कह देता तो सुनने वाला उससे अपमानित महसूस करता। यह माना जाात था कि अध्ययन हरेक का अपना मसला है, वह उसे खुद सुलझा लेगा। मेरे पिता कुछ अलग क़िस्म के व्यक्ति थे, वे यह कभी नहीं कहते थे कि तुम्हें क्या पढ़ना चाहिए, क्या नहीं। तुम्हें जो पसन्द है, तुम पढ़ो। वे हमारे ग्रेड्स (नम्बरों) की चिन्ता नहीं करते थे। शायद उस समय यह सम्भव भी था। तब स्थिति इतनी खराब और प्रतिस्पर्धी नहीं थी। हम सिर्फ़ इतना जानते थे कि हम परीक्षा में बैठेंगे और पास हो जाएँगे। अगर हम पास हो जाएँगे, हम अगले स्तर में दाखिला पा लेंगे। इस क़िस्म की चिन्ताएँ तब नहीं थीं। अगर मैं इन दिनों पैदा हुआ होता, मुझे पक्का भरोसा है, मैं स्कूल की परीक्षा भी पास नहीं कर पाता। हमारे पिता कई बार व्यवहारिक नहीं हो पाते थे। आखिरी परीक्षाओं और अगली कक्षाएँ शुरू होने के बीच कुछ दिन अवकाश के होते थे, उन दिनों हम जो चाहते, पढ़ सकते थे। मेरे पिता ने मुझसे कहा कि मुझे इतिहास पढ़ना चाहिए। उन्हें इतिहास पढ़ना पसन्द था। शायद इसीलिए मैं शुरुआती दिनों में इतिहास को नापसन्द करता था, अब उसकी ओर लौटा हूँ। उन्होंने मुझे कहा, 'मैं तुम्हें मैकाले का लिखा ब्रिटेन का इतिहास पढ़ाता हूँ। मैंने पाया कि मुझे दस में से आठ या नौ शब्द समझ में नहीं आ रहे हैं, वे इस हद तक अव्यवहारिक हो जाते थे। मैं क्या करता? मैं उनके घर रहते समय गायब हो जाता था। जब वे व्यस्त हो जाते, मैं लौट आता। अन्ततः पिता को बात समझ में आ गयी। उन्होंने मैकाले का लिखा इतिहास पढ़ाना छोड़ दिया। इस तरह मेरे इतिहास अध्ययन का अन्त हुआ। उन्हीं दिनों मैं अपने पिता से पूछा करता था, तब मैं नवे दर्ज़े में था, उन्हें कौन-सा कवि पसन्द है। मैं पूछता, 'आपको वड्र्सवर्थ और ब्राउनिंग में कौन-सा कवि पसन्द है?' वे कहते, 'वड्र्सवर्थ।' मैं कहता, 'ग़लत, ब्राउनिंग बेहतर है।' पिता जवाब देते, 'तुम बड़े हो जाओ, समझ जाओगे।' इस किस्म की बातें हमारे बीच होती थीं। हमारे लिए बहुत खुलापन था। हम पर कोई दबाव नहीं था जैसा कि आजकल बच्चों पर होता है, इसीलिए हमने अपना विद्यार्थी जीवन आनन्दपूर्वक बिताया। मेरे पिता को साहित्य से अगाध प्रेम था। विशेषकर अँग्रेज़ी साहित्य से। जब मैं आठवीं में था, मैंने तय कर लिया था कि मुझे आगे चलकर अँग्रेज़ी प्रोफ़ेसर बनना है, मैं कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में मैंने दो-तीन बार अँग्रेज़ी साहित्य पढ़ने की कोशिश की, हर बार मुझे वैसा करने से रोक लिया गया। या तो वह मानवीय अड़चन रही

या दैवीय। वह एक अलग कहानी है। मेरा दर्शन में आना महज़ संयोग था। वह मेरा स्वप्न नहीं था। पर आज मैं यह समझ पाता हूँ कि अगर मैंने साहित्य पढ़ा होता, दर्शन की किताब मेरे लिए बन्द रही आती। मेरे दर्शन पढ़ने के कारण, मेरे लिए इतिहास या साहित्य या अन्य विषय खुल गये।

उदयन– आपने यह ख़ास बात कही है कि दर्शन ने आपकी समझ के दरवाज़े दूसरे क्षेत्रों के लिए भी खोल दिये। आप इसका क्या कारण समझते हैं?

मुखोपाध्याय– मैं भाग्यशाली हूँ कि मैंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। क्योंकि दर्शन आपको अपेक्षा का अवकाश विस्तृत कर देता है। यह दर्शन में कूट-कूटकर भरा है। एक इलाहाबाद के अप्रवासी बंगाली का ऐसे आशय का प्रसिद्ध गीत है। उनका नाम अतुल प्रसाद सेन था। वह महान संगीतकार थे। उन्होंने कई संगीत रचनाएँ बनायी हैं। उन्होंने विशेष तरह की संगीत रचनाएँ बनायी हैं। जिस तरह संगीत की विशिष्ट रचनाओं को 'रबीन्द्र संगीत' कहा जाता है, उसी तरह 'अतुल प्रसाद संगीत' भी है, उसमें विशिष्ट संगीत रचना और साहित्य है। उन्होंने कई गीत लिखे और उनको शैली विशेष में संगीतबद्ध किया। वे खुद भी बहुत अच्छे गायक थे और उन्होंने कई शिष्यों को सिखाया था। इनके अलावा भी एक ऐसे संगीतकार थे। इन तीनों व्यक्तियों ने संगीत रचनाएँ कीं और गान की तीन अलग विधाएँ विकसित कीं और उनमें एक चीज़ सामान्य हैः वे सभी मार्गी संगीत से अलग हैं। यह सोचने की बात है कि ऐसा क्यूँ हुआ होगा कि उस अवधि में ऐसे कई संगीतकार हुए जिन्हें यह महसूस हुआ कि संगीत की एक अलग विधा की आवश्यकता आन पड़ी है। उनकी गीत रचना भी अलग थी और संगीत रचना भी।

उदयन– वे सभी संगीत-रूप मार्ग संगीत से अलग थे, यह कहने में विशेष तथ्य का उल्लेख हो रहा है। यह विचार महत्व का है और यह किसी हद तक उस समय के ऐतिहासिक प्रश्न को भी आलोकित कर सकता है।

मुखोपाध्याय– विशेष बात यह है कि जिन लोगों ने भी ये संगीत रचनाएँ कीं, वे मार्ग संगीत के विशेषज्ञ थे। तब भी उन्होंने अपनी तरह की संगीत विधाओं को रचने को वरीयता दी। दरअसल, बात यह है कि कोई भी गीत किन्हीं राग-रागनियों में संयोजित किया जा सकता है, यह अवश्य है कि हो सकता है कि वह रचना कमज़ोर हो। इसलिए ऐसा नहीं था कि रबीन्द्रनाथ आदि के लिखे गीतों को राग-रागिनियों में संयोजित न कर सकते हों। रबीन्द्रनाथ कई मार्ग संगीतों के जानकार थे और वह सब जानकर ही उन्होंने एक अलग, रबीन्द्र संगीत बनाया।

उदयन– यह तथ्य बहुत लोगों को मालूम होगा कि रबीन्द्रनाथ ने विष्णुपुर घराने का ध्रुपद सीखा था।

मुखोपाध्याय– उन्होंने विष्णुपुर घराने के अधिष्ठाता जदु भट्ट से संगीत सीखा था। लेकिन उस घराने को भी कई हिस्सों में विभाजित किया जा रहा है। पर वह अलग बात है। सारे मार्ग संगीतकारों ने इन तीनों ही संगीत प्रयोगों की अवहेलना की। जबकि रबीन्द्रनाथ और अतुल प्रसाद सेन आदि ने मार्गी

संगीत सीखा था। मार्ग संगीतकारों ने इन संगीत विधाओं के विषय में कुछ नहीं कहा, वे चुप रहे आये। अब कुछ संगीतकार रबीन्द्र संगीत का गायन या वादन करने लगे हैं। रबीन्द्रनाथ, अतुल प्रसाद आदि के संगीत के कुछ लोग खिलाफ़ थे, कुछ पक्षधर। इस तरह इन संगीत प्रकारों के सन्दर्भ में दो खेमे बन गये। स्थापित मार्गी संगीतकारों को वह संगीत पसन्द नहीं था। यह ज्ञात तथ्य है पर यह पता नहीं है कि ऐसा क्यों था। यह भी बहुत पता नहीं है कि रबीन्द्रनाथ मार्ग संगीत को जानते हुए भी रबीन्द्र संगीत की रचना क्यूँ करने लगे। संगीत को लेकर तीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों में बहस हुई थी। इनमें मुख्य व्यक्ति थे, धुर्जटी प्रसाद मुखोपाध्याय। वे भी लखनऊ के अप्रवासी बंगाली थे। वे संगीत के अच्छे आलोचक थे। उनके और रबीन्द्रनाथ के अनेक विषयों पर मतभेद थे। इन दोनों के बीच तीसरे एक और थे, जो स्वयं विद्वान और दिलचस्प व्यक्ति थे। वे धार्मिक व्यक्ति, बड़े संगीतकार, संगीत रचनाकार और महान अध्येता थे। वे ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के ट्राईपॉस थे। उन्होंने प्रेसीडेन्सी कॉलेज कलकत्ते से स्नातक उपाधि प्राप्त की थी, गणित और कुछ अन्य विषयों में। उनका नाम है दिलीप राय। वे भी अरविन्द के शिष्य थे। वे धुर्जटी प्रसाद और रबीन्द्रनाथ की बहस के बीच में थे। रबीन्द्रनाथ का मत अपेक्षाकृत स्पष्ट था। स्पष्ट यह नहीं है कि संगीतकार इसके विरोध में क्यूँ थे। 'रबीन्द्र संगीत' और 'अतुल प्रसाद संगीत' गायक के लिए स्वतन्त्रता का बहुत कम अवकाश छोड़ते थे जबकि मार्गी संगीत की विशेषता यह है कि वहाँ संगीतकार के लिए स्वतन्त्रता का असीम अवकाश है। इसका अर्थ यह है कि एक ही राग को दस लोग दस तरह से गा सकते हैं। लेकिन अगर सौ लोग रबीन्द्र संगीत गाते हैं तो वह सौ बार एक-सा गाना होगा।

रबीन्द्र संगीत में न तो एक आखर और न एक तान जोड़ी जा सकती थी। इसलिए उसमें न तो तान के विस्तार की सम्भावना थी और न गान विस्तार की। हालाँकि, यह भी सच है कि रबीन्द्रनाथ ने ऐसी दो संगीत रचनाएँ की हैं जिनमें उन्होंने आखर जोड़ा है पर वहाँ भी तान विस्तार की गुंजाईश नहीं है। रबीन्द्रनाथ का कहना यह था कि मार्गी संगीत बहुत लम्बे समय से उन लोगों के हाथ में था जो अधिकांशतः अशिक्षित थे। उनके पास सामान्य शिक्षा की कमी थी। इसका एक प्रभाव यह पड़ा कि सांगीतिक युक्तियों, उसके तकनीकी पक्ष की संगीत में प्रमुखता हो गयी और संगीत का रस या सौन्दर्य हाशिये पर चला गया। जब अपेक्षाकृत अधिक जानकार लोगों का संगीत में प्रवेश हुआ, स्थिति बदल गयी। अब ऐसे संगीतकार शायद कम होंगे, जो कम जानकार हों और इस तरह बिना किसी घोषणा के कुछ परिवर्तन आना शुरू हो गये। एक बार मैं एक संगोष्ठी में गया जिसका विषय थाः संगीत में तर्कातीत। किसी संगीतकार ने वहाँ एक किस्सा सुनाया; वे एक दिन मंच पर गा रहे थे। जब उनका गायन समाप्त हुआ, एक श्रोता उनके पास आया और कहने लगा, 'उस्तादजी आपने अपने गायन में एक ग़लत स्वर का उपयोग कर लिया, ऐसा क्यूँ किया? वे बोले, जब मैं गा रहा था, वह स्वर मेरे दरवाज़े दस्तक दे रहा था, वह गाने के भीतर आना चाहता था। मैंने सोचा उसे एक बार आ जाने देते हैं।

उदयन– संयोग से यह घटना कुमार गन्धर्व के साथ घटी थी। वे राग भूपाली गा रहे थे और तभी उन्हें लगा कि मध्यम, जो उस राग का विवादी स्वर है, राग में प्रवेश करना चाहता है। उन्होंने खुद से कहा, 'अरे भई उसे आने देते हैं, अपना ही स्वर है।' दुर्भाग्य से विवादी स्वर को वर्जित स्वर भी कहा जाता है पर वह ग़लत इसलिए है क्योंकि विवादी स्वर दरअसल अपनी अनुपस्थिति में राग में उपस्थित रहता है।

मुखोपाध्याय– इस किस्से में एक निर्देश अन्तर्निहित है। मैं यह कह रहा हूँ कि इस तरह के नवाचार की मार्गी संगीत में बहुत अधिक सम्भावना है। यह रबीन्द्र संगीत में नहीं है। लेकिन तब भी मार्गी संगीत को गहरायी तक समझने वाले रबीन्द्रनाथ उस दूसरी तरह के संगीत को प्रस्तावित कर रहे थे। उनका कहना था कि मार्गी संगीत में संगीतकार के लिए बहुत अधिक स्वातन्त्र्य है पर ऐसे बहुत संगीतकार नहीं हैं जो इस स्वातन्त्र्य को सम्भाल सकें।

उदयन– शायद वे यह कहते समय वही कह रहे हैं जिसे अधिकारी न हो पाने की सीमा कहा जा सकता है।

मुखोपाध्याय– जानकारी के अभाव में अधिकतर उस्ताद लोग दोहरावग्रस्त होते हैं। एक समय मैं भी बहुत-सी संगीत सभाओं में गया। उन दिनों यह बात थी कि हर गान कम-से-कम तीन घण्टे का तो होता ही था। अभी हाल में अमज़द अली खान ने यह टिप्पणी की कि मैंने एक संगीत सभा रात नौ बजे से सुबह नौ बजे तक सरोद बजाया था। इस तरह के दोहराव पर उन दिनों रविशंकर जैसे कुछ रोशन ख़याल संगीतकारों और चिन्तकों ने ध्यान दिया और यह कहा भी कि यह क्या ज़रूरी है कि सारे राग तीन या चार घण्टें गाये जायें। वे इस मत के थे कि एक राग को तब तक गाया जाना चाहिए जब तक वह समूचे सौन्दर्य में प्रकट न हो जाए। लेकिन यह जैसे ही सम्पन्न हो जाता है, वह पर्याप्त हो जाता है। दरअसल, स्वातन्त्र्य का वही उचित उपयोग था। लेकिन कमज़ोर संगीतकार यह तय करके बैठते थे कि हमें तो कम-से-कम तीन घण्टे या उससे अधिक गाना ही है। यह उस दोष का पहला हिस्सा है। दूसरा भाग यह है कि सामान्य श्रोता संगीत का आनन्द धुन में तो लेते ही हैं पर यदि उसमें बेहतर काव्य भी हो और अगर वह संगीत के साथ मिलकर आये, तब संगीत का अनुभव कहीं अधिक समृद्ध होता है। लेकिन यह प्रयोग तब तक बहुत नहीं किये गये थे। मार्ग संगीत के गीत कभी राग संगीत की सम्भावना के साथ मिलाकर नहीं लिखे गये। वे केवल सहयोगी ढाँचा भर थे। अगर उन्हें हटा भी लिया जाता, बहुत फ़र्क नहीं पड़ता। सारी राग को तराने में ही गाया जा सकता है। रबीन्द्रनाथ ने सोचा कि यदि विचार और स्वर का संतुलित मेल हो, संगीत का आनन्द कई गुना बढ़ जाएगा। मैं सोचता हूँ कि रबीन्द्रनाथ इस दृष्टि से अस्सी प्रतिशत गीतों में सफल रहे हैं। उन्होंने अपने इस विचार को बक़ायदा प्रदर्शित किया है। सभी संगीत रचनाओं में वे सफल नहीं हो पाए। उस संगीत में एक तरह पूरापन है और वह रंजक भी है। यह सच है कि उन्होंने इस संगीत में संगीतकारों के

स्वातन्त्र्य को सीमित किया लेकिन उन्होंने सौन्दर्य और रंजकता में कुछ जोड़ा भी है। वे यह इसलिए कर सके क्योंकि वे न केवल मार्ग संगीत के जानकार थे, स्वयं कवि थे। वे अपने इस प्रयोगों पर इतना भरोसा करते थे कि वे कह सके कि हो सकता है किसी दिन लोग मेरी कविताओं को भूल जाएँ लेकिन वे दो चीज़ें कभी नहीं भूल सकेंगेः मेरा संगीत और कहानियाँ। यही कुछ अतुल प्रसाद सेन आदि के साथ हुआ। उनके संगीत में वैचारिक समृद्धि है। वे देश प्रेम का संगीत लिख रहे थे। वे गीत कई मनस्थितियों के थे। कुछ गीत ऐसे थे जिनका समकालीन प्रयोजन भी था राजनैतिक हो, न हो। मुख्य बात यह है कि तब तक का मार्गी संगीत से भले ही कई लोग प्रभावित होते रहे हों पर उसमें एक दोष था। वह दोष यह था कि उसमें काव्य कमज़ोर था। संगीत को सुन्दर होने के लिए उसमें प्रयुक्त गीत कैसा भी हो सकता है, यह धारणा ग़लत है। उन संगीतकारों को कभी भी अच्छे काव्य की आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई। वे यह नहीं समझ पाये कि अगर श्रेष्ठ संगीत और उच्चकोटि के काव्य का उचित संयोग होता है तो रंजकता बढ़ जाती है और श्रोता को संगीत में कुछ भी कभी महसूस नहीं होती, तब अभाव उतना उभरकर नहीं आएगा जितनी कि समृद्धि। मैंने यह पूरी विवेचना इसलिए की क्योंकि मैं यह बताने की कोशिश कर रहा था कि वे कौन-से विचार और लक्ष्य थे जिन्होंने हमारी पीढ़ी की मानसिकता को आकार दिया। हम उन दिनों यह नहीं जानते थे कि अच्छा क्या है, बुरा क्या, पर यह पता था कि 'साहेब लोग' अच्छे नहीं हैं। लेकिन जब हम कुछ बड़े हुए, हमें यह समझ में आ गया कि हम अपने सांस्कृतिक आधार बहुत हद तक खो चुके हैं। या कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को बहुत तेज़ी-से खो रहे हैं। यह बात कई लोगों तक फैली थी। कुछ लोगों को यह लगा कि भारतीय संस्कृति के बीसवीं सदी के मध्य तक आने में मिशनरी धार्मिक प्रपोगण्डा का स्थान राष्ट्रीय धार्मिक आन्दोलन ने एक विशेष काल में ले लिया था। तब हालाँकि हम धार्मिक आन्दोलन की बात कर रहे थे पर दरअसल हम अपने तेज़ी-से क्षीण होते सांस्कृतिक आधारों की खोज कर रहे थे। आधुनिक भारत के जन्म के समय का यह संकट था। आधुनिक भारत के जन्म के समय के दो पहलू स्पष्ट थे। एक ओर रूढ़िवादी लोग थे, पुरानी पीढ़ी के लोग। उन्हें हर आधुनिक चीज़ से आपत्ति थी। उनके लिए आधुनिकता एक गन्दा शब्द था। दूसरी ओर पश्चिम से प्रभावित अति-आधुनिक लोग थे। जिनके लिए पुराने लोग और सारा कुछ प्राचीन खराब था। ये दो अतियाँ उस समय यहाँ थीं। लेकिन इन दोनों के बीच भी कुछ लोग यहाँ थे, राष्ट्रीय धार्मिक आन्दोलन के अधिकांश लोग इसी तीसरे समूह के सदस्य थे।

उदयन- क्या आप इसका कोई ठोस उदाहरण दे सकते हैं?

मुखोपाध्याय- वह मुझे देना ही होगा वरना यह महसूस होगा कि यह सब कुछ महज बनावटी है। मधुसूदन दत्त प्रारूपिक आधुनिक पश्चिम-प्रभावित बौद्धिक थे। इसका बेहतर रूप राजा राम मोहन राय थे। दूसरी ओर पुरोहित थे, जिन्हें यह लगता था कि हर आधुनिक चीज़ या विचार अँग्रेज़-विचार है। लेकिन इन दोनों समूहों के बीच कुछ लोग थे। इनका सोचना ये था कि महज़ यह बात कहना कि हम

अपने सांस्कृतिक आधारों को खो रहे हैं, पर्याप्त नहीं है। प्रश्न यह है कि हम अपनी सांस्कृतिक धारा में एक बार फिर अवस्थित हो सकें। यहीं से मेरा विचार है कि मॉडर्न ट्रेडीशनलिस्टों की शुरुआत होती है।

उदयन- इसका अर्थ यह हुआ कि वह समूह यह खोजने में लगा था कि हम उस समय की अपनी स्थिति को, अपने आपको किस तरह देखें।

मुखोपाध्याय- यह एक श्रम-साध्य यात्रा थी। सबसे कठिन था कि उग्र आधुनिकतावादी आपके अपनी परम्परा और संस्कृति की बात करते ही, तुरन्त आपको यह कह कर गिरा देते थे कि यह पुनरुत्थानवादियों का षड्यन्त्र है। इसलिए मॉडर्न ट्रेडीशनलिस्टों की समस्या यह थी कि किस तरह पुनरुत्थानवाद से बचा जाए। पर साथ ही अपनी सांस्कृतिक आधारभूमि को प्राप्त किया जाए। तब तक हम इस बात को समझ गये थे कि आधुनिक होने के अलावा कोई रास्ता बाकी नहीं है। इसीलिए हमने आधुनिकता में कुछ नये आयाम जोड़े। हमारे सामने प्रश्न यह था कि हम आधुनिक अर्थों में विश्वसनीय भारतीय हो सकें। इसके बाद हमारे सामने प्रश्न यह था कि भारतीय होने का अर्थ क्या है। अगर हम अपने आधार को खो चुके थे, अगर हम अपनी जड़ें दोबारा स्थापित करना चाहते तो हमें वह भारत जानने की आवश्यकता थी जिसमें हम अपना आधार खोजते, जिसमें हम अपनी जड़ें दोबारा स्थापित करते। उस आधार को कहाँ ढूँढ़ा जाये, हमारा मुख्य प्रश्न यही था।

उदयन- यह आप ठीक कह रहे हैं। अगर हम अपनी जड़ें खो चुके हैं, हम उन्हें तब तक दोबारा स्थापित नहीं कर सकते जब तक हम वह स्थान न ढूँढ़ लें या वे स्थान न ढूँढ़ लें जिनमें उन्हें स्थापित किया जा सके। लेकिन यह करना आप लोगों के लिए आसान नहीं रहा होगा। आपके पास इसके लिए क्या कुछ विकल्प भी थे?

मुखोपाध्याय- हमारे सामने मोटे तौर पर दो विकल्प थे। हम उन लोगों के पास जायें जो यह अपने शब्दों और कर्मों से यह कह रहे थे कि उनकी जड़ें भारत में ही हैं। ये मुख्यतः पुराने संस्कृतविद् आदि थे। उनका यह दावा कुछ इस तरह था मानो उनकी संस्कृत बोलने आदि की सामर्थ्य ने ही उन्हें यह अधिकार दिया हो कि वे यह कह सकें कि वे भारत के असली प्रतिनिधि हैं। लेकिन उनमें से अनेक के साथ हमने यह पाया कि उनके दावे खोखले थे। उनकी भारतीय संस्कृति की समझ अत्यन्त दरिद्र थी। यह सम्भवतः उन्होंने चुना नहीं था, बल्कि वे ऐसा करने को बाध्य हुए। इसीलिए हम उन रास्तों की ख़ोज में लगे, जो हमें वास्तविक भारतीय संस्कृति की समझ की ओर ले जा सकते। पण्डितों के पास जाने के अलावा हमारे पास दूसरा विकल्प लोगों के पास जाना था, पारम्परिक साहित्य की ओर जाना था, जिनमें भारतीय सांस्कृतिक विश्वास और व्यवहार संग्रहीत थे। जब हमने वह यात्रा शुरू की, हमारे सामने एक और अवरोध आया। अनेक आधुनिक और प्राचीन ग्रन्थों में लेखक अपनी ओर से भारतीय सांस्कृतिक व्यवहार के विषय में बोल रहे थे। हमें यह नहीं चाहिए था। हमें यह सूत्रबद्ध करने

में कुछ समय लगा कि हम ठीक-ठीक चाहते क्या थे। दरअसल, हमें उस साहित्य की दरकार थी जिसमें भारत स्वयं बोले। हमें भारत पर व्याख्यानों की ज़रूरत नहीं थी, हम स्वयं भारत को बोलता हुआ सुनना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, हम ऐसे ग्रन्थों को ढूँढ़ रहे थे जिसमें लेखक स्वयं को ग़ायब कर दे रहा हो या जैसा कि रामकृष्ण ने कहा था कि वह स्वयं इस संस्कृति को देखने छेद बन जाए।

उदयन- इसका अर्थ यह है कि आप लोगों को, 'मॉडर्न ट्रेडीशनलिस्टों' को भारतीय संस्कृति की ऐसी अपार्य (ओपेक़) टीका नहीं चाहिए थी जिसमें लेखक अपनी दृष्टि या मूल्यों को प्रस्तावित करे।

मुखोपाध्याय- ऐसी टीका भी हो सकती है जिसमें लेखक चुप रहता, संस्कृति बोलती हो। मसलन रामकृष्ण के शब्दों को पढ़ना एक बात है, उन पर लेखकों के व्याख्यान पढ़ना दूसरी। हमें हमारी आवश्यकता का साहित्य कहाँ मिलता? आपको आश्चर्य होगा यह सुनकर कि हमें वह किस ग्रन्थ में मिलना शुरू हुआ। वह ग्रन्थ 'मनु संहिता' था। सबसे तिरस्कृत ग्रन्थ। लेकिन दूसरे भी कई ग्रन्थ ऐसे थे जिनमें भारत बोल रहा था। इसके पहले हमने बहुत-सी हिस्ट्री की किताबें पढ़ ली थीं। हमने कौसाम्बी, रोमिला थापर, एस. गोपाल और ऐसे अनेक लेखकों को पढ़ लिया था। वह हमारे काम के नहीं थे। कुछ हिस्टोरियन ऐसे ज़रूर थे जिनके लेखन में हम कुछ महत्व का पा सकेः राधा कुमुद मुखर्जी, वी.एस. पाठक। हमने अपनी खोज में यह भी पाया कि भारत पर बहुत लिखा गया है। बहुत सारे अन्तर्विरोधी विचार उसके बारे में व्यक्त किये गये। हमें लगा कि लोग यह मानने लगे हैं, मानो भारत की शुरुआत रबीन्द्रनाथ, गाँधी और विवेकानन्द से हुई है। शायद दो सौ साल बाद सभी लोग यह मानने भी लगें। हमें उनकी अभिव्यक्ति में ऐसा क्या लग रहा था कि हम उसे स्वयं भारत की आवाज़ नहीं मान पा रहे थे। भारत विषयक जो विचार व्यापक रूप से प्रचारित किया गया था, वह था कि भारतीय संस्कृति मुख्यतः आध्यात्मिक संस्कृति है। हम यह नहीं मान सकते थे। इसके पीछे पश्चिमी विचारकों की भारतीय संस्कृति की व्याज स्तुति (लेफ़्ट हैण्ड काप्लिमेंट) थी। यह हम भारतीयों को दिग्भ्रमित करने की युक्ति थी।

उदयन- आपने अपने एक आलेख 'हिस्ट्री ऑफ़ साइन्स एण्ड टू मेटामॉरफ़ोसिस ऑफ़ माइण्ड' में ऐसा कुछ इशारा किया है।

मुखोपाध्याय- मैंने उसमें यह लिखा था कि इन दो 'मेटामॉरफ़ोसिस' (रूपान्तरणों) में एक है कि यूरोप वैज्ञानिक है और दूसरा यह कि भारत आध्यात्मिक संस्कृति है। ये दोनों एक साथ हुए हैं और इनका एक-दूसरे से सम्बन्ध भी है। पश्चिम के लोगों ने यह बड़ा दावा किया जो कि अनिवार्यतः झूठा था कि यूरोप वैज्ञानिक संस्कृति है का अर्थ यह था कि यूरोप वैज्ञानिक ज्ञान परम्परा का संरक्षक है। यह तमाम एशियायी संस्कृतियों को मज़हबी बताने का उपक्रम था। पर विडम्बना यह है कि अपने इस झूठ में यूरोप सफल हो गया, हम विफल हो गये। यूरोप ने एक झूठा दावा किया और उसे सच मानकर सच कर दिया। पर हमने क्या किया? हम आध्यात्मिक हैं, हमने यह कहना शुरू किया और राम मोहन

राय के समय से विवेकानन्द तक और फिर अन्ना हजारे तक हमने कौन-सा विकास किया है? हर बीतते दिन के साथ हम धार्मिक और नैतिक रूप से विपन्न होते जा रहे हैं। हम पश्चिम के झूठ को झूठ साबित नहीं कर सके। हम 'मॉडर्न टेट्रीशनलिस्ट' यह समझ गये कि भारत महज़ आध्यात्मिक संस्कृति नहीं। हमने यह पता किया कि अठाहरवीं शती से पहले कभी किसी भारतीय ने यह नहीं कहा कि भारत आध्यात्मिक संस्कृति है। इसका अर्थ यह है कि भारत अपनी दृष्टि में केवल आध्यात्मिक संस्कृति नहीं रहा। यहाँ संस्कृति का हर क्षेत्र विकसित था, वह भले ही विकसित होने के आधुनिक पैमानों पर खरा न उतरे, क्योंकि वह दृष्टि ही अलग है लेकिन हम जैसे ही आधुनिक रेशनेलिटी और विज्ञान को जोड़कर पश्चिमी संस्कृति के विषय में यह कहने लगते हैं कि वह वैज्ञानिक संस्कृति है, भारत की वे सारी दृष्टियाँ और चीज़ें जो विज्ञान के क्षेत्र से बाहर की हैं, आध्यात्मिक हो जाने को अभिशप्त हो जाती हैं। इसमें भारतविदों (इण्डोलॉजिस्ट) का बड़ा योगदान है। भारतविद् एक विशेष परियोजना और सम्भावित मानचित्र (ब्लू प्रिण्ट) लेकर भारत आये थे, उसका मूल प्रस्ताव थाः वे सभी जो भारतीय चीज़ें आध्यात्मिक हैं और जो भी वैज्ञानिक है, यूरोपीय संस्कृति है। अगर मैं भारतीय दर्शन पर अँग्रेज़ी में लिखता हूँ तो उसे दर्शन (फ़िलॉसफ़ी) कहा जाता है, अगर वही संस्कृत में लिखूँ तो वह दर्शन नहीं बचता महज़ संस्कृत भाषा हो जाता है।

उदयन- इस सारे अध्ययन और समझ से आप लोग भारतीय संस्कृति के विषय में किस निष्कर्ष या निष्कर्षनुमा पर पहुँचे?

मुखोपाध्याय- हममें यह सोच विकसित हुई कि भारत केवल आध्यात्मिक नहीं, सम्पूर्ण संस्कृति है। चूँकि वह ऐसी है, उसमें मज़हब, आध्यात्मिकता, दर्शन आदि सभी के लिए स्थान है। हम भक्ति आन्दोलन और उससे जुड़े आध्यात्मिक योगदान को जानते हैं पर क्या हम यह भी जानते हैं कि उसी अवधि में और लगभग उसी क्षेत्र में दो महान चीज़ें हुईं, जिन्हें भारतीय दृष्टि का विश्व को उत्कृष्ट योगदान कहा जा सकता है। पहला है गौड़ीय वैष्णव दृष्टि और दूसरा नव्य न्यायशास्त्र। उसी बंगाल में जहाँ भक्ति आन्दोलन की व्याप्ति थी, नव्य न्याय आया, जो अत्यन्त कठिन, विदग्ध और व्यवहारिक तर्क पद्धति है और वही गौड़ीय वैष्णव भक्ति का प्रतिमान है। उनकी अपनी दृष्टि यह थीः

काव्येषु कोमल धियो वयमेव नान्येव।
तर्केषु कर्कशो धियो वयमेव नान्येव।।

(काव्य में कोमल, तर्क में कठोर, वही हमारी मति है, किसी और की नहीं। तर्क में कर्कश, वही हमारी मति है, किसी और की नहीं।)

भारत यह हमेशा से जानता था कि मनुष्य एक जटिल इकाई है, उसमें सभी तरह की पसन्द, सरोकार, बेचैनियाँ आदि हैं इसलिए मैं मसलन संगीत में, साहित्य आदि में रुचि के बिना दार्शनिक कैसे हो सकता हूँ? इसी अर्थ में भारत समग्र संस्कृति है। इसीलिए हमने सोचा कि भारतीय संस्कृति को उसकी समग्रता

में समझकर ही, हम उसमें अपना आधार खोज सकते हैं। हमारा आधारहीन होना अठारहवीं शती में अपने को आध्यात्मिक संस्कृति कहने से पहले शुरू हो गया था। वह केवल ईसाई मिशनरियों के कारण नहीं था। इसकी शुरुआत तथाकथित भक्ति आन्दोलन के धार्मिक लोगों ने की थी। तभी से अध्यात्म (काव्य आदि) का तर्क से विभाजन शुरू हुआ। 'भक्ति आन्दोलन' में शामिल और उससे सम्बद्ध तमाम व्यक्तित्व शास्त्र की दृष्टि से या तो अशिक्षित थे या कम शिक्षित थे, हालाँकि वे धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध थे। इसीलिए सम्भवतः उनका संस्कृत का ज्ञान पर्याप्त नहीं था, वे ज़्यादातर स्थानीय भाषाओं पर निर्भर थे, जो अपने में कोई छोटी बात नहीं है पर इन्हीं भाषाओं के कारण वे लोकप्रिय हो सके। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी धार्मिक दृष्टि उनके पहले की धार्मिक दृष्टियों से अधिक समृद्ध थी। वे इसलिए लोकप्रिय हुए क्योंकि वे स्थानीय भाषाओं में लिख रहे थे। उन्होंने धार्मिक और आध्यात्मिक पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक ज़ोर दिया और उनका योगदान बहुत अधिक प्रकाश में आया। हम ये तो जानते हैं कि उन दिनों ये कवि कौन-से थेः नानक, कबीर, अल्वार आदि, पर क्या हम यह भी जानते हैं कि उन दिनों श्रेष्ठ तर्कशास्त्री, गणितज्ञ, इतिहासकार कौन थे?

उदयन- क्या आप यह कहने का प्रयास कर रहे हैं कि उनकी लोकप्रियता का अकेला कारण उनका स्थानीय भाषाओं में लिखना ही था?

मुखोपाध्याय- वह केवल एक कारण था। इसके दूसरे भी कारण थे, उनमें से एक मैं बताता हूँ। सभी कारणों को बताने में बहुत समय लग जाएगा। उसी समय जब स्थानीय भाषाओं में ये कविताएँ लिखी जा रही थीं, संस्कृत हाशिये पर जा रही थी। उस समय के कुछ बौद्धिकों ने कुछ इस तरह सोचना और कहना शुरू किया कि संस्कृत बहुत कठिन भाषा है। हिन्दू धर्म, पारम्परिक हिन्दू धर्म को कुछ इस तरह देखा जाने लगा मानो वह संस्कृत साहित्य में ही प्रतिष्ठित रहा हो और वही प्राचीन भारत रहा हो। और वे सारे धर्म जो स्थानीय भाषाओं, गीतों, साहित्यों आदि में प्रतिष्ठित हुए हों, वह आधुनिक भारत है। ऊपर से देखने पर इसमें ग़लत कुछ नहीं लगता, अलावा इसके कि कबीर या रामकृष्ण प्राचीन भारत के धर्म और संस्कृति के विरोध में नहीं थे। उन दिनों यह विचार विकसित हुआ कि संस्कृत साहित्य अत्यन्त कठिन है दरअसल, वह कठिन नहीं था बल्कि वह सरल था, उस पर काठिन्न आरोपित हो गया। चूँकि स्थानीय भाषाओं का साहित्य अपेक्षाकृत आसान था इसलिए संस्कृत वाङ्मय कठिन नज़र आने लगा। इस दृष्टि से यह सही है, वेदों की संस्कृत बहुत कठिन है, शायद कुछ उपनिषदों की और निश्चय ही ब्राह्मणों की संस्कृत। लेकिन आखिर हमने क्यूँ भारतीय इतिहास की सतह से सारे पौराणिक साहित्य सारे तान्त्रिक साहित्य को पौंछने की कोशिश की है? तन्त्र लेखन में अलावा तकनीकी प्रत्ययों और तकनीकों के संस्कृत भाषा अत्यन्त सरल है। पुराणों की संस्कृत को लेकर यह कोई नहीं कह सकता कि उसे समझना कठिन है। तब फिर उन्होंने सारे संस्कृत वाङ्मय को एक मानकर उसे पूरा-का-पूरा क्यूँ कठिन बना रखा है? क्या सारी संस्कृत एक-सी है? वेदों और गीता की संस्कृत में क्या कोई फ़र्क नहीं? क्या ब्राह्मण ग्रन्थों और रामायण की संस्कृत एक है? यह

दरअसल हमारी अपनी वाङ्मय के प्रति अनभिज्ञता है जिसने अजनबी लोगों को एक ऐसा अवसर दिया जिससे वे हमें ग़लत सूचना देकर हमारी मानसिकता को बदल सकें। उस समय तक हमने अपने संस्कृत वाङ्मय की अवज्ञा कर उसे भूलना शुरू कर दिया। उसी समय पश्चिम अध्येताओं ने वैदिक साहित्य में रुचि लेना शुरू किया। उन्होंने तुलनात्मक ग्रन्थ मीमांसा (फिलालॉजी) की शुरुआत कर दी और यह कहना शुरू कर दिया कि वैदिक संस्कृति काल और कथ्य की दृष्टि से उसके बाद की संस्कृति और वाङ्मय से नितान्त पृथक है। वे यह कहने लगे कि वेद पहले हुए फिर जाकर उपनिषद् आये आदि। जब हम भारतीय अपने को उस प्राचीन वाङ्मय और संस्कृति के सहारे भारत से जानने का प्रयास कर रहे थे, हमें यह बताया गया कि वेद, उपनिषद् आदि आपस में पृथक हैं। उनके कथ्य अलग हैं और वे अलग चीज़ों का उपदेश करते हैं। इस तरह एक ग्रन्थ को दूसरे की आलोचना के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह दृष्टि पश्चिमी परिप्रेक्ष्य के अनुकूल थी, क्योंकि उनके अनुसार जो पुराना है, आदिम है, जो बाद का है, विकसित है।

उदयन– इसी तरह पश्चिमी दार्शनिक दृष्टि में द्वन्द्वात्मकता है और वे इसी तरह जगत को देखते हैं. ..

मुखोपाध्याय– हमें ऐसा एक स्थान या ग्रन्थ नहीं मिला, जिसमें यह पार्थक्य खुद भारत के अपने आत्म निरीक्षण के दौरान रेखांकित किया गया हो। हमारा अपनी संस्कृति को देखने का ढंग बिल्कुल अलग था। हमें पारम्परिक वाङ्मय में ऐसी एक जगह भी नहीं मिली जहाँ यह कहा गया हो कि वैदिक वाङ्मय के विभिन्न पृथक ग्रन्थों एक साथ न रख दिया गया हो। मैं एक उदाहरण देता हूँ। हमारी यह समझ बनी कि पश्चिमी अध्येताओं ने भारतीय वाङ्मय पर भारतीय दृष्टि को रूपान्तरित करने में निन्यानवे दशमलव नौ प्रतिशत सफलता पायी है और अधिकतर भारतीय यह मानने लगे हैं कि वेद पहले हुए, उपनिषद् बाद में, वेदों में अनुष्ठानों का उपदेश है, उपनिषदों में आध्यात्मिकता का। इन सब विचारों को हम सबने सही मान लिया है।

उदयन– आप बता रहे थे कि इस सब सामान्य ज्ञान के बीच आप लोग यानी 'मॉडर्न ट्रेडीशनलिस्ट' कुछ विशेष ढूँढ़ रहे थे ताकि इन विचारों को प्रश्नांकित किया जा सके।

मुखोपाध्याय– हमने यह जानने की चेष्टा की कि क्या इस वाङ्मय का हमारा वर्णन भी ऐसा ही कुछ है। क्या ऐसा कुछ पारम्परिक शास्त्रीय वाङ्मय में मिलता है? हमें यह पता चला कि वेद शब्द को कई बार एकवचन में, कई बार द्विवचन और बहुवचन में इस्तेमाल किया जाता रहा है, वेद का एक पर्याय तीन भी कहा गया है। इस तरह चार वेद नहीं हो सकते। पश्चिमी अध्येताओं ने वेद के विभाजन को प्रदत्त माना और फिर यह कहा कि पहले यह वेद लिखा गया, फिर यह कि वे अलग-अलग समयों में लिखे गये। वे यह समझते थे कि अगर यह विभाजन स्वीकृत हुआ तो वैदिक साहित्य का वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् का एक के बाद दूसरा होना भी स्वीकृत होगा। हमने पाया कि वेद का विभाजन वेदव्यास ने

किया था इसीलिए उन्हें वेदव्यास कहा गया। यह उन्होंने द्वापर के अन्त में किया था, इसका अर्थ यह हुआ कि द्वापर तक यह विभाजन नहीं था। इसलिए यह कैसे कहा जा सकता है कि कौन-सा वेद पहले हुआ, कौन-सा बाद में? फिर हमने तमाम तरह की भारतीय समाज विषयक कहानियों आदि को गहरायी-से पढ़ा, जिनका कथ्य संक्षेप में यह था कि भारतीय संस्कृति या पारम्परिक समाज असहिष्णु था, वर्जनापूर्ण था, यहाँ उत्पीड़न की संस्कृति थी, स्त्रियों का सम्मान नहीं था, उन्हें शिक्षित नहीं होने दिया जाता था, प्रभुतासम्पन्न जातियाँ अत्याचारी थीं और ऐसा ही सब था। उन दिनों गोष्ठियों में यह कहा जाता था कि द्रौपदी अपमानित हुई, गार्गी भी हालाँकि वे महान व्यक्ति थीं। राम सनकी थे, अन्यायपूर्ण थे तो हममे से एक उठकर यह पूछता था कि आपको यह कैसे पता चला कि भारतीय समाज और संस्कृति वैसी थी, जैसा आप बता रहे हैं। इसका वे हमारी प्रत्याशा के अनुरूप ही जवाब देते थे कि यह सब आपके वाङ्मय में लिखा है, रामायण में, महाभारत में लिखा है और इसलिए हम यह सब उस पर आरोपित नहीं कर रहे। हमारा तर्क यह है कि इस साहित्य को लिखा किसने है। वाल्मीकि ने रामायण लिखी, व्यास ने महाभारत लिखी और उन्होंने ही यह सब लिखा है। क्या उन्होंने यह सब इसलिए लिखा होगा कि वे अपने पुरखों या समकालीनों को लांछित करना चाहते थे? यह तो सम्भव नहीं लगता। तब उन्होंने क्यों लिखा होगा? उन्हें यह अंकित करना ही पड़ा क्योंकि वे सच्चे लोग थे और वे इन सत्यों को अंकित कर रहे थे। लेकिन इस वर्णन के बाद क्या कोई यह बता सकता है कि इस सबके साक्षी रहने के बाद भी, उन्हें सच्चाई से अभिलिखित करने के बाद भी क्या वेदव्यास का कृष्ण के प्रति सम्मान कम हो गया या वाल्मीकि का राम के प्रति? यह सब देखने के बाद भी उनका राम और कृष्ण के प्रति सम्मान कम नहीं हुआ और आप उन्हें अपमानित करने में लगे हैं। वे इस सबको अंकित करने के बाद भी अपना सम्मान बनाये रख सके और आप उनका वर्णन पढ़कर उन्हें अपमानित करने में लगे हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं जिनमें मुख्य यह है कि आधुनिक अध्येता जानबूझकर या अज्ञानवश यह कर रहे हैं: वाङ्मय का अपठन या अपपठन। मैं जनक की सभा में याज्ञवल्क्य का किया गया गार्गी का अपमान बहुत प्रसिद्ध है। राजा जनक ने एक बड़ा आयोजन किया, जिसमें उन्होंने बहुत-सी गायों का पुरस्कार रखा कि जो ब्रह्मविद्या का श्रेष्ठ अध्येता होगा, वह ये गाएँ ले जा सकेगा। किसी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की और अन्त में याज्ञवल्क्य उठे और अपने शिष्य से बोले कि ये सारी गाएँ अपने आश्रम में हाँक ले चलो। तब सारा नाटक शुरू हुआ। जनक के दरबार के पुरोहित ने इसका पुरज़ोर विरोध किया। उन्होंने याज्ञवल्क्य से कहा 'क्या तुम तमाम वैदिक अध्येताओं में अपने को श्रेष्ठ मानते हो?' इसी घटना के बाद के वर्णन में याज्ञवल्क्य को बेहद निरंकुश व्यक्ति की तरह चित्रित किया गया है। वे राजपुरोहित से बोले, 'मैं उन सबके सामने झुक जाऊँगा जो ब्रह्म को जानते हैं। मैं यह नहीं कहता कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ या मैं उनमें श्रेष्ठ हूँ। लेकिन मेरे मन में ब्रह्मज्ञानी का बहुत सम्मान है।' हम यह जानते ही हैं कि एक श्रेष्ठ स्वाभिमानी मनुष्य किस तरह बोलता है पर याज्ञवल्क्य अत्यन्त विनम्रता से बोले थे, मैं उनसे अधिक विनम्र चरित्र से भारतीय

साहित्य में नहीं मिला। फिर क़िस्सा यह हुआ कि याज्ञवल्क्य के वैसा कहने पर गार्गी ने उन्हें चुनौती दी और उन्होंने याज्ञवल्क्य से कुछ प्रश्न पूछे, जिनके याज्ञवल्क्य ने जवाब दिये। फिर एक समय पर उन्होंने गार्गी से कहा कि अब आगे का प्रश्न मत पूछो वरना तुम्हारा सिर फट जाएगा। गार्गी के पास कोई विकल्प नहीं बचा और वे चुप हो गयीं। क़िस्सा यह है। इस सन्दर्भ में वाङ्मय यह कहता है कि याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने वालों में गार्गी पाँचवीं थीं। उनसे पहले चार लोग याज्ञवल्क्य से इस तरह प्रश्न पूछ चुके थे कि वे उन्हें निरुत्तर कर सके। अब आधुनिक लोगों का इस पर कहना यह है कि याज्ञवल्क्य ने गार्गी को रोकने के लिए उन्हें धमकी दी। गार्गी के बाद दो और विद्वानों ने प्रश्न पूछे। जब उनकी शंकाएँ शान्त कर दी गयीं, गार्गी दोबारा आयीं और उन्होंने सभा से कहा कि मैं दो प्रश्न और पूछना चाहती हूँ। सभी ने इसकी इजाज़त दी, याज्ञवल्क्य ने भी। गार्गी ने प्रश्न पूछने से पहले कहा कि मैं दो तीर लेकर आयी हूँ जिनमें से हरेक आपको मार सकता हैः ये प्राणघाती शर हैं। उन्होंने फिर पूछा, 'क्या आप तैयार हैं?' याज्ञवल्क्य ने इस पर बिना कोई ध्यान दिये सामान्य स्वर में कहा, 'आप पूछिये।' पहले सवाल का जवाब दे दिया गया। गार्गी ने उनके आगे सिर झुकाया और कहा, 'क्या आप मेरे दूसरे प्रश्न के लिए तैयार हैं? यह प्रश्न कहीं अधिक प्राणघातक है।' गार्गी ने प्रश्न पूछा, याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया। इस पर गार्गी ने उनके आगे सिर झुकाया और सारे सभासदों से कहा, 'याज्ञवल्क्य को पराजित करने का सपना भी नहीं देखना चाहिए।' यह गार्गी का अन्तिम प्रबोधन था। कहानी इतनी ही है, बृह्दारण्यक उपनिषद् में लिखी है।

सोचने की बात यह है कि आखिर इस कहानी पर तरह-तरह की कहानियाँ कैसे बन गयीं। उन्हें किसने शुरू किया? इसमें एक ओर इस संस्कृति को लांछित करने का प्रयोजन तो निश्चय ही है, दूसरा होगा नासमझ। हमने वह सब स्वीकार करना शुरू कर दिया, जो हमारी संस्कृति के विषय में ग़लत-सलत कहा जाता था, हमें उससे सम्बद्ध तथ्यों का परीक्षण करना भी आवश्यक नहीं जान पड़ा।

उदयन- जबकि यह आसानी-से किया जा सकता था, जैसा कि गार्गी-याज्ञवल्क्य का यह संवाद एक ऐसी पुस्तक में लिखा है जो सहज उपलब्ध रही है, भारतीय भाषाओं और अँग्रेज़ी में भी। पर जब अपपाठ की यह सारी परियोजना शुरू हुई, यानी सत्रहवीं-अठाहरवीं शती में, तब किसी बड़े पण्डित या पण्डितों ने इसका खण्डन क्यों नहीं किया?

मुखोपाध्याय- कई ने किया था पर तब तक हमने स्थानीय भाषाओं की लोकप्रियता के कारण संस्कृत से दूरी बना ली। वे लोग जो इन सब ग्रन्थों को समझते थे, उनमें आधुनिक लोगों के प्रति गहरी चिढ़ पैदा हो गयी थी। वे यह समझ गये थे कि ये लोग कुछ समझना नहीं चाहते। उनके मन में यह बहुत साफ़ था कि इन लोगों का उद्देश्य केवल संस्कृति को लांछित करना है, सीखना नहीं जो ये कर सकते थे। मैं आपको एक और मिसाल देता हूँ। रामायण में जब राम सीता को खो देते हैं, उन्हें यह सलाह दी जाती है कि आप सुग्रीव से मैत्री बढ़ाईये, वे सीता को ढूँढ़ने और छुड़ाने में आपकी मदद करेंगे।

वे वही करते हैं और इसकी परिणति राम की बाली से लड़ाई में होती है जिसमें बाली मारे जाते हैं। सुग्रीव बाली के हाथों अपमानित हुए थे और भगाये गये थे। इसीलिए सुग्रीव अपना स्थान राम की सहायता से दोबारा पाना चाहते थे। राम उन्हें आश्वासन देते हैं और सुग्रीव बाली को युद्ध के लिए ललकारते हैं। जब राम यह पाते हैं कि सुग्रीव की बाली को जीतने की कोई सम्भावना नहीं है, वे बाली को मार देते हैं। कथा यह है और इसके विषय में कहा यह जाता है कि यह बड़ा भारी अन्याय है, राम का किया हुआ। ऐसी निन्दा करते समय लोगों का भाव कुछ ऐसा होता है, मानो वे ही राम की आलोचना कर रहे हों। सच्चाई यह है कि यह आलोचना स्वयं रामायण में है। रामायण में बाली राम से कहते हैं, 'रामचन्द्र, हम सोचते थे कि आप महान व्यक्ति हैं पर आप पाखण्डी हैं।' यही शब्द बाली रामायण में राम से कहते हैं। 'आपने सामान्य धर्म का उल्लंघन तो किया ही है, राजधर्म के प्रति निष्ठावान नहीं रहे।' बाली को राम यह कहने देते हैं। जब वे कह चुके होते हैं, राम कहते हैं, 'क्या आपसे यह कहूँ कि आपने क्या ग़लती की?' फिर राम बाली के एक-एक आरोप का पूरे धैर्य से खण्डन करते हैं। इस संवाद में बाली कठोर शब्द बोलता है, राम विनय नहीं त्यागते। अब इसकी आधुनिक व्याख्या सुनें: राम को विजेता बताने यह तो होना ही था। यह कोई प्रमाण नहीं हुआ। प्रमाण यह है कि बाली अपनी ग़लती को समझ जाता है। लिखा यह जाता है कि बाली राम की बात माने नहीं थे जबकि इसका प्रमाण यह है कि मरने के पहले बाली अपनी पत्नी और बेटे को राम को सौंप देते हैं। वे राम के सिवा किसी पर भरोसा नहीं करते। राम मरते हुए बाली को दिये गये अपने वचन को, कर्त्तव्य की तरह निभाते हैं। कहानी तो यह है। ऐसा कैसे हुआ कि जो इस कथा के साक्षी थे, जिन्होंने उसे लिखा, उनके मन में हमारी संस्कृति के प्रति कभी असम्मान पैदा नहीं हुआ, हममें हो गया। इसके दो कारण हैं। हम अपने भाषा-साहित्य से दूर हो गये हैं। इसलिए हमारे पास उनका सीधा ज्ञान नहीं है और हम अपनी संस्कृति के विषय में कही गयी किसी भी बात पर बिना विचारे भरोसा कर लेते हैं।

उदयन- आप उस साहित्य को खोजने की बात कर रहे थे, जहाँ भारतीय संस्कृति के विषय में स्वयं भारत बोले पर अभी इस प्रश्न को कुछ स्थगित करते हैं और एक संक्षिप्त भटकाव करते हैं। आपने अभी कहा कि संस्कृत अध्येताओं को आधुनिक अध्येताओं का जवाब देने की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ी क्योंकि उन्हें यह लगा कि वे भारतीय संस्कृति लांछित करने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। संस्कृत और आधुनिक अध्येताओं के बीच बढ़ती दूरी के क्या कारण रहे?

मुखोपाध्याय- जैसा कि मैंने आपसे कहा कि आधुनिकता अपने आप में महान मूल्य बन गयी थी। उनका अँग्रेज़ी न जानना और न उसे सीखने के प्रति उत्सुक रहने के कारण उन्हें पक्के तौर पर खूसट, पुरानी पीढ़ी का और रूढ़िवादी मान लिया गया था। साथ ही उन्हें संस्कृति की सारी बुराइयों का प्रतिनिधि मान लिया गया था। उन दिनों शायद ही कोई उनके पास गया हो। इतिहासकारों ने भी भारतीय संस्कृति को बिना उनकी समझ की मदद से ही उसे अपने आप व्याख्यायित करना बेहतर

समझा। उन्होंने उनके अध्ययन लाभ कम ही लिया। वेद के 'काल' और 'कथ्य' सम्बन्धी वैभिन्न को स्पष्ट करने की योग्यता बीसवीं शताब्दी के भी कई संस्कृत अध्येताओं में थी और वे इस सन्दर्भ में जवाब देने भी तैयार थे पर न कोई उनके पास पूछने गया और न उनके बोलने पर किसी ने ध्यान दिया। मैंने आपसे यह कल भी कहा था कि हमारा विश्वास है कि बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म के समानान्तर नहीं है, वह हिन्दू धर्म में ही एक प्रतिपक्षी शाखा की तरह उत्पन्न हुआ है। यह बात बीसवीं शती के ही गोपीनाथ कविराज ने भी कही है। वे अँग्रेज़ी में भी लिखते थे। हमने उन्हें भी सुनने की कोशिश ही नहीं की।

उदयन– मैं समझ सकता हूँ कि आधुनिक अध्येताओं की इसे न सुनने और न पढ़ने की हठ ने ही 'मॉडर्न ट्रेडीशनलिस्टों' को नये मार्ग खोजने की ओर प्रवृत्त किया होगा। इसके बिना इस संस्कृति का परिक्षण और मूल्यांकन सम्भव नहीं हो पाता।

मुखोपाध्याय– हम मॉडर्न 'ट्रेडीशनलिस्टों' ने यह सोचा कि क्यूँ न इस मौलिक स्रोत की छानबीन की जाए। हमने सोचा क्यूँ न यह प्रयोग किया जाए कि पता करें कि भारत खुद अपने बारे में क्या कहता है और उसके बाद ही हम उसकी व्याख्या का उपक्रम करें। हमने दो चीज़ों की निश्चय ही पहचान कर ली। पहली यह कि भारत को आध्यात्मिक संस्कृति कहना एक आधुनिक आरोपण है, नवज्योति ने आपसे बातचीत* में कहा था कि यह आधुनिक मिथक है कि भारत को कृषि प्रधान समाज कहना और इस तरह की तमाम अवधारणाएँ आधुनिक अविष्कार ही हैं। ये सब बातें क्यूँ नहीं कही गयीं? इन्हीं सब कारणों से हमें तत्काल कोई दिशा खोजने की आवश्यकता महसूस हुई। हमें पश्चिमी आधुनिकता और अपनी संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों का समायोजन करने में बहुत मुश्किल आयी। इसके लिए हमें इन दोनों ही संस्कृतियों के विश्वसनीय आधारभूत साहित्य को सीधे समझना था। पश्चिम के अध्येता आधुनिक संस्कृति की वैज्ञानिक और अन्य संस्कृति को बखूबी जानते थे। साथ ही हमारे भीतर इतनी राष्ट्रीय भावना थी कि हम अपनी संस्कृति के प्रति जो भी करेंगे, वह पुनरुत्थानवादी नहीं होगा। हम पुनरुत्थानवादी नहीं थे। हम भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण होने का वास्तविक मूल्यांकन करना चाहते थे। जैसा कि चीन में भी है। ऐसा नहीं है कि भारत और चीन और ऐसे ही अन्य क्षेत्रों में केवल धर्म विकसित हुए और अन्य सारे क्षेत्र अविकसित ही रहे आये। यह कहना ही निरर्थक है। आधुनिक अध्येताओं ने भारत के विषय में जो भी कहा, मैं स्वीकार कर लूँगा केवल इस शर्त पर कि उसे दूसरी तरफ से भी प्रमाणित किया जा सके। वे अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए हमारे वाङ्गमय पुनर्रचना कर रहे थे, हम कम-से-कम अपने वाङ्मय की पुनर्रचना नहीं कर रहे थे, जिससे मेरी स्थापनाएँ पुष्ट हो सकें। हम सिर्फ़ यह जानने का प्रयास कर रहे थे कि वहाँ ठीक-ठीक क्या लिखा है। उनमें से हरेक की एक-एक घटना पढ़कर उसकी अपनी व्याख्या करनी चाहिए थी। आप द्रौपदी की घटना में स्त्री की

* समास-६ में प्रकाशित 'भारतीय दृष्टि और पश्चिम से उऋण होने के मार्ग' नवज्योति से सम्पादक की बातचीत।

पवित्रता का ही नहीं, उसकी गरिमा का भी उल्लंघन देखने की कोशिश करते हैं। वह कभी वैसी नहीं देखी गयी। हम इस तमाम वाङ्मय को तयशुदा विचारों और पैटर्न के अनुरूप ही समझने का क्यों प्रयत्न करते हैं, जिसके तहत हर चीज़ का एक तयशुदा अर्थ है? मैं यहाँ बैठा हूँ, निहत्था, मेरी संस्कृत में कोई खास विशेषज्ञता नहीं है, मेरे पास कोई बम या हथियार नहीं है, मैं हर आपत्ति और आलोचना सुनने को तैयार हूँ, पर मैं अपनी तरह से इन सभी आलोचनाओं का उत्तर दूँगा। यही असली आधुनिकतावादी ढंग है। इसीलिए हम वह थे। इसे मैं कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य में भी देखता हूँ। इसी कारण हम लोग सुधारवाद के पक्ष में नहीं थे। सुधारवादियों की मुश्किल यह है कि वे अपने अधैर्य के कारण संस्कृति के दोषों और गुणों को समझने से पहले ही उसमें सुधार का काम शुरू कर देते हैं। इस तरह वे संस्कृति के उत्कर्ष को सम्भव करने के स्थान पर पहले से तैयार योजना लागू करने लगते हैं। सुधारवादी इस संस्कृति को मृत मानकर अपना कार्य करते हैं। वे भारतीय संस्कृति को विशेष काल में ठहरा हुआ मानते हैं। और उसके आगे की संस्कृति को भारतीय मानने से इंकार कर देते हैं, जिसके अनेक पक्षधर (जिनमें अमर्त्य सेन सबसे अधिक वाचाल हैं) मानते हैं कि मुगल संस्कृति और अँग्रेज़ों का योगदान ही आज की भारतीय संस्कृति है। यह कहने का आशय है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति अब विकसित होना बन्द हो गयी हैं। हम यह स्वीकार नहीं कर पाते। हम भारतीय संस्कृति की उद्विग्नता आदि को समझते हुए उसमें अपना आधार खोजने का प्रयास करते हैं। यह आधार खोजना ही इन सारे लोगों की चिन्ता के मूल में है, जिन्हें सामूहिक रूप में 'मॉडर्न ट्रेडीशनलिस्ट' कह रहा हूँ। हम यह मानते हैं कि भारत को निश्चय ही बदलना चाहिए, उसका रूपान्तरण होना चाहिए पर वह उसकी सांस्कृतिक अन्तश्चेतना के एजेण्डा के इंगित पर होना चाहिए। बदलाव की पहली शर्त यह है कि वह उस चीज़ की आन्तरिक जीवन्त गतिशीलता के आधार पर होना चाहिए, जिसे आप बदलने की कोशिश कर रहे हैं। यह आरोपण के सहारे नहीं किया जा सकता। हमारे भीतर इतना धीरज होना चाहिए कि हम भारतीय संस्कृति को यह अवसर दें कि वह स्वयं को बदल सके। अतीत में यह संस्कृति बार-बार रूपान्तरित हुई है। यह सम्भावना आज भी है पर उसे स्वयं को रूपान्तरित करने का अवकाश ही नहीं दिया जाता और इसका आरोप इस संस्कृति पर यह कहकर लगा दिया जाता है कि यह अत्यन्त रूढ़िवादी होती जा रही है।

उदयन- आप सम्भवतः यह कह रहे हैं कि हमारे कई तरह के सुधारवादियों ने भारतीय संस्कृति की स्वचेतना की आन्तरिक गतिशीलता का तिरस्कार कर उसे अपने आदर्शों में ढालने का प्रयत्न किया और इस तरह उस संस्कृति की नैसर्गिक समृद्धि को, जिसे आप रूपान्तरण कह रहे हैं, को अवरूद्ध कर दिया।

मुखोपाध्याय- भारत अपने सांस्कृतिक स्वभाव के अनुकूल ही विकसित हो सकता है, जो यह है कि भविष्य सीमित है और अतीत असीम। हमारे योजनाकार सोचते हैं कि इन मूल तथ्यों को छोड़कर ही भारत की प्रगति सम्भव है। जबकि हमारी दृष्टि में उनका यह प्रयास भारत को उसके रूपान्तरण के

नाम पर मार डालना है। इस तरह रूपान्तरित भारत के नाम पर हमें जो उपलब्ध होगा, वह रूपान्तरित भारत न होकर आविष्कृत और अविश्वसनीय भारत है। यह मानते हुए भी हम 'ओरिएण्टलिस्ट' बहस में पड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि ऐसा करने से हम उस बहस में फँस कर रह जाते। इसीलिए हम अपने स्रोतों को, जिस हद तक वे उपलब्ध थे, समझकर उसमें से अपनी समझ उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे थे।

उदयन– आपने हमारी इस बातचीत के किसी हिस्से में मनुस्मृति का सन्दर्भ दिया था। हमें उस पर कुछ और बात करना चाहिए क्योंकि वह पुस्तक इन सालों में एकतरफा निन्दा का विषय बन गयी है और जैसी हमारे राजनैतिक और बौद्धिक विमर्श में होता ही जाता है, हम ग्रन्थों को पूरी तरह पढ़े-समझे बगैर ही उन पर एक तरह की समझ को आरोपित कर दिया जाता है। यह शोर इतना अधिक होता है कि उसको सचमुच समझकर बोलने वाला चिन्तक या तो अनसुना कर दिया जाता है या उसे भी आरोप के फैलते घेरे में ले लिया जाता है।

मुखोपाध्याय– मेरे लिए उसे पढ़ना ऊँचा अनुभव था। आप पढ़ेंगे, आपको भी वैसा ही अनुभव होगा। मनु के विषय में कहा जाता है कि वे सबसे भ्रष्ट, सबसे पुराने तरह के तानाशाहपूर्ण, वर्जनाशील भारतीय समाज के पितृपुरुष थे। इसीलिए एक नया प्रत्यय बनाया गया है कि या तो आप मनुवादी हैं या अम्बेडकरवादी। इनके बीच आप कुछ नहीं हो सकते। लोकप्रिय विश्वास यह है कि मनु ने उच्च जातियों को निम्न जातियों पर वरीयता थी और उन्होंने निम्न जातियों के शोषण की स्वीकृति दी विशेषकर शूद्रों, दलितों आदि की। पहले जिन्हें हरिजन कहते थे, अब उन्हीं का नाम बदल, दलित कर दिया गया है। मेरे पास मनुस्मृति बिल्कुल ढंग से आयी। जब मैं स्नातकोत्तर कक्षा का छात्र था, मुझे मनुस्मृति के अध्ययन की त्वरित आवश्यकता महसुस हुई। उसके पहले तक मैंने मनुसंहिता के बारे में सिर्फ़ सुना था।

उन दिनों मैं किसी कारण बिहार गया और वहाँ एक गाँव में कुछ दिन के लिए ठहरा। मैंने वहाँ स्थानीय पुस्तकालय की खोज की। वह वहाँ मिल गया। वहाँ मुझे मनुसंहिता का एक संस्करण मिल गया, वह हिन्दी में था और मेरी हिन्दी कमज़ोर थी पर मैं उसे पढ़ने लगा। मुझे उस किताब से पहली अपेक्षा यह थी कि यहाँ जो भी बातें स्त्रियों के लिए लिखी होंगी, वे ग़लत ही होंगी, स्त्रियाँ उन्हें मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इसका कारण यह है कि हम मनु को इस तरह प्रस्तुत करते हैं, मानो वहाँ कुछ ऐसे प्रस्ताव हैं जिनकी रोशनी में कुछ विशेष सामाजिक योजनाएँ और विचारधाराएँ लागू की जाएँ।

उदयन– मनु को इसी तरह प्रस्तुत किया जाता रहा है...

मुखोपाध्याय– मुझे मनु संहिता पढ़ते हुए पहली बात यह समझ में आयी कि उसके विरोध में बोलने वालों की भाषा मनु संहिता की भाषा से बिल्कुल अलग है। ऐसे लोगों की भाषा प्रचार-प्रसार की, प्रोगण्डा की भाषा ही हो सकती है। मार्क्सवादी भाषाशास्त्र में प्रयोगण्डा एक महान हथियार है। उस भाषा

का विपर्यास क्या है? विवेकानन्द का अधिकांश साहित्य प्रयोगण्डा साहित्य है। उनके व्याख्यानों में वे लोगों को भरोसा दिलाने की कोशिश करते थे, धारा-प्रवाह भाषा में वे बड़े-बड़े दावे करते थे। यही प्रषोगण्डा शैली है। मनु संहिता की भाषा इतनी अधिक वस्तुपरक है कि उसमें कहीं भी किसी प्रस्ताव का दूर तक संकेत नहीं है। न ही तिरस्कार है। उसे पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो लिखने वाला कहीं खड़े होकर वह सब देख रहा है, जिसे वह लिखता जा रहा है। इसलिए यह बहुत स्पष्ट है कि हमारे समाज के दोषों के लिए जो भी ज़िम्मेदार रहा हो, मनु संहिता का उसमें योगदान नहीं था। मनु स्मृति (या संहिता) ने इतना भर किया कि उसने अपने लिखे जाने के समय की परिपाटियों और विश्वासों को दर्ज कर लिया। मैं उदाहरण देता हूँ- मनु संहिता का लेखक तय नहीं हो पाया है। यह नहीं पता लग पाया है कि उसे कब लिखा गया और यह भी कि पहला मनु कब हुआ था? वाङ्मय के अनुसार मनु कई हुए हैं। इससे भी असंख्य अतीत का विचार भी पुष्ट होता है। हमारे तमाम वाङ्मय में चाहे वह उपनिषद् हो या महाभारत, रामायण कहीं भी भारत नहीं बोलता, भारत उनके रास्ते सुनायी पड़ता है। कोई यह नहीं कहता कि यह मैं लिख रहा हूँ, सब यही कहते हैं कि मैंने ऐसा सुना था। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन-कृष्ण संवाद अद्भुत है। उस संवाद की शुरुआत में अर्जुन युद्ध के विषय में एक मत रखता है। कृष्ण उससे कहते हैं कि तुम्हें युद्ध करना चाहिए और उसका अन्त अर्जुन के यह कहने में होता है-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

'आपके वचनों से मेरी शंकाओं का निवारण हो गया है और मैं स्थिर हो गया हूँ। इसके कुछ देर बाद महाभारत में यह दर्ज है कि अर्जुन दोबारा कृष्ण के पास जाकर पूछते हैं कि आपने गीता में जो उपदेश किया था, वह मैं भूल गया। आज के शिक्षक ऐसा कहने पर अपने शिष्य को कहेंगे, तुम्हें यह कहने का साहस कहाँ से आया? मैंने तुम्हें वह सब पढ़ाया था और तुम भूल गये, तुम कितने लापरवाह हो। कृष्ण बहुत अच्छे शिक्षक थे। वे गीता के उपदेश के खत्म होने से ठीक पहले अर्जुन से पूछते हैंः क्या तुमने मुझे सचमुच सुना और समझा? इसी के जवाब में अर्जुन कहते हैं कि मेरी शंकाओं का निवारण हो गया आदि। अर्जुन ने उस उपदेश को भूलने की बात कहकर कृष्ण को उसे दोहराने को कहा, वे बोलेः मैं उसे दोहरा नहीं सकता, मैं उस अवस्था में नहीं हूँ। उनका कहना यह था कि मैं अब वह कहने में अक्षम हूँ। यह मुश्किल क्यों थी, जब अर्जुन महज उनसे वही दोहराने को कह रहे थे जो कृष्ण कह चुके थे। बहरहाल कृष्ण कहते हैं, मैं इतना ज़रूर कर सकता हूँ कि मैं तुम्हें वह कहूँ, जो मैंने किसी से सुना है। तब वे वही कहते हैं। यानि वे यह दोबारा खुद नहीं कह रहे, वे वह कह रहे हैं, जो उन्होंने सुना है। खुद गीता में वे कहते हैं कि मैं योग के विषय में तुम्हें जो कह रहा हूँ, उसे मैंने पहले सूर्य विवस्वान या सूर्य से कहा था। वह अत्यन्त सतर्क शिष्य था। वह तुमसे पहले हुआ था। फिर श्रीकृष्ण जवाब देते हैं और कहते हैं कि तुम यह भूल गये कि कितने सारे अतीतों में तुम और

मैं पहले भी हो चुके हैं। इसी कारण हम कभी आधुनिक अर्थों में नयी बात नहीं कहते, हम तो कहानी कहने वाले लोग हैं। नवज्योति इसको समझ गये थे, वे बार-बार कहते थे कि सभी समस्याओं के समाधान हो चुके हैं, हम इतना भर कर सकते हैं कि अतीत में उन्हें खोज लें। हम इस विश्वास के साथ मरना पसन्द करेंगे अगर हम किसी और को इसका भरोसा न दिला सकें। मैं इतना भर कह सकता हूँ।

(इस बातचीत के दौरान बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अँग्रेज़ी विभाग के संजय कुमार भी थे। इस बातचीत की अपेक्षाकृत शुरुआत में कहे मुखोपाध्याय जी के इस विचार पर कि भारत की भौतिक और आध्यात्मिक संस्कृति के बीच का अलगाव भले ही अँग्रेज़ों ने बहुत तेज़ी से अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में किया पर वह भक्तिकाल में ही शुरू हो गया था, उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि उन्हें यह अलगाव और इसका भक्तिकाल में शुरू होने का विचार स्पष्ट नहीं हो सका है क्योंकि उस काल के कबीर और रैदास जैसे कवियों ने अपनी तरह की कविताएँ लिखते हुए भी अपनी कारीगिरियों को छोड़ा नहीं था। इस पर मुखोपाध्याय जी ने यह विस्तार किया था।)

एक बिन्दू जो मैं कह नहीं सका और जो अत्यन्त महत्व का है, उससे शुरू करता हूँ। इस बिन्दू का सम्बन्ध उस तथाकथित अलगाव से है जिसका अभी ज़िक्र हुआ है।

मान लीजिए किसी महान धार्मिक व्यक्ति के कुछ वचन हम तक अधिकांशतः गीत या कविताओं में पहुँचते हैं, जिसे शास्त्रीय ज्ञान नहीं था, जिसने अपनी बोली में वह सब लिखा था। यह तथ्य इस बात को कैसे साबित कर सकता है कि इससे हमारी शास्त्रीय भारतीय संस्कृति से दूरी बनी होगी। पहली बात तो यह है कि जिस भाषा में भक्ति कवि लिख रहे थे, उसका प्रयोग जैन और बौद्धों ने शुरू किया था। बुद्ध ने अपने उपदेश 'पालि' में और महावीर आदि ने 'मागधी' में दिये थे। इस कारण बुद्ध के वचन, ज़ाहिर है, अधिक लोगों तक पहुँचे। तमाम लोग (जिन्होंने बुद्ध और महावीर के वचनों को जाना था) न तो संस्कृत के जानकार थे और न ही उन्होंने संस्कृत वाङ्मय को समझने का प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप हुआ यह कि जिन लोगों को इनमें से अनेक नये वचन जान पड़े, वे यह मान बैठे कि ये विचार पहले नहीं थे। हम उन लोगों पर अधिक निर्भर होते गये जिनका खुद ही पारम्परिक वाङ्मय से सम्बन्ध नहीं रहा था। शताब्दियों के बीतने के साथ ही इनकी संस्कृत से दूरी बढ़ती गयी। स्थानीय भाषाओं ने किसी हद तक उसका स्थान लेना शुरू कर दिया और अन्ततः अँग्रेज़ी भाषा आ गयी।

उदयन- आप इसका कोई उदाहरण देने वाले थे? क्या आप बौद्ध धर्म की भारत में स्थिति के सन्दर्भ में स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। यह अक्सर कहा जाता रहा है कि बौद्ध धर्म भारत से विलुप्त हो गया। इसे तथ्य की बताकर कई कहानियाँ बनायी जाती रही हैं जिनकी न दार्शनिक और न ऐतिहासिक ही प्रामाणिकता है।

मुखोपाध्याय- यह लोकप्रिय विश्वास है। वह भारत में आरम्भ अवश्य हुआ, उसका विकास भारत के बाहर हुआ, यह तथ्य है लेकिन हम इस तथ्य का कल्पना से बेहद विस्तार कर देते हैं और यह

अभिव्यक्त करते हैं कि भारत ने बौद्ध धर्म का उत्पीड़न हुआ। यह पूछने पर कि वह उत्पीड़न किसने किया, त्वरित बना बनाया जवाब दे दिया जाता हैः ज़ाहिर है ब्राह्मणों ने। और ब्राह्मण कौन हैं? प्रभुत्वशाली जाति और क्या! वे प्रभुत्वशाली कैसे हो गये? क्या ऐसा संस्कृत में है? संस्कृत में ब्राह्मणों के लिए वर्णश्रेष्ठ शब्द है, इससे यह कहाँ निकल गया कि वे प्रभुत्वशाली हैं? श्रेष्ठ का अर्थ प्रभुत्वशाली किस तरह हो सकता है? यह देखिये कि ये अनुवाद किस हद तक पूर्वग्रहीत हैं। चौथा वर्ण किस तर्क से गिरा-कुचला हो गया। बहरहाल हमने अपनी खोज में यह पाया कि बौद्ध परम्परा के दो स्तर रहे हैं। एक है बौद्ध दर्शन का, दूसरा बौद्ध धर्म का। बौद्ध धर्म भारत से लगभग विलुप्त हो गया और बौद्ध दर्शन भारत में रहा आया बल्कि वह दर्शन मुख्यतः भारत में ही है। आपको बर्मा, चीन, थाईलैण्ड आदि में बौद्ध दर्शन नहीं मिलेगा। आपको वहाँ केवल बौद्ध धर्म का उनका अपना संस्करण मिलेगा। अब प्रश्न यह है कि ऐसा क्यूँ हुआ कि बौद्ध दर्शन तो भारत में बना रहा, बौद्ध धर्म लगभग विलुप्त हो गया। अगर बौद्धों की प्रताड़ना हुई होती, बौद्ध दर्शन भी यहाँ से चला गया होता। इसलिए प्रताड़ना का तर्क ग़लत है।

उदयन- लेकिन बौद्ध धर्म का भारत से लगभग विलोपन तो हुआ है। उसे कैसे समझा जायेगा?

मुखोपाध्याय- बौद्ध धर्म के भारत से विलोपन का कारण यह है कि बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म में कोई भी नया योगदान नहीं किया इसलिए उसके सम्पर्क में आये लोगों को उसमें कुछ भी नया नहीं जान पड़ा। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में अहिंसा का हवाला दिया जाता है, हिन्दू धर्म में अहिंसा पहला तत्व है- अहिंसा, सत्य, अस्तेयं, ब्रह्मचर्य, असंग्रह.... कुछ विचारकों का कहना था कि गाँधी की अहिंसा, जो जैन अहिंसा का अंश है, हिन्दू यथार्थवादी अहिंसा से अलग है बहरहाल। बौद्ध धर्म में 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि' कहा जाता है, ये सभी हिन्दू धर्म के विचार हैं।

उदयन- बौद्ध धर्म आदि की ऐसी समझ दरअसल 'समझ का एक मॉडल' है जिसमें एक का दूसरे से विरोध दिखाकर यह साबित करने के प्रयास किया जाता है कि चूँकि हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म के साथ ऐसा व्यवहार किया था इसलिए अगर बाद में इस्लाम ने हिन्दू धर्म के साथ ऐसा ही व्यवहार किया तो क्या ग़लत किया? यह करने के पीछे इस्लाम के इस हिंस्र व्यवहार के बावजूद उसे स्वीकारने की सद्इच्छा ही होगी। पर यह बौद्धिक आलस्य है क्योंकि अगर हिन्दू धर्म का बौद्धों से अलगाव और उनकी बौद्धों पर हिंसा की झूठी कहानियाँ न भी बनायी जायें तब भी इस्लाम के मानने वालों को भारत में बने रहने का पूरा हक़ अक्षुण्ण रहता है। हमें इस्लाम को भारत में बने रहने का कोई और 'मॉडल' खोजना था। हमने पश्चिम से आया हिंसा और एक-दूसरे के विरुद्ध आन्दोलन करने का 'तैयार' मॉडल ही अपनी बौद्धिक काहिली और नसमझ के कारण स्वीकार कर पूरे भारतीय अतीत को उस पर उभार दिया।

मुखोपाध्याय- बुद्ध का अर्थ ज्ञानी होता है, जिसके प्रति गहरा सम्मान हो। संघ का अर्थ है परम्परा। उसे बौद्ध परम्परा में संकुचित कर दिया जाता है। बुद्ध ने यह कभी दावा नहीं किया कि वे कोई नया धर्म प्रस्तावित कर रहे हैं। उन्होंने कहा है, 'एष धर्मः सनातनः।' इस तरह एक तरफ तो यह लोकप्रिय भ्रान्ति है। ऊपर से जब इस रास्ते बौद्धों का प्रचार हो गया, उन्होंने इस भ्रान्ति को दूर करने का प्रयास कभी नहीं किया। उन्हें यह ज़रूरत ही महसूस नहीं हुई कि वे स्रोत वाङ्मय या वाल्मीकि आदि के पास दोबारा जाएँ। रामायण आज तक अत्यन्त लोकप्रिय है पर यह तुलसीदास की 'रामचरितमानस' है, वाल्मीकि की रामायण को भुला दिया गया है। 'महाभारत' अत्यन्त लोकप्रिय है लेकिन वह (बंगाल में) काशी रामदास महाभारत है। यह स्थानीय बोलियों का प्रभाव है। तुलसीदास, कृत्तिवास, काशी रामदास बहुत अच्छे लेखक हैं लेकिन वे हममें वह प्रेरणा जगा नहीं सके कि हम मूल ग्रन्थों की ओर जा सकते। ऐसा क्यूँ है कि तुलसीदास को पढ़ने के बाद हमें यह महसूस नहीं होता कि हम वाल्मीकि को पढ़ें। पाठकों को तुलसीदास रामायण में ही वह सब मिल जाता है, जो वे चाहते हैं। इस तरह के ग्रन्थों के लिखे जाने में कुछ ग़लत नहीं है, रबीन्द्र संगीत के बनने में भी कुछ ग़लत नहीं है, लेकिन केवल तब तक जब तक उन्हें पढ़कर या सुनकर हमें यह न लगने लगे कि मार्गी संगीत की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसा होना ग़लत है। हमारे यहाँ ठीक यही हुआ है। स्थानीय भाषाएँ आवश्यक हैं लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि सारी संस्कृत समझ में नहीं आती, न यह ही कि संस्कृत गैर-ज़रूरी है।

उदयन- आप यह कह रहे हैं कि स्थानीय भाषाओं के इस साहित्य ने कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी होती, अगर वह 'स्वयं होने' के साथ-साथ अपने स्रोतों का भी मार्ग प्रशस्त करता। स्थानीय भाषाओं के लेखकों और पाठकों का अन्य साहित्यों से सम्बन्ध का स्वरूप भी क्या इसी रास्ते निकलेगा?

मुखोपाध्याय- अगर आप अपनी स्थानीय भाषाओं के प्रति इतने अधिक निष्ठावान हैं तो यह बताएँ कि आपने कितने पारम्परिक ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद किया है, साथ ही आपने कितने अँग्रेज़ी उपन्यासों का बांग्ला में अनुवाद किया है? आज हम बहुत-सा अँग्रेज़ी या पश्चिम का साहित्य पढ़ते हैं, इसमें कोई ग़लती नहीं है पर आपको इनका अनुवाद अपनी भाषाओं में करके उन्हें समृद्ध करने का प्रयास क्यूँ नहीं करना चाहिए? मैंने खुद बहुत-सा पश्चिम का दार्शनिक लेखन पढ़ा है। यह विशेषकर तब की बात है जब मैं दर्शन का विश्वविद्यालय में छात्र था। शुरू में ही मैंने अपने आप से यह प्रश्न किया कि मुझे यह दार्शनिक लेखन पढ़ना ही क्यूँ चाहिए? इसका एक सीधा जवाब तो यह था कि वह पाठ्यक्रम में है। लेकिन वह मुख्य कारण नहीं है। चूँकि मुझे दार्शनिक लेखन पढ़ना ही है, उसका सच्चा प्रयोजन क्या है? इसका केवल एक जवाब है : अपनी दार्शनिक परम्परा को समृद्ध करने। अगर हम यूनानी, फ्राँसीसी या लातिन पढ़ते हैं और उससे अपनी अध्येतावृत्ति के सहारे अपनी स्थानीय संस्कृति को समृद्ध नहीं करता तो क्षमा करें, वह हमारी विफलता है। यही विफलता हमारे स्थानीय भाषाओं के साहित्य में हुई है।

उदयन– विवेकानन्द जैसे चिन्तकों की स्थिति इससे अलग है, उनके कहे या लिखे में भले ही वे अनुगूँजें न हों जिनका आप ज़िक्र कर रहे हैं पर वे पारम्परिक ग्रन्थों के नाम अवश्य लेते रहते थे।

मुखोपाध्याय– उन्हें इसलिए क्षमा किया जा सकता है कि वे भले ही अनजाने वेद-वेद करते रहते थे, वह उचित ढंग तो नहीं है पर उनका साहित्य पढ़कर पाठकों को यह ज़रूर लगेगा कि वेद, उपनिषद् जैसे ग्रन्थ भी अस्तित्व में हैं। इस तरह उनमें से कुछ उन ग्रन्थों को पढ़ने की सोचेंगे। दूसरी ओर स्थानीय भाषाओं ने हमें यह भरोसा दिला दिया कि उनमें सारा ज्ञान समाहित है। यह दावा करने के पीछे महाभारत के दावे को इन सब भाषाओं पर आरोपित कर दावे किये जाने लगे। यही दावे कृत्तिवास रामायण या काशी रामदास और तुलसीदास की कृतियों के लिए किये गये। इन्हें पढ़ने के अलावा कुछ भी पढ़ना गैर-ज़रूरी है। अगर कुछ और पढ़ना ही है तो ईसाई दर्शन पढ़ो, अँग्रेज़ी साहित्य आदि पढ़ो। यह पारम्परिक वाङ्मय के हाशिये पर चले जाने का एक कारण है। दूसरा यह है कि भौतिक संस्कृति दरकिनार हो गयी।

उदयन– पर भारत की भौतिक संस्कृति के कमज़ोर होने के ठोस कारणों पर भी विचार करना होगा।

मुखोपाध्याय– आधुनिक भारत एक ओर उन पश्चिम प्रभावित अध्येताओं का सृजन है जो हमारे देश के योजनाकर्त्ता हुए, प्रशासक भी। वे विवेकानन्द, तुलसीदास आदि के विषय में बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। इनकी दो सीमाएँ हैं। इनके पास सामान्य ज्ञान और कुछ हद तक साहित्य का ज्ञान है, दूसरी ओर ये लोग पूरी तरह से धर्म के प्रति निष्ठा रखते हैं इसलिए उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी कि अन्यत्र क्या हो रहा है। उनमें एक ओर अज्ञान है, दूसरी ओर रुचि का अभाव। इसलिए उनका यह काम ही नहीं है कि वे हमारा ध्यान भारतीय संस्कृति की ओर खींच सकें। यह दूसरे लोगों के लिए छोड़ दिया गया और हमने इस काम को सरल बना लिया और सभी लोग भक्त हो गये। भक्त का अर्थ होता है कि हर तरह की बहानेबाजी के सहारे अपनी अकर्मण्यता को बनाये रखना क्योंकि गुरूजी ने कुछ भी करने को मना किया है। आजकल कबीर की शिक्षाओं के विषय में बातें होती हैं, पर यह ग़लत है। उन्हें शिक्षक होने की कोई ज़रूरत नहीं है। उन्हें धार्मिक व्यक्ति बने रहना था और अनुयायियों के साथ बैठकर विचार-विमर्श करना चाहिए था। उन्हें समाज सुधारक क्यूँ मान लिया गया। उन्हें शिक्षक बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारी परम्परा में व्यक्ति कुछ अर्हताएँ के आधार पर ही शिक्षक का दर्ज़ा पाता था। सब शिक्षक नहीं बन जाते थे। मुनि अनेक थे लेकिन उनमें से केवल छह या सात ही शिक्षक हो सके और उन्होंने शास्त्र रचे। वह प्रक्रिया अच्छी तरह परिभाषित थी। जो लोग पढ़ाने के काम में नहीं थे, शिक्षक नहीं थे अगर रबीन्द्रनाथ महान् कवि थे तो उन्हें हमारी संस्कृति और समाज के बारे में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं हो जाता। मैं अपनी संस्कृति के विषय में जानने-समझने रबीन्द्रनाथ के पास क्यूँ जाऊँगा। भारतीय समाज में ज्ञान एक महत्वपूर्ण विषय है। अकादेमिक संस्कृति में भी यूरोपीय विचारधारा व्याप्त है, वहाँ ज्ञान के खातिर ज्ञान प्राप्त किया जाता

है। इसके अलावा ज्ञान प्राप्ति का कोई और तर्क नहीं है। यह हमारे समाज में पूरी तरह अस्वीकृत है। हमारी संस्कृति में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसे तर्क की कसौटी पर कसा न जाए और न ही जिसका कोई प्रयोजन हो। धर्म को भी तर्क की कसौटी पर कसा जाता है। यह मनुसंहिता है जिसमें कहा गया है कि 'यत् तर्केण अनुसन्धन्ते स धर्मं विगणित।' जो व्यक्ति तर्क में निष्णात नहीं है, वह धर्म नहीं समझ सकता। यह हमारी संस्कृति है। धर्म कोई अन्धविश्वास नहीं है। लेकिन ज्ञान के विषय में हमारी एक और समझ है, बल्कि दो अन्तर्विरोधी समझ हैं। ज्ञान हमेशा ही उसके उपयोगकर्ता के पास होना चाहिए। इसका निरन्तर ह्रास हुआ है, लेकिन इसी कारण आज भी एक निरक्षर बढ़ई कुछ ही क्षणों में यह बता सकता है कि कोई भी फर्नीचर बनाने में कितनी लकड़ी लगेगी। लकड़ी की मात्रा का अनुमान करना बहुत कठिन है क्योंकि उसमें तीन-चार मानक इस्तेमाल होते हैं। उनके पास इस गणना की ऐसी पद्धतियाँ हैं कि वे यह तुरन्त बता सकें। इस कौशल के होते किसी बढ़ई को ज़रूरत ही क्या थी कि वह बढ़इगिरी के आधुनिक पाठ्यक्रम का अध्ययन करता। पश्चिमी संस्कृति इससे भिन्न हैं, वहाँ सारा ज्ञान कूटबद्ध होना आवश्यक है। वहाँ आप किसी भी पुस्तकालय में जाएँ और आपको बढ़इगिरी, साहित्य, भाषा और धर्म आदि की पुस्तकें मिल जाएँगी। धार्मिक व्यक्ति अलग-अलग तरह के होते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आप धार्मिक व्यक्ति या धर्म के व्यवहर्त्ता हैं या धर्म के शिक्षक। अगर इन भूमिकाओं को जोड़ दिया जाए जैसा कि हमारे समय में हुआ है, समाज के साथ ऐसा करना अन्याय है।

उदयन- जो इन दिनों चारों ओर फैले तथाकथित 'गॉडमैन' हैं और लोगों को तरह-तरह से 'शिक्षित' करते रहते हैं, उन्हें भी इसी मिश्रित भूमिका में रखा जाएगा।

मुखोपाध्याय- ये लोग भी वेद, रामायण, भागवत, महाभारत आदि बहुत सारे ग्रन्थों की व्याख्या करते रहते हैं और लोगों को पढ़ाया करते हैं। उनके पास ऐसा करने का क्या अधिकार है? उन्होंने इसका प्रशिक्षण कहाँ लिया है? ये लोग दूसरे क्षेत्रों के विषय में कुछ नहीं जानते, इनका कोई अध्ययन नहीं है। जो वास्तविक शिक्षक होते थे, वे साधारण जीवन जीते हुए अपने विषय में डूबे रहकर उसे पढ़ाते थे। कबीर भी ऐसा ही करते रहे होंगे फिर वे भले ही बड़े कवि रहे हों पर वे शिक्षक के रूप में सफल नहीं कहे जा सकते। इसमें कुछ भी मुश्किल नहीं है। हर धार्मिक व्यक्ति अच्छा शिक्षक ही हो, आवश्यक नहीं है। एक महान आध्यात्मिक व्यक्ति का महान शिक्षक बनने का एक उदाहरण हैः गुरूस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्यस्तु विगत संशयः। गुरू चुप बैठता है और शिष्य को अपने संशयों के समाधान मिल जाते हैं। यह क्या सुन्दर दृश्य है कि गुरू वटवृक्ष के नीचे शिष्यों से घिरा बैठा है। गुरू युवा है और शिष्य उम्रदार। गुरू बोलता नहीं और शिष्य सब कुछ जान जाता है। अब धार्मिक व्यक्तित्व, शिक्षक आदि के कर्त्तव्यों के बीच घालमेल हो गया है, यह पारम्परिक भारत में नहीं था। केवल वे लोग जिन्हें ज्ञान-पिपासा है, गुरू के पास जाते थे। पूरी विनम्रता से। क्षत्रियः समित्पाणि ब्रह्मनिष्ठं गच्छेत्। यदि गुरू उन्हें उपयुक्त समझता, शिक्षा शुरू होती। एक बार एक परिचित जो अब किसी विश्वविद्यालय के

कुलपति हैं, ने मुझसे पूछा, तुम विदेश क्यों नहीं जाते। मैंने जवाब दिया, 'मैं वहाँ शिक्षक की तरह जाऊँ या शिष्य की तरह? शिक्षक की तरह इसलिए नहीं जा सकता क्योंकि शिक्षक कहीं नहीं जाता, शिष्य उसके पास आते हें। क्या मैं अपना शास्त्र पढ़ने वहाँ जाऊँ? उसके योग्य शिक्षक वहाँ हैं ही नहीं। वे केवल यहाँ हैं और उनकी चीज़ मैं यहीं रहकर सीख सकता हूँ।' पश्चिमी विद्वानों के लिखने का ढंग कुछ ऐसा है कि वे जो भी ग्रन्थ लिखते हैं, उनसे अपने आप केवल पढ़कर सीखा जा सकता है।

उदयन– उनको समझने के लिए गुरू या शिक्षक की आवश्यकता नहीं है बल्कि उनके लिखने का ढंग ही ऐसा है जिसमें गुरू की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। आपकी गुरू और शिक्षक के अन्तर की व्याख्या में एक प्रश्न अनुत्तरित रहता है। अगर मध्यकाल के कवियों और सन्तों की शिक्षक होने की अर्हता नहीं थी, और यह बात समाज से भी छिपी नहीं होगी, फिर ऐसा क्यूँ हुआ कि इन कवियों आदि से शिक्षा लेने यह समाज बहुत अधिक उतावला था जबकि वह समाज ऐसे शिक्षकों आदि के प्रति इतना ग्रहणशील नहीं था।

मुखोपाध्याय– झूठी उम्मीद और वैसा ही आश्वासन, मेरी समझ से इस उतावलेपन के पीछे थे। धर्म के शिक्षक भारत में आधुनिक अविष्कार है। विवेकानन्द ने यह कहा भी है कि वे पहले हिन्दी भिक्षु हैं जिसने विदेशी भूमि पर जाकर हिन्दू धर्म की शिक्षा दी, उसका उपदेश दिया। हिन्दू धर्म में धर्म धार्मिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है, हमारे लिए यह अज्ञात है। वे महान व्यक्तित्व अवश्य थे, लोग उनके पास जाकर बातचीत करते थे। यह बातचीत दो तरह की होती थी। एक थी अपेक्षाकृत अधिक औपचारिक, जिसमें सभा या शास्त्रार्थ होता था। दूसरी कहीं अधिक विशिष्ट और बन्द दरवाज़ों में हुआ करती थी। यह उच्च स्तर के व्यक्ति के लिए होती थी। लेकिन इनमें धर्म की शिक्षा देना नहीं होता था। इसका एक कारण यह है कि पारम्परिक भारतीय संस्कृति अपने किसी प्रतिपक्षी की उपस्थिति की सजगता के बगैर विकसित हुई है जबकि सामी संस्कृतियों का हर रूप अपने से अलग और अपनी प्रतिद्वन्द्वी संस्कृतियों की सजगता के साथ विकसित हुआ। प्रतिद्वन्द्वी संस्कृति के हो सकने की सजगता के अभाव ने अन्य संस्कृतियों का सामना होने पर हमें उनके विषय में गहरी समझ विकसित करने में बाधा पहुँची।

उदयन– क्या अन्य संस्कृतियों के विषय में यहाँ जानकारी तक नहीं थी। मैं इसलिए पूछ रहा हूँ कि हम जानते हैं, हमारे देश का अन्य देशों और उनकी संस्कृतियों से सम्बन्ध पुराना रहा है।

मुखोपाध्याय– यह सही है कि ऐसा नहीं था कि हमें उनकी जानकारी न रही हो। मसलन महाभारत में एक स्थान पर इन्द्र मनु के पास गये। इन्द्र ने कहा, 'मैं शासक हूँ, न सिर्फ़ इस क्षेत्र का बल्कि समूचे ब्रह्माण्ड का एक प्रभावशाली शासक होने के लिए मुझे सभी धर्मों को जानना है।' मनु संहिता में भी यह वर्णन आता है कि जब-जब लोग धर्म के विषय में जानने मनु के पास गये। मनु बोले, 'वर्णाश्रमेतरानांच ब्रुहि धर्मा अशेष'। वर्णाश्रम धर्म और अन्य धर्म की भी शिक्षा। इसका अर्थ है कि सभी

धर्मों के अन्तर्विरोधी प्रभावों की सजगता होना बेहतर है।

उदयन- आपने इस बातचीत के दौरान एक से अधिक बार यहाँ की संस्कृति की पूर्णता की बात कही है। आपने उसका पर्याप्त विस्तार नहीं किया। आज की बात हम वहीं से शुरू करें।

मुखोपाध्याय- संस्कृति अपने में सम्पूर्ण होती है, उसी तरह जैसे मनुष्य भी होता है। मैं अपने इस विश्वास को इस हद तक ले गया कि मेरे गुरू ने मुझसे कहा कि ऐसा करके तुम अपने वास्तविकता बोध को दाँव पर लगा रहे हो और आदर्शवाद की ओर झुक रहे हो। मैं यह उदाहरण पहले भी देता था कि अगर कोई व्यक्ति अच्छा गायक है, मसलन कोई रबीन्द्र संगीत का अच्छा गायक है, मैं यह मान नहीं सकता कि वह खराब व्यक्ति होगा। इसका अर्थ यह है कि जीवन का हर पक्ष अपनी सम्पूर्णता के लिए अन्य सभी पक्षों के पर्याप्त विकसित होने की प्रत्याशा रखता है। इसलिए हर समृद्ध संस्कृति का हरेक पक्ष अपेक्षया समृद्ध होता है। सामान्यतः ऐसा होना मुश्किल है (इसके निश्चय ही अपवाद हैं) कि किसी समृद्ध संस्कृति का कोई एक पक्ष बाकी पक्षों की समृद्धि की कीमत पर वैसा हो। यह सम्भव नहीं है कि किसी व्यक्ति के हाथ-पाँव सशक्त हों और सीना निर्बल हो। संस्कृति एक जीवित संघटना है। इसमें सम्पूर्णता और एकत्व होता है। इसे जटिल एकत्व कहा जाता है। इसी तरह हर व्यक्ति में जटिल एकत्व होता है। संस्कृति के सभी आयाम भिन्न होते हैं, अन्तर्विरोधी नहीं। इन विभिन्न आयामों को कोई संस्कृति किस तरह संयोजित करती है, यही उसका मुख्य चरित्र है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र, कलाएँ, साहित्य आदि सबकुछ है। इन्हें जोड़ने की आधार-भूमि भी यहाँ है। यह अलग बात है कि वह क्या है? इसीलिए हम मॉडर्न ट्रेडीशनलिस्टों को संस्कृति के हर क्षेत्र को समझने की आवश्यकता महसूस हुई थी। यह करते हुए हम यह समझ पाये कि आधुनिक भारतीय दो तरह के हैं। एक है परम्परावादी आधुनिकतावादी और दूसरे विशुद्ध आधुनिकतावादी। इन दोनों ने ही भारत को सम्पूर्ण संस्कृति नहीं माना। इसलिए ये लोग भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक आदि विशेषणों से मण्डित करते रहे।

उदयन- कल यहाँ बातचीत में उठायी गयी उस चिन्ता के बारे में आप सम्भवतः यह जवाब दे रहे हैं, जहाँ यह कहा गया था कि भारत ने अपनी आध्यात्मिक परम्परा पर अत्यधिक ज़ोर देने की प्रक्रिया में अपनी सामाजिक स्थिति और यहाँ की भौतिक संस्कृति की गिरावट का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इनके बीच मानो कार्य-कारण का सम्बन्ध हो।

मुखोपाध्याय- यह एक तरह का आरोप है। इसका स्रोत भी विदेशी अध्येताओं की समझ है। ये सारे आरोप वहीं से आये हैं। भारत में ऐसे दो आधुनिक हुए हैं, जिन्होंने भारत को आध्यात्मिक संस्कृति बताने की अवधारणा को प्रस्तुत किया और उसे लोकप्रिय किया। ये दो लोग हैं, विवेकानन्द और राधाकृष्णन्। मैं इनमें श्री अरविन्द को नहीं रखता, जिसका एक कारण यह है कि उनका राजनैतिक दौर सारा का सारा सार्वजनिक था और उसके बाद आध्यात्मिक व्यक्तित्व हो जाने के बाद वे एकान्तिक

हो गये। पर यही एक कारण नहीं है। अपने एकान्तिक काल में वे बहुत सारा लिखते रहे और इसलिए हम उन्हें जिस हद तक भी जानते हैं, उनके लेखन से जानते हैं और उनका लेखन बेहद जटिल है। मेरे जाधवपुर विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होने के पहले हमारे दर्शन विभाग ने श्री अरविन्द के अध्ययन के लिए 'अध्ययन केन्द्र' खोला। उसके शुभारम्भ के उपलक्ष्य में आयोजित गोष्ठी में मुझे 'बीज वक्तव्य' देने आमन्त्रित किया गया। उस गोष्ठी में अनेक महत्वपूर्ण लोगों को आमन्त्रित किया गया था। मैंने अपने वक्तव्य में कहा कि यह मेरी समझ के बाहर है कि दर्शन विभाग में 'श्री अरविन्द अध्ययन केन्द्र' क्यों होना चाहिए। अरविन्द के पास दार्शनिक होने की क्या योग्यता है? हमने हरेक को दार्शनिक बना रक्खा हैः रबीन्द्रनाथ दार्शनिक थे, गाँधी दार्शनिक थे! मैंने यह भी कहा कि वे बेहद शिक्षित थे, अत्यन्त प्रतिभावान थे और उनका लेखन बहुत ताक़तवर है। 'वन्दे मातरम्' अख़बार के दिनों में उनका लिखा हर शब्द प्रेरक होता था, बोधगम्य था। आप उनके मत को स्वीकार करते, न करते पर इसमें शक नहीं था कि वे क्या कहने का प्रयास कर रहे थे। उनमें से एक लेख 'रेनेसां' पर था। इसके ठीक विपरीत उनकी पुस्तक 'डिवाइन लाईफ़' और वेदों पर उनका लेखन था। एक बार वेद के प्रसिद्ध अध्येता डेविड फ़्रॉली वेदों पर व्याख्यान दे रहे थे। मैंने व्याख्यान के बाद अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में उनसे कहा कि ऐसा जान पड़ता है कि आपने वेदों पर श्री अरविन्द के विचारों के आधार पर ही अपनी समझ विकसित की है, लेकिन तमाम वर्षों में श्री अरविन्द को पढ़ने के बाद भी आपको उनकी और उनके शिष्य कपिल शास्त्री की एक भी आलोचना पढ़ने का अवकाश नहीं मिल सका। वेद पर लेखन करते समय श्री अरविन्द की लेखन शैली पाठकों को मानो भ्रमित करने ही अपनायी गयी थी। एकबार एक विदेशी महिला-अध्येता ने श्री अरविन्द से उनके अँग्रेज़ी लेखन के बारे में यह कहा था कि आपकी भाषा के कारण आपके लेखों का कथ्य स्पष्ट नहीं होता। श्री अरविन्द होशियार व्यक्ति थे, वे इस बात पर विचार कर सकते थे पर उन्होंने इसे टाल दिया।

हाल ही में पद्‌मभूषण से सम्मानित डेविड फ़्रॉली ने अग्निसूक्त के चालीस मन्त्र अनुदित किये हैं। मेरी दृष्टि में यह कोई बहुत बड़ा काम नहीं है। लेकिन इन सूत्रों के आधार पर उन्होंने एक सिद्धान्त प्रस्तावित कर दिया कि वैदिक भाषा गोपनीय थी जिसे केवल कुछ लोग ही समझ सकते थे। जबकि हमें यास्क के निरुक्त के समय से यह पता है कि वैदिक मन्त्रों की तीन अलग तरहों से व्याख्या हो सकती है। यह कहा गया कि इन मन्त्रों की याज्ञिक व्याख्या हो सकती है या आध्यात्मिक या आधिदैविक। लेकिन यह किसी ने नहीं कहा कि ये व्याख्याएँ केवल कुछ लोग ही कर सकते हैं, इसे करने पर कोई बन्दिश नहीं थी। श्री अरविन्द ने कहा कि वैदिक मन्त्र रहस्यमय है लेकिन ऐसा कोई तर्क नहीं है जिसके आधार पर वेद के अर्थों को लोगों से छुपाकर रखा जाए। मैंने फ़्रॉली से पूछा कि क्या आप बता सकते हैं कि विवेकानन्द और श्री अरविन्द के होने के बाद क्या हुआ। संयोग से दोनों ने ही अपने सम्प्रदाय बनाये। विवेकानन्द के भी अनुयायी हैं और श्री अरविन्द के भी। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़ी संख्या में अनुयायी हैं। लेकिन श्री अरविन्द के अनुयायियों ने कितनी बार विवेकानन्द के

अनुयायियों से बहस की है? इससे यह पता चलता है कि अरविन्दवादी विवेकानन्द की पूरी तरह अवहेलना कर रहे थे और विवेकानन्दवादी अरविन्द की। ऐसा भारतीय विचार पद्धतियों में नहीं हुआ करता है। भारत हमेशा ही खुली बहसों का समाज रहा है। किसी को भी बख़्शा नहीं जाता था फिर वे शंकराचार्य हों या रामानुजाचार्य। सबको अनिवार्यतः आलोचना का सामना करना पड़ता था। हम दूसरे विचारक के कहे का ध्यान रखकर उससे खुली बहस करते थे, पूरी स्वतन्त्रता से। विवेकानन्द और अरविन्द के बनाये भारत में विचार परम्परा को पूरी तरह महत्त्वहीन बनाते हुए केवल भक्त परम्परा है। अब विचारकों को सिर्फ़ सम्मान देने के लिए ही याद रखा जाता है। सम्मान दर्शाने का यह ढंग भारतीय नहीं है। सम्मान देने का हमारा ढंग यह है कि हम सम्मान्यतः विचारक को आलोचनात्मक ढंग से पढ़ें और उसे समझने का प्रयत्न करें। मैं पक्का नैयायिक हूँ पर शंकराचार्य का बहुत सम्मान करता हूँ और यह हमें अन्तर्विरोधी नहीं लगता।

उदयन- आप बता रहे थे कि इस अध्ययन केन्द्र के खुलने के एक साल बाद सम्भवतः शरारतन आपको श्री अरविन्द पर बोलने आमन्त्रित किया गया था। वहाँ आपने क्या कहा? उस केन्द्र के उद्घाटन समारोह में अपना बीज वक़्तव्य देते हुए आपने श्री अरविन्द को दार्शनिक नहीं माना था और साथ ही उनके 'अनुयायी' डेविड फ्रॉली को प्रश्नांकित किया था। इन व्याख्यानों में आपने क्या स्थापना की थी?

मुखोपाध्याय- मैंने सात-आठ व्याख्यान देने का निश्चय किया और यह कहते हुए शुरुआत की कि मैंने श्री अरविन्द को इस केन्द्र के उद्घाटन समारोह में दार्शनिक नहीं माना था, अब मैं यह बताने की कोशिश करूँगा कि वह उन्हें किस रास्ते दार्शनिक बनाया जा सकता है। एक दार्शनिक को ऐसा क्या करना चाहिए कि श्री अरविन्द को दार्शनिक की तरह प्रस्तुत कर सके। इसका अर्थ यह है कि उन्हें दार्शनिक न मानने भर से बात खत्म नहीं हो जाती। पहले आपको यह तथ्य स्वीकार करना होगा और फिर यह देखने की कोशिश करनी होगी कि तर्क को किस तरह रखा जाए कि चीज़ें वैसी नज़र आएँ जैसी आपको अभीष्ट है लेकिन इसके लिए आप उन पर दार्शनिक होना आरोपित नहीं कर सकते।

उदयन- अगर आप जैसा दार्शनिक श्री अरविन्द को दार्शनिक मानने तैयार नहीं हो पाता (ज़ाहिर है इसके पीछे सशक्त तर्क विधान है) तो अरविन्द की इतनी चर्चा क्यों होती रही है?

मुखोपाध्याय- श्री अरविन्द आधुनिक बौद्धिकों की सम्पत्ति बन गये हैं। उन्होंने शायद ही कोई सहज पठनीय लेख लिखा हो जैसे कि विवेकानन्द ने लिखे हैं। इसका कारण यह है कि विवेकानन्द ने सबके लिए लिखा है, वह सारा लेखन बेहद वाचाल है, इसीलिए उसके प्रभाव में सभी आ जाते हैं और वह लेखन कुछ खास नहीं कहता।

यह मेरे अकेले का मत नहीं है। लियो तोल्सतोय बहुत धार्मिक व्यक्ति थे। बहुत ध्यान से पढ़ते थे और

उन शब्दों को लिख लेते थे जिनमें उन्हें धार्मिक अभिप्राय दिखते थे। उन्होंने विवेकानन्द को बहुत रुचि से पढ़ना शुरू किया। यह सब उन्होंने लिखा है। कुछ समय बाद उन्होंने रामकृष्ण परमहंस को पढ़ा। इन दोनों को ही पढ़ने के दौरान उन्होंने कुछ नोट्स लिखे। उनमें यह है कि विवेकानन्द महज वाचाल हैं। कोई भी उन्हें ध्यान से पढ़ेगा, यह जान लेगा। श्री अरविन्द ने यह कहने की कोशिश कभी नहीं की कि भारत एक आध्यात्मिक देश है। खासकर भारतीय पुनर्जागरण पर लिखे उनके तीन लेखों में से किसी एक में उन्होंने, अगर मेरी स्मृति मेरा साथ दे रही है, यह लिखा है कि भारत एक समग्र संस्कृति है। श्री अरविन्द ने बाद के वर्षों में और विवेकानन्द ने हमेशा भारत को आध्यात्मिक संस्कृति कहा। उनके यह कहने पर मुझे कोई आपत्ति न हुई होती अगर उसका आशय यह भी न रहा होता कि भारत एक समग्र संस्कृति नहीं है। दरअसल भारत में अत्यन्त विकसित बौद्धिक संस्कृति भी थी और यह लम्बे समय तक रही है। और साथ ही यह संस्कृति विविध थी, एकांगी नहीं। बौद्धिक संस्कृति का साहित्य अत्यन्त विपुल और विविध है। मैकाले मूर्ख था, जब वह यह कह रहा था कि समूचा भारतीय साहित्य पुस्तकालय की एक दराज़ में रखा जा सकता है। उसका एक अंश भी इस तरह नहीं रखा जा सकता। हमारा विपुल वाङ्मय हाशिये पर डाल दिया गया है। यह उन लोगों के कारण है, जिन्होंने भारत को आध्यात्मिक देश की तरह निरूपित किया। मुझे इसका एहसास है कि ऐसा क्यूँ किया गया होगा।

उदयन– आप कल शाम चैन्नई में हुई किसी ऐसी गोष्ठी का ज़िक्र कर रहे थे, जिसमें एस. गोपाल भी शामिल थे, जहाँ आपने विवेकानन्द और सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की पश्चिम में भूमिका पर प्रश्न उठाये थे।

मुखोपाध्याय– मैंने वहाँ यह कहा था कि जिस तरह विवेकानन्द पश्चिम में हिन्दू धर्म के स्व-नियुक्त मिशनरी थे, उसी तरह राधाकृष्णन् भी पश्चिम में ही हिन्दू धर्म के स्व-नियुक्त प्रचारक थे। इसके पीछे क्या प्रयोजन रहा होगा? इसका कारण हमें या तो राधाकृष्णन् के पारिवारिक या विद्यार्थी जीवन में मिल सकता है। आप उनका लेखन पढ़ें, आप समझ जाएँगे कि वे हिन्दू धर्म को यूरोप में प्रचारित करने कृत संकल्प थे। वे हिन्दू धर्म को लगातार महान बताते हुए पश्चिम की उल्टे रास्ते से की गयी भारत को आध्यात्मिक संस्कृति बताने की कोशिश को उचित ठहरा रहे थे, साथ ही उनकी इस धारणा को पुष्ट कर रहे थे कि भारत में तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक और भौतिक संस्कृति का अभाव है। ये दोनों लोग यूरोप में हिन्दू धर्म को स्वीकार्य बनाने इतने उतावले क्यों थे? यह सवाल सुनकर लोग असमंजस में पड़ गये। मैंने कहा कि क्यूँ न हम यह सवाल एस. गोपाल से पूछें? वे चुप रहे। मैंने जब ज़ोर दिया, वे बोले, 'राधाकृष्णन के पारिवारिक और विद्यार्थी जीवन में ऐसा कुछ था। वे मिशनरी स्कूल में पढ़े थे। वहाँ उन्होंने हिन्दू धर्म के बारे में अनेक अपशब्द सुने। शायद इसीलिए वे यूरोप के लोगों को यह बताना चाहते हों कि हिन्दू धर्म महान है।' इन दोनों लोगों जैसे विचारकों ने ही भारत को आध्यात्मिक देश निरूपित किया और हम इनके बड़े से बड़ा प्रशंसक होने के लिए होड़ लगाया करते हैं। इस पर

विचार-विमर्श क्यों नहीं किया जाता।

विवेकानन्द और श्री अरविन्द ने योग के अपने-अपने सिद्धान्त निकाले। लेकिन उन्होंने यह बताने का कभी प्रयास नहीं किया कि वे पातंजलि के योग से कहाँ अलग हैं? जैसी कि सामान्य भारतीय बौद्धिक परम्परा में अपेक्षा होती है। भारत को आध्यात्मिक संस्कृति बताते रहने का यह परिणाम हुआ कि यहाँ की बौद्धिक संस्कृति दरकिनार हो गयी है। संसार भर में भारत को वेदान्त की भूमि कहा जाने लगा है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन ही भारत के प्रतिनिधि हो गये हैं। यह कौन-सा वेदान्त है! यह संवादमूलक वेदान्त नहीं, विवेकानन्द का बताया वेदान्त है। इसने भारत की सभी बौद्धिक, विश्लेषणात्मक विचार पद्धतियों को फीका कर दिया है। हम उन सबको भूल गये। यह हम कैसे कर सके, मेरी समझ से बाहर है। एक सम्पूर्ण संस्कृति का नागरिक संस्कृति के हर पक्ष से किसी-न-किसी स्तर पर परिचित होता ही है, वह भले ही हरेक का विशेषज्ञ न भी हो। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि उसे उनमें रुचि न हो। एक ऐसी संस्कृति में जहाँ नव्य-न्याय जैसा जटिल विचार उत्पन्न हुआ, वहीं यह भी कहा गया; साहित्य, संगीत और कला से विहीन मनुष्य साक्षात् पशु के समान है। (साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः) इसका तात्पर्य यह है कि साहित्य, संगीत और कला में रुचि लेने के लिए मनुष्य को दूसरी तरह का नहीं होना होता।

उदयन- शायद यही कारण होगा कि आपने छह वर्ष पहले बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में नवज्योति सिंह और मेरे संयोजन में आयोजित नाट्यशास्त्र पर हुई कार्यशाला में कला के दर्शन पर कुछ व्याख्यान दिये थे...

मुखोपाध्या- इसका एक कारण और भी है। ऐसा विश्वास बढ़ता जा रहा है कि दर्शन के पदार्थवादी (रियलिस्ट) चिन्तन का कला से सम्बन्ध बनना मुश्किल है, कला रहस्यवादियों और विचारवादियों (आईडियलिस्ट) का क्षेत्र है। चूँकि मैं निष्ठावान भौतिकवादी (रियलिस्ट) हूँ इसलिए भी मुझे कला को समझने का अपना मार्ग बनाना आवश्यक था। मैं यह सोचने लगा कि इस क्षेत्र में पदार्थवादी अध्ययन इतने कम क्यों हैं? इसका पहला कारण यह है कि कला की प्रेरणा का उत्स क्या है? और यह कि कला का हमारी बौद्धिक संस्कृति और उपक्रम में क्या स्थान है। मेरा इस ओर ध्यान गया कि भारत में कभी कला का दर्शन विकसित करने का प्रयास नहीं हुआ। इस तथ्य से इस निष्कर्ष पर कूद जाना ग़लत है कि भारत में कला के सिद्धान्त नहीं रहे। कला के सिद्धान्त निश्चय ही विकसित हुए पर कला का दर्शन नहीं। यह पहला प्रश्न था, जिसने मुझे विचलित किया। दूसरा प्रश्न यह था कि कला की प्रेरणा क्या होती है और क्या वह दार्शनिकों और वैज्ञानिकों आदि को प्रेरित कर सकती है?

उदयन- इन सवालों से जूझने की शुरुआत आपके बनारस आने से पहले हुई होगी। ये आसानी से समाधान तक पहुँचने वाले प्रश्न नहीं है।

मुखोपाध्याय- कई बरस पहले मैंने आई.आई.टी. खड़गपुर के अपने व्याख्यान में कहा था कि

भारतीय सैद्धान्तिक संस्कृति, विशेषकर दर्शन में कला लगभग तिरस्कृत ही रही है। मैंने उसकी मिसाल यह दी थी कि मैंने लम्बे समय तक दर्शन पर काम करते हुए कला पर दो-तीन ही निबन्ध लिखे हैं। अगर मैं अपने सहचरों का रिकार्ड देखूँ, वह मुझसे भी कमज़ोर है। ऐसा क्यों हुआ? मुझसे एक वर्ष आगे पढ़े प्रभात जीवन चौधरी ने विज्ञान पर दो-तीन आलेख लिखे थे, पर उन्होंने कला पर पुस्तक लिखी थी। वह साधारण पुस्तक थी। डी.पी. चट्टोपाध्याय की कला पर पुस्तक भी ऐसी ही थी। मैंने इस पर सोचना शुरू किया और पाया कि भारत में सौभाग्य से सौन्दर्यशास्त्र दर्शन के भाग की तरह विकसित नहीं हुआ। वह स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। अगर यह दर्शन के हिस्से की तरह विकसित होता, यह दर्शन का बहुत छोटा-सा अंश बनकर रह जाता। यह स्वतन्त्र रूप से बढ़ा, इसकी सैद्धान्तिकी अत्यन्त विकसित है पर प्रश्न यह है कि सौन्दर्यशास्त्रियों ने सैद्धान्तिकी विकसित करते हुए भी दर्शन की भाषा में विचार नहीं किया। हालाँकि वे सिद्धान्तों को विकसित कर रहे थे तब भी उन्होंने भौतिक दर्शन की भाषा से पूरे एहतियात से खुद को बचाये रखा। इन दोनों प्रश्नों को मिलाकर एक तीसरा मूल प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि नाट्यशास्त्रियों और दार्शनिकों के बीच ठीक-ठीक क्या सम्बन्ध है?

यह मसला तब और अधिक जटिल हो जाता है, जब हमें यह पता हो कि हरेक नाट्यशास्त्री का सम्बन्ध एक अलग ही दार्शनिक दृष्टि से रहा है। शंकुक नैयायिक थे, अभिनव गुप्त वेदान्ती थे और भट्टनायक, भट्ट लोल्लट जैसे नाट्यशास्त्रियों के सिद्धान्त भी किसी न किसी दर्शन पर ही टिके थे अन्य नाट्यशास्त्री भी ऐसे ही थे। लेकिन वे तब भी हमेशा ही दर्शन के बाहर रहे आये। इनके बीच आत्मीयता क्यों विकसित नहीं हो पायी?

दूसरा प्रश्न यह है कि कलात्मक उपक्रम किस तरह विज्ञान और दर्शन को उत्प्रेरित कर सकता है? एक बार शान्ति निकेतन के केन्द्र 'विश्वभारती' में वैज्ञानिक चन्द्रशेखर की किताब 'ट्रूथ एण्ड ब्यूटी' पर गोष्ठी आयोजित हुई। उसमें नवज्योति सिंह भी थे। उसके लिए मैंने एक आलेख लिखा था, जिसमें यही प्रश्न उठाया था। इसके अलावा मुझे नवज्योति के कला-दर्शन ने इस ओर सोचने को प्रेरित किया था। इसके भी पहले दर्शन के छात्र के रूप में मुझे इस प्रश्न ने विचलित किया था कि दार्शनिक, विज्ञानविद् और कलाकार के बीच क्या फ़र्क है। दार्शनिक और वैज्ञानिक के बीच क्या फ़र्क है। पश्चिम में यह विचार है कि वैज्ञानिक की रुचि का क्षेत्र बाह्य जगत होता है, कला वह नहीं है। कला का विशिष्ट क्षेत्र सौन्दर्य होता है। जब तक हम सौन्दर्य और प्रकृति के बीच के सवाल को हल करने की दिशा में आगे नहीं बढ़ते, हम कला और विज्ञान के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं कर पायेंगे।

उदयन- सौन्दर्य और प्रकृति के बीच भी कई कोटियाँ हो सकती हैं।

मुखोपाध्याय- सौन्दर्य और प्रकृति के बीच प्राकृतिक सौन्दर्य होता है और जब तक हम प्राकृतिक सौन्दर्य के सन्दर्भ में अपनी स्थिति परिभाषित नहीं करते, सौन्दर्य और प्रकृति के सम्बन्धों पर आगे नहीं बढ़ पायेंगे।

उदयन– इस सन्दर्भ में आधुनिक भारतीय विचारकों की क्या स्थिति है?

मुखोपाध्याय– जहाँ तक आधुनिक भारतीयों का प्रश्न है चाहे वे प्रभाव जीवन चौधरी हों या डी.पी. चट्टोपाद्याय, शास्त्रों के गहरे जानकर नहीं हैं। वे अच्छे अध्येता हैं पर शास्त्र के बेहतर अध्येता नहीं हैं। ये लोग मूलतः पश्चिमी दृष्टि को ध्यान में रखकर काम करते रहे। इसलिए वे और कार्ल मार्क्स और मैक्समूलर जैसे पश्चिमी अध्येता यह कहेंगे कि भारत के पास प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने की नज़र नहीं है। पर इसकी कोई व्याख्या नहीं की गयी।

उदयन– इस विषय में आपकी स्थिति निश्चय ही इनसे अलग हैं...

मुखोपाध्याय– मेरा सोचना यह है कि वैज्ञानिक-यूरोप प्राकृतिक सौन्दर्य का अनुभव करने में असमर्थ है। इसकी पर्याप्त व्याख्या मैंने चन्द्रशेखर की किताब पर अपने लेख में की है। मैंने यह समझने की कोशिश की है कि कला की उत्प्रेरणा क्या है? इस 'खोज' के दौरान मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस विषय पर विचार करने वालों वे ही रहे हैं जो 'कला के लिए कला' के प्रस्तावक थे जो दरअसल 'ज्ञान के लिए ज्ञान' का ही सहयोगी तर्क है। 'ज्ञान के लिए ज्ञान' उस स्वतन्त्रता का दावा था जिसे सिद्धान्त अन्वेषकों ने बहुत मुश्किल से हासिल किया था। वे इस स्वतन्त्रता को खोना नहीं चाहते थे और यह स्वतन्त्रता उन्होंने अपने अन्वेषणों के लिए धर्म और चर्च के नियन्त्रण से पायी थी। इसके फलस्वरूप धर्म और चर्च ज्ञान के अन्वेषण को नियन्त्रित करने की स्थिति न बचे। हालाँकि यह भूलना नहीं चाहिए कि चर्च में एक समय पर कलात्मक उपक्रमों को बनाये रखा था। इसी तरह जब कलाकार 'कला के लिए कला' कह रहे थे कि वे दरअसल वास्तविकतावाद से अपनी स्वतन्त्रता के लिए दबाव डाल रहे थे। और यह वास्तविकतावाद वैज्ञानिक यथार्थवाद था।

अगर इस विचित्र प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाए तो कलाकार या तो रहस्यवादी हो सकता है या रोमाण्टिक। वास्तविकतावादी कोई कलाकार नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में सबसे सशक्त तर्क ऑस्कर वाईल्ड ने दिया है। उन्होंने कहा कि यथार्थवादी कलाकार का आदर्श धोबी की नोटबुक ही हो सकती है और वहाँ कला जीवित नहीं रह सकती।

उदयन– इस स्थिति में कलात्मक उपक्रम की उत्प्रेरणा क्या हो सकती है?

मुखोपाध्याय– अगर मैं इसे ऑस्कर वाईल्ड की ही भाषा में कहूँ, कला प्रकृति की अनगढ़ता के विरुद्ध मनुष्य का साहसिक संघर्ष है। ईश्वर के बनाये संसार और प्रकृति बहुत अनगढ़, भौंडे हैं। कलाकार उसके विरुद्ध संघर्ष करता है। ईश्वर की बनायी दुनिया 'परफेक्ट' (पर्याप्त-परिपूर्ण) है और वह कलाकार को उसी तरह कोई स्वतन्त्रता नहीं देती जैसे रवीन्द्र संगीत संगीतकार को कोई स्वतन्त्रता नहीं देता। ऑस्कर वाईल्ड यह भी कहते हैं कि कला में ही प्रकृति के लिए सीख है। सीख यह है कि तुम 'परफेक्ट' नहीं हो। प्रकृति के इस 'परफेक्ट' न होने के कई संकेत हैं जैसे चारों ओर फैली पीड़ा, बेचैनी और दुःख। 'कला के लिए कला' के इस सिद्धान्त का प्रणेता ऑस्कर वाईल्ड था। इसमें कुछ

नया नहीं था। हम उन्हें इसलिए मानते हैं क्योंकि वे एक महान लेखक थे, इस सिद्धान्त के लिए नहीं। हम उमर खय्याम की रूबाईयत पर सोचें। वहाँ भी यह संकेत है कि संसार पर्याप्त-परिपूर्ण (परफेक्ट) बिल्कुल भी नहीं है और इसका संकेत मनुष्य की पीड़ा और दुःख में है। यहाँ भी एक पर्याप्त (परफेक्ट) संसार बनाने की उत्प्रेरणा है और उसका प्रयोजन मनुष्य को सुखी बनाना है।

संस्कृति में एक सुन्दर श्लोक है। उसे किसी नैयायिक ने ही लिखा होगा। श्लोक मैं भूल गया हूँ पर उसका आशय यह हैः जब ईश्वर ने यह जगत बनाया, उसे उचित सलाह देने कोई नहीं था। वरना ऐसा कैसे हुआ कि इतनी बढ़िया सुगन्ध वाले चन्दन के वृक्ष में फूल नहीं होते। अगर वे होते, उनका क्या सुगन्ध हुई होती। गन्ने का पौधा खुद ही मीठा होता है, उसमें फल होते, वे कैसे बढ़िया मीठे होते। यह समझ हमेशा से रही कि हम जिस संसार में रहते हैं वह पर्याप्त (परफेक्ट) नहीं है। यह समझ कला की उत्प्रेरणा का एक पहलु रहा है।

कला इस समझ से उत्पन्न हुई है कि हमारी दुनिया पर्याप्त-परिपूर्ण (परफेक्ट) नहीं है। लेकिन इस रास्ते में एक झोल है। संसार पर्याप्त-परिपूर्ण नहीं है, न रहे। इसमें मुश्किल क्या है?

उदयन- पर इससे भी अधिक महत्त्व का प्रश्न यह बनता है कि इससे बाहर आने के रास्ते क्या हो सकते हैं?

मुखोपाध्याय- इससे बाहर आने के दो रास्ते हैंः अगर ईश्वर ने ही संसार को 'परफेक्ट' नहीं बनाया और हम भी उसी ईश्वर के बनाये हुए हैं, उसे वैसे ही रहने देते हैं, उसके आगे आत्मसमर्पण कर देते हैं। पर कला का रास्ता अलग है। वहाँ इसके पर्याप्त-परिपूर्ण न होने के प्रति विरोध दर्शाया जाता है। पर क्या ईश्वर के प्रयोजन और उसकी शक्ति को प्रश्नांकित करना ही पर्याप्त है। हमें यह दिखाना होता है कि पर्याप्त-परिपूर्ण होना क्या है? आपको एक पर्याप्त-परिपूर्ण सृष्टि की रचना करनी होती है। उमर ख़य्याम ने कहा था कि हम इस कायनात को अपने दिल की आकांक्षा के अनुरूप पुनर्रूप देते हैं। वह एक ऐसा संसार होता है, जो सुख से परिपूर्ण होता है। वहाँ ऐसा कोई अधूरापन नहीं होता कि एक बच्चा अकाल मर जाए और बूढ़ा जीता चला जाए।

उदयन- सम्भवतः कला के हाथों सुख से परिपूर्ण संसार रचने की यह आकांक्षा अनेक सभ्यताओं में मिलती है। तेरहवीं शती के कश्मीरी विद्वान आचार्य काव्यशास्त्री मम्मट कहते हैं कि ईश्वर के संसार में सुख और दुःख दोनों होते हैं जबकि साहित्य और कला के संसार में केवल आनन्द होता है।

मुखोपाध्याय- यह विश्वास हर जगह है। भारत में यह भी कहा जाता है कि अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः (इस अपार काव्य-संसार का प्रजापति अकेला कवि ही है)। शेक्सपीयर ने कहा कि इस संसार में कोई अर्थ नहीं है। हमारी ज़िन्दगी इस जगत में आवाज़ों और नाराज़गी से भरी हुई है, जिसके कोई मायने नहीं होते। हमारी सारी उपलब्धियाँ मृत्यु के आने पर धरी की धरी रह जाती हैं। हर जगह पर एक परिपूर्ण (परफेक्ट) जगत बनाने की आकांक्षा है। लेखक-कलाकार की संवेदना न

सिर्फ़ उस जगत की अपर्याप्तता पहचानने को प्रेरित करती है, उसमें यह विश्वास भी उत्पन्न करती है कि वह एक परिपूर्ण जगत बना सकता है। इस तरह कला का संसार परिपूर्ण और पर्याप्त संसार होता है, जो संसार के तमाम भौंडेपन से मुक्त रहता है। कलाकार उस जगत को प्रश्नांकित करता है, उससे व्यथित होता है, जो अधूरा है, जो ईश्वर का बनाया हुआ है और जो वैज्ञानिक का संसार भी है क्योंकि वह ईश्वर के बनाये संसार को ही स्वीकार कर उसका अध्ययन करता है। वह संवेदनशील नहीं होता। वह सोचता है संसार जैसा भी है, मुझे उसका अध्ययन करना है। उससे यह उम्मीद नहीं होती कि वह उस संसार में हस्तक्षेप करे। वह प्रकृति का महज साक्षी होता है। लेखक-कलाकार का कर्म सैद्धान्तिक नहीं, व्यवहारिक होता है। दर्शन और विज्ञान जानने की आकांक्षा रखते हैं, कला सृजन करने की, इसीलिए वह व्यवहारिक होती है।

उदयन- आपने कहा कि कला के जन्म को समझने का एक सिद्धान्त यह भी है कि कलाकार अपनी संवेदनशीलता के कारण संसार की अपर्याप्तता को सह नहीं पाता और एक परिपूर्ण और पर्याप्त संसार को बनाने के प्रयास में लग जाता है। इससे अलग दार्शनिक और वैज्ञानिक हैं जिन्हें जैसा भी संसार मिला है, उसे ही समझने की कोशिश करते हैं और वहीं रुक जाते हैं। क्या आप किसी एक उदाहरण से इन तीनों की भिन्न प्रवृत्तियों को रेखांकित करेंगे?

मुखोपाध्याय- अकाल या दुर्घटना से हुई मृत्यु बेहद आम अनुभव है और वह बहुत तकलीफ़देह होती है। यह संसार की अपर्याप्तता (परफेक्ट न होने) का सबसे बड़ा प्रमाण है। (इसी से जुड़ी एक कहानी 'चित्रदर्शन सूत्र' में मिलती है) महाभारत के युधिष्ठिर-यक्ष संवाद में युधिष्ठिर से यह प्रश्न पूछा जाता है कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? इसका जवाब यह दिया जाता है कि अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्। शेष स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् (हर दिन इस संसार से लोग यम के घर को चले जाते हैं, (मर जाते हैं) फिर भी बचे हुए यहीं टिके रहने की इच्छा रखते हैं। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या है!) मनुष्य की यह नितान्त मूर्खता महाभारत में धार्मिक दृष्टि का एक धागा है। इसके प्रति दार्शनिक दृष्टि यह है कि चूँकि मृत्यु होकर रहेगी, उसकी क्या चिन्ता करना? उसे सहज स्वीकारना चाहिए। यही प्रवृत्ति धार्मिक व्यक्ति की भी होगी। एक बार गौतमी बुद्ध के पास गयीं, अपने एकमात्र बच्चे को लेकर जो मृत था और उनसे कहा कि इसे जीवनदान दो। पहले बुद्ध सहमत हो गये और बोले कि ठीक है, तुम जाओ और राई के दाने ले आओ, मैं उसे जीवित कर दूँगा। मृत बच्चे की माँ उम्मीद से भर गयी। जब वह राई के दाने लाने के लिए जाने लगी, बुद्ध ने उसके सामने एक शर्त रखते हैं कि ये दाने ऐसे घर से लेकर आना, जहाँ ऐसा शोक कभी न हुआ हो। गौतमी ने वापस आकर कहा कि ऐसा कोई घर नहीं है और उसके मृत बेटे को जीवित नहीं किया जा सका। बुद्ध के शिष्यों ने इस पर हर्षित होते हुए कहा, हमारे बुद्ध कैसे महान गुरू हैं। वे नाचने लगे और बच्चे की माँ दुःख में डूबी रह गयी। दार्शनिक ने क्या कहा? मृत्यु! इस अपर्याप्तता, शोक आदि को जीवन में रहने दो। यह ईश्वर के संसार में अपर्याप्तता नहीं दर्शाती बल्कि मनुष्य में अपर्याप्तता दर्शाता है। दार्शनिक कहता

है कि तुम्हारे इस दुःख का क्या किया जाये कि तुम्हारा प्रिय पात्र मर गया है, उससे तुम्हारा अलगाव हो गया है पर अगर तुम सोचते हो कि यह अलगाव सिर्फ़ तुम्हारे भीतर शोक उत्पन्न कर रहा है तो ऐसा है नहीं, तुम्हारी अज्ञानता इसे उत्पन्न कर रही है। अगर तुम्हारे शोक का कारण अलगाव होता, दिन बीतने के साथ यह अलगाव बढ़ता और इस तरह शोक भी। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता है, शोक कम होता जाता है, इसलिए अलगाव इसका कारण नहीं है। यही बात जब कवि से कही गयी, उसने इसका बेहद सुन्दरता से जवाब दिया; अगर मेरा शोक सामान्य है, इससे वह छोटा नहीं हो जाता बल्कि वह बड़ा हो जाता है ('इन मेमोरियम', टैनीसन)। सामान्य होने से यह शोक इसलिए कम नहीं होता क्योंकि इसमें भव्यता है कि मैं मनुष्य अपने प्रिय से अलगाव पर पीड़ित हो सकता हूँ। पर जब यह कहा जाता है कि यह सामान्य शोक है, तुम मेरे शोक को उसकी भव्यता से दूर कर देते हो, उसकी अद्वितीयता से, प्रतिष्ठा से। यहाँ रोमाण्टिक कवि का एक खास ढंग है लेकिन पदार्थवादी क्या करे? क्या वहाँ पदार्थवादी के लिए कोई कविता नहीं है, मेरे मन में यह प्रश्न था। इस प्रश्न का मुझे अपनी तरह से ही समाधान खोजना था। दूसरा प्रश्न अभी भी यह था कि कला की उत्प्रेरणा क्या है? उस विषय एक समाधान यह दिया गया था कि कला दरअसल मानवीय सृजन है और उसकी उत्प्रेरणा जीवन की पीड़ा से गमिमामयी रास्ते पलायन करना है।

उदयन- इसमें आप जैसे पदार्थवादी की क्या स्थिति है?

मुखोपाध्याय- हम पदार्थवादी 'पुच्छविषाणहीनः' नहीं हैं, हम भी कलाओं के गुण-ग्राहक हैं। कला के परिपूर्ण संसार बनाने के तर्क पर हमारा कहना था कि ऐसा करके आप अपने को छल रहे होते हैं क्योंकि आप न केवल अपर्याप्त, अधूरे संसार का निस्सहाय उपभोक्ता हो, इससे अधिक आप खुद में नया परिपूर्ण संसार बनाने की सामर्थ्य अनुभव कर खुद को धोखा दे रहे हैं। आपमें यह सामर्थ्य नहीं है, आप सिर्फ़ उसकी आकांक्षा करते हैं। पदार्थवादी दृष्टि में यह आकांक्षा कोई सान्त्वना नहीं है। संसार की अपर्याप्तता, अगढ़पन पर सच्ची, निष्ठापूर्ण और वास्तविक प्रतिक्रिया जो आपको कला के सृजन के प्रति उत्प्रेरित करती है, वह आत्म-छलना नहीं हो सकती। आपको यह कह पाना चाहिए कि संसार सचमुच पीड़ादायक है पर तब भी मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह इसके परे चला जाये। संसार के भद्देपन का कोई मायने नहीं है, अगर वह आपको नष्ट नहीं कर रहा। दुःख, पीड़ा आदि तभी तक महत्व के हैं जब तक आपको प्रभावित नहीं करते। इसके प्रति प्रास्तविक चुनौती तो तब होगी, जब हम उसे पराजित करें। दुःख की अपर्याप्तता, भद्देपन की शक्तियों को पराजित केवल तब किया जा सकता है जब आप उनसे खुद को प्रभावित होने से बचा लें। अगर आप अपने को बदल सकें। इसके दो रास्ते हैं: यह कहा जाता है कि कलाकार संसार को परिवर्तित करता है और दार्शनिक स्वयं को परिवर्तित करता है। अगर दार्शनिक संसार को बदल दे, वह आपको प्रभावित नहीं करेगा। इससे जुड़ी एक सुन्दर कहानी है। सुकरात एथेन्स की सड़कों पर अपने छात्रों के साथ एक बार गोधूलि के समय घूम रहे थे। सड़क के बराबर से दुकानें और उनकी खिड़कियों में सजी वस्तुएँ दिखायी पड़ रही

थीं। सुकरात उन सबको ध्यान से देख रहे थे। उनका एक शरारती छात्र था। वह बोला, 'हमारे गुरु का असली चेहरा यह है, वे ऐसा दिखाते हैं, मानो उन्हें इन वस्तुओं से कोई लगाव नहीं है, पर उन्हें है।' यह धारणा मन में रखकर वह सुकरात से बोला कि आप इन सब वस्तुओं को किस तरह देखते हैं? सुकरात ने जवाब दिया, 'यहाँ इतनी सारी खूबसूरत चीज़ें हैं पर मुझे इनमें से किसी की भी ज़रूरत नहीं है।' यह है दर्शन। आप हरेक का सौन्दर्य देख-सुन सकते हैं। इसी दृष्टि से मैं यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता कि जीवन के वास्तविक दुःखों के लिए यह प्रतिक्रिया की जाए कि यह कल्पना की जाए कि एक और संसार बनाया जाए जो पर्याप्त, परिपूर्ण हो। नाट्यशास्त्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कला एक तरह का मनोविनोद है लेकिन वह वैसी अशिक्षितों या कम शिक्षितों के लिए है। लेकिन यह बात भी है कि कलात्मक रसास्वादन के समय शोक आदि का उदात्तीकरण हो जाता है। मसलन अगर बेटा अगर माँ से यह कहता है कि तुमने सब्ज़ी में इतना अधिक नमक डाल दिया है कि मुझे उसे खाने में मुश्किल हो रही है। माँ जवाब देती है, तुम ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि मैंने देखा था कि तुमने सब्ज़ी लेने से पहले उसमें बहुत सारी शक्कर मिला दी है, इसलिए अब वह अधिक नमकीन नहीं है। इसी तरह कलाकार भी दुःख का उदात्तीकरण करता है। लेकिन वह वास्तविक पीड़ा नहीं होती। वे वास्तविक पीड़ा को नकली सुख से विस्थापित करना चाहते हैं। यह अवश्य है कि कुछ देर के लिए खुशी, प्रशान्ति आ जाते हैं पर वे अस्थायी हैं। दार्शनिकों का प्रयास पक्के समाधान लाने का रहा है। कला आपको कल्पना की दुनिया में अस्थायी राहत देती है। इसकी अपनी शक्ति है, पर यह वास्तविक समाधान नहीं है। एक बात अवश्य है कि प्रकृति के अनगढ़पन के कारण कलाकार के सृजन की सम्भावना अवश्य उत्पन्न हो जाती है। इससे कला का एक सिद्धान्त निकलता है कि कला अनुकरणात्मक नहीं है।

उदयन- इस विषय में आपकी क्या समझ बनी है? आपकी तर्क पद्धति देखने लायक है क्योंकि आप पहले किसी एक दृष्टि को उसकी पूरी सम्भावना के साथ प्रस्तुत करते हैं फिर उसे उतने ही तर्कपूर्ण ढंग से काट देते हैं।

मुखोपाध्याय- मैं शुरू में इसी पर विश्वास करता था कि कला अनुकरणात्मक नहीं हो सकती पर बाद में मेरा मत बदल गया। मैं सोचता हूँ कि अनुकरणात्मक कला भी महान हो सकती है। आखिर एक अनुकरणात्मक कला क्या अनुकरण कर सकती है? यह विचार मेरे मन में तब आया जब मैं कुछ बच्चों को चिड़ियाघर के बगीचे ले जा रहा था। वहाँ एक तालाब में कुछ पक्षी थे। मैंने एक खास प्रजाति के पक्षी और उसके रंगों को देखा। मैं आज तक इसकी कल्पना नहीं पाया कि ऐसा रंग संयोजन कैसे किया जा सकता है? शाम को सूर्य डूबता है, उसका रंग बदलता है एक चित्रकार पूरा जीवन लगाकर भी वे रंग नहीं लगा सकता। ऐसे समय प्राकृतिक सौन्दर्य इतना जटिल-गहन होता है, प्रांजल भी कि उसके अनुकरण का विचार महान कला को जन्म दे सकता है।

उदयन– पर यह बात भी सच है जो कि आपके कथन से स्पष्ट भी हो रही है कि कला को देखने की कई दृष्टियाँ होती हैं। उसके लिए किसी एक दृष्टि को ही पर्याप्त मानना स्वयं कला की अवमानना जैसा ही होगा।

मुखोपाध्याय- इसे देखने की अलग दृष्टि भी सम्भव है। वास्तविकतावादी कला सम्भव है, अनुकरणात्मक भी। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। जब एक शिल्पी कोई आकृति गढ़ता है और चूँकि वह कलाकार है, सिद्धान्तकार या वैज्ञानिक से अलग वह प्रकृति में हस्तक्षेप करता है, वह उसे बदलता है। प्रकृति संगमरमर का बड़ा-सा पत्थर है। शिल्पी उसे आकृति में परिवर्तित कर देता है। इतना ही है। लेकिन पत्थर काटने वाले मज़दूर और कलाकार में फ़र्क है। मज़दूर सिर्फ़ पत्थर काटता है जबकि कलाकार के मन में सौन्दर्य की एक छवि है, वह उसी वक़्त वास्तविकतावादी भी है क्योंकि जो छवि उसके मन में है, वह उसे अपने बाहर पत्थर में देखता है। इससे जुड़ी एक कहानी हैः एक राजा था। उसके दरबार में कई शिल्पी, कलाकार आदि थे। राजा के नाती ने माँग की कि उसे घोड़ा चाहिएः खिलौने घोड़ा। राजा ने अपने सबसे बेहतर शिल्पी से कहा कि यह लकड़ी का टुकड़ा है, आप इससे एक घोड़े के आकार का घोड़ा बना दें। उसने कहा, 'यह सम्भव नहीं है।' राजा के पूछने पर उसने कहा कि इतना बड़ा घोड़ा बनाते हुए कुछ न कुछ विकृति हो ही जायेगी। राजा इस पर चकित हुए कि इतने बड़े लकड़े के टुकड़े से इतना बड़ा शिल्पी घोड़ा नहीं बना सकता। राजा ने फिर अपने दूसरे शिल्पी से कहा। उसने कहा, 'मैं वह बना दूँगा।' राजा ने यह बात पहले शिल्पी से कही। उसने जवाब दिया, 'यह बढ़िया है, क्यों न उनसे घोड़े का यह शिल्प राजमहल में रहकर ही बनवाया जाए। हम उन्हें एक कमरे से छुपकर देखेंगे।' जब दूसरा शिल्पी कुछ दूर तक वह शिल्प बना चुका, वह भ्रमित हो गया। वह कभी लकड़ी के टुकड़े को एकतरफ से देखता, कभी दूसरी तरफ से। उसे डर था कि उसकी विफलता की ख़बर राजा तक न पहुँच जाए। वह चुपचाप राजमहल के बाहर निकला, उसने लकड़ी का एक और टुकड़ा खरीदा और उसका शिल्प के काम का हिस्सा बनाया और उसे अधूरे शिल्प में जोड़ दिया। जब वह यह कर चुका, राजा और वह बेहतर शिल्पी वहाँ आ गये। राजा ने उससे पूछा कि उसने क्या किया है, वह समझ गया कि उसकी चालाकी पकड़ी गयी है। उसने राजा से कहा कि लकड़ी के इस टुकड़े में कहीं न कहीं कोई दोष अवश्य है। इस कहानी में अन्तर्निहित क्या सीख है? दूसरा शिल्पी लकड़ी के टुकड़े का दोष केवल तब समझ सका जब वह शिल्प बनाने लगा जबकि पहले और बेहतर शिल्पी ने लकड़ी के टुकड़े में ही बराबर के आकार के घोड़े के शिल्प के बनने की असम्भवता को देख लिया था। वह लकड़ी को देख ही नहीं रहा था, वह उसमें शिल्प देख रहा था। यही कारण है कि वह श्रेष्ठ कलाकार था। कलाकार वास्तविकतावादी या रियलिस्ट निश्चय ही हो सकते हैं लेकिन तब जब वे सामग्री में ही शिल्प को देख लें। उसके लिए सामग्री में वह शिल्प महज विचार नहीं और न कल्पना है, वह वास्तव में वहाँ है। इसलिए वह लकड़ी के टुकड़े से घोड़ा नहीं बनाता, वह लकड़ी में घोड़ा देखता है और वह सब हिस्सा हटा देता है, जो घोड़ा नहीं है। कला का

यह सिद्धान्त मेरी दृष्टि में पूरी तरह वास्तविकतावाद के साथ जाता है।

उदयन– कला के इसी सिद्धान्त की पुष्टि इटली के महान शिल्पी माईकल एंजिलो के विचार से भी होती है। उनसे जब यह पूछा गया कि आप इतना सुन्दर डेविड का शिल्प कैसे बना पाये? उन्होंने जवाब दिया, 'पत्थर में डेविड उपस्थित था और कुछ अतिरिक्त भी था। मैंने वह अतिरिक्त पत्थर हटा दिया, डेविड दिखायी देने लगा।'

मुखोपाध्याय– यह वास्तविकतावादी कल्पना है, जिसका आशय यह है कि वास्तविकतावादी कला सिद्धान्त में भी कल्पना का पर्याप्त स्थान है। इसलिए यह कहना पड़ेगा कि संसार वैसा अपर्याप्त या 'इम्परफ़ेक्ट' नहीं है जैसा पिछले सिद्धान्त में कहा गया है। यह हर तरह के सौन्दर्य से परिपूर्ण है। यह हमारी विफलता है कि हम उसे देख नहीं पाते। जब हम ईश्वर को संसार के अपर्याप्त और अधूरे होने के लिए दोषी ठहराते हैं, हम यह भूल जाते हैं कि अपर्याप्तता हमारे भीतर है।

उदयन– इसका आशय यह है कि आपका सिद्धान्त पिछले सिद्धान्त से ठीक उल्टा है।

मुखोपाध्याय– संसार में हर ओर पर्याप्तता-परिपूर्णता (परफ़ेक्शन) है पर हमें कलाकार की आवश्यकता होती है कि वह उसे हमें दिखा सके, उसे अनुभवगम्य बना सके। कलाकार इस परफ़ेक्शन को हर जगह देखता है। यही हरेक को दिखाता है। नैयायिक इसी तर्क से कलाकार है, जो हर ओर परफ़ेक्शन देखता है।

उदयन– यहाँ मैं दो बातें याद कराता हूँ। पहली फ़ारसी कवि रूमी की कविता है, जिसमें वे कहते हैं, मनुष्य सौन्दर्य से घिरा हुआ है पर वह सुन्दरता को देखने उद्यान जाता है। साथ ही 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन का भी लगभग यही मत मालूम देता है। वे कहते हैं कि कवि साधारण में असाधारण देख लेता है। यह अलग बात है कि आनन्दवर्धन कला-दार्शनिक न होकर सौन्दर्यशास्त्री थे।

मुखोपाध्याय– रॉबर्ट ब्राऊनिंग अपनी एक कविता में कहते हैं कि उसने सारी सृष्टि एकबार में बनायी है, मनुष्य उसे अंशों में देखता है। हमें यह संसार परिपूर्ण नहीं लगता, इसके पीछे हमारी दृष्टि की सीमा है। ईश्वर सबसे बड़ा कवि है। उपनिषद् में भी यही लिखा है। अगर हम अपनी सीमा के परे जा सकें, हम संसार में परिपूर्णता देख सकेंगे। अपनी सीमा के परे जाने का एक रास्ता कलाकार होता है इसलिए हर बेहतर वैज्ञानिक और दार्शनिक कलाकार होता है। इसे मैं इस तरह भी कह सकता हूँ कि हर बेहतर कलाकार दार्शनिक होता है।

उदयन– जब आप कोई खूबसूरत चित्रकृति देखते हैं, आप उसके रंग के अन्तर्सम्बन्ध से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। चित्रकृति में किसी भी आकृति को देखने के कहीं पहले हम उसमें उपस्थित वर्ण-सम्बन्ध को देखते हैं। हम सब जीने के उपक्रम में एक तरह के अन्धेपन को धारण कर लेते हैं। चित्रकृति के ये वर्ण-सम्बन्ध हमारे उस अन्धेपन को कम करके हममें अधिक देखने की सामर्थ्य उत्पन्न कर देते हैं। इसी तरह श्रेष्ठ संगीत सुनकर भी हमारा आंशिक बहरापन किसी हद तक दूर होता है

और हम अपने में अधिक सुनने के योग्य हो जाते हैं। अब तक आपने शिल्प से उदाहरण दिये हैं। आप संगीत के बारे में वास्तविकतावादी दृष्टि से क्या कहेंगे?

मुखोपाध्याय– नाट्यशास्त्र में अधिकतर उदाहरण साहित्य से दिये जाते हैं। श्रव्य काव्य से दृश्य काव्य से भी। हम संगीत को देखें। यह स्वरों की शृँखला होती है। यह सही है कि इसमें सृजित स्वरों की शृँखला का निरूपण बेहद कठिन है। एक ओर वायलिन और सारंगी और दूसरी ओर सितार-सरोद हैं। सितार को इतनी गहरायी से बजा सकते हैं कि उसमें वायलिन का असर पैदा हो जाए। विलायत खाँ ऐसा करने में गर्व महसूस करते थे। मैं कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत के अन्तर को, बिना विशेषज्ञ हुए, किस तरह समझता हूँ, वह बताता हूँ। इन दोनों ही संगीत में कोई भी फ़र्क कर सकता है। पर प्रश्न उनके आधार के अन्तर में है। हर दो स्वर के बीच श्रुतियाँ होती हैं, यह सभी संगीतज्ञ स्वीकारते हैं। कर्नाटक शैली में मेरी दृष्टि से वे सिर्फ़ स्वर नहीं, श्रुतियों को भी गाते हैं। इस अर्थ में हिन्दुस्तानी संगीत की स्थिति बेहतर है। श्रुतियों का प्रयोजन उन्हें गाना नहीं है। श्रुतियाँ अनुमानित होती हैं, जिनका प्रयोजन स्वरों के बीच के अन्तराल को चिह्नित करना होता है, जिससे स्वर संयोजन बना रहे। हर दो स्वर के बीच एक खास संख्या में श्रुतियाँ बतायी जाती हैं। अगर दो स्वरों के बीच एक खास संख्या में श्रुतियाँ हैं तो श्रुतियों के बीच भी श्रुतियाँ होंगी वरना वे एक-दूसरे से अलगायी कैसे जाएँगी? अगर ऐसा है तो यह सिलसिला रुकेगा नहीं। इस स्थिति में हम कोई भी स्वर या श्रुति शृँखला कैसे बनाये रख सकते हैं क्योंकि हर शृँखला अलग-अलग अपने में विलक्षण चीज़ों के लगभग संयोग से बनी हैं। इसी स्थान पर नवज्योति ने अक्षर (पंक्चुएटर) की अपनी समझ का विस्तार शुरू किया था। यह विचार उन्हें सबसे पहले ज्यामिति से प्राप्त हुआ था पर दरअसल वे इसे योगशास्त्र से लाये थे। योगशास्त्र में यह कहा जाता है कि यौगिक अभ्यास में योगी को एक ऐसे बिन्दु पर ध्यान करना चाहिए जो काल्पनिक हो, अनुमानित हो। इस बिन्दु को न तो नकारा जा सकता है, न उसकी पहचान की जा सकती है। जब भी कोई साँस लेता और फिर छोड़ता है, बल्कि जब उसका साँस लेना साँस छोड़ने में अन्तरित होता है, तब एक समय ऐसा भी होता है, जब न साँस ली जा रही होती है और न छोड़ी जा रही होती है। लेकिन उस बिन्दु को थामा नहीं जा सकता। लेकिन योगी अपने अभ्यास में उसे थाम लेता है। यही अक्षर की भूमिका है: वह दो संघटनाओं को (हमारे उदाहरण में वे साँस लेना और छोड़ना हैं) को अलगाता अवश्य है पर उन्हें तोड़ता नहीं। इसे अँग्रेज़ी की दार्शनिक भाषा में 'डिस्टिंगशन विटाउट सेपरेशन' कहा जाता है। जीवन के प्रवाह को आप अलगा सकते हैं पर तोड़ नहीं सकते, बिना जीवित चीज़ को मारे।

उदयन– क्या संगीत में भी यही होता है?

मुखोपाध्याय– यही होता है। एक स्वर दूसरे स्वर में जब अन्तरित होता है, उनके बीच क्या होता है? सारंगी और वायलिन उसका प्रवाह बताते हैं और अगर आपको स्वर ढूँढना है, आपको ही उनके

बीच के अलगाव को आरोपित करना होगा। आप यह केवल तब कर सकते हैं, जब आपका यह आरोपण काल्पनिक हो, अगर वह सचमुच होगा, संगीत खत्म हो जाएगा। हिन्दुस्तानी संगीत में श्रुतियों को गाया नहीं जाता, उनका अनुमान किया जाता है। इसलिए इस संगीत में नैरन्तर्य या प्रवाह बना रहता है। इसीलिए रबीन्द्रनाथ ने गायन-वादन में संगत के लिए सारंगी या इसराज को स्वीकृति देकर हारमोनियम पर बन्दिश लगा दी थी। मुझे समझ में नहीं आता कि इन दिनों कई हिन्दुस्तानी संगीतकार हारमोनियम के साथ क्यों गाना गाते हैं। मैं उस्ताद अमीर खाँ को हारमोनियम के साथ गाते हुए सोच भी नहीं सकता। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या वास्तविकतावाद में ऐसे किसी पदार्थ का स्थान है, जो महज काल्पनिक हो (जैसा कि अक्षर है)? उन्हें उसे स्वीकार करना ही होगा। वैशेषिक न्यायशास्त्र में एक प्रयोग है। हम कहते हैं कि अनन्तरूप से सूक्ष्म परमाणु में कोई हिस्से नहीं होते, उन्हें और अधिक नहीं तोड़ा जा सकता। यहाँ एक समस्या होती है। अगर परमाणु के कोई हिस्से नहीं होते तो वह दूसरे परमाणु से कैसे जुड़ सकता है? बुद्ध ने यह प्रश्न उठाया था कि अगर परमाणु में कोई हिस्से नहीं होते, वह दूसरे परमाणु से मिलकर एक हो जाएगा। अगर दो परमाणु मिल सकते हैं तो आप उनमें हिस्से मान रहे हैं। इस समस्या का निदान यह है कि परमाणुओं का संयोग सरन्ध्र (पोरस) होता है। वहाँ खाली जगह होती है। वे एक-दूसरे के साथ मिल नहीं रहे, वर्ना वे एक हो जाते। उनके बीच एक अन्तराल होता है लेकिन यह अन्तराल एक ही तरह के द्रव्यों के परमाणुओं के बीच नहीं होता। इस योग में यह रन्ध्र, अक्षर है। यह दो परमाणुओं को अलगाता है पर तोड़ता नहीं।

उदयन- नवज्योति इसी अक्षर को कथ्यहीन रूप कहते थे, 'फॉर्म विदाउट कण्टेट'। आप अलंकारशास्त्र पर भी कुछ बता रहे थे। आपकी श्रुति की व्याख्या हमें ध्वनिशास्त्र के बहुत निकट ले आयी है।

मुखोपाध्याय- अलंकारशास्त्र के कुछ समुदाय हैं। अलंकारवाद, ध्वनिवाद, रीतिवाद आदि। मैं नैयायिक हूँ। वास्तविकतावाद और ध्वनिवाद का सम्बन्ध वेदान्त से है, तब भी मैं ध्वनिवादी हूँ।

उदयन- आप इन दोनों के बीच सामंजस्य किस तरह स्थापित करते हैं?

मुखोपाध्याय- मैं अपने से यह प्रश्न पूछता हूँ कि मैं अलंकारवादी क्यों नहीं हूँ। मुझ नैयायिक को अधिक वह सुविधाजनक होता। मैं इस अर्थ में अलंकारवादी नहीं हूँ कि मैं अलंकृति को अनिवार्य नहीं मानता। अलंकार होते हैं, अलंकृति भी होती ही है। लेकिन वह कला का अपरिहार्य अंग नहीं है। ऐसा न होने के उदाहरण हैं। मैं 'कुमारसम्भव' का उदाहरण देता हूँ :

एवं वदिनि देवस्य पश्यपीकरथोमुखी लीलाकमलपत्राणि गुणयामास परिधि।

इसमें एक भी अलंकार नहीं है। अपने बचपन से पार्वती शिव की अपने पति की तरह कल्पना करती आयी थीं। लेकिन वे इस आकांक्षा को किसी के भी सामने कह नहीं सकती थीं। वे इस सपने को अपने भीतर संजोये थीं। जब वे छोटी ही थीं और अपने पिता के बगल में बैठी थीं, नारद आये। उन दिनों देवता संकट में थे। प्रश्न यह था कि सिंहासन से उतारे जा चुके, असुरों से पराजित देवताओं को विजयी

कैसे बनाया जाए। नारद को उसका एक ही समाधान मालूम था। पार्वती और शिव के विवाह से सन्तान उत्पन्न हो। वह सन्तान कैसे उत्पन्न होगी, 'कुमार' कैसे सम्भव होगा, यही 'कुमार-सम्भव' है। अब एक तरफ तो पार्वती ऐसे ही विवाह के स्वप्न देख रही थीं और दूसरी ओर देवलोक को इसकी तत्काल आवश्यकता थी। नारद ने आकर इस विवाह का प्रस्ताव पर्वतराज के समक्ष रखा। पार्वती ने यह सुना। उस समय उनकी क्या स्थिति हुई : वे वहाँ से जा भी नहीं सकती थीं और न ही वहाँ रह सकती थीं। वह बेहद हर्ष का विषय था पर साथ ही उनके लिए लज्जाजनक भी था। इसके वर्णन में न तो एक शब्द लज्जा के लिए या उनके असमंजस के लिए ही है। कालिदास ने सिर्फ़ इतना कहा कि वह अपने पिता पर्वतराज के पास बैठी कमल के फूल की पंखुड़ियाँ गिनती रहीं। यह अद्‌भुत कविता है। वे पार्वती के इन अनेक भावों को इंगित करने सिर्फ़ इतना कहते हैं कि वे एक ऐसे काम में डूब गयीं, जो प्रयोजनहीन था। आखिर कोई ऐसे अवसर पर कमल की पंखुड़ियाँ क्योंकर गिनेगा। लेकिन इतना-सा कहकर उन्होंने काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न कर दिया। इसका आशय यह है कि कालिदास के इस कथन 'वे कमल की पंखुड़ियाँ गिन रही थीं' में वाच्यार्थ है। यहाँ जो अतिरिक्त अर्थ है, वही व्यंजना है। वही ध्वनि है। न कहकर भी कह देना ही ध्वनि है। वह शब्द से नहीं, उसके अभाव से व्यक्त होती है। ध्वनिवाद कश्मीर में विकसित हुआ। तब से ही कला के इस कश्मीरी सिद्धान्त ने कला के क्षेत्र पर कब्ज़ा-सा कर लिया है। भारत के अन्य इलाकों में भी कला के सिद्धान्त विकसित हुए होंगे। उन्हें बाद की पीढ़ियों ने भुला दिया। इन पर और विचार किया जाना चाहिए।

उदयन- कालिदास ने यह दर्शा दिया कि बिना तकनीकी या अलंकारों के भी काव्य सम्भव है। इसका प्रमाण बहुत-सी आधुनिक कविता भी है। उसमें आवश्यक नहीं कि अलंकार हों पर वह तब भी कई कारणों से काव्य है।

मुखोपाध्याय- यह कहा गया है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (रसयुक्त वाक्य ही काव्य है)। यह नहीं कहा गया कि 'अलंकारविशिष्टवाक्यं काव्यम्'। इसका अर्थ यह है कि निश्चय ही आप अलंकार से रस का सम्प्रेषण कर सकते हैं पर साथ ही व्यंजना से भी आप यह कर सकते हैं। महत्वपूर्ण बात है रस। अभी हाल में भारतीय कविता के सन्दर्भ में एक नया संवेदनशील तथ्य इंगित किया गया, जिसके कारण सैद्धान्तिकों के संसार में कुछ विवाद उत्पन्न हो गया। मैं यहाँ श्रव्य काव्य के सन्दर्भ में बात कर रहा हूँ। यह कहा गया कि संस्कृत भाषा जिसे संस्कृत के कवि इस्तेमाल करते हैं, वह कविता के लिए बेहद कमज़ोर भाषा है। इस भाषा में लिखने के कारण कवि को बन्दिशें कहीं अधिक होती हैं, स्वातन्त्र्य कहीं कम। बर्नार्ड शॉ अँग्रेज़ी भाषा के निन्दक थे क्योंकि वे मानते थे कि वह वाणिज्य की भाषा है, कला की नहीं। उन्होंने अपनी वसीयत में कुछ पैसा इसलिए भी छोड़ा था कि उसे अँग्रेज़ी भाषा को कविता के योग्य बनाने में उपयोग किया जा सके। जब मैं स्नातक कर रहा था या उसके कुछ पहले बुद्धदेव बसु ने 'मेघदूत' के बांग्ला अनुवाद के साथ प्रकाशित अपनी भूमिका में लिखा कि मेघदूत अपनी भाषा के कारण, कवि के किसी दोष के कारण नहीं, एक तरह से खराब काव्य है। मैं तब छोटा था, यह

पढ़कर मैंने सोचा कि बुद्धदेव बसु को उसके परिवार और घर के साथ जला देना चाहिए। मैंने यह अपने कुछ दोस्तों से भी कहा। मैं इस बात पर बहुत क्षुब्ध था। दो साल बाद मैंने वह अनुवाद फिर पढ़ा। इस बार लगा बुद्धदेव के तर्क में कुछ बात अवश्य है। ऐसा नहीं है कि वे ही बिलकुल ग़लत कह रहे हों। उनकी बात में कुछ दम है, जिसे मानना होगा। लेकिन तब तक मुझे सबकुछ स्पष्ट नहीं था। स्नातकोत्तर कक्षा में मैंने वह अनुवाद और भूमिका फिर पढ़े और सोचा कि बुद्धदेव ग़लत थे। फिर ऐसा हुआ कि मैं अपने गुरू महान नैयायिक प्रोफ़ेसर गोपीनाथ भट्टाचार्य (वे स्वयं महान कवि भी थे) से कुछ बातचीत कर रहा था। मैंने पूछा, 'आप कालिदास को रबीन्द्रनाथ की तुलना में कहाँ रखेंगे।' वे बोले, 'रबीन्द्रनाथ कहीं बेहतर हैं।'

उदयन- इस वाक्य को सुनकर मुझे एकसाथ गर्व और चोट लग रही है। गर्व इसलिए कि रबीन्द्रनाथ अपेक्षाकृत निकट के कवि हैं, चोट इसलिए क्योंकि कालिदास को किसी भी आधुनिक कवि से कमतर देख पाने की सामर्थ्य कम-से-कम मुझमें बहुत कम ही है।

मुखोपाध्याय- प्रोफ़ेसर गोपीनाथ ने रबीन्द्रनाथ की कविताओं का संस्कृत में बहुत खूबसूरत अनुवाद किया था। उन्होंने रबीन्द्रनाथ और कालिदास की तुलना के विषय में कुछ कहा, जो मुझे स्वीकार्य नहीं था। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृत भाषा में प्रवाह नहीं है। अगर आप कोई काव्य लें, वह मेघदूत हो या कुमारसम्भव और अगर आप ईमानदार हैं, आप पाएँगे कि उसमें एक के बाद दूसरे अलग-अलग तत्व आते हैं। वे काव्य श्लोकों का समुच्चय भर हैं। उनमें निरन्तर प्रवाह नहीं है। हर विचार एक श्लोक के भीतर ही पूरा हो जाता है। हर श्लोक की अपनी पहचान होती है। कोई भी विचार दूसरे श्लोक में अन्तरित नहीं होता। मुझे भी कुछ हद तक यह लगता है। यह एक बात है, दूसरी बात यह है कि अगर हम अपेक्षाकृत बड़ा श्लोक भी लें, दो पंक्तियों के स्थान पर चार, वहाँ भी यही है-

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।

(अपने काम में असावधान यक्ष को यक्षपति ने वर्षभर तक स्त्री-विरह का शाप दिया, जिससे उसकी महिमा ढल गयी। उसने रामगिरि के आश्रमों में बस्ती बनायी, जहाँ घने छायादार वृक्ष थे और सीता के स्नानों से पवित्र हुए जल वाले कुण्ड थे)

इसके अलावा बात यह है कि हमारी संस्कृति के पौर-पौर में तर्कमूलकता है। मैंने पहले ही दर्शा दिया है कि यह धर्म विषयक चीज़ों में भी है। यह इतनी अधिक है कि कई बार इससे कोफ़्त होती है। मैं मेघदूत को उसका चौथा या पाँचवाँ श्लोक छोड़े बिना पढ़ ही नहीं सकता। मुझे बहुत खुशी होगी, बहुत

अधिक, अगर कोई मुझसे यह कह दे कि उस श्लोक को कालिदास ने नहीं, किसी और ने लिखा था। ऐसा किसी ने नहीं कहा। वे कहते हैं-

धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।।

(धुआँ, पानी, धूप और हवा का संयोग कहाँ तो बादल, कहाँ सन्देश की वे बातें जिन्हें जागृत इन्द्रियों वाले प्राणी पहुँचाते हैं। पर उत्कण्ठावश इससे बेख़बर यक्ष ने मेघ से (अपने सन्देश ले जाने की) याचना कर ही डाली। क्योंकि काम से विह्वल हुए लोग चेतन-अचेतन में फ़र्क करने में अक्षम हो जाते हैं।

रबीन्द्रनाथ का काव्यविवेक बहुत तीक्ष्ण था। उन्होंने कहा कि कालिदास को अपने पाठकों पर भरोसा होना चाहिए था। उनके पास भी कुछ कल्पनाराशि है। वे इस सबकी कल्पना कर सकते थे जबकि कालिदास सफ़ाई देने में जुट गये। जब आपने मेघ को दूत बनाया, हमें पता है कि वह वास्तव में दूत नहीं है तब आप सफ़ाई क्यूँ दे रहे हैं कि चूँकि वह कामार्त्त था इसलिए वह चेतन और अचेतन में फ़र्क नहीं कर पा रहा था। इसके सिवा मुझे मेघदूत में कोई मुश्किल जान नहीं पड़ती। इसीलिए मुझे लगा कि बुद्धदेव का तर्क पूरी तरह सही नहीं है। संस्कृत भाषा में अन्तर्निहित बन्धन है, यह बात ठीक है, उसमें प्रवाह नहीं है। वह सितार बजाने जैसी है जिसमें तार को बीच-बीच में छेड़ा जाता है। वह वायलिन की तरह नहीं है। बुद्धदेव ने ज़ोर देकर कहा कि मेघदूत में बहुत सुन्दर छवियाँ हैं, पर उसमें भाव या रस नहीं है। कालिदास सुन्दर दृश्य बनाने की ओर प्रवृत्त होते हैं कि उनका काव्य दृश्यात्मक हो जाए पर वे भाव को भूल जाते हैं। बुद्धदेव ने अपने तर्क का समर्थन अनेक उदाहरणों से किया है, मेरे पास अपनी बात के लिए एक श्लोक है पर वह कुमारसम्भव से है। कुमारसम्भव में पार्वती तपस्या करती हैं और अन्ततः शिव उनके निकट आते हैं पर वे उनकी परीक्षा लेते हैं। वे ब्राह्मण का रूप लेकर पार्वती की तपस्थली पर आते हैं और महादेव के लिए दुर्वचन बोलने लगते हैं। शुरू में पार्वती नाराज़ होती हैं। वे कहती हैं, 'आप जिस शिव के बारे में बोल रहे हैं, उन्हें मैं नहीं जानती।' ब्राह्मणरूप धारी शिव जवाब देते हैं, 'वही जो आपके प्रिय हैं।' पार्वती कहती हैं, 'मैं उन शिव के लिए तपस्या कर रही हूँ जो मेरे भाव में उपस्थित हैं।' कुमारसम्भव के ये संवाद बुद्धदेव बसु के इस तर्क का स्पष्ट प्रतिवाद है कि संस्कृत साहित्य में भाव नहीं है। लेकिन यह भी सही है कि अनेक स्थानों पर सुन्दर दृश्यों ने संस्कृत साहित्य में मुख्य स्थान लिया हुआ है। वहाँ एक तरह से खूबसूरत चित्रों की नुमाईश है लेकिन वहाँ धारा प्रवाह संगीत नहीं है।

उदयन- क्या आप मॉडर्न ट्रेडीशनल विचारकों का कोई और भी लक्षण बताना चाहेंगे?

मुखोपाध्याय- भारतीय संस्कृति चूँकि सम्पूर्ण संस्कृति है इसलिए उसमें बावजूद अन्यान्य अनुशासनों

की उपस्थिति के, जो आपस में अलग हैं, पर उनमें कोई असामंजस्य नहीं है। हमने कभी ज्ञान को टुकड़ा-टुकड़ा नहीं किया। इसीलिए हम ज्ञान के सारे अनुशासनों के लिए एक ही स्रोत को उत्तरदायी मानते हैं। पहला वेद और फिर महादेव। उपनिषद् में लिखा है कि सारा ज्ञान महादेव से आता है। कहा भी गया है, अगर आपको स्वास्थ्य पाना है, आदित्य की आराधना करो। अगर धन की प्रत्याशा है, अग्नि की उपासना करो। अगर मोक्ष अभीष्ट है, जनार्दन-नारायण की शरण में जाओ और ज्ञान के लिए महादेव की। इस तरह इस संस्कृति में जटिल-एकत्व है। लेकिन यहाँ समझने की बात है कि ज्ञान के टुकड़े करना और उसका विभाजन एक चीज़ नहीं है। आधुनिक पश्चिमी संस्कृति में ज्ञान के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं। यह टुकड़े करने की प्रक्रिया इतनी अधिक हो गयी कि सन् १९५९ में सी. पी. स्नो को एक किताब लिखना पड़ी : दो संस्कृतियाँ। मानवशास्त्र और विज्ञान के लोगों का एक-दूसरे से इतना अलगाव हो गया था मानो वे दो स्वतन्त्र संस्कृतियाँ हों। हम इस किस्म की विशेषज्ञता के विरुद्ध थे। हम भाग्यवान् थे कि नवज्योति सिंह ने कोई विशेषज्ञता हासिल नहीं की, वे सभी ज्ञान परम्पराओं के सहज नागरिक थे।

उदयन- जब हम यह कहते हैं कि भारत की सभी ज्ञान परम्पराओं का स्रोत वेद में है या शिव में तब क्या हम यह बात एक रूपक की तरह कह रहे होते हैं, जिससे यह इंगित हो जाता हो कि हमारी संस्कृति सम्पूर्ण संस्कृति है।

मुखोपाध्याय- मैं भी यही सोचता हूँ। यहाँ यह कहने की चेष्टा है कि चूँकि वे एक ही स्रोत से बाहर आयीं हैं, ये सभी ज्ञान परम्पराएँ अलग-अलग 'उप-प्रयोजन' के लिए अवश्य हैं लेकिन उनके बीच कोई अन्तर्विरोध नहीं है। पश्चिम में ज्ञान परम्पराओं के बीच का विभाजन स्वार्थ की विविधता के कारण हुआ, हमारे यहाँ ज्ञान का यह विभाजन मानवीय जीवन का कोई विशिष्ट लक्ष्य पूरा करने को किया जाता है। मनुष्य के अनेक तरह के सरोकार होते हैं, अनेक तरह की रुचियाँ, अनेक तरह की आवश्यकताएँ। हर ज्ञान का प्रयोजन इन्हे ही पूरा करने होता है। इसलिए सभी ज्ञान परम्पराओं में एक मूल्य सामान्य हैः ज्ञान केवल ज्ञान के लिए नहीं है। ज्ञान मनुष्य के कल्याण, समृद्धि और विस्तार के लिए है। वह व्यक्तिगत समृद्धि के लिए भी है, सामाजिक समृद्धि के लिए भी। पश्चिम में यह विभाजन अनुशासनों के अपने स्वार्थ के लिए हुआ। इसके फलस्वरूप अन्ततः क्या हुआ? कहाँ तो विशेषज्ञता के पीछे यह उद्देश्य था कि उसके फलस्वरूप ज्ञान का विकास होगा जबकि वास्तव में वहाँ ज्ञान का पराभव हो गया। यह प्रश्न महत्त्व का है कि ऐसा क्यूँ हुआ होगा? जब आप किसी क्षेत्र में विशेषज्ञता हासिल करके आगे बढ़ते हैं, आपके शोध और समझ का दायरा सँकरा होता चला जाता है। शायद इसीलिए किसी ने व्यंग्य में कहा था कि विशेषज्ञ लोग बहुत कम चीज़ों के बारे में बहुत ज़्यादा जानते हैं। दूसरा नुकसान यह होता है कि ज्ञान की जितनी अधिक विशेषज्ञता विकसित होती जाती है, उसे जानने वालों की संख्या कम से कमतर होती जाती है। विज्ञान के कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं, जिन्हें जानने वालों की संख्या तीन-चार लोगों से अधिक नहीं है। उदाहरण के लिए 'स्ट्रिंग सिद्धान्त' को पूरी गहरायी

से जानने वाले बहुत कम लोग हैं। पूरे भारत में ऐसे दो-तीन से अधिक लोग नहीं होंगे। इसीलिए समकालीन आधुनिक समाज में सभी अनुशासनों के लोगों में आपस में एक-दूसरे का समर्थन करने की आस्तित्वगत आवश्यकता आन पड़ी है। इसके फलस्वरूप वे एक-दूसरे को प्रश्नांकित करने के अपने मुख्य धर्म से विरत हो जाते हैं। जब तक आलोचना या प्रश्नांकन नहीं होता, ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत नहीं हो पाता। हमने सोचा कि इस दुष्चक्र से बाहर आने का क्या मार्ग हो सकता है? इसके लिए हमने खुद के लिए गैर-पेशेवर विद्वान की भूमिका स्वीकार की लेकिन एक जानकार गैर-पेशेवर की, ज्ञान सम्पन्न शौकिया की। हमारा यह सोचना था कि कोई भी ज्ञान परम्परा जानकार गैर-पेशेवर विद्वानों से घिरे हुए बिना विकसित नहीं हो सकती। खगोल-भौतिकशास्त्र का उदाहरण लें, हॉकिन्स, पेनरोज़ आदि इसके विशेषज्ञ हैं। लेकिन जब तक उनके चारों ओर जानकार गैर-पेशेवर विद्वानों का समुदाय नहीं होगा जो अपने-अपने क्षेत्रों के विशेषज्ञ होंगे, और अपने विषयों के अलावा दूसरे विषयों में भी सक्रिय रुचि लेंगे, वह विज्ञान विकसित नहीं हो पाएगी। मैं नैयायिक हूँ पर मुझे अलंकारशास्त्र, वेदान्त और विज्ञान आदि में गहरी रुचि है। मैं उनका विशेषज्ञ नहीं हूँ पर चूँकि मैं जानकार गैर-पेशेवर हूँ, मैं मुक्त मन से इन सब पर प्रश्न उठा सकता हूँ, जिसकी हर अध्येता को अपने विषय के विकास के लिए आवश्यकता होती है। जानकार शौकियों को यह स्वातन्त्र्य मिला हुआ है। मैं अपने विषय का विशेषज्ञ होते हुए भी उसमें बँधा हुआ नहीं हूँ। मुझे अन्य अनुशासनों में जीवन्त रुचि है। मेरा उनसे संवाद का सम्बन्ध है और मैं इस तरह अन्य विषयों के विकास में अपनी सराहना और आलोचना से योगदान कर सकता हूँ। मेरी सराहना और आलोचना उस विषय के विशेषज्ञ की तरह अस्तित्वगत अनिवार्यता से बँधी नहीं होती। इसीलिए हम अध्येताओं को ज़रूरत से ज़्यादा विशेषज्ञ नहीं होना चाहिए।

सबा

कुमार शहानी

आती है
सुबह
मेरे गालों को छूने
फिर फेर लेती है आँखें
बिना पूछे उसको
जिसे हम भूल बैठे हैं

हे कवि

अनुराधा महापात्र की कविताएँ

बांग्ला से अनुवाद : जयश्री पुरवार

नदी की श्रान्ति के पास

देवियों के नेत्रों की तरह वे कमल की पंखुड़ियाँ
मुझे घेरे रखती हैं

नदी की श्रान्ति के स्रोत में
रंग और रेखाओं का उभार

श्री रामकृष्ण की आरोग्य चिन्ता में
स्वामीजी का अश्रुपात
कभी भूल नहीं पाऊँगी, जानती हूँ

अपराजिता के रंग में
कविता की सब भाषा का
अनुभव कर लेना चाहती हूँ

गृहस्थ जीवन क्यों और कभी नहीं मिल पाया
यह कबका भूल चुकी

निराकार अन्धकार के स्रोत में
जो तिमि मत्स्य शान्त होकर
आज मृत्यु के साथ जूझ रही है
उसके पास स्तव नहीं,
कविता का, शून्यता का मर्म मैं समझ सकती हूँ

नाम के आखर

गंगा, सिन्धु, कावेरी, गोदावरी
स्त्रियों के नाम से आखर
दृष्टि है पर अन्तर्दृष्टि कहाँ है
जल के आईने में

कितनी साधना के मार्ग पर चलने से
दुःख के प्रखर ताप का अन्त होगा
अभी जान नहीं पाये

कितने नचिकेता, मैत्रेयी के प्रश्नों के
उत्तर अभी मिल नहीं पाये

मृत्यु की छोटी नाव पके धान से भरी
तट पर आकर अकेली लौट जाती है

कितने अनुच्चारित झरे हुए शाल के फूल
कितने प्रभात-अंजलि मिल गये हैं
इस धूल में

कितने बिन खिले दृष्टि के रंग में
केवल प्रस्तर-प्रहार
कितनी खोई हुई ध्वनि, द्वेष, राग
रह गये हैं स्रोत के उस पार

मीरा का सुर

मीरा का सुर सुनती हूँ
वैदेही के योगीकण्ठ में आज
इतनी परिक्रमा मार्ग की

रिक्तता का इतना हाहाकार
हृदय में लेकर दिव्यता का
इतना शिशिर का झरना
इतना अश्रुजल अन्धकार नदी तट पर
आकाश में, निराशा में लुढ़क रहे हैं बार-बार
अभी फूल खिल उठा और आम झर गया
बूँद-बूँद में फिर से

मीरा के नयनों के तट पर
मीरा के पैरों के छन्द में
मीरा के प्रेम के ब्रज में
आज शायद बांग्ला कविता
आकर मिल गयी है

किसी दिन

अनन्त आकाशस्रोत मेघ
और सागर में अंजलि
इस दृश्य में मृत्यु को पार कर लेना

आईने में बातचीत और चेहरा
अब कभी दिखायी नहीं पड़ता
फिर भी
प्रणय और विदायी उत्सव
तुम लोगों की आँखों की गहरायी में
जो आँसू और स्वर-लिपियाँ हैं
तुम लोगों के विस्मृत उस स्वर में
जो लांछना की श्रान्ति है
किसी से मन को शान्ति नहीं मिलती

इस गीत में
दिन-रात प्रभात गोधूलि
सब जैसे खो गये हैं
जन्म से मृत्यु तक
इस छन्द से ज़्यादा और क्या कहूँ

यह पृथ्वी

यह पृथ्वी कैसी है?
इस प्रश्न पर घोंसले से उड़ गया पक्षी
अन्धेरे में कितने तारे मिट गये
कितनी स्मृति कितने अवक्षय।
फिर भी प्रेम रह गया चिता की भस्म में
अन्धकार कभी आलोकित होगा इसलिए
पृथ्वी का विनाश होगा सोच कर
पागल, वैज्ञानिक और शिल्पी भ्रमित हो गये
इरावती नदी के तट पर आयी
लहर की पीठ पर बैठकर कवि सोच रहा है आज

एक कौए की चोंच ने डुबकी लगायी
दूसरे कौए के डैने के अन्धेरे में
इस दृश्य से विषाद मिट जाता है

दिवारात्रि की इस कविता में
जीवन फिर किस ओर
अकेले ही प्रवाहित होता जा रहा है

सब भूल है

भोजन की खोज ख़त्म हुई
उड़ती हुई उस महामृत्यु के पार
यही सूत्र दे गयी उस परिन्दे की चहक
जीवन एक अभिज्ञता
तो फिर ध्यान का स्रोत मिल सकता है
कभी-कभी गीतांजलि ले जाती है उन्माद प्रेम की ओर
यह मालूम है
कभी-कभी यह दुःख
ये मधुमय विष का स्वाद
आँसू ही क्या हमेशा से अन्तिम कविता है?
फिर इतनी जटिलता क्यों?
ईसा का वह क्रूसविद्ध क्षण, वे आँखें
केवल यादों में ही रह जाती हैं
और जितना भी कुछ पाया है अभी तक
सब भूल है यही जानना होगा!

धूल में स्नान

धूलि स्नान करके जब शालिख
अन्तरीक्ष में कहीं खो जाती है,
मृत्यु पर्यन्त अपने ही पंख छिन्न कर,
कहीं पर कोई शान्ति क्यों नहीं है!
फिर क्या इस शहर को छोड़कर चली जाये?
रूप नारायण नदी जहाँ खत्म होती है
वहीं पर डूब जाने वाली
बचपन की नाव के पास

उदयास्त से अनजान वह सितारा
अगर मलिन हो जाए आकाश में
'अगर प्रेम न मिले प्राण को' ...इसी सुर को लेकर
चली जाऊँ मृत्यु के पास

गहरायी में जाने से पहले

एक भौंरा आकर बुद्ध के अधरों पर बैठा
वह निर्वाण नहीं जानता, देखता है,
इन अधरों का रंग फूलों की तरह है
बन्द नेत्रों की ओर दो एक बार
झुक-झुक कर उड़ता है
फिर धूसर पथरीली ठोड़ी पर
पंखों की भिनभिनाहट
सिर के ऊपर शून्य, पैरों के नीचे शून्य
नीचे गहरायी में जाने से पहले
सुनकर लम्बी साँस
अँधेरे में मेघ की ओर
उड़ जाता है परिश्रान्त

बात-बात में

थाली में आधा चाँद ढलान पर है
आधा मोरपंख की तरह कहीं छिटक गया
डूब गया आकाश के
अग्निमय काले गह्वर में
यहीं पर थेरी गाथा

शेष हो जाती तो ठीक रहता
सोचकर देखती हूँ
पति की मृत्यु के बाद लड़कियाँ
बौद्ध भिक्षुणियाँ हो जातीं अबाध व्यवसाय में
'त्याग के बिना कोई प्रेम होता है क्या?'
उदयगिरि से तथागत ने भेजा
इतना ही सन्देश
थाली पर आधा मन ढलान पर है
और आधा रह गया
शेष शाम के दीर्घ विस्तीर्ण बालुचर में...

हे कवि

शाम के लाल मेघ में
बारिश का शान्त पटचित्र
हे कवि विलुप्त नदी की तरह
उदयास्त है शाश्वत चित्र।
अस्तगत चाँद डूब रहा है
लक्ष्मीप्रिया की मृत्यु की भाँति
इस रास्ते से अलग जाने के लिए
जिस एकान्त माया को लेकर बैठी हूँ
कितने समय से इस तट पर
जलविहीन शून्य शंख इकट्ठा करती हूँ
जीने और मरने के अन्तराल में
रक्ताभ चाँद के जैसी
धुक् धुक् वो जो आग जल रही
अनन्त धूसर - पीली
उस काल के ललाट पर

मिर्ज़ा ग़ालिब के प्रति

कभी इस धरा पर आये थे,
इतने कुछ विनाश से पहले।
कविताएँ भी लिखी थी
मृत्यु और अश्रुपात
चिरकाल से नमाज़ के नीचे दबाकर रख देते
फिर क्यों आज ये फूलों की भस्म की तरह
स्पन्दित होते हो? क्या यह जानकर कि
विषाद का कोई अन्त नहीं है,
केवल प्रदोष में उतर आने के अलावा
मौलिश्री के फूल भी मर रहे हैं, मिर्ज़ा,
मौलिश्री की तरह
श्मशान का व्यंग्य लेकर जीवित हूँ
इस मरू-शहर में
स्पन्दित करो कवि मार्ग मेरा-
प्रकाश से, प्रेम से

धूलि शयन

आज धूल में बुद्धमूर्ति की
तरह लेटे रहने का मन होता है
आकाश की ओर देखकर
उत्ताल जल की अंजलि बन
कहीं दूर खिसक जाने का
मन होता है आज
तारे नहीं हैं, चाँद भी नहीं
दिशाएँ चक्रवात

जंगली मालती की तरह अक्षम है रात
धूलि खेला खेल-खेल कर जो
मैना भूल गयी है शोक
पंछी की वे आँखें
जो कभी खुल न पायीं,
टूटे दिये के पास धूसरित रखो
धूलि शयन का दिन
बहुत प्रिय है आज

शाम ढल आयी

शाम ढल आयी
पपीहा के विषादमय सुर में
इसे क्या बिहाग कहूँ?
यह श्रमण के प्रेम की आर्तध्वनि?
जीवन का अतिरिक्त अकेलापन
मृत्यु के अलावा किसी एक नदी की तरह
सभी धूसर हाथ पलटते जा रहे हैं
नाव भी लगभग पलट रही है
हज़ारों वर्षों के बुद्धमन्त्र उभर कर आ रहे हैं
कविता के मृत अक्षरों की आभा में
गोधुलि के कमल की पंखुड़ियाँ उड़ रही हैं,
नश्वर हवाओं में

मातृत्व

क्रम से विस्मृतियाँ इकट्ठी होती जाती है
क्रम से सारे पंख झर जाते हैं

क्रम से हंस भी अकेला विसर्जन को चला जाता है
क्रम से छिन्नमस्ता रूप ही
ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का प्रथम और अन्तिम
जीवन्त स्वरूप प्रतीत होता है
क्रम से महाअन्धकार, निष्ठुर शून्यता
ही मातृत्व रूप में प्रकट हो उठता है

नूतन प्राण

इस भूमि पर वृक्षों पर फूलों के खिलने में
कितने करोड़ वर्ष लग गये
रक्तपात, ईर्ष्या की दावाग्नि के बुझने में
और कितना अनन्त समय बीत जाएगा,
सोचती हूँ
अविराम उल्कापात होता रहेगा
असंख्य प्रलय के बाद
फिर भी, अभी गीत गा सकती हूँ
'नूतन प्राण दो मुझे, प्राण सखा'

हे राज

अगर हाथ पर हाथ रखते हो,
आकाश को शून्य विषाद में फिरने दो
द्वार अगर नहीं खोलते हो,
दरवाज़ा बन्द रहे, दीपक को बुझ जाने दो
अगर हृदय नहीं खोलते हो
गोधूलि के रंग को मझधार में ही रहने दो

सुर से अगर सितार भरे,
फिर शून्यता क्यों नहीं भरती?
धूलि में पंछी लोट जाये
उसे विच्छिन्न पंख से पत्र लिखने दो
उस सुर को शेष हो जाने दो हे राज!
बीच में कुछ गोपन न रखो

सरलता भी दुरूह होने लगती

मध्य रात्रि में नील कमल की निर्जनता
राख हो जाती है दोनों के अनजाने में
दो नाव मिलने लगती हैं
शान्त स्रोत की गहरायी में
भौंरे अनमने होकर टूटे हुए नक्षत्रों के
अलिंगन में मिल जाना चाहते हैं
ये सभी दूर से आयी हुई तृष्णा की जलध्वनि
पत्थर की अनन्त भंगिमाओं में
एक दिन मिट जायेगी
प्रेम और नैराश्य की स्मृति
आज काम और मृत्यु के बाहर
तुम एकाकी स्वाधीन
इसलिये नग्न वैराग्य के रंग में
कमल भी इतना लौलिहान

कलि का छला कवि

शिरीष ढोबले की कविताएँ

कथा : एक समय

एक स्वर, शायद निषाद
अपने पूरे वैभव के साथ
उड़ता था गगन मण्डल में।

एक आत्मा पथरा गयी आँखों से
बाट जोहती थी पुनर्जन्म की।

एक वीणा बन कर
होती ही नहीं थी पूरी
किसी तरह कारीगर से।

वर्ष बीत रहे थे दिनों की तरह
ऋतुएँ पृथ्वी पर पहुँच ही नहीं पाती थीं
अपने क्रम से।

फिर सारा भ्रम
सारा कोलाहल
मृत्यु के काँधों पर आ पड़ा था
सुलझाने के लिए।

एक घने वृक्ष की छाया

१.
कँपकँपाती है अपनी परिधि पर
लरजती है

वसुन्धरा पर कोहरा उड़ेलते
आकाश के अन्तरंग उच्छवासों से

समीर शिथिल ही सही
कभी-कभी
वृक्ष को दिलासा देता है कुछ
आदिम प्रणय की सृष्टि
व्योम की सिलवटों में
तिरोहित हो जाती है

पत्तियाँ झुलस जाती हैं
समीर तपता जाता है
पृथ्वी करवट लेकर
सो जाती है और
आकाश बदल जाता है।

२.
एक घने वृक्ष की छाया से
टूटती है दो पक्षियों की छायाएँ
किसी दूसरे वृक्ष की छाया में गुँथी हुई
किसी शाखा की छाया से
जा मिलती हैं।

वह शाखा, वह छाया
लरजती है, काँपती है कुछ देर
फिर ठहर जाती है भोर तक

यही ठहरना
बना रहता है

छायाएँ विलीन होते-होते
वृक्ष को, पक्षियों को
रात के भरोसे
छोड़ देती हैं।

कलि का छला कवि

(कमलेश के लिए)

कलि का छला कवि
सर्प-विष से काला पड़ा हुआ
भटकता है निर्वसन वन में
उसके वाक्यों से झरती है
सारे युगों की करुणा
फिर धीरे धीरे छन्द आता है
जीवन में
कलि का वमन धीरे धीरे।
पर यह तो देह है जो उजली हो रही है
विदग्ध मन
चिटकता, धुँधुआता
वैसा ही रह जाता है
चिता की ज्वाला तक

रात्रि का व्याप

रात्रि का व्याप
केवल ओढ़ी हुई चादर जितना
या उससे भी कम

शायद स्वप्न इतना
मेरी प्रभात लेकिन
पसरती है वसुन्धरा के भी पार
उसकी ही चूनर हो जैसे
देह को ढँक ले जितनी
उससे अधिक हो जैसे
स्वप्न नहीं रहते, बिखर जाते हैं
फटी झोली से चावल के दाने हों जैसे
प्रभात को छीन लेते हैं देवता
आततायी हों जैसे
एक कृश और वृद्ध भिक्षुक
जब तक आ जाता है द्वार पर
अपनी काठी बजाता देहरी पर
याचक नहीं हो
दाता हो जैसे।

देवताओं द्वारा . . .

देवताओं द्वारा
शापित, उपेक्षित
एक शब्द
वर्षा से भीगी
दूब पर
पड़ा रहता है
उसके स्वप्न में
एक कागज़ है
बिखरी हुई
स्याही से
लथपथ !

करुणा उपजती है

करुणा उपजती है
गाय की भीगी आँख देख कर
आँख भीगती है
अकेला छूटा, छोटा, थोड़ा
कटा-फटा जूता

दोपहर की सूर्यशप्त सड़क पर देख
ऋग्वेद पढ़ रखा हो तब भी
गीता कण्ठस्थ हो तब भी
उपजती तो है।

स्पर्श

स्पर्श
अचानक हाथ पर था
पानी से
घुलता नहीं था
छूटता नहीं था
जैसे आत्मा पर हो
अभी
सुगन्ध का कौतुहल
तो शुरू भी नहीं
हुआ था।

असंख्य

असंख्य
अनन्त
अपने खुले किवाड़ लेकर

बस जाते हैं
एक अन्तहीन गलियारे में

अनन्त धैर्य
की कामना
करता
अधीर मन
अधीर प्राण
झाँकता है
हर
द्वार
के
पार

शून्य

वसुन्धरा के शून्य पर
पसरता है महासागर का शून्य
ब्रह्माण्ड के शून्य में बसा
एक गवाक्ष से झाँकता है
ईश्वर का शून्य
उसके शून्य मुख पर
उभरता है एक स्मित का शून्य
शून्य फिसलता है
तट की रेत के शून्य पर
अक्षौहिणी सेना
का शून्य जैसे
निकला हो वहाँ से
वैसे पदचिह्न
एक अनन्त शून्य शृंखला

लौटती लहर

देखने और छूने में
कोई अन्तर न हो
कैसे तुम्हे कभी किसी संयोग से,
नक्षत्रों के योग से
देख सकूँ
छू सकूँ...

लौटती लहर महासागर की
रेत पर निर्झर स्पर्शों से
बुनी चादर जैसी पसर जाए
या कभी
तुम्हारे पदचिह्नों को
जान कर कोई द्वीपमाला
एक क्षण रुक कर अधिक
प्रतीक्षा और उद्वेग की
ऐंठन सुलझाती चले
किसी संयोग से
नक्षत्रों के योग से।

यहाँ

स्मृतियाँ
फेरे करती है,
भरती है
गगन गुफा से झरती है
कभी तितलियों की तरह ठहरती है,
डसती है कभी

और ऊब कर
या शायद
निर्णय कर मुहुर्त का
सिमट जाती है
समेट लेती है लीला
इतनी हो जाती है विरल
कि आत्माएँ उनकी गन्ध के साक्ष्य से ही
अपनी डगर जाती हैं

विस्मृति के चौराहे पर
सब कुछ हो जाता है तिरोहित,
जीवन जाता भी नहीं
और मृत्यु
आ चुकी होती है

अखण्ड

अखण्ड
छवियाँ
अनन्त
स्पर्श
शब्द नाद अनवरत
रति
विलाप
आह्लाद
विषाद
विरह की गन्ध
इतनी मदिरा भरती है
देह प्राण में

इस बेसुध गठरी को
सधे हाथों से
उठा लेती है
मृत्यु

हर अन्त में

हर अन्त से
कहीं किसी कथा का
एक अंश पृष्ठ से
अदृश्य हो जाता है
हर आरम्भ थोड़ा ठिठक जाता है
इतना भ्रम फैलता है
दसो दिशाओं में
कि एक पात्र
अपरिचित गली में
ढूँढ़ता फिरता है अपना घर
हर अन्त के साथ
वह सब कुछ जो
अब तक बचा हुआ है
थोड़ा-थोड़ा झर जाता है
थोड़ा-थोड़ा मर जाता है
पृथ्वी थोड़ी और अनाथ हो जाती है

घुड़साल से
कटे पड़े धान से, अन्तःपुर से
पहाड़ से उपजता
विलाप
कानों में पड़ता है

जब महासागर

जब महासागर से
निष्कासित चन्द्र की छाया
और उसकी चन्द्रिका
ठहरती है रेत पर
अन्धकार के ताप में तपता है जल
और विचलित चन्द्र भेजता है
अनगिनत निष्फल संदेश
यह वह यामिनी है
जब विरह उपजता है
पृथ्वी के पोर-पोर से

रार से बचता सूर्य
देर से आता है आकाश पर
दिन भर मेघ की चादर ओढ़ बैठा रहता है
और समय से पहले लौट जाता है

यह वो दिन है
जब पृथ्वी का गला रूँधता है बार-बार
एक अपूर्व भय से, अज्ञात आशंका से

भीतर एक

भीतर
एक
अविचलित
लौ
प्रज्वलित थी सतत

बाहर
अधीर
मन था
और उत्सुक
देह थी
कुछ तो
राख जैसी
झरती थी
निरन्तर
कुछ
दमकती थी
स्वर्णांकित
प्रश्नचिह्न
जैसी

मीना बाज़ार

प्रत्येक
श्वास, प्रत्येक उच्छ्वास के साथ
हम जीवन बाहर उलीचते रहते हैं
थोड़ा-थोड़ा

प्रेम लाख रंगों के मुखौटे
लगाकर देखता रहता है
यह दृश्य

कोई एक सुर साध लेता है
इस बीच
कोई कविता लिख लेता है

कोई स्वेद से लथपथ
निश्चल
प्रतीक्षा करता है

कसर

एक हरा पत्ता
पीले चन्द्रमा की एक किरच
और एक मत्स्यांगन

अपने काम-काज तज कर
अन्धकार की एक शाखा पर
मिलते हैं बीतती रात
और सूर्योदय पर वापस चले जाते हैं
वृक्ष की छाया में
पूर्णिमा की दीप्ती में
समुद्र के अहंकार में
उतनी रह जाती है
कसर
ईश्वरों के उतने बढ़ जाते हैं
उलाहने

निष्कर्ष

सात आकाशों के पार
जगमग उजियारा
मेरा ईश्वर

माथे पर काँधो पर
जैसे सूर्य का ताप
पूर्वजन्म के दंश से
विषभरा मैं
इस विष को मैंने प्रेम कहा
मन में

अपनी वेणी में उलझे
नद और शिखर सुलझाती
चन्दन से लिथड़ी
धरा
मेरी वसुन्धरा
पैरों तले कोमल तृणदल
कोई निष्कर्ष नहीं अब तक
इतना भी नहीं
की कविता पूरी हो सके

काल की धूल

ग्रहों
नक्षत्रों
के गुँथे हुए
जिस काल की धूल
उड़ती हो
महाकाल की हथेली पर
उस धूल का एक
किंचित् कण
जिस पर एकाग्र हो
मेरा त्रिकाल

वह क्यों
किसी उजले उत्तरीय पर
किसी उजले कुसुम पर

स्मृति में भी क्यों
स्मृतियाँ होती हों
यदि ऐसी
कहीं कभी

नहीं
कभी नहीं

टूट-बटूट

सूफ़ी तबस्सुम

लिप्यान्तर : सुश्री शाहबानो, संगीता गुन्देचा

सूफ़ी तबस्सुम या पूरा नाम लिखें तो सूफ़ी गुलाम मुस्तफ़ा तबस्सुम को कौन नहीं जानता। फ़ारसी के माने हुए आलिम (विद्वान), उम्दा शायर और शायरों के उस्ताद (कहा जाता है कि जब तक मुमकिन हो सका फैज़ साहब अपना ताज़ा कलाम शाया होने के पहले सूफ़ी साहब को ज़रूर दिखा लेते थे) और फिर बच्चों के शायर, टूट-बटूट की नज़्मों का सिलसिला लिखकर सूफ़ी साहब ने बच्चों ही नहीं बूढ़ों के दिलों में भी घर बना लिया था। सूफ़ी साहब जब तक ज़िन्दा रहे, अदबी (साहित्य की) महफ़िलों की जान रहे। उनके मकान पर नये शायरों, अफ़सानानिगारों और सहाफ़ियों (पत्रकारों) का जमघट रहता था और हर शख़्स को अपनी इस्तीतात (सामर्थ्य) के मुताबिक उनसे फ़ायदा मिलता था। उर्दू में बच्चों के लिए शायरी की तारीख ख़ासी पुरानी है। मीर, मुसहफ़ी और नज़ीर अक़बराबादी से लेकर ग़ालिब तक ने ऐसी नज़्में कही हैं जो चिड़ियों, बिल्लियों, कुत्तों वगैरह घरेलू जानवरों के बारे में हैं। ये तो नहीं कहा जा सकता कि ये सब नज़्में बच्चों के लिए रही होंगी लेकिन उनमें बयान इतना उम्दा है कि बच्चे भी इससे ज़रूर लुत्फ़ उठाते होंगे। ग़ालिब ने एक नया काम यह किया कि बच्चों के लिए एक-दो ग़ज़लें भी लिख दीं। हुआ यूँ कि उन्होंने किसी बच्चे के लिए फ़ारसी के अल्फाज़ की मंजूम फ़रहंग (शब्दकोश) लिखी और 'क़ादिरनामा' उसका नाम रखा। कभी-कभी उसे 'क़ादिरनामा-ए-ग़ालिब़' भी कहा गया है। यह क़ादिर कौन साहबज़ादे थे, जिनके लिए ग़ालिब ने यह फ़रहंग लिखी, यह बात अब तक तय नहीं हो सकी। कुछ लोग कहते हैं कि यह मंजूम फ़रहंग ग़ालिब ने बाक़र हुसैन ख़ान और हुसैन अली ख़ान के लिए बनायी थी। ये दो बच्चे ग़ालिब की बेग़म के नवासे लगते थे और बच्चों के बाप-माँ की मौत के बाद उन्होंने उनको पाला-पोसा था। लेकिन फिर 'क़ादिरनामा' नाम क्यूँ रखा गया है, यह बात समझ में न आयी।

ख़ैर यह 'क़ादिरनामा' बच्चों की क़िताब तो है ही, इसमें ग़ालिब ने दो ग़ज़लें भी डाल दी हैं, इन्हें हम उर्दू में बच्चों के लिए सबसे पहली ग़ज़लें कह सकते हैं। एक-दो शेर दोनों ग़ज़लों से आप भी सुनें-

वो चरावे बाग़ में मेवा जिसे फाँद जाना याद हो दीवार का
पुल ही पर से फेर लाये हमको लोग वरना था अपना इरादा पार का

क्या कहीं खायी है हाफ़िज़ जी की मार आज हँसते आप जो खिल-खिल नहीं
किस तरह पढ़ते हो रुक-रुक कर सबक ऐसे पढ़ने का तो मैं क़ाइल नहीं

इन ग़ज़लों की खास बात यह है कि इनमें बच्चों को कोई नसीहत नहीं की गयी है, कोई सबक नहीं दिया गया है, कोई तल्कीन (आदेश) नहीं की गयी है कि मसलन झूठ न बोलो, बाप-माँ का हुकुम बजा लाओ वग़ैरह। यहाँ बच्चों को सिर्फ़ बच्चा समझा गया है, स्कूल का शागिर्द नहीं। ये अशार सिर्फ़ लुत्फ़ और ख़ुशदिली के अशार हैं। ये बच्चों की आज़ाद हैसियत तस्लीम (स्वीकार) करते हैं।

बाद में जब स्कूलों और मदरसों में उर्दू की तालीम आम हुई तो लोगों ने बच्चों की नज़्में लिखीं लेकिन

इक्का-दुक्का के अलावा सभी नज़्में सबक कामोज़ी (शिक्षा के लिए) की ग़रज़ से और बच्चों को बेहतर इन्सान बनाने के लिए लिखी गयीं। मोहम्मद हुसैन आज़ाद और मौलवी इस्माईल मेरठी ने इब्तदायी (शुरुआती) दरजो के बच्चों के लिए उर्दू की जो क़िताबें लिखीं उनमें कुछ ख़राबियाँ ज़रूर हैं क्योंकि वे अँग्रेज़ो के तालीमी प्रोग्राम के ज़ेरे असर (प्रभाव में) बनायी गयी थीं लेकिन उनमें अलबत्ता बहुत कुछ ऐसा भी है, जो बच्चों के लिए तफ़री (मनोरंजन) का सामान ज़्यादा फ़राहम (उपलब्ध) कराता है, एख़लाकि (नैतिक) सबक़ सिखाने पर इतना ज़ोर नहीं कि नज़्म बोझिल हो जाए। इस्माइल मेरठी ने अँग्रेज़ी की बाज़ मशहूर नज़्मों को उर्दू का जामा पहनाया कि उनमें फ़रहत और तफ़री (सुकुन और मनोरंजन) का सामान ज़्यादा था मसलन उन्होंने -

Twinkle twinkle little star, how I wonder what you are
का तर्जुमा यूँ किया-
चमको-चमको छोटे तारों, मैं क्या जानूँ तुम क्या हो

माना कि तर्जुमा बहुत दुरुस्त नहीं है लेकिन नज़्म यूँ तो बड़ी हद तक इसमें आ गयी है। रफ़्ता-रफ़्ता बच्चों को तालीम देना, उन्हें बेहतर इन्सान बनाना इस क़िस्म के मक़ासिद बच्चों की नज़्मों पर हावी होते गये। इक़बाल ने भी बच्चों के लिए नज़्में लिखीं, ये औरों से तो हटकर थीं लेकिन इनमें भी मक़सदियत नुमाया थी अगरचे हावी नहीं थी। बहुत से ऐसे भी थे जिन्होंने पूरी ज़िन्दगी बच्चों का अदब (साहित्य) लिखा; शफ़ीउद्दीन 'नय्यर', यकता अमरोहवी, सिराज अनवर और कई दूसरे, इन सबसे बिलकुल अलग हफ़ीज़ जालन्धरी थे, जिन्होंने 'हफ़ीज़ के गीत और नज़्में' नाम से चार छोटी-छोटी ज़िल्दें शाया कीं। उस वक़्त तो हिन्दुस्तान में भी ये किताबें मिल जाती थीं लेकिन अब हिन्दुस्तान क्या पाकिस्तान में भी, जहाँ तक मुझे मालूम है, दस्तेयाब (उपलब्ध) नहीं।

हफ़ीज़ से पहले मीरा जी ने भी एक ग़ज़ल लिखी जो या तो मज़ाहिया (हास्य) कही जाए या बच्चों की ग़ज़ल कही जाए लेकिन है वह बहुत कामयाब।

नयी शायरी का ज़माना आया तो मोहम्मद अल्वी, निदा फ़ाज़ली ने ऐसी नज़्में और ग़ज़लें कहीं जो थीं तो बड़ों के लिए लेकिन बच्चे भी उनसे लुत्फ़अन्दोज़ (आनन्दित) हो सकते थे। सिर्फ़ इब्ने इंशा ने सोच-समझकर बच्चों की फ़रहते तबाह (सुकुन) के लिए और उन्हें खुश करने के लिए बहुत-सी नज़्में लिखीं। बहुत बाद में शहरयार ने भी कुछ नज़्में बच्चों के लिए कही लेकिन वे शाया नहीं हुईं।

सूफ़ी तबस्सुम की नज़्में भी नयी शायरी के आगाज़ के ज़माने की हैं यानि उन्होंने ये सिलसिला १९६० के आसपास शुरू किया। टूट-बटूट साहब फ़ौरन मक़बूल (स्वीकृत) बल्कि मशहूर हो गये। क़िताबी शक्ल में ये नज़्में १९७० में शाया हुईं। अफ़सोस कि सूफ़ी साहब ने फिर ऐसी नज़्में न लिखीं और १९७८ में वे अल्लाह को प्यारे हुए। सूफ़ी तबस्सुम की नज़्में भी सिर्फ़ बच्चों की नज़्में हैं, उनमें उस्तादाना या मुरब्बियाना (उपदेशात्मक) रवैया नहीं इख़्तियार किया गया है बल्कि बच्चों की इन्फ़रादी हैसियत (व्यक्तिगत स्वतन्त्रता) को बरक़रार रखा गया है। उनमें एख़लाकी दर्स (शिक्षा) तो क्या इस बात पर भी कुछ ज़ोर नहीं कि ये नज़्में बामानी हों। ये नज़्में सिर्फ़ नज़्में हैं, दिल को बहलाने के लिए, ज़ुबान का लुत्फ़ लेने के लिए, बच्चों को खुश करने के लिए। इब्ने इंशा की बहुत सारी बच्चों की नज़्में हिन्दी में तब्दिलिए-रस्मुलख़त (लिप्यान्तरण) के साथ शाया हो चुकी हैं। अफ़सोस कि सूफ़ी साहब की ये नज़्में अब हिन्दुस्तान में भी बहुत कमयाब (कम उपलब्ध) हैं इसलिए हिन्दी रस्मुलख़त (लिपि) में भला ये कहाँ मिलतीं। हमें संगीता गुन्देचा का शुक्रगुज़ार होना चाहिए कि उनकी कोशिश और तवज्जो से सूफ़ी साहब का टूट-बटूट अब हिन्दी की वसीतर (विस्तृत) दुनिया में जलवा अफ़रोज़ हो रहा है। उर्दू से हिन्दी में बदलने में अक्सर यह मुश्किल पेश आती है कि उर्दू को ग़लत पढ़ लेने की वजह से या सिर्फ़ ज़रा-सी बेपरवाही की बिना पर उर्दू के अल्फ़ाज़ पूरी तरह सही रूप में नागरी में मुन्तक़िल नहीं होने पाते। नागरी पढ़ने वाला इसी ग़लत इबारत को दुरुस्त समझ लेता है। संगीता गुन्देचा और उनकी हमकार (सहयोगी) शाहबानो ने पूरी एहतियात और तवज्जो से उर्दू को देवनागरी में मुन्तकिल (परिवर्तित) किया है। जहाँ तक मैं देख सका हूँ, उन्होंने कोई ग़लती नहीं की है।

इन नज़्मों की अव्वलीन इशाअत (पहला संस्करण) के ज़माने में उर्दू में नज़्म को सफ़े पर लाते वक़्त बाज़ बातों का ख़याल रखते थे। मसलन ये कि जहाँ अच्छा मालूम हो, वहाँ सतरों या मिसरों को कुछ जगह छोड़कर लिखें। या दो या चार मिसरों के बाद कुछ मिसरे अगली सतर में कुछ जगह छोड़कर लिखे जाएँ। १९६० के ज़माने में इस बात का ख़ास एहतमाम रखते थे कि कागज़ पर नज़्म का रूप कैसा नज़र आता है। अब ये रिवाज़ बहुत कम नज़र आता है। ज़ेरे नज़र क़िताब में भी इस रिवायत को निभाया गया है।

अस्ल क़िताब में कई बहुत उम्दा तस्वीरें थीं, संगीता गुन्देचा ने भी ये एहतमाम (प्रबन्ध) किया है कि नयी तस्वीरें बनवाकर हस्बे मौक़ा लगवायी हैं। मजमूई तौर पर (कुल मिलाकर) ये कोशिश बहुत क़ामयाब और क़ाबिले क़द्र है। सूफ़ी तबस्सुम का यह क़लाम ऐसा है कि इसे दूर-दूर तक जाना जाए। मैं दोबारा मुबारक़बाद देता हूँ।

शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी

टूट बटूट की मोटर कार

इस मोटर की शान निराली
दो सीटों दो पहियों वाली
तीन इंजन और हारन चार
टूट बटूट की मोटर कार

साथ हवा के उड़ती जाए
दाएँ-बाएँ मुड़ती जाए
बड़ी ही सियानी बड़ी हुशियार
टूट बटूट की मोटर कार

इस मोटर का अल्ला बेली
कोई न हो तो फिरे अकेली
घूमे गली-गली बाज़ार
टूट बटूट की मोटर कार

कोई कहे ये बायसिकल है
कोई कहे ये ट्रायसिकल है
कोई कहे ये मोटरकार
टूट बटूट की मोटर कार

जैसे चाहो इसे चला लो
जो भी चाहो इसे बना लो
बम्बूकाट का बम्बूकाट है
टूट बटूट की मोटर कार

रंगत इसकी काली काली
सूरत इसकी भोली भाली
क़ीमत इसकी साठ हज़ार
टूट बटूट की मोटर कार

टूट बटूट ने बीन बजायी

चूहे शोर मचाते आये
मेढक भी टर्राते आये
बिल्ली गाना गाती आयी
टूट बटूट ने बीन बजायी

कव्वा कोयल मैना मोर
तीतर तिलयर चील चकोर
सबने मिलकर धूम मचायी
टूट बटूट ने बीन बजायी

अपने और पड़ोसी नाचे
कुंजड़े माली घोसी नाचे
नाचे दर्ज़ी धोबी नाई
टूट बटूट ने बीन बजायी

टूट बटूट ने खीर पकायी

ख़ाला उसकी लकड़ी लायी
फूफी लायी दिया सलाई
अम्मी जान ने आग जलायी
टूट बटूट ने खीर पकायी

देगची चमचा नौकर लाये
भाई चावल शक्कर लाये
बहनें लायीं दूधमलाई
टूट बटूट ने खीर पकायी

अब्बा ने दी एक इकन्नी
ख़ालू ने दी डेढ़ दुअन्नी
टूट बटूट ने आधी पाई
टूट बटूट ने खीर पकायी

जूँ ही दस्तर ख़्वान लगाया
गाँव का गाँव दौड़ा आया
सारी ख़लकत दौड़ी आयी
टूट बटूट ने खीर पकायी

मेढक भी टर्राते आये
चूहे शोर मचाते आये
बुलबुलें चोंच हिलाती आयीं
टूट बटूट ने खीर पकायी

कव्वे आये कें कें करते
तोते आये टें टें करते
बुलबुल चोंच हिलाते आयी
टूट बटूट ने खीर पकायी

धोबी कुँजड़ा नाई आया
पन्सारी हलवाई आया

सबने आकर धूम मचायी
टूट बटूट ने खीर पकायी
गाँव भर में हुई लड़ाई
खीर किसी के हाथ न आयी
मेरे अल्लाह तेरी दुहाई
टूट बटूट ने खीर पकायी

टूट बटूट गया बाज़ार

टूट बटूट गया बाज़ार
लेकर आया मुर्ग़े चार
हर मुर्ग़े की इक इक मुर्ग़ी
हर मुर्ग़ी के अण्डे चार
हर अण्डे में दो दो चूज़े
हर चूज़े की चोंचें आठ
हर इक चोंच में छः छः लड्डू
हर लड्डू के दाने साठ
कितने दाने बन गये यार
जल्दी जल्दी करो शुमार

टूट बटूट का बंगला

इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये अण्डे हैं
ये अण्डे घर में रक्खे हैं
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये चूहा है
चूहे ने अण्डे चक्खे थे
ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये बिल्ली है
बिल्ली ने चूहा मारा था
चूहे ने अण्डे चक्खे थे
ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये लड़की है
लड़की ने बिल्ली पाली है
बिल्ली ने चूहा मारा था
चूहे ने अण्डे चक्खे थे
ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये बुढ़िया है
बुढ़िया की लड़की काली थी
लड़की ने बिल्ली पाली थी
बिल्ली ने चूहा मारा था
चूहे ने अण्डे चक्खे थे

ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये कुटिया है
कुटिया में बुढ़िया सोती थी
बुढ़िया की लड़की काली थी
लड़की ने बिल्ली पाली थी
बिल्ली ने चूहा मारा था
चूहे ने अण्डे चक्खे थे
ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये जंगल है
जंगल में कुटिया होती थी
कुटिया में बुढ़िया सोती थी
बुढ़िया की लड़की काली थी
लड़की ने बिल्ली पाली थी
बिल्ली ने चूहा मारा था
चूहे ने अण्डे चक्खे थे
ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है
ये गाँव है
गाँव के बाहर जंगल है
जंगल में कुटिया होती थी
कुटिया में बुढ़िया सोती थी
बुढ़िया की लड़की काली थी

लड़की ने बिल्ली पाली थी
बिल्ली ने चूहा मारा था
चूहे ने अण्डे चक्खे थे
ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

ये मुन्ना है
मुन्ने का गाँव नंगल है
गाँव के बाहर जंगल है
जंगल में कुटिया होती थी
कुटिया में बुढ़िया सोती थी
बुढ़िया की लड़की काली थी
लड़की ने बिल्ली पाली थी
बिल्ली ने चूहा मारा था
चूहे ने अण्डे चक्खे थे
ये अण्डे घर में रक्खे थे
इस घर के बाहर जंगला है
ये टूट बटूट का बंगला है

टूट बटूट का तोता

टूट बटूट का इक तोता है
उम्र है उसकी हफ़्ते आठ
मियाँ मिट्ठू नाम है उसका
सब कहते हैं मियाँ माठ
वाह मियाँ मिट्ठू तेरे ठाठ

जो कुछ उसके सामने आये
मुँह में डाले और चबाये
चोंच तो उसकी एक है लेकिन
दाँत हैं उसके पूरे साठ
वाह मियाँ मिट्ठू तेरे ठाठ

बायसिकल बस मोटर लारी
हरेक शै की करे सवारी
यक्का रेहड़ा बम्बू काठ
वाह मियाँ मिट्ठू तेरे ठाठ

रात को खाये मीठी चूरी
दिन को खाये हलवा पूरी
सुबह को खाये अस्सी लड्डू
शाम को खाये अण्डे साठ
वाह मियाँ मिट्ठू तेरे ठाठ

पेट है उसका इतना मोटा
जैसे देवों का हो लोटा
टाँगें उसकी इतनी लम्बी
जैसे कुतुब साहब की लाठ
वाह मियाँ मिट्ठू तेरे ठाठ

टूट बटूट के भाई

इक बड़ा है इक छोटा है
इक दुबला है इक मोटा है

दो कहते हैं उसको भय्या
दो कहते हैं उसको भाई
टूट बटूट की शामत आयी
टूट बटूट के चार हैं भाई
दो हँसते हैं दो रोते हैं
दो जागे हैं दो सोते हैं
टूट बटूट करे क्या भाई
टूट बटूट की शामत आयी
टूट बटूट के चार हैं भाई
लम्बे-लम्बे बाल हैं उनके
गोरे-गोरे गाल हैं उनके
आँखें उनकी काली-काली
सूरत उनकी भोली-भाली
कोई कहे ये दो बहने हैं
कोई कहे ये दो हैं भाई
टूट बटूट की शामत आयी
टूट बटूट के चार हैं भाई
टूट बटूट की नानी बोली
ख़ाला और मुमानी बोली
बोली अम्मी फूफी ताई
टूट बटूट की शामत आयी
टूट बटूट के चार हैं भाई
इक भाई लंगोटी पहने
दूसरा निक्कर छोटी पहने
तीसरा पहने लम्बा कुर्ता
चौथा पहने सूट और टाई
टूट बटूट की शामत आयी
टूट बटूट के चार हैं भाई
इक खाता है हलवा पूरी
इक खाता है घी की चूरी

इक खाता है गर्म पकौड़े
इक खाता है बर्फ़ मलाई
टूट बटूट की शामत आयी
टूट बटूट के चार हैं भाई
बैठे हों तो शोर मचाएँ
उठ बैठें तो नाचें-गाएँ
भूखे हों तो चीखें मारें
पेट भरे तो करें लड़ाई
टूट बटूट की शामत आयी
टूट बटूट के चार हैं भाई

टूट बटूट के चूहे

हम चूहे टूट बटूट के हैं
हम चूहे टूट बटूट के हैं
यह जितने चूहे देखते हो
कुछ गाँव के हैं कुछ जंगल के
कुछ रहने वाले झेलम के
कुछ वासी कत्थू नंगल के
कुछ लुड्डन कुछ ममदोट के हैं
हम चूहे टूट बटूट के हैं
हम शाही नस्ल के चूहे हैं
यह तख़्त और ताज हमारा है
हर गाँव में अपनी शाही है
हर शहर में राज हमारा है
हम राजे शाही कोट के हैं
हम चूहे टूट बटूट के हैं
हम बड़े ही काम के चूहे हैं

यह शेर मियाँ किस काम का है
हम असली शेर बहादुर हैं
यह शेर बहादुर नाम का है
हम फौजी शाही कोट के हैं
हम चूहे टूट बटूट के हैं
तुम जानते हो यह बी मानू
क्यों म्याऊँ म्याऊँ करती है
यह बिल्ली हमसे दबती है
यह बिल्ली हमसे डरती है
हम बिल्ले बागड़ बोट के हैं
हम चूहे टूट बटूट के हैं
यूँ ज़ाहिर में कमजोर हैं हम
पर जब भी मौज में आते हैं
यह कुत्ते गीदड़ चीज़ हैं क्या
हम शेर को भी खा जाते हैं
हम चूहे टूट बटूट के हैं
हम चूहे टूट बटूट के हैं

सूफ़ी तबस्सुम का शुमार उर्दू के बेहतरीन अदीबों (लेखकों) में होता है। बच्चों के लिए उन्होंने जो नज़्में लिखी हैं, वे किसी कारनामे से कम नहीं हैं। ख़ासतौर पर टूट बटूट की शृंखला की नज़्में। टूट बटूट का किरदार बच्चों की दुनिया का नाक़ाबिले फ़रामोश (न भुलाया जा सकने वाला) किरदार है। मगर इस किरदार से न सिर्फ़ बच्चों को बल्कि हम सबको अपने ज़माने को समझने और खुद अपने आप को समझने में मदद मिल सकती है। हम सबके अन्दर एक 'टूट बटूट' छुपा हुआ है; बदलते हुए ज़माने के रंग में ढलता हुआ और वक़्त के साथ बहता हुआ। इन नज़्मों में 'टूट बटूट' के हवाले से सारी फ़ितरत (प्रकृति) और मज़ाहिरे कायनात (दुनिया के चमत्कार) को समेट लिया गया है। यहाँ चरिंद-परिंद और फूल-पौधे सब चलते-फिरते किरदार नज़र आते हैं, अपनी ख़्वाहिशों, आरज़ुओं और लतों के साथ। हमारे सांस्कृतिक मूल्यों की वापसी और नैतिक मूल्यों के हवाले से भी ये नज़्में बच्चों के लिए लिखी गयी दूसरे अदीबों की नज़्मों से बिल्कुल मुखतलिफ़ (अलग) और विलक्षण हैं।

इन नज़्मों का पैग़ाम बच्चों के साथ हमारे लिए यह है कि हमें अपने अन्दर बैठे हुए टूट बटूट पर नज़र रखनी चाहिए कि क्या पता वो कब एक क्लर्क से बड़े अफ़सर में बदल जाए। यूँ देखा जाए तो टूट बटूट हमारी अन्तर-आत्मा का पर्याय बन जाता है।

संगीता गुन्देचा हिन्दी की मारूफ़ और मुनफ़रिद शायरा और कहानीकार हैं। सूफ़ी तबस्सुम की इन नज़्मों का चयन उनकी उच्च स्तर की समझ और सौन्दर्यबोध का जीता जागता सुबूत है। उन्होंने टूट बटूट की इन नज़्मों का लिप्यान्तरण उर्दू और फ़ारसी की अध्येता मरहूमा शाहबानो की मदद से कुछ बरस पहले किया था। यह बहुत उम्दा लिप्यान्तरण है, क्योंकि इसमें उर्दू के बुनयादी मुहावरे की बड़ी खूबी से हिफ़ाज़त की गयी है। मैं मरहूमा शाहबानो को ख़िराजे-अक़ीदत (श्रृद्धांजलि) और संगीता गुन्देचा को इस उम्दा लिप्यान्तरण और सम्पादन के लिए मुबारक़बाद पेश करता हूँ।

ख़ालिद जावेद

तट पर धुन

अरुण देव की कविताएँ

मैं बीमार हूँ

रस्ते में एक मासूम-से लड़के को कुछ लोग रस्सियों से बाँध मारे जा रहे थे
वह बार-बार कह रहा था मेरा कसूर तो बताया जाये

मेरा बीपी नार्मल है

एक बच्ची भागी भागी आयी लिपट गयी मेरे पैरों से
रिस रहा था उससे खून
गहरी लकीरें थीं उसके चेहरे पर
उसका पीछा करने वाले दिख नहीं रहे थे
वह किसी अदृश्य से डर रही थी
और काँप रही थी

उसका चाचा उसे घसीटते हुए ले गया

मेरे खून में हिमोग्लोबीन का स्तर सन्तोषजनक है

बिखर-से गये घर के दरवाज़े पर झिलगी खटिया पर जर्जर वृद्ध ने
तरल-सी सब्ज़ी में रोटी तोड़ते हुए कहा
बेटा खा लो
फिर वह कहीं डूब गया अपने में

जो कुछ खाता हूँ पच जाता है

नुक्कड़ पर एक बड़े-से चमकदार झूठ के आसपास
तमाम सच्चाईयों के कन्धे झुके हुए मुझे मिले
बँधे थे उनके हाथ खुद से

शुगर ठीक है मेरा इसे कंट्रोल में रखना है

भागा जा रहा था एक युवा
उसके पीठ पर कोड़े की मार के उभार दिख रहे थे
छिल गयी थी पूरी पीठ रक्त बह कर वहीं जम गया था

उसे कोई नौकरी चाहिये होगी
मैंने देख लिये उसके गुम चोट

मेरी आँखों का लेंस उम्र के हिसाब से ठीक है
पर दूर दृष्टि खराब हो चली है
यह कोई बड़ी बात नहीं क्या कीजियेगा दूर तक देखकर
डॉक्टर ने कहा

पैथोलॉजी में कॉलेस्ट्राल के टेस्ट की रिपोर्ट देख रहा था

एक फीकी-सी युवा स्त्री
पूछ रही थी कि उसके पति के हर्ट अटैक की आशंका चेकअप में क्यों नहीं दिखी थी

जब बचना असम्भव था
क्यों आईसीयू में उन्हें इतने दिनों तक रखा गया
कहाँ से भरेगी वह यह कर्ज

एचडीएल सही निकला एलडीएल कम हो रहा है

सगीर ने कहा भाईजान अब घूमने टहलने की हिम्मत न रही
क्या रखा है मेल मुलकात में

मैंने अपने घुटने देखे, ठीक हैं दोनों

पर इधर रीढ़ झुकती जा रही है
और तनकर कर खड़े होने की हिम्मत छूटती जा रही है
अब तो किसी पर तमतमाता भी नहीं हूँ

ठीक हूँ मैं
वैसे तो।

फेसबुक की लत

जन्म दिन की बधाई भेजता हूँ
कि कहीं खटकता है ये तो पिछले वर्ष ही दिवंगत हो गये थे

होने न होने के बीच इतना कम फ़ासला कभी नहीं था

रहते हुए रहना जैसे निरर्थक हो

चले जाने पर भी दुनिया वैसी ही चलती रहती है
फेसबुक की दुनिया

बरसों बरस मिलती रहती हैं सालगिरह की बधाईयाँ
कोई पुरानी पोस्ट फिर से जीवित कर देती है

लोग देते हैं अनश्वर मानकर अपनी प्रतिक्रियाएँ

आत्माएँ प्रतिक्रियाओं को लाइक करने के लिए बहुत ललकती होंगी

आदतन।

तट पर धुन

ये शब्द तुम्हारे लिए हैं
इनके अर्थ भी तुमसे ही खिलेंगे

अभी ये निरी ध्वनियाँ हैं
प्रतिध्वनि में खुलेंगे
खोलेंगे भेद अक्षरों में दबे अनकहे का

अभी ये इच्छाएँ हैं निराकार
तुम्हारे पास बैठकर रूप धरेंगे

तितलियों की तरह तुम्हारे फूलों पर
झुकेंगे
तुम्हारे शहद पर बैठ जायेंगे

अर्थ के पार
तुम्हारे साथ धुन की तरह बजेंगे

सपनों की स्याही से लिखे गये हैं।

हिन्दू

राम राम कहूँगा
हज़ार वर्षो से कहते आ रहें हैं पुरखे

नहीं करूँगा हम साये से नफरत
धरती एक कुटुम्ब है ऐसा कहा था पूर्वजों ने

सत्य पर नहीं है मेरा ही हक़
तमाम रास्तें हैं जो चाहे जैसा चुन ले

काम की संसारिकता और मोक्ष की आध्यात्मिकता
विलोम नहीं है मेरे लिए

दूँगा अर्घ्य सूर्य को
चन्द्रमा के नीचे मीठी खीर रिझेगी
पूजा करूँगा नदियों की
पर्वतों पर चढने से पहले करूँगा प्रणाम
वृक्षों के गिर्द प्रदक्षिणा का अनन्त वृत्त हूँ

बुद्ध की तरह अतियों से बचना सीख लिया है
मैं वह हिन्दू नहीं
जो समुद्र नहीं पार करता था

कैद अपने वर्ण में
चुप रह जाता था एकलव्य की ऊँगली कटने पर

मुझे गढ़ा है गाँधी आम्बेडकर लोहिया ने।

मज़दूर

हमें यह याद रहता है कि वे बहुत नागा मारते हैं
हालाँकि यह बहुत
कुछ दिनों का ही होता है

उनका कभी देर से आना
किसी दिन जल्दी चले जाना
बहुत खलता है

ऐन काम के बीच वे सुलगा लेते हैं बीड़ी
हिया खुद का जलता है

उनकी थोड़ी-सी लापरवाही
चुभती है

पसीने से भीगी घिसी शर्ट और एक पैबन्द लगे थैले में उनका बदरंग टिफिन
उसमें कुछ रोटियाँ अचार
माँगते हैं बार बार ठण्डा पानी
दो बार चाय खूब मीठी

दोपहर में थोड़ा उठंग लेते हैं

पूरा करके अपना काम
वे फिर चले जाते हैं हमेशा के लिए

उनका काम नहीं दीखता
उनकी कोई छोटी-सी झूठ याद रह जाती है।

वक़्त

न कहीं से आ रहा हूँ न जा रहा हूँ
ठहरा हुआ हूँ

अदृश्य छुरा टंगा है शिल्प की तरह
खाल खिंची भेड़ें कटने को तैयार हैं

न दिशाएँ हैं
न दिशासूचक

कहीं से भी चलो कहीं को
न दृश्य बदलते हैं न मौसम न तापक्रम न हवा का दबाव

प्यास और स्वाद
एक जैसे रैपर में बन्द हैं

पृथ्वी पर एक ही भाषा विचर रही है
सभी रंग मिलकर एक हो गये हैं

आमन्त्रण की भंगिमाएँ एक सी हैं
प्रेम और क्रियाओं में फर्क नहीं

की-बोर्ड से वक़्त की दीवार पर आप जो चाहे लिख सकते हैं
वक़्त पर आ सकते हैं जा सकते हैं
पर वक़्त पर चोट का वक़्त अब बीत चुका है

खोजो उस आदिम हथौड़े को
किसी काल में अटका होगा यहीं कहीं।

वर्षा रति

मेघ बरस रहा है

कोई भी जगह न छोड़ी उसने
न कंचुकी उतारी
न खोली नीवी बन्ध

वह हर उस जगह पर है
जहाँ पहुँच सकते हैं अधर।

रिझाना

कविताएँ लिख लिख कर रिझा रहे हो
कविता भी ठीक से नही कर पा रहे हो
गढ़ते हो शिल्प बेशुमार

चाहत की नदियाँ सूख जाती हैं
परिन्दे लौट जाते हैं अपनी बसाहट में

मैं देखती हूँ तुम्हारी आँखें

मैं मिलूँगी तुम्हें
तुम्हारा मन रखने को मेरा मन करता है।

कविताएँ

मनोज कुमार झा

कुफ्र

मैं पूरी तरह बर्बाद होना चाहता था मेरी जान
मैं वह गिरा पत्ता जिसमे कल तक के लिए हरियाली
जबकि मैं आज और अभी में घुल जाना चाहता था।

यह जो सारंगी की धुन है
यह पेड़ती है मुझे
मैं ईख से गुड़ बनता हूँ
और उम्र बढ़ जाती है।

मैं पैंतीस में खत्म हो जाना चाहता था
जबकि तुम मिल गयी पैंतीसवे में
जैसे गिर रहे पतंग को
बच्चे का हाथ मिले ।

अब मैं बर्बाद भी हुआ
तो एक हरा जीवन जीकर बर्बाद होऊँगा
फिर बर्बाद कहाँ होऊँगा
तूने कुफ्र किया है मेरी जान
एक कवि को बर्बाद होने से बचाया है।

चमक

कितना अंधियारा था उस रात
हम बरगद के नीचे खड़े थे
बिजली चमकती थी
तो तेरा चेहरा चमकता था
क्या मेरा भी चेहरा चमकता था?
अब भी बता दे प्रिये

अब जबकि मैं रौशनी की कतार में खत्म हो रहा
तुम रौशनी की लिबास से संगत बिठा चुकी
मगर अब भी तेरा माथा दिपता जैसे बरगद के पेड़ के नीचे पहले
तब मेरे चेहरे पर झुर्रियाँ नहीं थी
क्या बिजली चमकती थी तो मेरा चेहरा भी चमकता था?
बता दे प्रिये, मैं जानना चाह रहा कि
मुझे रौशनी ने खत्म किया है
या ऐसा ही था प्रेम की इब्तिदा में भी?

खण्ड

मैं तुझसे मिलता भावना के हर खण्ड के साथ
मगर कुछ रह गये धान के खेत में
कुछ पितामह के जलते शव के साथ मसान में ।
मैं तुझसे अपने सारे विचारों के साथ मिलता
लेकिन कुछ बस गये अधपढ़ी किताब में
तो कुछ जुलूस में तनी बँधी हुई मुट्ठी में।
मैं तुझसे पूरा का पूरा मिलता
लेकिन बीसवीं सदी के अन्त को लांघकर आया हूँ प्रिये।

अकेले लोगों का घर

अकेले लोगों के भी घर होते हैं
हवा और रिक्ति से सम्पूर्ण
एक मेज़ किसी की प्रतीक्षा कर रही
प्रतीक्षा करती बिस्तर की धूल किसी के स्पर्श की
साँझ गाढ़ी होकर कोने में जमा हो रही
कमरे का बल्ब कोई चेहरा ढूँढता
रौशनी बगल के ठसाठस भरे घर में जाकर प्रफुल्लित।
अकेले लोगों के भी घर होते हैं
चुप्पियों और उपेक्षाओं के अभ्यस्त।

पुनःप्राप्ति

कहानी के कई हिस्से बार बार छूट जाते हैं
उनके लिए वहाँ जाना ही होगा
कि जहाँ बनती थी गुड़, चूल्हा उखड़ जाने के बाद भी बची है सुगन्ध

फ़ोन से नहीं होगा, वहाँ जाना ही होगा
कि कैसे हैं राधे पासवान, क्या अब भी बजाते हैं बाँसुरी
ओह! वह बाढ़ में बाँसुरी बजाना भैंस की पीठ पर बैठकर
कैसे हैं कन्हाई मिसर, क्या अब भी खाते हैं चिकनी मिट्टी
कितना भी बड़ा भोज हो, उनका आधा पेट ही भरता था

वो जो एक सहेली थी जिन्हें मेरे साफ़ कपड़ों में भी बदबू उबकाती थी
क्या निबह रहा उसका ठीक अपने पति के साथ

नानी कह लेती थी सात क़िस्से लगातार
मिल से लौटता तो माँ पूछती

कैसी थी साड़ी--लाल या काली
नयी या फटी हुई

कितनी तो कथाएँ हैं, कितने उनमें ताखे
लौटकर जाना ही होगा--हड्डियों में बजती हैं कथाएँ।

कुछ फूल

प्यारे प्रभो
थोड़े फूल लौटा दो
कनेर के कुछ फूल
और एक फूल कमल का।
मुझे किसी के पास जाना है
और पहले तू मिला तो तुझे ही सौंप दिया
आदमी का सौंपा हर फूल आदमी की अमानत है
जो वह कभी भी तुझसे मांग सकता है ।
और कोई याचना नहीं तुझसे
मेरे कुछ फूल दे दो, बस
नाराज़ होकर जितना तू बिगाड़ सकता है
वो उससे अधिक बिगाड़ सकती है।
कुछ फूल लौटा दो
बाज़ार में कोई पुष्प-विक्रेता दिख नहीं रहा
और सोचो, चढ़ाए गये फूल माँगना
अपनी प्रिये के लिए
कितनी तुच्छ याचना है।

क्या बिना हत्या किए कोई जी नहीं सकता

पानी में भींगा
तो लगा किसी के आँसुओं से भींग रहा हूँ।
सिगरेट जलाने माचिस निकाला
तो लगा किसी का घर जलाने जा रहा।
रिक्शेवाले को बुलाया चौक जाने तो
लगा मैं एक भीड़ का हिस्सा हूँ
और उसे मारने के लिए बुला रहा।
लग रहा कल एक छुरी खरीदूँगा
और अपने सबसे प्रिय दोस्त की औलाद
का कत्ल कर दूँगा।

यही बातें कल एक दोस्त भी कह रहा था
एक रात बाद उसने आत्महत्या कर ली
और चिट पर लिखा
हत्यारा बनने से बचने के लिये यही एक रास्ता था।

मुझे इसी पेड़ के नीचे जलाना

मुझे इसी पेड़ के नीचे जलाना
जानवरों के पीछे दौड़ते जब थक जाता था
तो यहीं सुस्ताता था।
बनूँगा प्रेत मुझे मालूम है
धरम कमाना आया नहीं, उतनी औकात भी नहीं थी
मरने के बाद तेरे खेतों की रखवाली भी करता रहूँगा।
पण्डिज्जी ना मिले कोई बात नहीं, मेरी घरीतनी को चूड़ा-दही खिलाना
समझूँगा मेरा मरना अकारथ नहीं गया

पुष्प बाधा है

मिष्टान्न खाने की हूक उठी
तो पहुँचा एक देवालय भव्य
भव्य कपड़ों में थे आगन्तुक
जो स्थायी थे, भिखारी-वो फटेहाल

मुझे तो मिष्टान्न की प्रतीक्षा थी
प्रसाद मिला, खुश हुआ
पर फूलों की पत्तियाँ थी कुछ अधिक ही अधिक
स्वाद के मार्ग में बाधा थीं ये पत्तियाँ
जिन गेंदा के फूलों के लिए मिट्टी कितनी बार गूँथा
वो आज बाधा थी।

प्राप्ति

सरपंच ने भी कहा था रुकने के लिए
किन्तु वो विजय की कहानियाँ सुनाता
उन कहानियों का मेरे लिए क्या अर्थ
अपनी तो यही एक सारंगी है
और सारा संसार एक कथा
यही अपनी प्राप्ति

तेरे यहाँ ही रुकूँगा माई
मेरा भोजन कुछ नही
मुझे बहुत भूख नहीं लगती
घर छोड़ने से यह भी एक प्राप्ति
दे देना लोटा भर जल

और कथरी
कहीं भी सो जाता हूँ
यह भी एक प्राप्ति
जाते समय भिक्षा भी ना देना माई
सुना है बहुत कम उपजा इधर अन्न
प्रकृति की लीला, मनुष्य का खेल, यह भी प्राप्ति।

और ऐसा होना भी चाहिए

बहुत मेहनत लगी बनाने में
बड़े प्यारे मज़दूर थे
मैंने कई गहने बेच दिये थे
जतन से बनाया था कुआँ
पूजा भी हुई थी
पकवान पके थे
जब सारी नदियाँ सूख जाएगी
तो भी बचेगा यह कुआँ

नहीं दादी नहीं
जब सब नदियाँ सूखेंगी
तो इस बीच यह कुआँ भी सूख जाएगा
जब सब घर जलने लगेंगे
तो जलेगा हमारा भी घर।

इसी तरह

कहाँ कहाँ से नमक आता है
शहद कहाँ कहाँ से
देह सब को अपना करती जाती है।
सूरज की ललाई होती है सामने अलसुबह
ज्योत्स्ना घेर लेती है रात में
आत्मा सब को अपना बना ले जाती है।
कहाँ कहाँ गड़े पाँव में काँटे
कहाँ कहाँ निगली नागफनी
क्षीण स्मृति ही अब इन थाह वाले क्षणों की
जीवन ऐसे ही चलता है।
मैं कभी रौशनी से बचता हूँ, कभी अँधेरे से
इसी तरह जगह पाता है 'मैं' इस दुनिया में।

कीता कऱ्ऊईज़ावा की डायरी

शुन्तारो तानीकावा

अँग्रेज़ी से अनुवाद : उदयन वाजपेयी एवं संगीता गुन्देचा

छोटी चिड़ियाँ पास क्यूँ नहीं आतीं ?
मैं बहुत देर से
अपनी दूरबीन थामे हूँ

क्या मैं उनके लिए पराया हूँ
या मैं अलग गाना गाता हूँ

हाँ,
मैं फ़कत एक प्राणी हूँ जिसे मानुस कहा जाता है
इतने बरसों में जो उन्हीं पुराने गानों को दोहराने की
ऊब सहने के लायक नही रहा

मैं एक गाना गाता हूँ
जब तुम्हारे आकाश से नीचे देखा जाता हूँ

३१ जुलाई

वहाँ डेक पर बेंच रखी थी
लकड़ी की बेंच
डेक पर
खाली

बरसों पहले वहाँ जो आदमी बैठता था, अब नहीं है
जवान आदमी जो सुबह के धुँधलके में रेडियो सुनता था

उसके बाद से उसने विराट संसार को सामने रखकर
जीने का निश्चय किया
और वह उसके बारे में कुछ नहीं जनता था

उसने दुख सहा, वह दुख को जानता था
पर वह निराश नहीं था

'पर उसने सीखा क्या' अब मैं अपने से पूछता हूँ
जो संगीत वह उन दिनों सुनता था
अब भी हल्का-सा हवा में तैर रहा है

१ अगस्त

खूबसूरत हैं बच्चे
वे क़रीब आते हैं, मुझे पास से देखते हैं
मुड़ते हैं और दूर की चढ़ाई पर चढ़ जाते हैं

नंगे बच्चे -
बाकी रविवार के कलफ़ लगे अपने कपड़े पहने हैं
तालाब में तरंगे उठती हैं
युद्ध कभी खत्म नहीं होंगे

ये बच्चे भी धीरे-धीरे बूढ़े हो जाएँगें
और खुद से बुदबुदाएँगें
पर अभी वे चीख रहे हैं
उनकी आवाज़ें खरखराने लगी हैं
वे पहाड़ की चोटी से चीख रहे हैं

ऐसे शब्द जिन्हें अब मैं समझ नहीं पा रहा

१ अगस्त

अब मैं उसे देख सकता हूँ, बूढ़ा और कमज़ोर

तार-तार चादर में लिपटा हुआ
अपनी यादों में खोया हुआ
उसकी तोंद फिर निकल रही है
बच्चे की तरह
लिखे हुए शब्दों से परेशान उसकी आँखें
छत की लकड़ी के रेशों को टटोल रही है
अनेक दृश्य टुकड़ों में उसके दिमाग में कौंधते हैं
उसके कुछ पुराने दोस्तों के दृश्य
नदी किनारे यात्रा के दौरान दिखी झाड़ियों के
लगभग विस्मृत प्रसिद्ध चित्रों के
हाँ, खिड़की से सूरज की तिरछी किरणें भीतर आ रही हैं
केवल यही चीज़ है जो बदली नहीं है

२ अगस्त

क्या तुम जानते हो
कविता लिखने की कई शैलियाँ हैं ?
कार्वर की शैली
कावाफ़ी की शैली
शेक्सपीयर की शैली
सभी का अपना चलन है
हालाँकि मैंने उन्हें केवल अनुवाद में पढ़ा है
(अनुवादकों, तुम्हारी सारी कामयाबियों और भूलों के लिए साधुवाद)

हर कवि मरने तक अपनी शैली पर कायम रहा आया
शैली की अपनी नियति है

तब भी ये तमाम शैलियाँ मुझे लुभाती हैं
एक, दो, तीन, चार ...

सारी शैलियाँ मुझे आकर्षित करती हैं
और जल्द ही मैं डॉन युआन की तरह
किसी एक से ऊब जाता हूँ

औरत के प्रति वफ़ादार
कविता के प्रति बेवफ़ा

पर क्या कविता शुरू से ही लोगों से
बेवफ़ायी नहीं करती रही है

२ अगस्त

अगर गद्य को गुलाब मान लिया जाए
कविता उसकी गन्ध ठहरेगी
अगर गद्य को मलबे का ढेर माना जाए
कविता उसकी सड़ान्ध ठहरेगी

मैं सोचता हूँ किसी दिन मैं रिल्के की तरह मर सकता हूँ
मेरी अँगुली सचमुच के गुलाब में काँटे से छिद सकती है
क्या तुम्हे लगता है ऐसा होगा ?
इस सबके बाद भी मैं बेशर्मी से किसी तरह जिये चले जा रहा हूँ

३ अगस्त

सूरज, एक बड़ा-सा मकड़ा, अपनी रोशनी का जाल फैलाता है
उसमें फँसा हुआ मैं थरथराता हूँ

अगर वैसा सन्तोष कविता है
मैं एक ऐसी चीज़ से बँधा हूँ जिसे मनुष्य छू नहीं सकता

११ अगस्त

पियक्कड़ संगीतकार कहता है, 'मेरे संगीत की वाहवाही करने वालों को
मैं मशीनगन से मार डालना चाहता हूँ।'

वे जो सुनते समय उसके संगीत की विलम्बित अनुगूँजों की मिठास में
बेसुध और क़रीब क़रीब मर जाते हैं, उसे कभी नहीं
समझ पाएँगे

लेकिन मैं संगीतकार की भावनाओं को समझता हूँ
जो खुद अपनी रचना की अर्थहीनता को बचाये रखने की खातिर
हिंसा के विचार की शरण लेता है

क्योंकि हमारे समय में विनाश और सृजन अलहदा नज़र नहीं आते

१४ अगस्त

नापसन्द चीज़ों को सहने के अलावा
मेरे पास कोई चारा नहीं है

आखिरकार ये चीज़ें यहाँ सदियों से
रहती आयी हैं
इससे फ़र्क नहीं पड़ता कि हमने उन्हें शब्दों से छलने की कितनी कोशिश की

तब भी इसका यह अर्थ नहीं कि यहाँ कोई भी आकस्मिक खुशियाँ नहीं आएँगी
अमूर्त अवधारणाओं, विचारों और
शायद ईश्वर से छलकते हुए
लोग हमेशा जीते रहे हैं

१५ अगस्त

एक मेंढक का तालाब में कूदना दुनिया को बदल नहीं देगा
पर क्या दुनिया को बदलना इतना ज़रूरी है ?

हम कितनी भी कोशिश क्यों न करें कविता को नया नहीं कर सकते
कविता इतिहास से पुरानी है

अगर कोई ऐसा वक़्त होगा जब कविता नयी लगेगी

वह तब होगा जब कविता हमें इस बात पर राज़ी कर चुकेगी
अपने विनम्र पर अक्खड़ लहज़े में बारम्बार दोहराती हुई :
संसार कभी बदलेगा नहीं

१५ अगस्त

यहाँ इस पुस्तकालय में जहाँ सब युगों और देशों की कविता-पुस्तकें
रखी हुई हैं, मैं खोया हुआ-सा महसूस करता हूँ
युद्धों, अनुरागों, घृणाओं, गहरी बेचैनियों की दुनिया
अचानक एक दूसरी ही दुनिया लगने लगती है
मैं नीचे दुनिया पर ऐसे नज़र डालता हूँ मानो फरिश्ते की आँखों से

मैं विचारों में डूबा हूँ यह सोचता हुआ कि किसी भी क्षण
मुझे एक सचमुच की आवारा गोली आकर लग सकती है
और मैं यह भूल चुका हूँ कि मेरे पास भी हथियार हैं

१६ अगस्त

जहाँ छत और कोना मिलते हैं, एक मकड़ी जाला बना रही है
लेकिन मैं उसे वैसे ही रहने देने का निर्णय लेता हूँ
कि इस घर में मकड़जालों से कोई फ़र्क नहीं पड़ता

कि इस घर में मुझे मानवेतर प्राणियों के साथ रहने से कोई गुरेज नहीं है
हाँ, मैं मच्छरों को मारता हूँ और मधुमक्खियों से बच निकलता हूँ
लेकिन किसी तरह यह घर बहुत समय से ऐसा ही है

और मुझे पसन्द है

४ सितम्बर

हमारी भूमि पर पनपी भाषा को
बकबक से चिढ़ है

हम लापरवाही से बतियाते हैं, अनजानेपन का स्वांग करते हुए

और शब्दों के ऊपर शब्द नहीं जमाते

हम हमेशा मौन पर निशाना साधते हैं
जैसे इतिहास घटा ही न हो और वर्तमान
हर बार खाली पन्ने से शुरू होता हो

जब शब्द कुछ थामने की कोशिश करते हैं
वह तुरन्त दूर फिसल जाता है
हमें पता है कि वही शिकार श्रेष्ठ है जो बच निकलता है

इस भूमि पर पनपी भाषा
उन सभी को संकोच में डाल देती है
जो यहाँ पैदा हुए हैं

४ सितम्बर

एक दूसरी तरह की उत्तेजना मुझ पर काबिज़ होती है
पत्तियों से छनकर आ रही धूप मोत्ज़ार्ट के साथ अठखेलियाँ करती है
खाली पुराना मकान प्रेमपूर्ण शब्दों से भर जाता है
अब जब अनन्त मुझे खूबसूरत अलंकारों से छल रहा है

मैं खुद को बार-बार
किसी अज्ञात के बिछाये जाल में
फेंक देता हूँ

हालाँकि मैं यह जानता हूँ यह भ्रम है
वह जाल इतनी मिठास से मुझे लुभा रहा है
कि मैं उससे बच नहीं पा रहा

मुझे लगता है कि हमेशा के लिए फँस जाना मुझे अच्छा लगेगा
पर वह जाल मुझे बिना किसी परिहास के त्याग देता है
मुझे वापस फेंक देता है मनुष्यों से बने स्थानीय परिवेश में
जहाँ परिहास ही एकमात्र बचाव है

५ सितम्बर

कविता का सत्य*

अशोक वाजपेयी

निरंजन भगत भारतीय कविता और साहित्यजगत् में एक आधुनिक स्थपति के रूप में बहुमान्य हैं। वे उन कवियों में से एक रहे हैं जिन्होंने, विशेषतः हमारे लोकतन्त्र में, कविता में नयी नागरिक आधुनिकता को रूपायित करने की कोशिश कीः ऐसी आधुनिकता जिसमें समावेश, बहुलता और सृजन की अपनी सत्ता का सहज स्वीकार शामिल हैं। यह कविता-नागरिकता खुली, नवाचारी और कई अर्थों में निर्भीक रही है, ज़िम्मेदार और सजग होने के साथ-साथ। इस नागरिकता ने कविता के पारम्परिक भूगोल में तात्विक, ऐन्द्रिय और सार्थक विस्तार किया, उसकी प्रश्नवाचकता और उत्तराधिकार के बोध को गहरा किया और कविता के लिए नये मार्ग खोले और प्रशस्त किये। हमारी पीढ़ी और उसके बाद की पीढ़ियों का कविसमाज निरंजन भगत जैसे पूर्वज कवियों का ऋणी रहा है कि उनकी उजली विरासत से हम आलोक और साहस, दोनों पाते रहे हैं। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि आपने पहले निरंजन भगत स्मृति व्याख्यान के लिए मुझे न्यौता दिया। अगर मेरा व्याख्यान आपको अपर्याप्त लगे या निराश करे तो उसके लिए आपका चुनाव भी किसी हद तक ज़िम्मेदार होगा, मेरी अपनी अपर्याप्तता के अलावा।

हमारे समय में सत्य के इतने दावेदार हैं और उनके दावों का ऐसा भयावह तुमुल कोलाहल लगभग रोज़ होता है कि उसमें कविता की बात करना और उसके किसी सत्य पर इसरार करना बहुत कठिन होता जाता है। इस समय की सबसे भीषण विडम्बना यह है कि ऐसी सत्ताएँ हैं जो राजनीति में, धर्म में, विचार और विवाद में झूठ का पूरी बेशरमी और बेबाकी से सहारा लेती हैं और इसका लगातार आग्रह करती हैं कि झूठ ही सच हैं। ऐसे झूठ को तकनालजी के माध्यम से तरह-तरह से दूर और देर तक फैल जाने की बड़ी सुविधा मिली हुई हैः हमारे समय में झूठ बहुत तेज़ फैल रहा है और सच को लगभग सफलतापूर्वक ढाँक-सा रहा है। पाखण्ड, झाँसे, लांछन, गाली-गलौज आदि झूठ के बहुत सक्षम सहचर हैं। हो यह रहा है कि सत्य सीमित, अल्पसंख्यक हो गया है जबकि झूठ

---

* 'निरंजन भगत स्मृति' में दिया गया व्याख्यान।

लगभग असीम और बहुसंख्यक। झूठ के साथ भय और घृणा भी लगातार फैल रहे हैं: जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, वर्गों आदि के बीच झूठ पर आधारित और उससे पोषित घृणा जितनी आज है, शायद पहले कभी नहीं थी। कई बार यह सन्देह होता है कि मानो झूठ अनिवार्य हो गया है और सत्य सिर्फ़ एक दुबका हुआ-सा विकल्प। सार्वजनिक संवाद और उसकी भाषा, व्यापक रूप से, इतनी अभद्र पहले कभी नहीं हुई। विचित्र यह भी है कि इस अभद्रता को सत्ता, राजनीति, धर्म, मीडिया और बहुत सारे पढ़े-लिखे लोग स्वाभाविक और आवश्यक मानकर पोस रहे हैं। सारी संस्कृति अनुष्ठानों, सार्वजनिक तमाशों और तरह-तरह के दिखावों में घटा दी जा रही है। इस कनफोड़ माहौल में जिसमें दूसरी शान्त आवाज़ों के लिए न कोई अवसर है न कोई जगह, कविता के सत्य की बात करना कुछ अटपटा-सा है। इसलिये कविता के सत्य को लेकर जो कुछ कहा जानेवाला है, वह एक अटपटा लगभग अप्रासंगिक वक्तव्य क़रार दिया जा सकता है।

सत्य पर अपना दावा जतानेवाले सदियों से, मनुष्यता के लम्बे इतिहास में, बहुत सारे रहे हैं: अध्यात्म, दर्शन, धर्म, विज्ञान, राजनीति, सत्ता आदि उनमें से कुछ शक्तियाँ हैं जो सत्य की खोज को अपना लक्ष्य बताते हुए, अक्सर उसको सिर्फ़ अपने कब्ज़े में होना मानते रहे हैं। इनमें से किसी भी शक्ति को अन्यत्र भी सत्य होने का कोई अहसास या एहतराम प्रायः बहुत कम रहा है। सत्य की बहुलता या उसको खोजने के मार्गों की अनेकता का स्वीकार बहुत कम ही है। इतिहास की यह एक विडम्बना है कि जिसे लगता है कि सत्य उसके पास है, वह उस पर एकाधिपत्य जमा लेता है और वह एक तरह से तानाशाह, सत्य के तानाशाह की तरह व्यवहार करने लगता है। यह तक कहा जा सकता है कि सत्य का लोकतन्त्र बहुत कम बन पाया है, उसकी तानाशाही अधिक बनी-बढ़ी है। इस मुक़ाम पर, इस पर विचार करने का अवसर नहीं है कि सत्य के स्वभाव में ऐसा क्या है कि वह बहुलता की ओर कम, एकनिष्ठता की ओर अधिक झुकता है। इस पर सदियों से लम्बी बहस हुई है कि सत्य कभी पूरा पाया नहीं जाता है, कोई परम सत्य न होता है, न ही कभी सम्भव है। ऐसा भी सोचा जा सकता है कि सत्य आत्मप्रतिष्ठ नहीं होता, उसका कोई-न-कोई सन्दर्भ होता है जो उससे बाहर होता है और जो उसकी सत्यता को प्रामाणिक बनाता है। सत्य का असत्य से कोई संवाद सम्भव नहीं होता क्योंकि सत्य को अपने आप में असत्य का प्रत्याख्यान होता है। ऐसा भी लगता है कि हर युग के अपने सत्य होते हैं जो युग बदलने पर पुनर्नवा किये जाने और उनमें कुछ नये सत्य जोड़े जाने के बाद ही समीचीन हो पाते हैं। दूसरी तरफ़, यह भी सही है कि ऐसे सत्य होते हैं जो सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं: देश-काल के हिसाब से ये बदलते या अप्रासंगिक नहीं हो जाते। दूसरे शब्दों में, सत्य का मामला काफ़ी उलझा हुआ है- हर समय में रहता आया है। हम इसे भी नहीं भूल सकते कि सत्य मानवीय अवधारणा है- वह मनुष्य की खोज, मनुष्य का आविष्कार है। अन्य प्राणियों में या

प्रकृति में उसकी कोई कल्पना या अस्तित्व है, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है।

कविता और सत्य का सम्बन्ध इस लम्बे उलझाव का ही एक रूप है। भारतीय परम्परा में कविता और सत्य के बारे में कोई विचार या विश्लेषण है तो उसका कम-से-कम मुझे पता नहीं है। इसलिए मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि कविता और सत्य के सम्बन्ध की बात थोड़ी नयी है। सौन्दर्य-चिन्तन की अपनी परम्परा में हमने सत्य के सन्दर्भ में कलाओं और साहित्य पर विचार नहीं किया है। इसका एक आशय तो यह है कि भारत में साहित्य और कलाओं तथा सत्य के बीच किसी सम्बन्ध की कल्पना ही नहीं थी। उनकी स्वायत्तता और स्वतन्त्रता थी, उनमें रस-ध्वनि-अलंकार-औचित्य आदि की अवधारणाएँ थीं। पर सत्य से या उसकी खोज से उन्हें जोड़ा नहीं जाता था।

इस सन्दर्भ में यह देखा जा सकता है कि समाज, समय और सत्य के साथ साहित्य के सम्बन्ध को देखने की बात हमारे यहाँ अपेक्षाकृत नयी बात है। इसकी शुरुआत आधुनिकता से ही हुई है। आधुनिकता ने ही इस त्रयी को केन्द्रीयता दी है जो उससे पहले नहीं थी। इसका यह आशय क़तई नहीं है कि पहले के साहित्य या कविता में सत्य-समाज-समय नहीं थे। वे तो अनिवार्यतः थे पर उन पर व्यापक विचार नहीं किया जाता था और वे आकलन के प्रतिमान भी नहीं बने थे जैसे कि वे आधुनिकता के दौर में स्पष्टतः बनकर उभरे हैं। पहले कविता इससे जाँची थी कि कितना आनन्द देती है, अब हम इससे परखते हैं कि कितना सच बोलती है।

रबीन्द्रनाथ ठाकुर और अलबर्ट आइन्स्टीन के बीच एक संवाद की याद आती है। कवि कह रहा था कि सत्य और सौन्दर्य की अवधारणाएँ बुनियादी रूप से मानवीय हैं, कि कुछ भी सच या सुन्दर नहीं हो सकता, अगर उसे उसका ऐसा होना मनुष्य न पहचाने। वैज्ञानिक का आग्रह था कि सत्य और सौन्दर्य मनुष्य के देखने या महसूस करने से स्वतन्त्र होते हैं। आकाशगंगा का उदाहरण देते हुए वैज्ञानिक ने इसरार किया कि वह सुन्दर और सत्य है, भले मानवीय दृष्टि उसे नहीं देख पाती या मानवीय मस्तिष्क उस तक नहीं पहुँच पाता। कवि का कहना था कि अगर मनुष्य ऐसा अनुभव न करे तो वह सत्य या सुन्दर नहीं हो सकता। दोनों में से कोई भी दूसरे को अपने से सहमत नहीं कर पाया।

कविता का सत्य एक जटिल अवधारणा है और उसकी जटिलता को समझना ज़रूरी है। कविता का सत्य उसमें अंगीभूत या चरितार्थ अनुभव या अनुभव-पुंज के सत्य से अपना जीवत्व पाता है। यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता में प्रकट अनुभव सच्चा अनुभव है। फिर अभिव्यक्ति के सत्य का प्रश्न भी उठता हैः क्या अभिव्यक्त होने से कुछ सत्य हो जाता है? भाषा में सच और झूठ, दोनों सम्भव हैः भाषा में आने से कुछ सच हो भी सकता है, कुछ झूठ भी पड़ सकता है। अज्ञेय ने कभी कहा थाः 'मैं सच लिखता हूँ, लिख-लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ।' यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या

कोई सत्य भाषा में आने से पहले भी सत्य रहता है और भाषा उसे सिर्फ़ व्यक्त-विन्यस्त भर कर देती है या शायद सही यह है कि भाषा कविता में सत्य को आलोकित या प्रकट भर करती है- उसकी रचना नहीं करती। तब यह प्रश्न बनता है कि क्या सत्य कविता से बाहर स्वतंत्र अस्तित्व में रहता है और कविता उसे भाषा में खींच भर लाती है? क्या भाषा में आकर सत्य वही बना रहता है जैसा कि वह पहले था या कि वह परिवर्तित हो जाता है और इस अर्थ में भाषा सत्य में अपना कुछ जोड़ भी देती है? कविता में भाषा शिल्पित होती है तो उसके साथ उसमें लाया गया सत्य भी शिल्पित हो जाता है: इसका आशय यह है कि कविता का सत्य शिल्पित सत्य है। अगर शिल्प में कोई कमी या खोट है तो यह सत्य को उसकी सम्पूर्ण जटिलता और उत्कटता में प्रकट करने में सक्षम नहीं होगी।

सत्य अकसर हम सामान्यीकृत करते रहते हैं: हमारा आप्तवाक्य 'सत्यमेव जयते' इसी तरह का सामान्यीकरण है; यद्यपि इस समय राजनीति ने उसे बदलकर व्यवहार में लगभग 'असत्यमेव जयते' कर दिया है! हम जानते हैं कि आज तो असत्य ऐसा दिग्विजयी जान और दीख पड़ रहा है कि यह सामान्यीकरण सच नहीं होता लगता। कम-से-कम कविता के क्षेत्र में यह कहा जा सकता है कि उसका देवता सामान्यीकरणों में नहीं, ब्योरों में बसता है। ये ब्योरे ऐन्द्रिक, चिन्तनपरक, बौद्धिक आदि हो सकते हैं। शब्द, जिनसे कविता की काया रची जाती है, जीवन की अनेक ठोस छवियाँ कविता में ले आते हैं: उन्हीं से कविता का ऐन्द्रिक आधार बनता है। यही ब्योरे कविता का जीवन को सहज और अहरह स्पन्दन देते हैं।

जीवन के इस स्पन्दन से कविता के सत्य का क्या कोई सम्बन्ध है? एक तो यही कि बिना ऐसे स्पन्दन के सत्य अपने को कविता में चरितार्थ नहीं कर सकता। सत्य अगर जीवन का सार या लक्ष्य है तो भी, कम-से-कम, कविता के लिए जीवन इस सत्य से बड़ा होता है - अधिक विशाल, अधिक व्यापक, अधिक सजीव, अधिक जटिल और अधिक अदम्य। दूसरे, कविता के लिए, एक तरह से, उसका सत्य जीवन और भाषा से ही निकलता है: कविता अपने श्रेष्ठ क्षणों में भी जीवन और भाषा से बड़ी नहीं होती। यह उन्हें आलोकित-प्रकट करने, प्रश्नांकित और विन्यस्त करने की चेष्टा करती है पर वह उन्हें अतिक्रमित नहीं कर सकती, न ऐसा अतिक्रमण उसकी चेष्टा या आकांक्षा का अंग होता है। अगर कविता किसी तरह का सत्यापन है तो वह जीवन और भाषा का सत्यापन है: उसमें आकर जीवन और भाषा अधिक सच लगते हैं। कई बार हम जीवन की जटिलता-सूक्ष्मता-वितान को, भाषा की शक्ति और सम्भावना को कविता से ही पहचान पाते हैं, अगर हमारे पास उससे प्रतिकृत होने का धीरज और समय हो।

२

हमारा समय चूँकि छोटे-बड़े झूठों से अटा पड़ा है, उनसे प्रायः हर दिन और हर स्तर पर आक्रान्त है, कविता का ज़रूरी और तात्कालिक काम सत्य-कथन हो जाता है। जब आसपास सभी झूठ बोल रहे हों, झूठ से काम चला रहे हों तो कविता सच बोलने का और इसलिए अकेले पड़ जाने का जोखिम उठाने से विरत नहीं हो सकती। पर कविता हमारे समय में और कई काम सत्य-कथन के अलावा करती रही हैः वह समकाल को समझने-निपटने के लिए आवश्यक मिथक रचती है। वह दी हुई दुनिया, दी हुई नैतिकता, दी हुई सामाजिकता, दिये गये निजत्व आदि को अपनी प्रश्नवाचकता के घेरे में लाती है। वह हमारे प्रश्नविमुख दौर में प्रश्न पूछने का दुस्साहस करती है। संसार में ऐसी अनेक चीज़ें हैं, घटनाएँ-अनुभव-भाव-छबियाँ हैं जो हमारे ध्यान के वितान से बाहर रह जाते अगर उन्हें कविता नामांकित न करतीः कविता चीज़ों को नाम देकर उन्हें एक तरह से, सच और टिकाऊ बनाती है। कविता तथाकथित नैतिक सच, सामाजिक सच, राजनैतिक सच, बाज़ारू सच आदि को भी प्रश्नांकित करती हैः आधुनिक काल में कविता लगातार अपने समय और समाज का प्रश्नांकन करती रही है। ऐसा करने का उसे नैतिक अधिकार मिलता है, इस सचाई से कविता अपना प्रश्नांकन भी लगातार करती रहती हैः कई बार उसे अपनी व्यर्थता का भी तीख़ा बोध होता रहता है। अज्ञेय ने कहा हैः

खोज में अब निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले- एक ही पाया।

अन्यत्र वे कहते हैंः
शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।

हिन्दी के एक दूसरे मूर्धन्य कवि शमशेर बहादुर सिंह ने कहा हैः
सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या- देखें!
सत्य का रुख़
समय का रुख़ हैः
अभय जनता को

सत्य ही सुख है,
सत्य ही सुख।

कविता अगर सत्य से अपने को सम्बद्ध करती है तो वह अभय होती है और अभय देती है। कविता के राज्य में सत्य और भय साथ-साथ नहीं रह सकते। उसके लिए वही सत्य का काम है जो उसे और रसिक को अभय प्रदान करे। स्वयं आतुर न हो बल्कि किसी भी भय का शमन करे।

अज्ञेय ने बहुत पहले यह पहचान लिया था कि
एक मृषा जिसमें सब डूबे हुए हैं-
क्योंकि एक सत्य जिससे सब ऊबे हुए हैं।

और अज्ञेय ने स्वयं कवि और कविता से अपनी मर्यादा में रहने की सलाह दी थीः
जितना तुम्हारा सच है उतना ही कहो।

यह भी याद रखना चाहिये कि कविता, हर हालत और हर समय में, जीवन का, उसकी अपार मोहक जटिलता और बहुलता का उत्सव मनाती हैः वह जन्म ही लेती है संसार के अनुराग से। यह अनुराग ही उसे जो सत्य देता है, वह रागसिक्त सत्य होता है, निरपेक्ष नीरस निस्संग सत्य नहीं। यह भी कह सकते हैं कि चूँकि हमारा जीवन मटमैला ही होता है, उसका कविता में उपलब्ध सत्य भी मटमैला सत्य होता हैः उसमें जीवन की विडम्बनाओं, उत्सुकताओं, घाव-खरोंच, धूलधक्खड़ सबकी अमिट छाप होती है। यह सत्य तटस्थ भी नहीं होताः विनोबा भावे के एक पद का इस्तेमाल कर कहें कि यह सत्य जीवन और उसकी बहुलता के पक्ष में झुका हुआ 'पक्ष-पाती तटस्थता' से बिंधा सत्य होता है।

३

आयरिश कवि शीमस हीनी ने कभी कहा था कि अगर कविता सत्य और न्याय से अपना क़रार तोड़ दे तो वह विफ़ल होगी। कविता का सत्य मटमैला और पक्षपाती तटस्थ सत्य होता है और उसका न्याय से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। हमारे सामान्य जीवन में राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक-धार्मिक कई तरह के अन्याय व्याप्त हैंः हम पर्यावरण, वन-नदी-पर्वत, प्रकृति, पशु-पक्षी आदि सभी मानवेतरों से अत्याचार और अन्याय करते रहते हैं। कविता अपना अद्वितीय सत्य इस व्यापक अन्याय को लक्ष्य कर, उनके शोषण और उनके साथ मनुष्य के लगभग शाश्वत अन्याय को दर्ज़ करती है, उनकी व्यथा-विडम्बना को और एक तरह से मनुष्य की न्याय-बुद्धि की तरह उभरती है। दूसरे शब्दों में,

कविता अगर सत्य की रंगभूमि है तो साथ ही न्याय की रणभूमि भी। उसका सत्य ऐकान्तिक नहीं हो सकता वह न्याय से अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। कविता ऐसी जगह है जहाँ सत्य और न्याय एक-दूसरे के अनिवार्य सहचर और परस्पर पोषक होते हैं।

सत्य और न्याय में सौन्दर्य को भी जोड़ना ज़रूरी है, तभी वह त्रयी बनती हैः सत्य-न्याय-सौन्दर्य। कभी-कभी जब हम 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' कहते हैं तो उसका असली अभिप्राय यही त्रयी है। इस त्रयी को कविता की अपनी राजनीति और अपना अध्यात्म, दोनों ही माना जा सकता हैः राजनीति इसलिए कि कविता सत्य-न्याय-सौन्दर्य को चरितार्थ कर उन्हें समाज में प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा देती हैः ऐसा समाज सभ्य नहीं हो सकता जिसमें इन तीनों के लिए आकांक्षा और उनके लिए जगह न हो। साथ ही, ये कविता का अध्यात्म भी हैं क्योंकि ये उसे कविता की विराट् का स्पन्दन हो सकने की आकांक्षा से जोड़ते हैं। कविता, अपने छोटे-छोटे अनुभवों-छबियों-बिम्बों-प्रसंगों से, विराट को स्पन्दित करने का प्रयत्न करती है और यह स्पन्दन आ नहीं सकता अगर कविता में सत्य-न्याय-सौन्दर्य का सजग सतत संस्पर्श न हो। निरंजन भगत ने जब रिल्के की मृत्यु पर लिखी अपनी कविता में कहा कि 'एक काँटे से घायल होते हुए/तुमने शाश्वत गान के सत्य का सत्यापन किया?' तो काँटे से शाश्वत गान को जोड़ते हुए वे इसी विराट को अपने पड़ोस में लग रहे हैं। शायद यह भी कह सकते हैं कि कविता कभी विराट से स्पन्दित होती है तो कभी-कभी घायल भी। स्वयं रिल्के की कविता में इस घायल होने का बहुत सघन और मार्मिक अनुभव दर्ज़ है। वहाँ भी सत्य-न्याय-सौन्दर्य एक-दूसरे से संगुम्फ़ित हैं, कुछ ऐसे कि उन्हें अलगाना सम्भव नहीं है। खुद कविता के सत्य को अलगाना, उसकी रागसिक्त काया से उसे अलग करना, उसे सौन्दर्य और न्याय से दूर कर देखना, उसे निष्प्राण कर देने के बराबर है।

इसी मुक़ाम पर हमें यह पहचान सकना चाहिये कि कविता का सत्य परिणत सत्य नहीं होताः वह हमेशा प्रक्रिया में रहता है। वह शायद कभी परिणति तक न पहुँचता है, न उसे किसी परिणति में पाया जा सकता है। इस अर्थ में वह ऐसा सत्य है जो हमेशा बनने की प्रक्रिया में रहता है पर समापन या परिणति पर कभी नहीं पहुँचता। ऐसा इसलिए भी है कि कविता का सत्य हिस्सेदार सत्य है। कविता स्वयं पूरा सच अपने में अंगीभूत कर ही नहीं सकती। उसका सच तब पूरा होता है जब पाठक या रसिक याने कोई-न-कोई दूसरा उसमें थोड़ा-सा अपना सच भी मिलाये। वह साझा सच होता है और यही कारण है कि अगर इस साझे के कई अलग-अलग रूप हों, जो कि होंगे ही, तो एक ही कविता की अलग-अलग व्याख्याएँ होंगी। महान्-से-महान् कविता का भी अर्थ और आशय, सत्य कभी सुनिश्चित नहीं होताः वह देश, काल, रुचि और दृष्टि के अन्तर से बराबर बदलता रहता है। कविता,

सार्थक और बड़ी कविता, अगर हमेशा प्रासंगिक बनी रहती है तो इसलिए कि उसके हर समय में अनेक अर्थ सम्भव और ज़रूरी होते हैं। यह सोच सकते हैं कि कविता का सत्य हिस्सेदार, प्रक्रियाकेन्द्रित होने के अलावा बहुल भी होता है। चूँकि वह परिणत नहीं होता, निश्चित नहीं होता उसे देश-काल से परे उत्तरजीवी होने की सुविधा प्राप्त होती है। बड़ी कविता कालविद्ध होकर भी, बल्कि होकर ही कालजयी होती है- कालातीत होती है।

कविता के सत्य को सत्य की सामान्य धारणा से एक और अर्थ में अलगाना ज़रूरी है। सत्य की जो व्यापक और सामान्य अवधारणा है उसमें वह एकतान, एकनिष्ठ, अन्तर्विरोधहीन, सुगठित, सुसंगत होता है। कविता का सत्य इससे बिलकुल अलग होता हैः वह सत्य बहुलता से उपजता और उसे चरितार्थ करता है, उसमें अन्तर्विरोधों और विलोमों की जगह होती है, उसमें दरारें-विडम्बनाएँ-अराजकताएँ सब होती हैं और वह विसंगत को भी अवकाश देता है। कविता का सत्य अस्तित्व और जीवन की बहुलता को एकीकृत नहीं करता, उसे एकीकरण नहीं संश्लेष चाहिये। अगर पारम्परिक बिम्बों का उपयोग इस स्थिति को समझने में करें तो कह सकते हैं कि कविता का सत्य शान्त समरस अविचलित रामराज्य नहीं, शिव की बारात जैसा होता है जो सबको समटेती चलती रहती है।

४

हमारे यहाँ यह कहा गया है कि 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'। इस अवधारणा में एक ऐसे विराट सत्य की कल्पना की गयी है जो अनादि-अनन्त है और सर्वत्र व्याप्त है। उसके एक होने पर बल है और इस पर भी कि सत्य एक है पर जानकार लोग अलग-अलग ढंग से उसे व्यक्त करते हैं। मुझे लगता है कि सत्य की ऐसी परम एकता की हमें ज़रूरत नहीं है। इसलिए कि उसकी तथाकथित एकलता उसकी एक तरह की तानाशाही को जन्म देती है, दे सकती है, देती रही है। ख़ासकर कविता के हवाले से हमें यह पहचान सकना चाहिये कि सत्य भी अनेक और बहुल हैं। कवि अलग-अलग ढंग से एक ही सत्य को खोजते-अवगाहते-पाते नहीं हैंः उनकी खोज, उनका अनुसन्धान उन्हें अनेक सत्य पाने, सत्य की बहुलता की ओर ले जाता है। यही नहीं, अकेले साहित्य में कविता का सच, उपन्यास का सच और नाटक का सच भी एक नहीं होतेः वे अलग-अलग सच होते हैं। निराला का सच प्रेमचन्द के सच से अलग था, है। हमें भी सच एक क्यों चाहिये? अलग-अलग सच हमारे सामान्य जीवन का अनुभव हैं। कविता, इस अनुभव से अलग, किसी एक सत्य के शरण्य की तलाश हो, यह क़तई ज़रूरी नहीं है। सत्य के साथ न्याय का जुड़ाव भी तभी सार्थक हो सकता है जब उसमें अनेक सत्यों के होने और उनके एहतराम की सम्भावना हो।

हमारे समय को विश्वव्यापी स्तर पर 'पोस्टट्रूथ' का याने सत्यातीत समय कहा गया है। यह अवधारणा यह प्रतिपादित करती है कि हमारे समय में सत्य की केन्द्रीयता और महत्व समाप्त हो गये हैं। समय सत्य के आगे निकल गया है। यों तो यह बात नयी नहीं हैः जॉर्ज आर्वेल ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान लिखा था कि ''वस्तुनिष्ठ सत्य की अवधारणा दुनिया से मिट रही है। अब झूठ इतिहास बनायेंगे।' सत्यातीत समय की कुछ विशेषताएँ हैंः पहली यह कि वैकल्पिक तथ्य असली तथ्यों का जगह लेते हैं और भावनाओं का साक्ष्य से अधिक वज़न होता है। दूसरी यह कि वह एक तरह की विचारधारात्मक श्रेष्ठता का रूप है जिसके रहते उसके प्रयोगकर्ता किसी को ऐसे कुछ में विश्वास करने के लिए विवश करते हैं, जिसका कोई अच्छा साक्ष्य हो या न हो। तीसरी कि पैसे के बल पर किसी भी सिद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्त को संदिग्ध बनाया जा सकता है, एक वैकल्पिक सिद्धान्त का छद्म खड़ा करके और उसे मीडिया और जनसम्पर्क द्वारा व्यापक रूप से फैलाया जा सकता है। चौथी कि सत्यातीत समय की सचाई को कुछ चुने हुए तथ्यों के चतुर नियोजन से गढ़ा जा सकता है, उन तथ्यों को छोड़ते हुए जो इस नियोजन की पुष्टि न करते हों। पाँचवीं यह कि समान अवसर या अवधि देकर सच्चे और झूठे, दोनों पक्षों के बीच एक अवास्तविक्त समता बना दी जाती है।

आज भारत में व्यापक रूप से जो रहा है वह इन सब विशेषताओं को लिये हुए है। ये विशेषताएँ हमें इस क़दर आक्रान्त किये हैं कि इतिहास, स्मृति, परम्परा सबके बारे में अब लगातार झूठ फैलाये जा रहे हैं और असत्य की एक विशाल भजनमण्डली बन गयी है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस हालत में कविता का अपने सत्य पर टिके रहना पहले से कहीं अधिक कठिन और ख़तरनाक हो गया है। इस स्थिति में एक और सूक्ष्म बाधा यह है कि सच्ची कविता अपने पर, अपने सत्य पर सन्देह भी करती है। यह सन्देह उस पर असत्य का पक्षधर हो जाने के लिए दबाव की तरह इस्तेमाल किया जाता है। तर्क कुछ यों बनता हैः जब कविता को स्वयं अपने सत्य पर सन्देह है तो उसे उस तथाकथित सत्य को क्यों नहीं स्वीकार कर लेना चाहिये जो व्यापक रूप से फैल रहा, मान्य हो रहा है? कहा जा सकता है कि सौभाग्य से सच्ची कविता अभी तक झूठ के झाँसों में नहीं आयी है और अपने सत्य पर ज़िद करके अड़ी हुई है। कविता आज अल्पसंख्यक भले हो गयी हो, वह असत्य और उससे उपजनेवाली घृणा और हिंसा के विरुद्ध सत्याग्रह है। उसका अपना स्वराज्य, प्रभाव में कितना ही सीमित, इसी सत्याग्रह की जगह है। अगर कविता इस सत्याग्रह से विरत होती है तो वह अपना सत्य भी गँवा बैठेगी, यह स्पष्ट है। सौभाग्य से ऐसी आशंका करने का कोई आधार नहीं है कि वह अब झूठ से ललचा रही है। झूठ के घटा टोप में हम कविता से सच कहने और उस पर अड़े रहने की उम्मीद छोड़ नहीं सकते। अभी तक उसने इस उम्मीद को झुठलाया नहीं है।

५

कविता भाषा में रची जाती है और उसका सत्य भाषा में ही चरितार्थ होता है। आज भाषा व्यापक अवमूल्यन और लगभग अमानवीय दुरुपयोग का लगातार शिकार बनायी जा रही है। सार्वजनिक संवाद की भाषा इतनी भोंथरी, सँकरी और आक्रामक पहले कभी नहीं हुई जितनी आज है। भाषा का यह दुर्व्यवहार राजनीति, धर्म, मीडिया, विज्ञापन आदि सभी कर रहे हैं। भाषिक पर्यावरण इतना प्रदूषित हो गया है कि उसमें सिर्फ़ अभिधा का आतंक है। भाषा की अन्य शक्तियाँ हाशिये पर चली गयी हैं। झूठ-हिंसा-घृणा का जो घटाटोप छाया हुआ है उसमें भाषा की शब्दसम्पदा, भावसम्पदा, विचारसम्पदा आदि सभी एक तरह तरह से अनावश्यक से हो गये हैं, बहिष्कृत हैं। स्वयं अज्ञान शिखर से इतने आत्मविश्वास से लगभग रोज़ चीखता-पुकारता है कि भाषा की ज्ञानसम्पदा उसमें सम्प्रेषण के लिए एक अड़ंगा मानी जाने लगी है। लगभग जानबूझकर भाषा को स्मृतिहीन, अन्तर्ध्वनियों से रिक्त, विवेक से विरत किया जा रहा है। हिन्दी का तो आलम, दुर्भाग्य से, यह है कि वह गाली-गलौज, लांछन-आरोप, झूठ आदि की आक्रामक भाषा बन गयी है जिसमें विचार और विवेक सम्भव या मौजूद ही नहीं लगते! आज कविता इस भाषायी क्षरण का प्रतिरोध है। वह ऐसा कुछ कविता में लाने का प्रयत्न है जो हमारे सामान्य ध्यान और अनुभव से लगातार बाहर रहा आता है। यह भी कह सकते हैं कि जिसे भाषा से सार्वजनिक सम्वाद में बाहर छोड़ या कर दिया गया है, कविता उसे अन्दर लाने की कोशिश करती है। जो इस समय कहने से बचा जा रहा है, जो कहने में कुछ जोखिम है, कविता उसे कहने का दुस्साहस करती है। वह अपना सत्य इसी साहस से अर्जित करती है। जब बोलना ज़रूरी हो और उसे द्रोह तक क़रार दिया जा सकता है तब बोलना, जो अकथनीय है उसे कथनीयता के अहाते में लाना, जब याद करने की बजाय भूलना एक सार्वजनिक व्याधि की तरह फैल गया हो तब याद करना, कविता यही कर अपना सत्व अर्जित करती है। वह भाषा के मानवीय और नैतिक कर्तव्य की विधा इस तरह बन पाती है। ऐसा समय हो सकता है और लगता है कि हमारा समय ऐसा है जिसमें कविता भाषा और अभिव्यक्ति से कहीं आगे जाकर अन्तःकरण की विधा बन जाती है। आप को याद होगा कि महात्मा गाँधी शुरू में कहते रहे थे कि 'ईश्वर ही सत्य है' पर अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्होंने कहा कि 'सत्य ही ईश्वर है'। कुछ इस मुहावरे का उपयोग कर हम कह सकते हैं कि आज कविता का अन्तःकरण ही उसका सत्य है।

अन्तःकरण की बात करते ही हिन्दी कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की याद आती है जिन्होंने लगभग ६५ वर्ष पहले 'अन्तःकरण का आयतन संक्षिप्त' होने से पहचाना था। उन्होंने यह भी पहचाना था कि 'विराट झूठ के अनन्त छन्द-सी/भयावनी अशान्त पीत धुन्ध-सी/सदा अगेय'। पर उन्होंने यह

चेतावनी भी दी थी 'अपने सत्य की गोद में बन्द न हों।' सत्य, कविता का सत्य वही काव्य जो खुला हो और अपने या किसी को बन्द न करे। कविता को 'सुन्दर जाल' नहीं होना चाहिये 'एक जलता सत्य देने टाल।'

हमारे यहाँ ऐसे कवियों का लम्बा सिलसिला है जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने अन्तःकरण को कविता में रूपायित कर कविता का सत्य चरितार्थ किया। मुझे विश्वास है कि निरंजन भगत ऐसे ही कवि हैं जिनके यहाँ अन्तःकरण और सत्य तदात्म हैं।

श्रीकान्त वर्मा ने अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'तीसरा रास्ता' में कहा थाः

... असत्य कहें,
असत्य करें
असत्य जिएँ।
सत्य के लिए
मर मिटने की आन नहीं छोड़ें

इस कविता का समापन श्रीकान्त जी ने ऐसे किया थाः
मित्रो,
तीसरा रास्ता भी
है-
मगर वह
मगध,
अवन्ती
कौसल
या
विदर्भ
होकर नहीं
जाता।

कविता का सत्य यही रास्ता है और वह सत्ता और अधिकार से अलग है। उसे पाने-समझनेवाले तीसरे रास्ते पर ही होते हैं।

अनेकधा भक्ति

वागीश शुक्ल

भक्ति एक विशेष सम्बन्ध का नाम है जो भक्त और भगवान के बीच बनता है। किन्तु यह सम्बन्ध सभी भक्तों के लिए एक-जैसा ही नहीं है, भक्त की इच्छा के अनुरूप ही भगवान वह स्वरूप धारण करते हैं जिसमें उसकी भक्ति होती है। उदाहरणार्थ यशोदा के लिए कृष्ण उनके पुत्र के रूप में हैं, गोपियों के लिए उनके कान्त के रूप में, अर्जुन के लिए उनके सखा के रूप में। अतः भक्ति के शास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत उसके भेद-प्रभेद गिनने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। इस आलेख में इन भेदों की एक परिगणना का प्रयास किया गया है ताकि भक्ति के वैविध्य का प्रारम्भिक परिचय हो सके।

१ पौराणिक विवरण

पद्मपुराण (४-८५-४ से २४) में भक्ति को त्रिविध बताया गया है और इस त्रैविध्य को दो अलग त्रिकों से निरूपित किया गया है। पहला त्रिक मानसी-वाचिकी-कायिकी का है जिसमें मानसी भक्ति के उदाहरण हैं ध्यान, वेदस्मरण आदि, वाचिकी भक्ति के उदाहरण हैं वेदमन्त्रों का उच्चरण, जप आदि, तथा कायिकी भक्ति के उदाहरण हैं व्रत, उपवास, इन्द्रियजय आदि। दूसरा त्रिक लौकिकी-वैदिकी-आध्यात्मिकी का है जिसमें लौकिकी भक्ति के उदाहरण हैं पादवन्दन आदि उपचारों से पूजा, नृत्य तथा वाद्य आदि से देवता को रिझाना आदि, वैदिकी भक्ति के उदाहरण हैं वेदाध्ययन, यज्ञ आदि का सम्पादन और आध्यात्मिकी भक्ति के उदाहरण हैं सांख्य तथा योग के द्वारा तत्वज्ञान। यहाँ 'सांख्य' और 'योग' स्पष्ट ही श्रीमद्भगवत्गीता (२-३९) में आये 'सांख्य' और 'योग' के दो उपदेशों की ओर संकेत करते हैं किन्तु यद्यपि सांख्यों की आध्यात्मिकी भक्ति का तात्पर्य 'ब्रह्मतत्वज्ञान' आदि है और इस प्रकार उसे 'ज्ञानमार्ग' मानते हुए भगवत्पाद के गीता-भाष्य से संगत मान सकते हैं, 'योग' का तात्पर्य यहाँ प्राणायाम, ध्यान आदि बताया गया है जो इस भाष्य से संगत नहीं है - भगवत्पाद के भाष्य में 'योग' का तात्पर्य 'कर्म-मार्ग' है।

भक्ति के त्रैविध्य की इसी द्विरूपता को प्रायः इन्हीं शब्दों में पद्मपुराण (५-१५-१६४ से १९१)

और स्कन्दपुराण (प्रभासखण्ड, १०७-२ से १६) के अन्तर्गत भी दिया गया है। यह विवरण बहुत सूक्ष्म नहीं है और इसमें भक्त की अपनी इच्छा तथा रुचि की कोई भूमिका नहीं है फिर भी अन्य विवरणों में दी गयी 'ज्ञान-मिश्रा भक्ति' और 'कर्म-मिश्रा भक्ति' का समायोजन इसमें कर लिया गया है और इस प्रकार 'भक्ति-मार्ग' के अन्तर्गत ही 'ज्ञान-मार्ग' और 'कर्म-मार्ग' को समेटने के प्रयासों का यह एक निदर्शन अवश्य है। भक्ति की भेद-गणना का ऐतिहासिक दृष्टि से यह सम्भवतः प्रथम प्रयत्न है जिसे परिष्कृत करते हुए परवर्ती व्यवस्थाओं का निबन्धन हुआ है।

२ वोपदेव

वोपदेव का मुक्ताफल प्रारम्भ में ही यह सूचित कर देता है कि उसका प्रतिपाद्य पाँच प्रकार के विष्णु-भेदों, अठारह प्रकार के भक्ति-भेदों, उन्नीस प्रकार के भक्तिवर्गों, और नौ प्रकार के भक्त-भेदों की गणना करना है, अर्थात् यह ग्रन्थ भक्ति के भेद-प्रभेद गिनने के उद्देश्य से ही लिखा गया है। वोपदेव को हेमाद्रि का आश्रय प्राप्त था जो देवगिरि के यादव राजाओं के महामन्त्री थे और जिन्होंने धर्मशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ चतुर्वर्गचिन्तामणि तैयार किया है। मुक्ताफल पर हेमाद्रि की लिखी कैवल्यदीपिका नाम की टीका है। इस प्रकार यह ग्रन्थ और इसकी यह टीका, दोनों ही तेरहवीं सदी ईसवी के हैं।

कैवल्यदीपिका में लिखा है कि इसे परमहंसप्रिया नामक टीका देखकर लिखा गया है। ऐसी अनुश्रुति है कि श्रीमद्भागवत की परमहंसप्रिया नामक एक टीका वोपदेव ने लिखी थी और यह लगभग निश्चित है कि हेमाद्रि का संकेत इसी टीका की ओर है। वैसे श्रीमद्भागवत की परमहंसप्रिया नामक एक टीका उसके प्रथम तीन श्लोकों तक उपलब्ध है किन्तु वह मधुसूदन सरस्वतीजी की लिखी बतायी जाती है जिनका समय सत्रहवीं सदी ईसवी तक खिंचता है। यदि हेमाद्रि का संकेत इसी टीका की ओर है तो हम यह मानने को विवश हैं कि परमहंसप्रिया मधुसूदन सरस्वतीजी की लिखी नहीं है और यह वोपदेव की टीका का ही अंश है, अन्यथा हमें यह मानना होगा कि श्रीमद्भागवत की परमहंसप्रिया नामक दो टीकाएँ लिखी गयी हैं। जो भी हो, श्रीमद्भागवत पर अब तक ज्ञात टीकाओं में यह वोपदेवकृत टीका प्राचीनतम कही जा सकती है।

यद्यपि नाभाजी की भक्तमाल में वोपदेव को श्री रामानुजाचार्य की परम्परा में रखा गया है, परमहंसप्रिया का उपलब्ध अंश, कैवल्यदीपिका, और मुक्ताफल, तीनों ही अद्वैत-परक हैं। सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत पर उपलब्ध प्राचीनतम और सर्वाधिक समादृत टीका श्रीधर स्वामी की भावार्थदीपिका है, वह भी अद्वैत-परक है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमद्भागवत का अध्ययन और भक्ति का शास्त्रीय पल्लवन सबसे पहले अद्वैत-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा हुआ तथा वैष्णव आचार्यों द्वारा किये

गये विश्लेषण परवर्ती हैं।

मुक्ताफल की रचना श्रीमद्भागवत से एक पद्यसंकलन के रूप में की गयी है जिसे विविध प्रकरणों में अपने वर्गीकरण के समर्थनार्थ व्यवस्थित किया गया है। इसमें भक्ति के भेदों की गणना करते समय सबसे पहले भक्ति के दो भेद किये गये हैं, 'विहिता', और 'अ-विहिता'। यह समझना कठिन है कि शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रों की टीका भक्तिचन्द्रिका का जो संस्करण सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है, उसकी भूमिका में यह क्यों बताया गया है कि मुक्ताफल में वोपदेव ने भक्ति का यह द्विविध विभाजन 'विहिता' और 'निषिद्धा' के शीर्षकों में किया है। 'अ-विहित' का अर्थ 'निषिद्ध' नहीं है। वोपदेव का यह वर्गीकरण इस आधार पर नहीं है कि अ-विहिता भक्ति शास्त्रीय दृष्टि से निषिद्ध है, न ही यह वर्गीकरण सामाजिक मर्यादा को ध्यान में रखकर किया गया है। 'अ-विहिता भक्ति' के अन्तर्गत (१) गोपियों की कामजा अ-विहिता भक्ति (२) शिशुपाल की द्वेषजा अ-विहिता भक्ति और (३) कंस की भयजा अ-विहिता भक्ति के साथ ही वृष्णियों और युधिष्ठिर आदि की (४) स्नेहजा अ-विहिता भक्ति का भी परिगणन है जिसके नाते हम यह मान सकते हैं कि काम, द्वेष, भय और स्नेह के किसी विधि के अधीन न होने के नाते इन्हें विहिता भक्ति से बाहर रखा गया है।

'अ-विहिता भक्ति' का यह विवेचन श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध के प्रथम अध्याय में वर्णित नारद-युधिष्ठिर संवाद के आधार पर है। उसमें एक जगह तो ये ही चार - काम, वैर, भय, और स्नेह- गिने गये हैं किन्तु एक जगह इन चार के अतिरिक्त 'सम्बन्ध' की भी गणना है जिससे यह भ्रम होता है कि कुल पाँच प्रकार हैं। कैवल्यदीपिका में इस पर विचार किया गया है और कहा गया है कि 'सम्बन्ध' तथा 'स्नेह' में परस्पर विशेष्य-विशेषण का ग्रहण है अन्यथा दुर्योधन का कृष्ण से स्नेह-रहित सम्बन्ध उसी कोटि में आ जायेगा जिस कोटि में युधिष्ठिर का कृष्ण से स्नेह-सहित सम्बन्ध है और दोनों ही भक्त हो जायेंगे। इस प्रकार 'सम्बन्ध' और 'स्नेह' को अलग-अलग न गिनकर 'स्नेह-युक्त सम्बन्ध' के रूप में एकत्र ही पढ़ना चाहिए। तब 'अ-विहिता भक्ति' का यह चातुर्विध्य सिद्ध हो जाता है।

'कामजा भक्ति' में 'काम' का अर्थ है परपुरुष में जारबुद्धि। इसका उदय अनूढा और भगवदतिरिक्त पति की ऊढा, दोनों ही में हो सकता है। कैवल्यदीपिका में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि गोपियों को तो भगवान् का सन्निकर्ष प्राप्त था, अतः उनमें कामजा भक्ति का होना सम्भव है किन्तु वर्तमान समय में किसी भी स्त्री को भगवान् का सन्निकर्ष प्राप्त नहीं है, अतः भगवान के प्रति इस कामजा भक्ति का उपदेश निरर्थक ही है। उन्होंने इसका समाधान प्रस्तुत किया है और कहा है कि वर्तमान समय में भी विष्णु के प्रति काम जागृत हो सकता है और यह उपदेश व्यर्थ नहीं है। यह

तर्क अ-विहिता भक्ति के सभी प्रकारों पर लागू होता है। इस प्रकार वर्तमान समय में भी यदि किसी का द्वेष भगवान के प्रति है, या वह उनसे डरता है, तो वह उनकी अ-विहिता भक्ति ही कर रहा है। हाँ, यह भाव दृढ़ होना चाहिए, वेन की तरह नहीं जो अधार्मिक था किन्तु भगवान में जिसका द्वेष दृढ़ नहीं था। इस प्रकार जो भी भक्त कान्ता-भाव से भगवान की भक्ति करते हैं, या उन्हें अपनी सन्तान मानकर उनके बालरूप पर अपना वात्सल्य उँड़ेलते हैं, वे सभी इस अ-विहित भक्तिमार्ग पर चलते हैं।

'विहिता', अर्थात् 'विधि के अधीन' भक्ति के दो प्रकार हैं: (५) शुद्धा विहिता भक्ति, और 'मिश्रा विहिता भक्ति'। इसके बाद 'मिश्रा' के तीन भेद हैं, (६) ज्ञानमिश्रा विहिता भक्ति (जिसे 'निर्गुणा भक्ति' भी कहा गया है), 'कर्मज्ञानमिश्रा विहिता भक्ति', और 'कर्ममिश्रा विहिता भक्ति'। इसमें 'कर्मज्ञानमिश्रा' के तीन भेद हैं, (७) उत्तमा कर्मज्ञानमिश्रा, (८) मध्यमा कर्मज्ञानमिश्रा, और (९) अधमा कर्नज्ञानमिश्रा। फिर 'कर्ममिश्रा' के तीन भेद हैं, 'सात्विकी कर्ममिश्रा', 'राजसिकी कर्ममिश्रा', और 'तामसिकी कर्ममिश्रा'। 'सात्विकी कर्ममिश्रा' के तीन भेद हैं, (१०) कर्मक्षयार्था सात्विकी, (११) विष्णुप्रीत्यर्था सात्त्विकी, और (१२) विधिसिद्धार्था सात्विकी। 'राजसिकी कर्ममिश्रा' के भी तीन भेद हैं, (१३) विषयार्था राजसिकी, (१४) यशोऽर्था राजसिकी, और (१५) ऐश्वर्यार्था राजसिकी। 'तामसिकी कर्ममिश्रा' के भी तीन भेद हैं, (१६) हिंसार्था तामसिकी, (१७) दम्भार्था तामसिकी, और (१८) मात्सर्यार्था तामसिकी। इस प्रकार भक्ति के ये अठारह भेद बनते हैं। यह सारा विभाजन भक्ति के कायिक-मानसिक-वाचिक त्रैविध्य को स्वीकार करते हुए ही किया गया है।

इन विहिता भक्तियों के अधिकारी भी बताये गये हैं। वीतरागों के लिए 'ज्ञानमिश्रा', कामना-युक्त लोगों के लिए 'कर्ममिश्रा', मिष्काम कर्म करने वाले गृहस्थों और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिए 'कर्मज्ञानमिश्रा' विहित हैं। 'शुद्धा भक्ति', जिसमें भक्ति का कोई हेतु नहीं होता, के सभी अधिकारी हैं, चित्तशुद्धि के बाद सभी की भक्ति शुद्ध होती है। 'सात्त्विकी' आदि भेद भक्त की प्रकृति के अनुसार होते हैं। इस भेद-गणना से प्रकट है कि मनुष्य की उदात्त मनोवृत्तियों के साथ ही उसकी कुत्सित मनोवृत्तियों को भी भक्ति की अर्हता के लिए स्थान दिया गया है।

इसके अतिरिक्त मुक्ताफल में भक्ति के उन्नीस वर्ग भी बताये गये हैं। यह वर्गगणना भी कायिक-मानसिक-वाचिक त्रैविध्य के अधीन है। ये वर्ग अपने अंगों के सहित वर्णित हैं और इनका नामकरण इन अंगों की संख्या के आधार पर किया गया है। इस प्रकार छब्बीस अंगों वाले वर्ग का नाम 'षड्विंशति-वर्ग', दस अंगों वाले वर्ग का नाम 'दश-वर्ग' आदि है।

इनमें नौ अंगों वाले नव-वर्ग ने परवर्ती समय में 'नवधा भक्ति' के नाम से केन्द्रीय महत्व प्राप्त

किया। यह नववर्ग श्रीमद्भागवत (७-५-२३) के प्रह्लाद-वाक्य के आधार पर है जिसमें भक्ति के नौ अंग इस प्रकार गिनाये गये हैं: (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य, और (९) आत्मनिवेदन। मुक्ताफल में इस 'नवधा भक्ति' को कोई केन्द्रीयता नहीं प्राप्त है किन्तु श्रवण-कीर्तन-स्मरण का एक त्रि-वर्ग अलग से है जिसके अंगों पर स्वतन्त्र अध्यायों में विस्तृत चर्चा है।

मुक्ताफल में भक्ति-रस का उल्लेख है और कैवल्यदीपिका में अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों से असहमति प्रकट करते हुए, जिन्होंने भक्ति को रस नहीं माना था, भक्ति का रसत्व भी स्थापित किया गया है, किन्तु उसे अलग से नहीं गिना गया है अपितु यह कहा गया है कि भक्त सभी रसों का आस्वाद भक्ति-रस के माध्यम से ही करते हैं। इस प्रकार नौ रसों के आस्वादन-भेद से नौ प्रकार के भक्त होते हैं। इन रसों की गणना करते समय प्रारम्भ हास्य रस से किया गया है। कैवल्यदीपिका ने यह प्रश्न उठाया है कि रसों में सर्वप्रधान शृंगार रस से गणना क्यों नहीं प्रारम्भ की गयी और इसका उत्तर यह दिया है कि इस कैवल्यपरक शास्त्र में शृंगार को प्रधान स्थान देना ठीक नहीं है इसलिए किसी भी अन्य रस से गिनना उचित था तो हास्य से ही प्रारम्भ कर दिया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि किसी सामाजिक मर्यादा के अधीन ऐसा किया गया है, आखिर भगवान पर हँसना भी अनुचित ही है और इस प्रकार हास्य-भक्ति भी 'अ-विहिता' ही है। हास्य रस का आस्वाद करने वाले भक्त के उदाहरण के रूप में गोपियों को रखा गया है जिनमें से कुछ शृंगार रस की भी आस्वादक हैं। इसी प्रकार मुचुकुन्द जैसे अन्य कई भक्तों को भी एक से अधिक रस के आस्वादक के रूप में गिना गया है।

३ जीव गोस्वामी

चैतन्य-सम्प्रदाय में सभी वैष्णव-सिद्धान्तों का परिपाक माना जा सकता है। इसके प्रमुख सिद्धान्त-कार जीव गोस्वामी के भक्तिसन्दर्भ ग्रन्थ में भक्ति का कायिक-मानसिक-वाचिक त्रैविध्य स्वीकार करते हुए नवधा भक्ति को केन्द्रीयता दी गयी है। 'भक्ति' का अर्थ 'सेवा' करते हुए उसका तात्पर्य 'भगवदनुगति', अर्थात् 'भगवान का अनुकूल अनुशीलन' लिया गया है और इस प्रकार द्वेष-जा तथा भय-जा भक्तियों को भक्ति के अन्तर्गत नहीं गिना गया है। सेवा अर्थ लेने के नाते अद्वैतियों की 'अहंग्रह उपासना', अर्थात् उपासक द्वारा अपने को उपास्य से अभिन्न मानते हुए 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह समझना भी भक्ति के क्षेत्र से बाहर हो जाता है।

भक्ति के विभाजन में एक नवीन त्रिक का प्रतिपादन किया गया है और भक्ति का त्रैविध्य आरोपसिद्धा-संगसिद्धा-स्वरूपसिद्धा के त्रिक से बताया गया है। 'आरोपसिद्धा भक्ति' वह है जिसमें

स्वरूपतः भक्ति नहीं होती किन्तु कर्मों को भगवदर्पित करने से उनमें भक्तित्व होता है और इस प्रकार भगवान में यह भक्ति आरोपित होती है। 'संगसिद्धा भक्ति' पुनः स्वरूपतः भक्ति नहीं है, किन्तु इसमें ज्ञान और कर्म को भक्ति का अंग मानते हुए उनमें भक्तित्व का स्थापन किया जाता है। 'स्वरूपसिद्धा भक्ति' वह है जिसमें बिना किसी व्यवधान के सारी कायिक-मानसिक-वाचिक चेष्टाएँ विष्णु-सम्बन्धिनी होती हैं; इस प्रकार नवधा भक्ति को स्वरूपसिद्धा बताया गया है। यह त्रैविध्य 'अ-कैतवा' और 'स-कैतवा' के भेद से द्विविध होता है। यदि केवल भक्ति की ही फलरूप में कामना हो तो वह 'अ-कैतवा' अर्थात् छलरहित कहलाती है, यदि किसी अन्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक या एक से अधिक की भी फलरूप में कामना हो तो वह 'स-कैतवा' अर्थात् छलयुक्त कहलाती है। अ-कैतवा भक्ति का नाम 'अ-किंचना' भी है।

'आरोपसिद्धा भक्ति' का तात्पर्य भगवान में कर्मों का अर्पण है किन्तु यह भगवत्प्रीणन-कर्मफलार्पण के द्वैविध्य में व्यवहृत होता है। इस कर्मफलार्पण के तीन हेतु हैं, कामना, नैष्कर्म्य तथा भक्तिमात्र।

इसके बाद 'संगसिद्धा भक्ति' तीन प्रकार की है: 'कर्ममिश्रा', 'ज्ञानमिश्रा', और 'कर्मज्ञानमिश्रा'। यहाँ 'कर्म' का अर्थ 'वेदोक्त धर्म', अर्थात् यज्ञ आदि है। इसमें 'स-कामा', 'कैवल्य-कामा', और 'भक्तिमात्र-कामा' का त्रैविध्य है। स-कामा भक्ति प्रायः कर्ममिश्रा ही होती है। 'कैवल्य-कामा भक्ति' कहीं कर्मज्ञानमिश्रा और कहीं ज्ञानमिश्रा होती है। भक्तिमात्रकामा भक्ति भी कहीं कर्ममिश्रा, कहीं कर्मज्ञानमिश्रा और कहीं ज्ञानमिश्रा होती है।

स्वरूपसिद्धा भक्ति, जो बिना किसी व्यवधान के होती है, भक्त के संकल्प के अनुसार उपचारतः स-कामा अथवा कैवल्य-कामा के नाम से जानी जाती है। इनमें से स-कामा के दो भेद हैं, राजसिकी जिसमें ऐश्वर्य आदि की कामना है और तामसिकी, जिसमें हिंसा अथवा दम्भ आदि की प्रेरणा है। कैवल्य-कामा केवल सात्विकी होती है। यह कैवल्य-कामा भक्ति भी स-गुणा भक्ति के भीतर ही गिनी गयी है।

स्वरूपसिद्धा भक्ति का तीसरा प्रकार भक्तिमात्र-कामा नाम का है जो सर्वश्रेष्ठ है। इसे 'निर्गुणा' भी कहा जाता है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अद्वैतियों का निर्गुण नहीं है - अनेक विशिष्टाद्वैती वेदान्तों की तरह ही यहाँ यह माना जाता है कि भगवान में 'भग'-संज्ञक ऐश्वर्यादिक छह गुण सर्वदा विद्यमान होते हैं जिन्हें 'कल्याण-गुण' कहा जाता है - 'निर्गुण' का तात्पर्य है 'प्राकृत गुणों से रहित'। इस भक्ति को 'अकिंचना' भी कहते हैं।

इस अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ प्रकार के अन्तर्गत 'वैधी' और 'रागानुगा' नाम से दो भेद किये गये हैं जो मुक्ताफल में दी गयी 'विहिता' और 'अ-विहिता' के क्रमशः नामान्तर हैं। शास्त्रोक्त विधि से पूजा,

व्रत आदि का अनुष्ठान वैधी भक्ति है। इसके तीन अंग गिनाये गये हैं, भगवान की शरण में जाना, जिसका एक नाम 'अनन्यगति' भी है, साधु जनों की सेवा तथा श्रवण कीर्तन आदि अंगों वाली नवधा भक्ति का सम्पादन।

इस नवधा भक्ति का ही विस्तार वैधी भक्ति के अन्तर्गत हुआ है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण के भेद नाम, रूप, गुण, कथा, लीला जैसे शीर्षकों में किये गये हैं। इस प्रकार नाम-श्रवण, नाम-कीर्तन, नाम-स्मरण आदि भेद बनते हैं। पादसेवन में ही तीर्थ-यात्रा आदि की गणना की गयी है। अर्चन के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक यह बताया गया है कि क्यों विष्णु की ही पूजा करनी चाहिए, शिव आदि की नहीं। एकादशी, जन्माष्टमी आदि का उल्लेख भी इसी के अन्तर्गत है। इनका विधान बड़े विस्तार से हैः उदाहरणार्थ यह बताया गया है कि एकादशी में निराहार रहने का तात्पर्य यह है कि भगवान का प्रसाद भी न ग्रहण किया जाए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हितहरिवंशजी के राधावल्लभीय सम्प्रदाय में एकादशी के दिन भी प्रसाद-ग्रहण का विधान है। वन्दन में नमस्कार का सविस्तार वर्णन है। दास्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है और सख्य को समझाते हुए कहा गया है कि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भक्त भगवान के समकक्ष हो गया, सख्य का अर्थ केवल भगवान की हितकामिता है। आत्मनिवेदन शरीर के निवेदन तथा शरीरान्तर्गत जीव के निवेदन के भेद से द्विविध कहा गया है। आत्मनिवेदन को इस प्रकार समझाया गया हैः जैसे गाय बेंच देने के बाद उसकी देखरेख की ज़िम्मेदारी क्रेता की होती है, विक्रेता की नहीं, वैसे ही आत्मनिवेदन के बाद भक्त के शरीरादि की ज़िम्मेदारी भगवान की होती है, भक्त की नहीं।

इस नवधा भक्ति में वैधी का विस्तार है किन्तु इस भक्ति में प्रेम अन्तर्भुक्त नहीं है। यह भक्ति साधनरूपा है जिससे भगवत्प्रेम साध्य है। दूसरी ओर, रागानुगा भक्ति में रुचि का प्राधान्य है, विधि का नहीं, अतः वह अधिक महत्वशाली है। 'राग' की परिभाषा दी गयी हैः विषयी में विषय से संसर्ग की अतिशय तीव्र इच्छा वाले प्रेम का नाम 'राग' है, जैसे (विषयी) आँख का (विषय) सौन्दर्य में होता है। उदाहरणों में विषय के रूप में आत्मा परब्रह्म और विषयी के रूप में महर्षि सनक का भी संकलन है जिससे अद्वैतियों की अभेदभावना का भी रागानुगा भक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। अन्य उदाहरणों में बताया गया है कि भगवान (विषयी) नन्द के (विषय) पुत्र रूप में, (विषयी) प्रद्युम्न के (विषय) पिता रूप में, (विषयी) श्रीदामा के (विषय) सखा रूप में, किसी (विषयी) के (विषय) भ्राता रूप में, किसी (विषयी) के (विषय) मातुलेय रूप में, इत्यादि विभिन्न प्रकारों से राग के विषय के रूप में उपस्थित होते हैं। रागानुगा भक्ति में भी रुचि-प्रेरित श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदि से परिगणित नवधा भक्ति का अनुष्ठान होता है, उस नवधा भक्ति को 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। यह अपने चरित्र में वैधी नवधा

से भिन्न है जो विधिप्रेरित होती है।

रागानुगा अर्थात् अ-विहिता भक्ति में कामजा, भयजा और द्वेषजा भक्तियों की भी गणना है और सामान्यतः काम, भय, द्वेष को दोष माना जाता है अतः इन पर विस्तृत विचार किया गया है। कामजा भक्ति का एक सम्भावित उदाहरण, जहाँ विषयी भगवान शिव हैं और विषय मोहिनी अवतार में भगवान विष्णु, इस आधार पर अस्वीकृत हुआ है कि वह विष्णु की माया का प्रभाव था। पिंगला वेश्या के उदाहरण पर बात करते हुए यह कहा गया है कि उसका 'मैं लक्ष्मी की तरह नारायण से रमण करूँगी' का संकल्प मानसिक रमण का था और इस प्रकार वह सिद्धप्रेयसी नहीं थी, अतः उसने किसी औद्धत्य- अर्थात् आलिंगन, चुम्बन आदि का सम्पादन विष्णुप्रतिमा में नहीं किया है। यह कहा गया है कि इस मार्ग में मानसिक भाव की ही मुख्यता है और पितृ-भाव से उपासना करने वालों को भी इसी प्रकार औद्धत्य से बचना चाहिए तथा नन्द या दशरथ में अभेद-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

पूतना की जिघांसा और शिशुपाल के द्वेष को श्रीकृष्ण-सम्बन्ध के नाते दोषमुक्त बताया गया है किन्तु अनुकरणीय नहीं माना गया है। कुब्जा और गोपियों के प्रेयसीत्व की तुलना की गयी है तथा यह कहा गया है कि कुब्जा में स्वसुख का भाव था जबकि गोपियों में कृष्णसुख का, अतः कुब्जा का भाव गोपियों के भाव की अपेक्षा तो हेय है किन्तु स्वरूपतः कुब्जा-भाव पापावह नहीं है, जैसे सूर्य के सामने दीपक हेय है किन्तु हैं दोनों प्रकाश ही। गोपियों की कृष्ण के प्रति जारबुद्धि का समाधान यह कहकर किया गया है कि अन्तर्यामी रूप से हृदय में विराजमान होने के नाते सबके वास्तविक पति कृष्ण ही हैं। भगवान में कामुकत्व के आरोप का निराकरण यह कहकर किया गया है कि उनकी लीला है और इसके लिए ब्रह्मसूत्र २-१-३३ (लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्) का सहारा लिया गया है। जय-विजय नामक द्वारपालों - जिन्होंने हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष और रावण-कुम्भकर्ण के रूप में जन्म लेकर भगवान से युद्ध किया था - के उदाहरण को 'युद्ध-लीला' कहकर समाधान किया गया है।

इस प्रकार जीव गोस्वामीजी ने अपने प्रतिपादन में यह प्रयास किया है कि भक्ति के कुछ पौराणिक उदाहरणों में मर्यादा का जो उल्लंघन प्रतीत होता है उसे 'राग' के अभिधान के अन्तर्गत कुछ समाधानों के अधीन दोषरहित सिद्ध किया जाये। ये समाधान वस्तुतः इन उदाहरणों की लोकोत्तरता ही सिद्ध करते हैं और गोस्वामीजी ने वर्तमान-कालिक भक्तों के लिए इनका अनुकरण वर्जित ही किया है। अद्वैत को अस्वीकार करते हुए भी उनके प्रतिपाद्यों को समेट लेने की चेष्टा में कुछ उलझाव भी आ गया है जिसको सुलझाने के लिए एक लम्बी दार्शनिक चर्चा आवश्यक है। कुछ उलझाव 'राग' के भीतर 'द्वेष' जैसे भावों को समेटने की कोशिश के नाते भी हैं। मुक्ताफल से तुलना करने पर यह दिखता है कि वोपदेव के वर्गीकरण को नये ढंग से सजाया गया है और वोपदेव के 'नव-वर्ग' - नवधा

भक्ति को ही केन्द्रीयता दी गयी है। इस प्रकार वोपदेव का 'एकादश-वर्ग', जिसका उदाहरण श्रीमद्भागवत (९-४-१८, १९, २०) में वर्णित अम्बरीष का भक्ति-व्यापार है, भक्ति सन्दर्भ में वैधी नवधा भक्ति के 'आत्मनिवेदन' में संकलित किया गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि कैवल्यदीपिका ने दुर्योधन को भगवान में स्नेह के अभाव के नाते भक्तों की सूची से बाहर रखा था किन्तु भक्तिसन्दर्भ में गरुडपुराण के प्रामाण्य से उसे शिशुपाल के समकक्ष रखते हुए शामिल किया गया है।

४ नारायणतीर्थ

भक्ति-विषयक कई सूत्रग्रन्थ हैं जिनमें से शाण्डिल्यसूत्र पर नारायणतीर्थ की टीका भक्तिचन्द्रिका है। इस टीका में भक्ति के अनेक पक्षों पर विचार किया गया है। नारायणतीर्थ का समय सत्रहवीं सदी ईसवी में माना जाता है। ये अद्वैत-सम्प्रदाय के अनुयायी सन्यासी थे और मधुसूदन सरस्वतीजी की शिष्य-परम्परा में थे। अद्वैती होने के नाते इनके लिए भक्ति का प्रतिपादन आसान नहीं था क्योंकि जैसा इन्होंने स्वयं ही लिखा है, कई अद्वैती यह मानते हैं कि भक्ति तभी सम्भव है जब उपास्य और उपासक में भेद हो और इस प्रकार द्वैत की अनिवार्यता होगी। नारायणतीर्थ ने भक्तिचन्द्रिका में बड़े संरम्भ से द्वैत का अ-स्वीकार किया है और साथ ही भक्ति को न केवल स्वीकार किया है अपितु ज्ञान से उसको श्रेष्ठ भी बताया है जो अद्वैत की स्वीकृत मान्यता से समंजस नहीं दिखता।

सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यसूत्र १-१-२) में भक्ति को 'ईश्वर में परा अनुरक्ति' के रूप में परिभाषित किया गया है। इस 'अनु-राग' के अन्तर्गत आये 'अनु' को नारायणतीर्थ ने 'पश्चात्' के अर्थ में लिया है। इस प्रकार भगवान के गुण आदि सुनकर यह राग उत्पन्न होता है जिसे भक्ति कहते हैं। इसके नाते स्वभावतः भक्ति 'रागात्मिका' ही रह जाती है किन्तु नारायणतीर्थ ने 'वैधी भक्ति' को भी 'गौणी' कहकर स्थान दिया है और कहा है कि इसको 'भक्ति' उसी प्रकार कहते हैं जैसे 'हल' को 'जीवन' कहते हैं। इस प्रकार 'वैधी भक्ति' साधन रह जाती है, साध्य नहीं होती। 'राग' को द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः (शाण्डिल्यसूत्र १-१-६) में 'द्वेष का प्रतिपक्षी' बताते हुए 'रस' से जोड़ा गया है। अतः नारायणतीर्थ ने शिशुपाल की 'द्वेषजा' भक्ति को स्थान नहीं दिया है। उनकी 'अ-विहिता' भक्ति में कंस की 'भय-जा' भक्ति का भी स्थान नहीं है। 'अ-विहिता' के अन्तर्गत उन्होंने केवल 'काम-जा' और 'सम्बन्ध-जा' को स्थान दिया है।

श्रवण-कीर्तन-स्मरण वाली 'नवधा भक्ति' नारायणतीर्थ के लिए भी केन्द्रीय महत्व की है और उन्होंने भक्तिः प्रमेया श्रुतिभिः (शाण्डिल्यसूत्र १-२-६) की टीका लिखते समय इसी विभाजन में से प्रत्येक के उदाहरण वेदमन्त्रों से दिये हैं। इस नवधा भक्ति को उन्होंने आगे चलकर 'विहिता' और 'अ-विहिता', दोनों में जगह दी है जिसके अन्तर्गत अ-विहिता भक्ति के अन्तर्गत की नवधा को उन्होंने

कैवल्य प्राप्त कराने वाली कहकर छोड़ दिया है किन्तु विहिता भक्ति के अन्तर्गत की नवधा भक्ति के स्वतन्त्र उदाहरण दिये हैं। एक सवाल उन्होंने यह भी किया है कि क्या इस नवधा भक्ति का समुच्चय करना आवश्यक होगा या उनमें से प्रत्येक का अनुष्ठान स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है और यह उत्तर दिया है कि समुच्चय आवश्यक नहीं है। वोपदेव का 'एकादश-वर्ग', जिसका उदाहरण श्रीमद्भागवत (६-४-१८, १६, २०) में वर्णित अम्बरीष का भक्ति-व्यापार है, और जिसे जीव गोस्वामी में भक्ति-सन्दर्भ में वैधी नवधा भक्ति के 'आत्मनिवेदन' में संकलित किया है, नारायणतीर्थ ने नवधा भक्ति के समुच्चय के उदाहरण के रूप में रखा है।

नवधा भक्ति में नारायणतीर्थ ने विहिता के तीन भेद किये हैं: कर्ममिश्रा (जिसके अधिकारी गृहस्थाश्रमी हैं), कर्मज्ञानमिश्रा (जिसके अधिकारी वानप्रस्थाश्रमी हैं), और ज्ञानमात्रमिश्रा (जिसके अधिकारी संन्यासश्रमी हैं)। फिर कर्ममिश्रा को सात्विकी, राजसी और तामसी के त्रैविध्य में बाँटा है। सात्विकी का फिर एक त्रैविध्य 'पापनाशार्था', 'भगवत्प्रीत्यर्था', और 'विधिसिद्धार्था' के वर्गीकरण से बताया गया है और इस त्रैविध्य को 'दास्य-भाव' के अन्तर्गत रखा गया है। राजसी भक्ति भी त्रिविध है: 'विषयार्था', 'यशोऽर्था', और 'ऐश्वर्यार्था'। तामसी भी त्रिविध है: 'हिंसार्था', 'दम्भार्था' और 'मात्सर्यार्था'। राजसी और तामसी अपने त्रैविध्यों सहित 'अर्चन-भक्ति' में अन्तर्भूत बतायी गयी हैं। कर्मज्ञानमिश्रा भी त्रिविध है: 'उत्तमा' जो 'आत्मनिवेदन' के अन्तर्गत है, 'मध्यमा', जो 'दास्य' के अन्तर्गत है, और 'प्राकृता', जो 'अर्चन' के अन्तर्गत है। अ-विहिता के 'काम-जा' (जो गोपियों की थी), और 'सम्बन्ध-जा' (जो नन्द आदि की थी), के साथ इस प्रकार भक्ति के कुल चौदह भेद इन्होंने गिनाये हैं। इस वर्गीकरण पर वोपदेव का प्रभाव स्पष्ट है किन्तु इन्होंने एक तो संख्या अठारह से घटाकर चौदह कर दी है, दूसरे नवधा भक्ति के भीतर विहिता के प्रकारों को समायोजित करने की भी चेष्टा की है।

नारायणतीर्थ ने भक्ति को रस माना है और व्यभिचारी-भाव आदि के उदाहरण भी दिये हैं। उन्होंने अथातो भक्ति-जिज्ञासा (शाण्डिल्यसूत्र १-१-१) में आये 'जिज्ञासा' शब्द के आधार पर ही यह घोषित किया है कि 'मीमांसा' की जगह 'जिज्ञासा' का प्रयोग यह बताता है कि भक्ति एक पुरुषार्थ है (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार पूर्व-मीमांसा का प्रथम सूत्र अथातो धर्म-जिज्ञासा पूर्व-मीमांसा को धर्म-पुरुषार्थ की सिद्धि का शास्त्र सूचित करता है और उत्तर-मीमांसा का प्रथम सूत्र अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा उत्तर-मीमांसा को मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि का शास्त्र सूचित करता है, उसी प्रकार यह प्रथम सूत्र अथातो भक्ति-जिज्ञासा इस भक्ति-सूत्र को भक्ति-पुरुषार्थ का शास्त्र सूचित करता है)।

नारायणतीर्थ पर शाण्डिल्यसूत्र के स्वप्नेश्वर-कृत भाष्य का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसके साथ ही, उन्होंने और भी बहुत-कुछ समेटने की चेष्टा की है। अद्वैत के दृढ़ पोषक होते हुए भी, भक्ति के

बारे में अद्वैतेतर सम्प्रदायों के आचार्यों के योगदान को अद्वैत-मत के भीतर सादर समंजस करने का उनका प्रयास रहा है। इस सिलसिले में उन्होंने कुछ ऐसी बातें भी कही हैं जो अद्वैत के भीतर नयी मानी जा सकती हैं- उदाहरण के लिए उनका कहना है कि नीरूप ब्रह्म का भी सत्यज्ञानात्मक 'अ-प्राकृत' रूप होता है। यह कथन वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा प्रचलित त्रैगुण्य को 'प्राकृत' गुण कहने और भगवान के 'कल्याण-गुणों' से नित्ययुक्त होने के सिद्धान्त के समकक्ष है। उन्होंने अद्वैत-सिद्धान्त के भीतर प्रचलित कुछ मान्यताओं के समान्तर भक्ति-सिद्धान्त के भीतर भी कुछ उद्भावनाएँ की हैं- उदाहरण के लिए (योगवासिष्ठ में वर्णित और) अद्वैत-मत के भीतर स्वीकृत ज्ञान की सात भूमिकाओं के समान्तर भक्ति की नौ भूमिकाएँ उन्होंने बनायी हैं। प्रेमा भक्ति को बारह प्रकार का बताते हुए फिर उसके 'उप्त' से लेकर 'सन्तृप्त' तक पन्द्रह भेद किये हैं और इस अन्तिम कोटि को अद्वैतियों का ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान बताया है। इस जैसे अनेक स्थलों पर कहीं ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का एक ही प्राप्तव्य लगता है और कहीं भिन्न।

५ निष्कर्ष

भक्ति पर विपुल शास्त्रीय सामग्री उपलब्ध है और ऊपर दिया गया वर्णन बहुत सीमित है। किन्तु इससे भक्ति की भेदगणना का यथेष्ट संकेत मिल जाता है। भक्ति का शास्त्रीय व्यवस्थापन करने में मुख्यतः तीन समानान्तर विचार एक साथ कार्यरत रहे हैं। पहला है अद्वैत-सम्प्रदाय के उस दृढ़ सिद्धान्त का प्रतिरोध जिसके अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए एकमात्र ब्रह्मात्मैक्यज्ञान को ही मनुष्य का चरम पुरुषार्थ माना गया। इसके अधीन कर्म को केवल सम्यक आचरण और फल का तिरस्कार करते हुए भगवदर्पित करना ज्ञान-प्राप्ति के साधन के रूप में निरूपित किया गया जिसके नाते उपनिषदों में वर्णित उपासनाओं को भी कर्म के अन्तर्गत रखते हुए आराधना को सगुण ब्रह्म की सीमाओं तक सीमित करके, उसे भी साधन-मात्र माना गया। यह मार्ग नितान्त तत्व-परक था और इसमें साधारण मनुष्य की पैठ दो कारणों से नहीं थीः पहला यह कि इसके लिए बहुत उच्चस्तरीय बौद्धिक परिपक्वता की आवश्यकता थी और दूसरा यह कि इसमें वेदाध्ययन की अनिवार्यता थी जो समाज के कुछ ही वर्गों तक सीमित था। पुराणों ने सर्वसुलभ शास्त्र के रूप में अपने को उपलब्ध कराया और मनुष्य तथा ईश्वर के बीच शरणागति का मार्ग प्रतिपादित किया जो व्यावहारिक रूप से सरल लगता था। यही भक्ति का मार्ग था - जिस पर चलने के लिए बौद्धिक ऊर्जा या प्रत्यक्तत्वचिन्ता की नहीं, केवल एक भावविह्वल हृदय की आवश्यकता थी और जो किसी भी कोटि के आराधक को आराध्य तक पहुँचने और उसकी कृपा का पात्र होने की छूट देता था।

किन्तु अद्वैत की बौद्धिक कसावट के प्रति आकर्षण से पूरा छुटकारा सम्भव नहीं था और

इसलिए हम भक्ति को सर्वोच्च स्थान देने वाले जीव गोस्वामी और नारायणतीर्त द्वारा भी सावधानीपूर्वक भक्ति के क्रिया होने का निषेध करते हुए देखते हैं ताकि अद्वैतियों द्वारा भक्ति का कर्म में अन्तर्भाव करने का निरास क्या जा सके। इसीलिए हम भक्ति के शास्त्रीय व्यवस्थापन में कार्यरत दूसरे विचार-वर्गीकरण का उत्साह में ज्ञान-मिश्रा और कर्म-ज्ञान-मिश्रा भक्तियों को जगह पाते देखते हैं। यह बात सच है कि भक्ति-मार्ग में सभी के अधिकार को बहुत स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है किन्तु सैद्धान्तिक आधार इसका भी अद्वैत में ही है जिसने जाति, लिंग और शास्त्र-पाण्डित्य आदि को उपाधि मानते हुए उन्हें पारमार्थिक महत्व से वंचित रखा।

भक्ति के शास्त्रीय व्यवस्थापन में तीसरा और सर्वाधिक प्रबल-विचार उसकी रसात्मकता का प्रतिपादन रहा है। लोक-मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई गोपियों की कृष्ण-रति ने लौकिक शृंगार के उदात्तीकरण की सीढ़ियों से औपनिषद निर्गुण ब्रह्म के आनन्दात्मक और रसात्मकत्व तक पहुँच बनायी और भक्ति को रस के रूप में स्थापित करते हुए ब्रह्मानन्द को काव्यानन्द के सहोदरत्व तक न सीमित रखते हुए इन दोनों में सायुज्य स्थापित किया। साहित्यशास्त्रियों ने कुछ तकनीकी तर्कों के आधार पर भक्ति को भाव ही माना था, रस नहीं, किन्तु भक्ति के शास्त्रीय व्यवस्थापन में इसे न्यूनता मानते हुए इसका बलपूर्वक निराकरण किया गया और भक्ति का रस तक 'उच्चीकरण' किया गया। भक्ति को एक ओर ज्ञान के तत्वविवेचनात्मक गाम्भीर्य से पूरित करने और दूसरी ओर रस के माधुर्य से प्लावित करने के युगपत् प्रयास ने भक्ति-सिद्धान्त का ऐसा शास्त्रीय स्वरूप खड़ा किया जिसमें अद्वैत और अद्वैतेतर सम्प्रदायों की विभाजन रेखाएँ धुँधली पड़ गयीं तथा सम्प्रदाय-रक्षा के लिए परस्पर शास्त्रार्थ का कोलाहल देवार्चन की व्यावहारिक घण्टाध्वनि से दब गया।

टिप्पणियाँ और सन्दर्भ

i. हेमाद्रि की कैवल्यदीपिका टीका के साथ वोपदेव-कृत मुक्ताफल। पण्डित ईश्वरचन्द्र शास्त्री और पण्डित हरिदास विद्यावागीश द्वारा सम्पादित तथा Calcutta Oriental Series द्वारा १९२० में प्रकाशित।

ii. जीव गोस्वामी कृत भक्तिसन्दर्भ। श्री हरिदास शास्त्री द्वारा सम्पादित और गदाधरगौरहरि प्रेस मथुरा से १९८५ में प्रकाशित।

iii. भक्तिचन्द्रिका। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा १९९८ में प्रकाशित तृतीय संस्करण। इसमें स्वप्नेश्वर का भाष्य, नारदकृत भक्तिसूत्र, भक्तिमीमांसा नामक एक प्राचीन भक्तिसूत्र तथा एक उत्तरकालीन भक्तिसूत्र और पौराणिक विवरण भी संकलित हैं।

एक त्रिपक्षीय संवाद

कभी न चुकाये जा सकने वाले ऋण

शशिकान्त अनन्ताचारी

अँग्रेज़ी से अनुवाद : मदन सोनी

> हरी, दिन बीत चुका है, गोधूली का समय है, मुझे उस पार पहुँचा दो। मैंने सुना है कि तुम लोगों को उस पार पहुँचाने में माहिर हो। इसलिए मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ। मैंने सुना है कि तुम उन लोगों तक की मदद करते हो जिनके पास एक पैसा भी नहीं होता। मैं एक ग़रीब हूँ, बिल्कुल भिखारी जैसा। देखो, मेरे थैले में एक धेला भी नहीं है। हरी, दिन बीत चुका है, गोधूली का समय है, मुझे उस पार पहुँचा दो।
>
> – सत्यजित राय, *पाथेर पांचाली* की रचना-प्रक्रिया पर केन्द्रित निबन्ध 'अलेस इन्दिर थकरन', स्पीकिंग ऑफ़ फ़िल्म्स, पृष्ठ १७६–८०

अपनी पुस्तक *सिनेमा एण्ड आई* में ऋत्विक घटक ने मेरा ध्यान सत्यजित राय की फ़िल्म *अपराजितो* के एक बिम्ब की ओर आकर्षित किया था। रात के समय अपू एक पोखर में नक्षत्रों का एक पुंज देखता है, और 'प्रजापति' का नाम फुसफुसाता है। यह सन्दर्भ बिभूति भूषण के उपन्यासों से है, और 'प्रजापति' या काल की एक धारणा पर चिन्तन बिभूति भूषण के सारे उपन्यासों में एक विवक्षा की तरह व्याप्त है। *पाथेर पांचाली* की फ़िल्म-त्रयी में यह चीज़ अपू के लिए एक मानक बन जाती है जो बिभूति भूषण के यहाँ उनके उपन्यासों में 'काल' की अवधारणा पर एक उन्मुक्त, अनवरत जारी आन्तरिक संलाप है, और वे अपने उपन्यासों के विकसित होने की प्रक्रिया में इसके लिए कोई समापन उपलब्ध नहीं कराते।

यह बिम्ब 'ब्रह्माण्डीय नर्तक' शिव की अवधारणा का स्मरण कराता है, जो सृष्टियों के सर्जक और संहारकर्ता, दोनों हैं और जो काल की चक्राकार अवधारणा का भी एक बिम्ब है। यह बिम्ब उस दृश्य का भी स्मरण कराता है जिसमें रुद्र अपने पिता प्रजापति का वध करते हैं क्योंकि प्रजापति अपनी ही पुत्री उषा के प्रति संसर्ग की आकांक्षा रखते हैं। इस वध में अर्थ की अनेक अनुगूँजें और तहें हैं,

जिनका बोध इसपर निर्भर करता है कि आप इस आख्यान में कहाँ प्रवेश करते हैं।

एक आख्यान में समस्त सत्ताओं के सर्जक ब्रह्मा/प्रजापति एक बार अन्यमनस्क भाव से उषा की ओर देखते हैं और उनपर फिर से स्वामित्व पाना चाहते हैं। एक बार रचे जाने के बाद उषा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और वे फिर से उनके स्वामित्व में नहीं जाना चाहतीं।

एक अन्य आख्यान में सूर्य देवों के स्थपति विश्वकर्मा की पुत्री संजना से विवाहित हैं। अपने पति का अपरिमित ताप सह पाने में असमर्थ संजना अपना एक छाया-रूप रचती हैं। वे इस छाया से आग्रह करती हैं वह संजना होने का बहाना कर सूर्य के साथ रहे और स्वयं अपने पति से दूर भाग जाती हैं।

एक दिन सूर्य को समझ में आ जाता है कि छाया उनकी पत्नी की महज़ एक नक़ल है और वे सारे लोकों में अपने वास्तविक अन्य की खोज करते हैं। अगर संजना एक मृगी है, तो सूर्य मृग बन जाते हैं; संजना उनसे बचने के लिए जो भी रूप धरती हैं, सूर्य स्वयं को उसके नर रूप में बदल लेते हैं, ताकि वे अपनी पत्नी को फिर से हासिल कर सकें। एक आख्यान में संजना और सूर्य के ये रूपान्तरण पृथ्वी पर तमाम प्राणियों को जन्म देते हैं।

अपू द्वारा प्रजापति का नाम फुसफुसाये जाने में सृष्टा और सृष्ट, नर और नारी और मानवीय तथा अलौकिक के बीच के सम्बन्ध की अनेक अर्थ-छवियाँ हैं। यह फुसफुसाहट काल की अवधारणा को प्रतिरोध देने की असम्भव आद्य आकांक्षा की ओर भी संकेत करती है, अपने खोये हुए स्वत्व को फिर से हासिल करने और उस अद्वैत अवस्था में वापस लौटने की आद्य आकांक्षा जहाँ मम (सैल्फ़) और ममेतर (अॅदर), शब्द और बिम्ब एक हुआ करते थे। यह एक संक्षिप्त और अत्यन्त सान्द्र बिम्ब है जिसका अनुवाद इस संस्कृति से बाहर के किसी भी व्यक्ति द्वारा नहीं किया जा सकता। यह 'काल बिम्ब' होने की बजाय 'काल' का बिम्ब है।

पाथेर पांचाली उपन्यास भी एक स्तर पर प्राचीन और नवीन के बीच टकराव है; एक लुप्त होती समूची मूल्य-व्यवस्था की एक परिवर्तनशील विश्व-व्यवस्था में स्वयं को पुनर्परिभाषित कर पाने की असमर्थता। अपू अपने पिता से 'छला गया' महसूस करता है, क्योंकि वह अपू के परिवार का भरण-पोषण कर पाने में असमर्थ है, जो एक अर्थ में अपू की बहन दुर्गा की मृत्यु का कारण बनता है। एक प्रसिद्ध दृश्य में दुर्गा अपू को एक 'शिकारी' रुद्र/ओरिॲन की वेशभूषा में तैयार करती है और वे दोनों एक आती हुई ट्रेन की आवाज़ की दिशा में भागते हैं। अपनी सारी अनुगूँजों के साथ ट्रेन के इस दृश्य ने घटक को बहुत आकर्षित किया था और घटक की सारी फ़िल्मों में निर्णायक महत्त्व के क्षणों में ट्रेन एक बिम्ब के रूप में बार-बार आती है। इस अन्य उस्ताद का ऋण स्वीकार करने

के तौर पर घटक मेघा ढाका तारा में *पाथेर पांचाली* के कथानक-संगीत (थीम म्यूज़िक) के साथ राय के ट्रेन के दृश्य को उद्धृत करते हैं। बिभूति के यहाँ, शरारतों और तुच्छ क़िस्म की चोरी के कृत्यों में एक-दूसरे का साथ देती विधवा बुआ (नदज) इन्दिर थकरन और अपू की बहन दुर्गा 'प्राचीन' का प्रतिनिधित्व करती हैं, वहीं अपू निरन्तर बाहर की दिशा में क्षति के अहसास से युक्त गति है, एक अतीत-मोह उस सब कुछ के प्रति जो उसने बाहर की दिशा में अपनी गति के चलते खो दिया है।

इस फ़िल्म-त्रयी की रचना-प्रक्रिया के बारे में दिये गये अपने सारे साक्षात्कारों में राय जिस एक चीज़ पर लगातार ज़ोर देते रहे हैं, वह यह तथ्य है कि बिभूति का उपन्यास अपनी आन्तरिक बनावट में कुछ इस तरह 'सिनेमाई' था कि एक पाठक/फ़िल्म निर्माता के रूप में उनको लगता था कि वे बिभूति के मुख़्तसर, सारगर्भित वर्णनों को प्रगीतात्मक छवियों में रूपान्तरित कर सकते थे। बिभूति अपने उपन्यासों में किसी भी घटना का समाहार करने की कोशिश नहीं करते और घटना का वर्णन भावहीन 'बेलाग' ढंग से किया गया होता है। पाथेर पांचाली की शुरुआत एक तथ्य के दो-टूक कथन के साथ होती है :

हरिहर राय एक ब्राह्मण था। वह निश्चिन्दीपुर गाँव में ईंटों से बने एक छोटे-से मकान में रहता था। यह गाँव के एकदम उत्तरी छोर पर स्थित आख़िरी मकान था। वह ख़ुशहाल नहीं था। पिता से विरासत में प्राप्त ज़मीन के एक छोटे-से टुकड़े का थोड़ा-सा किराया और कुछ घरों में पुरोहिताई का काम करने के बदले मिलने वाली थोड़ी-सी दक्षिणा ही उसकी आजीविका का कुल साधन था।

जहाँ बिभूति अपने चरित्रों की आन्तरिक दुनिया की गहरी छानबीन करते हैं, वहीं उनके उपन्यासों में घटनाएँ खण्डित प्रकृति की हैं जहाँ एक घटना तार्किक ढंग से दूसरी घटना का कारण नहीं बनती। अपने पाठकों के समक्ष वे जो प्रस्तुत करते हैं, वे वास्तव में समय की छोटी-छोटी तस्वीरें हैं, जो दुनिया के प्रति एक तरह के विस्मय-बोध से रंजित हैं। लगभग नियतिवाद की सरहद को छूती आवेगहीन 'निस्पृहता' का भाव वह धागा है जो उनके आख्यानों को बाँधे रखता है। यह वास्तव में 'मृत्यु की कगार पर खड़े होकर किया गया लेखन' है। इस अर्थ में, ये उपन्यास की उस यूरोपीय अवधारणा के अर्थ में उपन्यास नहीं हैं जहाँ उपन्यासकार आख्यान की दुनिया को अपनी विश्व-दृष्टि के अनुरूप विन्यास देता है। यह लेखक और पाठक के बीच साझा समय की, साझा यथार्थ की सामूहिक अवधारणा है जो उपन्यासों को एक संगठित कृति के रूप में बाँधती है।

बिभूति ने जिस निश्चिन्दीपुर नामक गाँव में अपने उपन्यास को अवस्थित किया है, वह बंगाल के उस नाडिया ज़िले में है जो बंगाल के 'नील विद्रोह' का केन्द्र हुआ करता था। उपजाऊ कृषि-योग्य ज़मीन पर पैसा उपजाने वाले नील की बलात् खेती ने स्थानीय आर्थिक ढाँचे को पूरी तरह चौपट करते

हुए समाज के बड़े हिस्सों को निर्धनता में झोंक दिया था। १८५० के दशक के विशाल शान्तिपूर्ण विद्रोहों ने अन्ततः अँग्रेज़ों को १८६० में 'नील अधिनियम' को निरस्त करने के लिए बाध्य कर दिया था, वहीं इसकी खेती अभी भी बिहार और गंगा के मैदानों में जारी थी। गाँधी ने दक्षिण अफ़्रीका से हिन्दुस्तान लौटने के बाद राजनैतिक आन्दोलन के अपने पहले कर्म के तौर पर चम्पारण में नील की खेती के ख़िलाफ़ विद्रोह की शुरुआत की थी।

राय की फ़िल्म-त्रयी को गढ़ने वाले बिभूति के उपन्यास इस क्षेत्र की स्मृतियों को चिह्नित करने वाले कई निशानों को उभारते हैं, जो एक तरह से वास्तव में अपू और उसके पाठकों की दुनिया है। ये स्मृति-चिह्न उस अमुखर पृष्ठभूमि को रचते हैं जिसके चौखटे में उनके चरित्रों की खण्डित, बिखरी हुई यात्राएँ बँधी हुई हैं और जो वास्तव में उनके पाठकों के मन में अनेक निजी, सामाजिक और सांस्कृतिक अनुगूँजों को जगाते प्रवेश-द्वार हैं।

बिभूति की सबसे ज़्यादा दिलचस्पी उनके चरित्रों के उन अन्दरूनी सपनों और आकांक्षाओं में है जिनको वे अल्प-मुखरित सामाजिक-सांस्कृतिक कैनवस के बरक्स रचते हैं। सर्बजया का यह सपना कि एक दिन उसका पति इतना पैसा कमा लेगा कि वे अपने अधम जीवन से बाहर निकल सकेंगे, सर्बजया और इन्दिर थकरन के बीच का तनावपूर्ण, कड़ुआहट-भरा समीकरण जहाँ सर्बजया एक अर्थ में उस भविष्य का प्रतिबिम्ब देखती है जिसकी उसको आशंका है; सहज मिलीभगत उन दो स्त्रियों, इन्दिर थकरन और दुर्गा के बीच की, जो समय में एक-दूसरे से हर सम्भव दूरी पर हैं, भी सर्बजया की उद्विग्नता में योगदान करती हुई आख्यान की एक महत्त्वपूर्ण विवक्षा की रचना करती है। ये तीनों स्त्रियाँ, अपने-अपने ढंग से, अपू को गढ़ती हैं और उसके वर्तमान को सन्दर्भ प्रदान करती हैं।

अपू का गुह्य रूप महाभारत का कौरव योद्धा कर्ण हैं जो पाण्डवों में सबसे बड़ा भाई होने की अपनी स्थिति के बारे में अनभिज्ञ भी हैं। समकालीन विमर्श में कर्ण की धारणा 'जातिपरक' भेदभाव की धारणा में सरलीकृत कर दी गयी है। समकालीन ग्रामीण परम्पराओं में और बिभूति के ज़माने के बौद्धिकों के लिए कर्ण किसी और चीज़ को प्रतिबिम्बित करते हैं। कर्ण, इस सन्दर्भ में, प्रत्येक मान्यता-वंचित महान प्रतिभा के विषाद को प्रतिबिम्बित करते हैं। जब वे जीवित होते हैं, तो दुनिया परिस्थितिजन्य संयोगों के चलते उनके वास्तविक स्वत्व को 'पहचानने' में असमर्थ बनी रहती है; सिर्फ़ अपनी मृत्यु में ही उनकी वैधता उजागर होती है और दुनिया अन्ततः उनकी वास्तविकता को 'देख' पाती है।

कर्ण इस महाकाव्य की प्रस्तुति की सारी स्थानीय परम्पराओं में एक केन्द्रीय चरित्र हैं, और एक छवि के रूप में आज भी दर्शकों के मन में विपुल भावनात्मक अनुगूँजें पैदा करते हैं। इस महाकाव्य

के तमिल अनुवाद थेरुकूथु में कर्ण और द्रौपदी केन्द्रीय चरित्र और दर्शकों के लिए वृहत आख्यान का प्रवेश-द्वार बन जाते हैं।

बिभूति उपन्यास में इन आन्तरिक संलापों की ज़रूरत के बारे में बात करते हैं : 'जब जीवन सपनों और प्रिय कल्पनाओं से बना हो, तो वह बहुत मधुर हो सकता है। सपने झूठे हो सकते हैं, कल्पनाओं में ऐसा कोई आश्वासन निहित नहीं हो सकता है कि वे घटित होंगी; लेकिन अगर इनमें से कभी कोई भी चरितार्थ न हों, तब भी वे जीवन का सबसे बड़ा, उसका एकमात्र ख़ज़ाना हैं। इसलिए उनको आने दो। उनको हमेशा के लिए हमारी ज़िन्दगियों पर पलने दो।' अन्यत्र, एक बार फिर समय की अवधारणा पर वे कहते हैं, 'उसने (अपू ने) पल भर की देर किये बिना अपनी पुस्तकें इकट्ठी कीं और अपने कमरे में भागा, जाकर बिस्तर पर कूदा, और अपने अनमोल फूलों में अपना चेहरा छिपा लिया, उनकी ख़ुशबू को सूँघते हुए और उनके ख़ूबसूरत नाम को बुदबुदाते हुए, चम्पक, गोल्डन चम्पक। बेशक वे एकमात्र फूल थे, फूल जिनको वह घर ले आया था और उनको बिस्तर पर रख दिया था; लेकिन उसके लिए, वे उनसे ज़्यादा कुछ थे। उनकी महक स्मृतियों से आबाद थी, उन खेलों की सुखद स्मृतियों से जो उसने खेले थे और वह सारा आनन्द जो उनको खेलते हुए उसने लिया था। इस विचार ने उसको उदास कर दिया कि सुखद चीज़ों का अन्त हो सकता है, और समय सुनहरे क्षणों को छीन ले सकता है। चम्पक फूलों की अद्भुत बात आज यह थी कि वे समय को स्वयं उसी पर प्रतिघात करने को विवश करते और क्षति के उस अहसास को निरस्त करते लग रहे थे जिसने उसको अक्सर पीड़ित किया था। अतीत एक बार फिर वर्तमान बन गया था, और वह एक बार फिर अपने खेल में था। देर हो चुकी थी, लेकिन वह फूलों के उस गुच्छे में अपना चेहरा धँसाये हुए पड़ा रहा और उसका हृदय उन ख़ुशियों से ऊर्जस्वित हो रहा था जिनको उसने समय के चोर हाथों से छीन लिया था।'

राय अपने एक सिनेमाई विकल्प के तौर पर उपन्यास के इन सारे आन्तरिक संलापों से परहेज़ बरतते हैं जिनको वास्तविक रूप में व्यक्त करने के लिए एक 'लेखकीय' स्वर की ज़रूरत होती है। यह 'लेखकीय' स्वर तत्कालीन परिपाटियों के मुताबिक़ 'ग़ैरसिनेमाई' माना गया होगा और राय स्वयं को बिभूति के संवादों और दृश्यों तक ही सीमित रखते हैं। बिभूति के ये दृश्य राय द्वारा इन दृश्यों के अनुवाद में एक प्रतीकात्मक हैसियत पा लेते हैं और *पाथेर पांचाली* को याद करने की कोशिश करते किसी भी व्यक्ति के मन में यह फ़िल्म जिन दृश्यों की पहली स्मृतियाँ जगाती है उनमें ट्रेन के साथ अपू और दुर्गा के प्रतीकात्मक दृश्य, मिठाई बेचने वाले के दृश्य, बारिश के दृश्य, दुर्गा की मृत्यु के बाद अपू का अकेलापन...शामिल होंगे। इस फ़िल्म की स्मृति में, कम-से-कम मेरे लिए, इस क्षिप्र

परिवर्तन की अनुभूति निहित है, और यह फ़िल्म इन प्रतीकात्मक छवियों के योगफल के रूप में ही फ़िल्म बनती है।

राय इन छवियों की अपनी तलाश के बारे में विस्तार से बात करते हैं :

मैंने यह भी महसूस किया था कि फ़िल्म में 'वातावरण' को पकड़ने की कोशिश ठीक होगी, क्योंकि मेरा मानना था कि इससे नाटकीयता को बढ़ावा मिल सकेगा। भोर और गोधूली बेला के बीच का सूक्ष्म भेद, तपती दोपहर का नाटकीय माहौल, मॉनसून की पहली बौछार के पहले धूसर, नम ख़ामोशी - इन सब को किसी तरह पकड़ना और सम्प्रेषित करना ज़रूरी था...। उदाहरण के लिए, मॉनसून की शुरुआत में लड़की बीमार पड़ जाती है, और इस प्रसंग के बाद के सारे दृश्यों को बादलों से धुँधलाये दिनों में फ़िल्मांकित किया गया था, जो शायद उस चीज़ की क़ीमत पर किया गया था जिसे फ़ोटोग्राफ़ी में 'चित्रात्मकता' (पिक्टोरियलिज़्म) के नाम से जाना जाता है, लेकिन जिसमें समग्र वातावरण की विपुल उपलब्धि निहित थी। मैं इस उपलब्धि को लेकर पूरी तरह निश्चित हूँ।

- राय, 'अ न्यू अप्रोच' ८१

निबन्ध के एक अन्य हिस्से में वे इसे छवियों और ध्वनियों की तलाश बताते हुए कहते हैं :

एक बंगाली गाँव की गोधूली की उस निस्तब्धता को कैसे पकड़ा जाए जब हवा ठहर जाती है और सरोवरों को सालुकी और शेल की पत्तियों से शबलित काँच की चादरों में बदल देती है, और चूल्हों से उठता धुआँ महीन रेखाओं में भूदृश्य के ऊपर ठहर जाता है, और दूर और पास के घरों से उठती शंखों की विषादमय ध्वनियों में झींगुरों का वह कोलाहल शामिल हो जाता है जो रोशनी के डूबने के साथ ऊपर उठने लगता है, और जो तब तक जारी रहता है जब तक कि हमें सिर्फ़ आकाश के सितारे, और वे सितारे ही नज़र आते हैं जो झुरमुटों में झिलमिलाते और उड़ते रहते हैं।

इन उपन्यासों के अपने प्रभाववादी रूपान्तरण में राय स्वयं बिभूति से ही संकेत ग्रहण करते हैं। जहाँ बिभूति अपने चरित्रों की आन्तरिक दुनिया का अन्वेषण करते हैं, वहीं उपन्यास के नाटकीय क्षणों को निरावेग तथ्यात्मक ढंग से बयान किया गया है। उपन्यासों के किन्हीं भी नाटकीय क्षणों का कोई वास्तविक समाहार नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए, जब बूढ़ी विधवा इन्दिर थकरन मरती है, तो बिभूति इतना भर कहते हैं :

इन्दिर थकरन की मृत्यु के साथ निश्चिन्दीपुर गाँव के पुराने दिनों का भी अन्त हो गया।

और वे अगली घटना की ओर बढ़ जाते हैं। यहाँ तक कि दुर्गा की मृत्यु के प्रकरण में भी उसको उसके भाई अपू के दृष्टिकोण से कोई समाहार देने की कोशिश नहीं है; और अपू का दृष्टिकोण

उपन्यास के पाठकों के लिए वास्तविक प्रवेश-द्वार है, और उस अर्थ में हर पाठक अपू बन जाता है। दुर्गा की मृत्यु का बयान उपन्यासकार ने इस मुख़्तसर अंश में किया है जो पाठकों को उनकी अपनी ज़िन्दगी के अनुभवों से भावनात्मक रूप से सँवारने के लिए छोड़ देता है:

समय-समय पर अनन्त का हाथ आकाश के नीले परदे को भेदकर बाहर आता है और एक बच्चे को इशारे से बुलाता है, और वह छोटा-सा जीव, जो अब और इन्तज़ार नहीं करना चाहता, स्वयं को धरती माता के वक्ष से अलग करता है और उस मार्ग में हमेशा के लिए खो जाता है जहाँ से कोई वापसी नहीं होती। अपने बीमार और उद्विग्न जीवन की सन्ध्या के उस अँधेर क्षण में दुर्गा ने उन पुकारों को सुन लिया था, और जिन गलियों को वह बहुत प्यार करती रही थी, उनको छोड़कर एक नयी यात्रा के लिए उस राजमार्ग पर चल पड़ी थी जिसपर उसने कभी क़दम नहीं रखे थे। (२६१)

हॉलीवुड की नाटकीय फ़िल्मों में ज़बरदस्त पैठ रखने वाले राय इस दुर्गा को एक भावनात्मक उपसंहार देने की बाध्यता अनुभव करते हैं, जोकि उनके लिए फ़िल्म का सबसे ज़्यादा प्रतीकात्मक चरित्र थी। हरिहर, दुर्गा की मृत्यु के बहुत बाद में अपने गाँव वापस लौटता है और उसकी मृत्यु की ख़बर सुनकर बेतहाशा रोता है। खुद को समकालीन 'नव-यथार्थवाद' की परिपाटियों में रखने की आकांक्षा के चलते राय के मन में अतिरंजित भावुकता के प्रति सहज अरुचि थी, और इसलिए वे उसके रोने की आवाज़ को साउण्डट्रैक के संगीत के एक अंश से ढँक देते हैं। राय की फ़िल्मों को वापस मुड़कर देखने पर उनकी ज़्यादातर फ़िल्में हॉलीवुड के नाटकीय फ़ॉर्म और नव-यथार्थवाद के आवेगहीन फ़ॉर्म, दोनों के प्रति समान आसक्ति का तनाव लिये हुए लगती हैं। पाथेर पांचाली फ़िल्म का यह दृश्य एकमात्र ऐसा द्रष्टान्त है जहाँ राय एक ऐसा अतिरिक्त तथ्य शामिल करते हैं जो मूल पाठ में मौजूद नहीं है, और इस तरह पाठ को उसकी मूलभूत प्रतीकात्मक छवियों के अनुरूप ढालने के अपने नियम को तोड़ते हैं। इस फ़िल्म-त्रयी की तीनों फ़िल्मों में राय 'नव-यथार्थवाद' के ढाँचे की बाधाओं से निरन्तर परेशानी महसूस करते हैं और इस मुकाम पर उनकी फ़िल्में 'अभिव्यंजनावाद' (एक्सप्रेसनिज़्म) की सरहद को छूती हैं, बल्कि उसके साथ अन्तर्क्रिया करती हैं। इस त्रयी की तीनों फ़िल्मों में ऐसी प्रतीकात्मक छवियाँ/दृश्य-बन्ध हैं जो अपने भीतर अर्थ का अतिरेक समाहित किये हुए हैं। जैसे-जैसे राय अपने शिल्प पर नियन्त्रण प्राप्त करते जाते हैं, वैसे-वैसे ये प्रतीकात्मक, बहुध्वनिक छवियाँ उनकी फ़िल्मों से नदारद होती जाती हैं। सिर्फ़ अपनी बाद की फ़िल्मों के बीच गोपीजिन भागेबिन और हीरकराजारदेशे जैसी हल्की-फुल्की बाल-फ़िल्मों में ही राय अभिव्यंजक, प्रतीकात्मक छवियों में मुब्तिला होने की खुद को इजाज़त देते हैं।

उपन्यासों के अपने बिम्बात्मक, प्रतीकात्मक निरूपण के साथ राय अपने कला-रूप में

पारदर्शिता हासिल करने में कामयाब होते हैं। बिभूति के उपन्यासों और उनकी दुनिया से परिचित एक बंगाली दर्शक के मन में यह फ़िल्म अनेक अनुगूँजें जगाती प्रतीत होती थी जिनसे इस त्रयी की फ़िल्म *अपराजितो* वंचित थी। इस फ़िल्म पर लिखने वाला हर बंगाली बौद्धिक इरादतन *पाथेर पांचाली* की बूढ़ी विधवा इन्दिर थकरन का विशेष रूप से उल्लेख करता है। घटक इस फ़िल्म की प्रशंसा करते हुए कहते हैं : 'सत्यजीत राय, और हिन्दुस्तान में सिर्फ़ सत्यजीत राय ही अपनी सर्वाधिक अन्तःप्रेरणा के क्षणों में सचाई के प्रति, वैयक्तिक, निजी सचाई के प्रति असाधारण रूप से जागरूक बना सकते हैं। इस फ़िल्म के इन्दिर थकरन दृश्य मेरी दृष्टि में भारतीय सिनेमा की श्रेष्ठतम और भव्य अभिव्यक्ति हैं।'

जब मैंने पहली बार यह फ़िल्म देखी थी तो मैं यह नहीं समझ पा रहा था कि क्यों उस ज़माने के हर बंगाली को फ़िल्म के इस दृश्य-बन्ध के बारे में बात करना अनिवार्य महसूस होता था। जैसाकि राय कहते हैं, 'मैं समझता हूँ कि *पाथेर पांचाली* ग़रीबी के चित्रण के मामले में ख़ासी निर्मम है। चरित्रों का आचरण, इस बूढ़ी स्त्री के प्रति माँ का व्यवहार करने का ढंग, नितान्त क्रूरतापूर्ण है। मैं नहीं समझता कि परिवार के भीतर बूढ़ों के प्रति ऐसी क्रूरता किसी ने दर्शायी होगी।' फ़िल्म की शूटिंग को लेकर लोकप्रिय मीडिया में तरह-तरह की किंवदन्तियाँ और क़िस्से भी प्रचलित थे जिनने भी इस दृश्य-विन्यास से जुड़े प्रभामण्डल में योगदान किया था। 'राय विस्तार से वर्णन करते हैं कि किस तरह उनको अपना यह चरित्र चूनीबाला देवी में मिला था जो यथार्थवादी ढंग से अपू की पचहत्तर वर्षीय दादी के चरित्र का एकदम साकार रूप थीं।' अपनी अभिनेत्री चूनीबाला की उम्र के प्रति सचेत राय उनसे चिता वाले दृश्य में अभिनय करने का आग्रह नहीं करना चाहते थे और इस दृश्य के लिए उसके किसी 'प्रतिरूप' (डॅबल) की तलाश में थे। लगता है कि चूनीबाला राय की इस अतिसंवेदनशीलता पर हँस दी थीं और यह कहते हुए कि शायद वे खुद ही जल्दी ही सचमुच मर जाएँगी, उन्होंने खुद ही उस दृश्य में अभिनय करने पर ज़ोर दिया था! राय जब उस अर्थी के दृश्य का वर्णन करते हैं जहाँ चूनीबाला मुर्दे की भूमिका निभाती हैं और अर्थी से बाँध दी जाती हैं, तो वे इस बूढ़ी स्त्री के अभिनय-कौशल की सराहना करते हैं। राय बताते हैं कि किस तरह उस दृश्य के अन्त में उस वक़्त सारी यूनिट की साँसें थम जाती हैं जब चूनीबाला ज़रा भी हरक़त नहीं करतीं और कुछ देर बाद ही उठकर बैठते हुए कहती हैं, 'क्या शॉट लिया जा चुका है? किसी ने मुझे बताया क्यों नहीं! मैं तो अभी भी लाश होने का ढोंग रच रही थी।'

जब '६० के दशक के मध्य में मैं अपर्णा सेन की फ़िल्म *युगान्त* की शूटिंग कर रहा था, यह दृश्य एक बार फिर सामने आया था। इस फ़िल्म में एक विज्ञापन व्यवसायी की भूमिका निभाता मुख्य

अभिनेता एक टूथपेस्ट मुहिम की शुरुआत करने के लिए एक चेहरे की तलाश कर रहा होता है। उसकी बीवी इस मुहिम के लिए एक मुस्कराते चेहरे के रूप में इन्दिर थकरन को लेने का दिलचस्प सुझाव देती है और आश्चर्य की बात कि मुहिम के सारे डिज़ाइनर इस सुझाव का अनुमोदन करते हैं। फ़िल्म में अस्सी साल की इस बूढ़ी औरत की दन्त-रहित मुस्कराहट के साथ टूथपेस्ट की यह मुहिम सर्वश्रेष्ठ विज्ञापन-मुहिम का पुरस्कार भी जीतती है!

अवचेतन स्तर पर ज़्यादातर बंगालियों के लिए यह दृश्य-विन्यास एक तकलीफ़देह अतीत की स्मृति जगाता प्रतीत हुआ था। जहाँ सूखे के दौर ऐसे जलवायुपरक आवर्ती पैटर्न बन चुके थे जिनसे निपटने के साधनों से ज़्यादातर किसान लैस हुआ करते थे, वहीं अकाल के मामले में यह स्थिति नहीं थी। सूखे के दौर में किसानों का समुदाय वर्तमान समय की कमी की भरपाई पिछले वर्षों की अतिरिक्त उपज के संचय के माध्यम से कर लेता था, लेकिन अँग्रेज़ों द्वारा थोपे गये उस ज़माने के अतिशय कराधानों ने उनके पास ऐसी कोई अतिरिक्त उपज बची नहीं रहने दी जिसके बूते वे सूखे के समयों से निपट पाते। १९वीं और २०वीं सदी के मानवजन्य अकालों ने बंगाल की ग्रामीण अर्थव्यवस्थाओं को तहस-नहस कर दिया था और बहुत-से परिवारों ने सती-प्रथा को पुनर्जीवित कर लिया था जहाँ परिवार के कमाऊ पुरुष की मृत्यु पर उसकी बीवी को भी उसके पति की चिता पर जला दिया जाता था। उन हताशा से भरे वक़्तों में जब भोजन दुर्लभ हुआ करता था, इस क्रूर अनुष्ठान को जीवित बने रहने की विधि के रूप में देखा गया था और ज़मीनी हक़ीक़त के स्तर पर इसका मात्र इतना मतलब हुआ करता था कि क़र्ज़ में डूबे परिवारों को एक व्यक्ति के उदर-पोषण से छुटकारा मिल जाता था। यह एकमात्र ऐसी तर्कसंगत व्याख्या थी जिसे मैं इस सवाल के जवाब के तौर पर सोच पाता था कि आख़िर क्या वजह थी, यह क्रूर सिलसिला वास्तव में जिस चीज़ को निरूपित करता था उसके सामूहिक स्मृति से लुप्त हो जाने के इतने लम्बे समय बाद भी सांस्कृतिक अवचेतन में उसकी इस क़दर अनुगूँजें क्यों बची हुई थीं।

पाथेर पांचाली फ़िल्म ने जहाँ अपने बंगाली दर्शकों के मन में अनेक अनुगूँजें जगायीं, वहीं बाक़ी हिन्दुस्तान ने इसे हिन्दुस्तान की ग़रीबी को विदेशों में 'बेचने' की कोशिश की तरह देखा और कुछ समय तक इस फ़िल्म को विदेशों में दिखाये जाने पर प्रतिबन्ध भी लगाया गया था। इस प्रतिबन्ध को हटाने के लिए जवाहरलाल नेहरू को हस्तक्षेप करना पड़ा था और पी.एन. हक्सर ने इसके बारे में कहा था कि ''मैं एक घटना को याद करना चाहूँगा। हिन्दुस्तान के एक नौजवान, अज्ञात फ़िल्मकार ने एक फ़िल्म बनायी और उसके पास जो कुछ भी था, वह सब उसने उस फ़िल्म को बनाने में लगा दिया - न सिर्फ़ अपने अनुभवों और संवेदनशीलता को, भावनाओं और अनुभूतियों को, बल्कि अपने

थोड़े-से पैसे को भी (यहाँ तक कि उसने अपनी बीवी के जेवर तक गिरवी रख दिये थे)। मैंने और मेरी पत्नी ने यह फ़िल्म देखी और हम दोनों उसकी अतिशय सुन्दरता से चकित रह गये। मैंने पाया कि वह फ़िल्म कई वर्ष पहले बनायी जा चुकी थी और विदेशों में इसके प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। मैंने इस असामान्य व्यवहार की वजहों के बारे में पूछताछ की। मुझे बताया गया कि चूँकि यह फ़िल्म हिन्दुस्तान की ग़रीबी को दर्शाती है इसलिए इसको विदेशी फ़िल्म-समारोहों में शामिल करना उचित नहीं था। फ़िल्म पर लगे प्रतिबन्ध के आदेश को हटाने के लिए ज़ोरदार संघर्ष हुआ। अन्ततः मुझे उस अदालत जवाहरलाल नेहरू की शरण लेनी पड़ी जहाँ अन्तिम अपील की जा सकती थी। नेहरू की प्रतिक्रियाएँ साहसपूर्ण थीं और उन्होंने जो कुछ कहा था, वह मुझे स्पष्ट रूप में याद है : 'हिन्दुस्तान की ग़रीबी को दिखाने में क्या बुराई है? हर कोई जानता है कि हम एक ग़रीब मुल्क हैं। सवाल ये है : हम हिन्दुस्तानी अपनी ग़रीबी को लेकर संवेदनशील हैं या उसके प्रति असंवेदनशील हैं? सत्यजीत राय ने इसे असाधारण सौन्दर्य-बोध और संवेदनशीलता के साथ दर्शाया है।' और इस अन्तिम फ़ैसले के साथ ही सत्यजीत राय की फ़िल्म *पाथेर पांचाली* विश्वप्रसिद्ध हो गयी। और राय दुनिया के एक महान फ़िल्म-निर्माता के रूप में उभरे।''

उस ज़माने का कोई भी तत्कालीन बंगाली आलोचक 'ग़रीबी' शब्द को इस फ़िल्म के साथ जोड़ता प्रतीत नहीं होता। जहाँ हर कोई इन्दिर थकरन दृश्य-विन्यास को फ़िल्म के मार्मिक बिम्ब के रूप में स्पष्ट ढंग से याद करता है, वहीं इसकी क्रूर हिंसा का ज़िक्र इनमें से किसी भी विमर्श में नहीं है। एक बंगाली दर्शक के लिए यह फ़िल्म एकसाथ उन कई स्तरों पर काम कर रही थी जिनमें 'ग़रीबी' महज़ एक छोटा-सा, ग़ैरमहत्त्वपूर्ण कारक था। ग़ैर-बंगाली दर्शकों, जिनमें नेहरू शामिल थे, जिनकी बंगाल की सामूहिक स्मृति तक कोई पहुँच नहीं थी, के लिए एक अन्यथा प्रगीतात्मक फ़िल्म के इस असामान्य रूप से हिंसक दृश्य-विन्यास को समझ पाना बहुत मुश्किल था।

एक-के-बाद-एक असामान्य संयोगों के चलते *पाथेर पांचाली* का प्रथम प्रदर्शन बंगाल में नहीं बल्कि न्यू यॉर्क के *म्यूज़ियॅम ऑफ़ मॉडर्न आर्ट* में हुआ। फ़िल्म के बारे में जॉन हॅस्टॅन की जोशीली सिफ़ारिशों के चलते फ़िल्म को देखने अच्छी संख्या में लोग आये थे। इस फ़िल्म को जिस सांस्कृतिक मूल्य-व्यवस्था ने जन्म दिया था, उसकी किसी भी तरह की जानकारी के अभाव में इस दर्शक-वर्ग को सूझा ही नहीं कि वे इस फ़िल्म की किस तरह व्याख्या करते और इसीलिए इसको एक तरह के 'वृत्तचित्र' (डॉक्यूमेण्टरी) के रूप में देखा गया! इसे रॉबर्ट. लेहर्टी सेण्टर में भी दिखाया गया जहाँ तब तक पूरी तरह से वृत्तचित्र प्रदर्शित किये जाते थे! यहाँ तक कि कान्स में जहाँ इस फ़िल्म ने पहला बड़ा पुरस्कार जीता, वहाँ भी फ़िल्म के बारे में यह नासमझी जारी रही और इसे 'बेस्ट ह्यूमन

डॉक्यूमेण्ट' पुरस्कार से सम्मानित किया गया जो इस फ़िल्म को पुरस्कारों की सूची में शामिल करने के लिए गढ़ी गयी एक नयी कोटि थी। पश्चिमी दर्शक इस बात को तो महसूस कर सके कि इस फ़िल्म में कुछ अनूठा था लेकिन वे किसी भी तरह से इस बात को कह नहीं पा रहे थे कि वह क्या चीज़ थी जो इस फ़िल्म को विशिष्ट बनाती थी। त्रयी की अन्य दो फ़िल्मों, *अपराजितो* और *अपूर संसार* को देखने के बाद ही पश्चिमी दर्शकों को किसी हद तक यह बात पकड़ में आ सकी कि सिनेमा की पदावली में राय के लिए इन फ़िल्मों का क्या मतलब था।

पाथेर पांचाली में राय बिभूति भूषण बन्धोपाध्याय के उपन्यास के प्रति पूरी निष्ठा बरतते हैं और यह चीज़ एक अज्ञात फ़िल्म-निर्माता द्वारा दर्शकों के मानस पर पकड़ बनाने के लिए काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार थी। हर दर्शक की अपनी स्मृतियाँ थीं और उपन्यास तथा उसके प्रति राय की निष्ठा ने, विरोधाभासी ढंग से, इस फ़िल्म को वह पारदर्शिता प्रदान की जिसकी वजह से यह फ़िल्म आलोचकों की कसौटी पर और व्यावसायिक कसौटी पर खरी उतर सकी।

पाथेर पांचाली की अतिशय सफलता ने राय को त्रयी की दूसरी फ़िल्म *अपराजितो* के लिए बिभूति के पाठ में फेर-बदल करने का हौसला प्रदान किया। इस फ़िल्म के मर्म में विधवा माँ सर्बजया और अपू के बीच का समीकरण है। अपू बनारस के अपने प्रवास के दौरान अपने गाँव से बाहर की बड़ी दुनिया को देख चुकने के बाद भ्रमण की लालसा से और दुनिया का अन्वेषण करने की आकांक्षा से भरा हुआ है। बिभूति माँ-बेटे के समीकरण के बारे में इस तरह बात करते हैं :

महज़ दूरी का अहसास ही उसके छोटे-से दिमाग़ को विस्मय से भर देने और सुखी बनाने के लिए पर्याप्त था।..., वह समझा नहीं सकता था कि वह क्या महसूस करता था, लेकिन जब भी वह सुदूर स्थित चीज़ों और स्थानों के बारे में सोचता था, तो लगता था जैसे उसको उससे बाहर निकालकर किसी दूसरी दुनिया में ले जाया गया हो।

नीला आसमान बहुत दूर कहीं था। उसी तरह काग़ज़ की वह पतंग जो उस आसमान में उड़ती थी। वह बता नहीं पाता था कि वह क्या महसूस करता था लेकिन जब भी वह सुदूर स्थित चीज़ों और स्थानों के बारे में सोचता था, तो लगता था जैसे उसको उससे बाहर निकालकर किसी दूसरी दुनिया में ले जाया गया हो। लेकिन यह इसका सबसे विस्मयकारी हिस्सा है कि जब भी कभी दूरी का यह सम्मोहन उसपर सवार होता था, तो उसके ख़याल सहसा उसकी माँ की ओर मुड़ जाया करते थे जो, जब भी वह इन लम्बी यात्राओं पर निकलता था तो पीछे छूट गयी प्रतीत होती थी। उसकी आँखें आसमान में चक्कर लगाते परिन्दों का तब तक पीछा करती रहतीं जब तक कि वे उसकी आँखों से ओझल नहीं हो जाते थे...और वह अपनी माँ को बाँहों में घेर लेता...(६६)

राय ने महसूस किया कि *अपराजितो* उपन्यास के माँ-बेटे के ये दृश्य कुछ ज़्यादा ही मिठास लिये हुए थे और वे उपन्यास के अपने फ़िल्मी निरूपण में अपू की भ्रमण-लालसा की वजह के तौर पर माँ से आज़ाद होने की उसकी प्रबल आकांक्षा को जोड़ देते हैं। नतीजतन, फ़िल्म में माँ-बेटे का रिश्ता निरन्तर कलहपूर्ण बना रहता है, और उसका समाधान तभी होता है जब माँ इनमें से हर तकरार में अपने बेटे पर अपनी पकड़ को ढीला कर देती है।

बिभूति के उपन्यास से राय द्वारा ली गयी इस छूट की वजह से ही *अपराजितो* बंगाली दर्शकों द्वारा तिरस्कृत कर दी गयी थी। घटक और मृणाल सेन जैसे फ़िल्म-निर्माता उन पहले लोगों में शामिल थे जिन्होंने फ़िल्म का मुखर समर्थन किया जिसको ये लोग राय की भव्य कृति के रूप में देखते थे। वेनिस में इस फ़िल्म को मिले 'गोल्डन लॉयन' पुरस्कार ने किसी हद तक इस फ़िल्म के बारे में बंगालियों के सन्देह को शान्त किया, और यह चीज़ ही मुझे सीधे-सीधे इस बारे में बात करने की ओर प्रवृत्त करती है कि किस तरह इस फ़िल्म ने एक बुनियादी अर्थ में ऋत्विक घटक की फ़िल्म-प्रक्रिया को रूपान्तरित किया।

'५० के दशक के शुरुआती दौर में जब घटक बीस-बाईस वर्ष के एक नौजवान थे, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने उनको कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृति संगठन पीपल्स थिएटर ऐसोसिएशन (इप्टा) की सांस्कृतिक नीति तैयार करने की ज़िम्मेदारी सौंपी। जिस किसी भी समूह से ताल्लुक रखने वाले विचारधारा के ज़्यादातर पैरोकार सौन्दर्यशास्त्र और उससे जन्मी 'संस्कृति' के प्रति गहरी असुविधा महसूस करते थे, जबकि घटक के लिए ये चीज़ें मनुष्य होने के अर्थ को परिभाषित करने वाले बुनियादी लक्षणों में शामिल थीं। घटक के भावावेगपूर्ण प्रबन्ध 'ऑन द कल्चरल फ्रण्ट' को सत्ताधारी परम्परावाद द्वारा नकार दिया गया और उसको तुरन्त दबा दिया गया। इसकी वजह से घटक को भी 'पार्टी-विरोधी' गतिविधियों के नाम पर पार्टी से निकाल दिया गया और इप्टा के लिए वे जिन नाटकों की रिहर्सल कर रहे थे उनको तुरन्त निरस्त कर दिया गया। घटक पहले ही १९५२ में, *नागरिक* नामक एक फ़िल्म बना चुके थे जो अन्ततः उनकी मृत्यु के बाद १९७७ में सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित हुई।

संकट और निष्कासन के इस समय में घटक को उनके दोस्तों बिमल रॉय और हृषिकेश मुखर्जी द्वारा बम्बई में काम करने के लिए बुला लिया गया और उन्होंने इस भरपूर उम्मीद के साथ कलकत्ता छोड़ा कि बम्बई का कमतर रूढ़िवादी वातावरण उनकी सृजनात्मकता के लिए अनुकूल साबित होगा। लेकिन बम्बई ने घटक को निराश किया क्योंकि जैसाकि उनका कहना था, सांस्कृतिक तौर पर 'इसकी कोई जड़ें नहीं थीं', और वे अपनी इस दृढ़ समझ के साथ कलकत्ता वापस लौट आये कि मराठी और बंगाली सिने-उद्योग जैसे वे क्षेत्रीय सिनेमा ही आगे की दिशा में बढ़ने का आश्वासन लिये हुए हैं जिनकी

मज़बूत सांस्कृतिक जड़ें हैं।

१९५८, जिस साल *अपराजितो* के सार्वजनिक प्रदर्शन की शुरुआत हुई थी, घटक के लिए एक उर्वरक वर्ष भी था और उन्होंने दो फ़िल्में, *अजान्त्रिक* और *बारी थेके पली* बनायीं। इस दौर के बारे में बात करते हुए घटक कहते हैं :

मेरी समझ से, मैं सिर्फ़ हाथ-पाँव मार रहा हूँ, जिस विषय पर मैं काम कर रहा हूँ उसकी सबसे उपयुक्त अभिव्यक्ति की तलाश के लिए हाथ-पाँव मार रहा हूँ। कभी मैं सही हो सकता हूँ, कभी ग़लत हो सकता हूँ। मैंने कथा-रूप, निरूपण, दृश्य को फ़िल्माने की शैली, छवियों आदि के साथ प्रयोग करने की कोशिश की है। मेरी हर फ़िल्म मेरी दूसरी फ़िल्मों से पूरी तरह से अलग है, हालाँकि मुझे भय है कि मेरा व्यक्तित्व और मेरे रुझान उन सब में मौजूद हैं।

विचारधारात्मक और सृजनात्मक संकट की यही वह घड़ी है जब *अपराजितो* के दृश्य घटक को सम्मोहित करते हैं। वे कहते हैं :

सत्यजीत राय की *अपराजितो* में एक दृश्य है जहाँ अपू एक पोखर के सामने खड़ा है जिसमें अँधेरे आकाश के कुछ बिन्दु झिलमिला रहे हैं और अपू फुसफुसाता है, 'रुद्र'/'प्रजापति'। जिन लोगों ने बिभूति भूषण बन्धोपाध्याय को पढ़ा है, जोकि फिल्म के मुख्य स्रोत हैं, और जिनकी अनेक कृतियों में रुद्र का नक्षत्रमण्डल बार-बार आता है - और हममें से जो लोग उसी सांस्कृतिक समष्टि से ताल्लुक रखते हैं और जो हमारी परम्परा के लिए इस नक्षत्रमण्डल के अभिप्रायों को समझते हैं - उनकी प्रतिक्रिया ऐसी होगी जिसको व्यापक तौर पर इस परम्परा के बाहर नहीं समझा जाएगा और जो सतही स्तर की समझ नहीं है।

राय इस दृश्य को स्पष्ट करने की कोशिश कभी नहीं करते; वह सिर्फ़ वहाँ मौजूद भर है। १९६९ में, किन्हीं अस्पष्ट वजहों से, राय ने इस दृश्य को फ़िल्म से हटा दिया था और इस फ़िल्म-त्रयी के सारे समकालीन संस्करणों में न तो यह दृश्य है और न प्रजापति पर बिभूति का चिन्तन है, जिसका अस्तित्व अब एक स्मृति के रूप में घटक की पुस्तक *सिनेमा एण्ड आई* में ही है। घटक के लिए यह दृश्य अर्थ का एक अतिरेक समाहित किये प्रतीत हुआ, और वे पहली बार 'ध्वनि' (जिसका विभिन्न जगहों पर 'रेज़ोनेंस' या 'इम्प्लीकेचर' के रूप में अनुवाद किया गया है) की अवधारणा में निहित सम्भावनाओं से टकराये।

आम धारणा के विपरीत घटक एक अत्यन्त 'आधुनिकतावादी' थे जो अपने रंगमंच के स्तर पर स्तानिस्लेव्स्की द्वारा प्रवर्तित अभिनय के 'मैथड' घराने के तहत काम कर रहे थे, जहाँ अभिनेता

को उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये संवाद/भाव में 'प्रामाणिकता' लाने के लिए अपने जीवन में अनुभव की गयी वैसी ही परिस्थितियों को याद करते हुए अपने 'अवचेतन' में उतरना पड़ता है। हॉलीवुड ने इसे '५० के दशक में अपनाया था जब स्तानिस्लेव्स्की संयुक्त राज्य अमेरिका में आकर बस गये थे और उनके अभिनय सिद्धान्त के लिए ढेरों अनुयायी मिल गये थे। घटक के समक्ष हमेशा यह सवाल बना रहा था कि 'सत्य' को किस तरह अभिव्यक्त किया जाए और उनके सारे प्रयोग, पहले रंगमंच में और बाद में सिनेमा में, इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर रहे थे। संवादों को अभिनेता/अभिनेत्री के वास्तविक रूप में अनुभूत भावों में स्थित करते हुए घटक महसूस करते थे कि अभिनेता सचमुच एक ऐसी प्रस्तुति दे सकता है जो 'सत्य' के अधिकतम सम्भव निकट हो सकती है। 'आद्यरूपों' पर कार्ल युंग के लेखन ने घटक को बहुत आकर्षित किया था, जिसने एक अर्थ में शुरू में रंगमंच में और बाद में सिनेमा में उनकी पद्धति को सँवारा था। *अपराजितो* का दृश्य और *पाथेर पांचाली* की असीमित सफलता घटक को 'मुहावरे' ('ईडियॅम') की धारणा से जुड़े सवालों की ओर ले जाती हैं और वे यह प्रसिद्ध वक्तव्य देते हैं :

हम महाकाव्यात्मक (एपिक) समाज भी हैं। हम हर दिशा में फैलना पसन्द करते हैं, हम कथा-विधान में बहुत ज़्यादा नहीं उलझते, और हम उन्हीं-उन्हीं मिथकों और किंवदन्तियों को बार-बार दोहराना पसन्द करते हैं। एक समाज के रूप में किसी चीज़ के प्रति हमारा विश्वास उसके 'क्या' से नहीं, बल्कि उसके 'क्यों' और 'कैसे' से जागता है। यह महाकाव्यात्मक रवैया है।

एक दर्शक के रूप में घटक बहुत सहज ढंग से *पाथेर पांचाली* की शक्ति के स्रोत को महसूस कर लेते हैं, जो सौन्दर्य की उनकी अपनी अवधारणाओं को गढ़ती प्रतीत होती है। बिभूति का *पाथेर पांचाली* का पाठ और उसकी अपनी खण्डित शैली में उसके द्वारा उद्‌बुद्ध स्मृतियाँ सचमुच वह सर्वनिष्ठ सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत थी, या एक तरह से कहें तो वह सामूहिक चेतना थी, जो फ़िल्म-निर्माता और उसके दर्शक-वर्ग, दोनों से ताल्लुक रखती थी। राय द्वारा किया गया पाठ का प्रतीकात्मक निरूपण, जहाँ उनका सिनेमाई रूपान्तरण लगभग पारदर्शी बन जाता है, दर्शकों के लिए एक आह्वानपरक कर्म बन जाता है, जो दर्शक को उस चीज़ के साथ अपना नया रिश्ता बनाने की गुंजाइश देता है जिस चीज़ का आह्वान किया जा रहा होता है। इस तरह एक फ़िल्म या प्रस्तुति देखने का कर्म एक द्विभाजित अनुभव बन जाता है। प्रस्तुति की आह्वानपरक प्रकृति देखने के अनुभव को आत्मविमर्शात्मक बना देती है क्योंकि जिस चीज़ का आह्वान किया जा रहा होता है, उसके बारे में हर दर्शक की निजी स्मृति होती है।

मेरा अनुमान है कि यही वह मुकाम है जब घटक भरत के नाट्यशास्त्र के निष्पादन सिद्धान्तों

पर पुनर्विचार करते हैं। भरत 'अभिनेता' की काया को भावाभिनय, आंगिक अभिनय और देह-मुद्राओं में त्रिभाजित करते हैं। वे देह में निहित 'ज्ञान' की धारणा को व्यक्त करते हैं, और कहते हैं कि अगर अभिनेता को अभिनय के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध होना है, तो अभिनय में उसके 'भावनात्मक' मानस के ज्ञान का और साथ ही उसकी देह में निहित ज्ञान का समावेश आवश्यक है।

पाठ इन परम्पराओं में प्रधानता हासिल कर लेता है और अभिनेता का कर्तव्य पाठ की व्याख्या करना नहीं बल्कि उसको 'अनुभव' करना बन जाता है। भारतीय उपमहाद्वीपीय परम्पराओं में नाट्य का अभ्युदय आद्य नृत्त, यानी शिव के ताण्डव और पार्वती के उस लास्य से हुआ है जो इस आद्य नृत्त की भावनात्मक प्रतिक्रिया थी। इसलिए नाट्य उस अर्द्धनारीश्वर रूप में रचित है जो अपने भीतर ऊर्जा के दो प्रगटनों को परस्पर समाये हुए है। इसलिए सारा नाट्य और नृत्य वास्तव में इस ज्ञान को उद्‌बुद्ध करना है जो हर व्यक्ति और हर वस्तु में अन्तर्निहित है।

भर्तृहरि इसे और आगे ले जाते हैं और कहते हैं कि शब्द/पाठ अर्थबहुल होता है और वह दर्शक/श्रोता के मानस/शरीर में पहले से प्रच्छन्न होता है। वे कहते हैं कि शब्द/पाठ सहृदय के मानस में स्वयं अपना अर्थ खोज लेता है और निष्पादन का लक्ष्य अभिनय को अभिनेता/दर्शक के द्वित्व से परे ले जाना है। नाट्य की इस अवधारणा के अनुसार सच्चा सम्प्रेषण अभिनेता और दर्शक, दोनों के सम्पूर्ण निर्वैयक्तीकरण से होता है। इसलिए प्रस्तुति उन दर्शकों के मानस में एक निश्चित आकर ग्रहण करती है, जो यद्यपि उसी वास्तविकता में साझा करते हैं जिसमें अभिनेता करता है, लेकिन वे रोज़मर्रा जीवन की भूमिकाओं में डूबकर स्वयं को 'भूल चुके होते हैं'।

इसलिए घटक ने १९६० के बाद की अपनी फ़िल्मों में अभिनय की एक अस्वाभाविक (स्टाइलाइज़्ड) शैली विकसित की जो 'प्रकृतवाद' ('नेचुरलिज़्म') या स्तानिस्लाव्स्की के 'मैथड' के विपरीत हिन्दुस्तान के 'मुखौटापरक' ('मास्क्ड') रंगमंच के क़रीब थी। एक किंवदन्ती है कि उन्होंने अपनी मुख्य अभिनेत्री सुप्रियो देवी से अभिनेता फाल्कोनेट्टी द्वारा चित्रित आह्लाद को आत्मसात करने के लिए कार्ल ड्रेयर की फ़िल्म *पैशन ऑफ़ जोआन ऑफ़ आर्क* देखने को कहा था। इस तरह वे स्वयं प्रस्तुति को अति-भावुकतापूर्ण बनाते हुए अभिनेता का निर्वैयक्तीकरण करते हैं, इसलिए प्रेक्षक वास्तव में जो देखते हैं वह अभिनय करता अभिनेता नहीं होता, बल्कि दरअसल एक यथासम्भव 'अव्यवहित' ('अनमीडिएटेड') पाठ होता है, जिसकी वैसी ही अवस्थिति होती है जैसी उन प्रेक्षकों की होती है जो जगत के अपने निजी अनुभवों में अवस्थित होते हैं।

इस तरह घटक एक चक्राकार रास्ते पर चलते हुए हिन्दुस्तानी सिनेमा के पहले 'पौराणिक' फ़िल्म-निर्माता बन जाते हैं। दादा साहेब फाल्के की *राजा हरिश्चन्द्र* से लेकर उसके बाद की ढेरों

हिन्दुस्तानी फ़िल्में पुराणों पर आधारित हैं, लेकिन यह चीज़ उनको ज़रूरी तौर पर 'पौराणिक' नहीं बना देती। पुराण का अनुवाद मोटे तौर पर 'मिथक' के रूप में किया जाता है जोकि एक ग़लत प्रयोग है। व्युत्पत्तिपरक ढंग से पुराण को 'पुरा-अपि-नवम-इति पुराण', यानी 'प्राचीन नवीन', के रूप में परिभाषित किया गया है। प्रत्येक पौराणिक गाथाकार पुरानी कथा को कहते हुए उसको निरन्तर अपने वर्तमान मूल्यों और भाषा में नये सिरे से व्यक्त करता चलता है जहाँ कथा स्वयं तो पुरानी और सुविदित बनी रहती है, लेकिन अपने समकालीन पुनराख्यान में वह वास्तव में दुनिया के नये अनुभव के अनुरूप अधिक-से-अधिक तहों को समेटती चलती है। इस तरह रचे गये आख्यानों के पौराणिक ख़ज़ाने वास्तव में अपनी समकालीन वास्तविकता से उलझने के लिए संस्कृति के सामूहिक आद्यरूप हुआ करते थे। 'पुरातन' और 'नवीन' के बीच का यह संवाद ही वास्तव में वह भेद है जो राय और घटक की फ़िल्मों को अलगाता है। अपने वर्तमान में जड़ें जमाये 'रोमानी' कलाकार राय के लिए 'पुरातन' एक अतीत-मोहपरक विचार के तौर पर आवश्यक था, वहीं वे इस बात का ध्यान रखते थे कि यह 'पुरातन' उनके वर्तमान को परिभाषित नहीं करता। पौराणिक फ़िल्मकार घटक के लिए 'पुरातन' वर्तमान को नये सिरे से अभिव्यक्ति देने और उसको 'प्रश्नांकित करने' का माध्यम बन जाता है।

मणि कौल ने इस भेद को बहुत सारगर्भित ढंग से व्यक्त किया है। वे कहते हैं :

पारम्परिक तौर पर एक महाकाव्यात्मक रूप (एपिक फ़ॉर्म) है, और इसके विपरीत एक नाटकीय (ड्रेमेटिक) रूप है। जब हम नाटकीय रूप की बात करते हैं जो वह एक परिणाम की, एक लक्ष्य की दिशा में उत्प्रेरित होता है। लगभग निन्यान्वे प्रतिशत फ़िल्में, वे चाहे गम्भीर फ़िल्म-निर्माताओं द्वारा बनायी गयी हों या हॉलीवुड द्वारा, वास्तव में नाटकीय फ़िल्में होती हैं।

नाटकीय फ़िल्में मनोवैज्ञानिक तौर पर, सामाजिक तौर पर पूर्वनिर्धारित, या महज़ किसी कथानक - जैसे कि किसी रोमांचक कथानक - से पूर्वनिर्धारित होती हैं। वे हास्यपूर्ण या किसी दूसरी शैली की हो सकती हैं। एक नाटकीय फ़िल्म के लिए अन्त की ओर बढ़ना अनिवार्य होता है। इसलिए वह चरित्रों के बीच, या स्वयं कथानक में, जो भी तर्क विकसित करती है, उनका समाधान अनिवार्य होता है, और फिर इसके बाद वह एक संयोग की दिशा में, एक पराकाष्ठा की दिशा में बढ़ती है। जैसेकि अन्त में शुभ और अशुभ के बीच के संघर्ष का समाधान।

महाकाव्यात्मक रूप इसके ठीक विपरीत होता है, जिसका मतलब है कि उसमें आख्यान आम तौर से बहुत क्षीण, बहुत फैला हुआ होता है और वह हर मुकाम पर उपज करता चलता है, व्यापक परिप्रेक्ष्यों को अपनाने की कोशिश करता चलता है। उसकी दिलचस्पी मात्र चरित्रों में नहीं बल्कि प्रकृति, इतिहास और विचारों में भी होती है। ये महज़ किसी समाज के ब्योरे नहीं होते बल्कि बीते युगों की

दृष्टियाँ होती हैं। इसलिए वह आगे की दिशा में बढ़ते आख्यान की कोई एक सरल-सी गति नहीं होती, बल्कि कथा के बयान के साथ-साथ उसमें समावेषण और विस्तार अनिवार्य होता है।

राय की फ़िल्म *अपराजितो* घटक के लिए एक बार फिर से वह निर्णायक महत्त्व की अन्तर्दृष्टि उपलब्ध कराती है जो उनकी परवर्ती सौन्दर्यात्मक साधना को अनुप्राणित करती है। वे चलते-चलते संक्षेप में फ़िल्म के उन दृश्यों के बारे में बात करते हैं जिनने उनपर प्रभाव डाला था :

पाथेर पांचाली में आप उसी एक धुन को बार-बार सुनते हैं जो किसी हद तक इस फ़िल्म का कथानक संगीत था। जहाँ कहीं, जब कभी आप इस संगीत को सुनेंगे, यह आपको बंगाली गाँवों की अन्तहीन हरियाली की याद दिलाएगा। सत्यजीत राय ने यह एक अद्भुत काम किया है। *अपराजितो* में सर्बजया और अपू बनारस से अपने गाँव लौट रहे हैं; ट्रेन पुल को पीछे छोड़ देती है; जल्दी खिड़कियों से आप बंगाल का भूदृश्य देख सकते हैं, हरा और सुन्दर। तभी साउण्ड ट्रैक पर आप उस कथानक संगीत को सुनते हैं। समूची फ़िल्म में सिर्फ़ एक बार, लेकिन यह एक बार पर्याप्त है। एक टिप्पणी, अतीत और वर्तमान के बीच एक सहसम्बन्ध आपके दिमाग़ को निश्चिन्तीपुर (अपू और का गाँव), दुर्गा और कपास के खेतों की स्मृतियों से भर देता है।

घटक की बाद की फ़िल्मों के विस्तृत ध्वनि-विन्यास (साउण्डस्केप) इस बिन्दु पर उत्प्रेरित प्रतीत होते हैं। जहाँ जिन आख्यानों पर वे काम करते हैं वे मुख्यधारा की संस्कृति के मामूली/त्रासद आख्यान होते हैं, वहीं साउण्ड-ट्रैक उसमें एक ऐसी सशक्त पौराणिक परत का योगदान करता है जो फ़िल्म के आख्यान में एक और आयाम का समावेश करता हुआ अग्रप्रस्तुत आख्यान को अवचेतनात्मक ढंग से बाँधता है। घटक कहते हैं :

संघटनात्मक दृष्टि से तमाम फ़िल्मों के विभिन्न क़िस्म के सन्तुलनकारी नियम होते हैं जिनको विषय-वस्तु में अन्तर्निहित माना जाता है। मैंने साउण्ड ट्रैक्स में, जिनमें संगीत शामिल है, विभिन्न पैटर्नों को बुनने की कोशिश की है। मैं अर्थ-ध्वनियों की तलाश में हूँ, अस्पष्ट, अस्थायी अर्थ-ध्वनियों की। उनमें सृजनात्मकता (लाइफ़-स्पार्क) निहित होती है।

उनकी फ़िल्मों के साउण्ड ट्रैक आख्यानों के उनके रूपान्तरणों को वास्तव में ये अर्थ-ध्वनियाँ उपलब्ध कराते हैं। घटक का एक मुख्य प्रश्न यह है कि यथार्थ में अमूर्तन का गुण किस तरह लाया जा सकता है, और उनके अस्वाभाविक अभिनय तथा सम्पादन की उनकी मौलिक रूप से भिन्न शैली के साथ-साथ उनके ध्वनि-विन्यास उस प्रक्रिया को रचते हैं जिसके माध्यम से घटक इस अमूर्तन को हासिल करते हैं।

मेघा ढाका तारा नामक अपनी जिस फ़िल्म में घटक वास्तव में इस महाकाव्यात्मक आख्यान

की यात्रा शुरू करते हैं, जो प्रत्यक्ष तौर पर बंगाल के विभाजन के सदमे को झेलते शरणार्थी परिवार की गाथा है, उसमें घटक सांख्य दर्शन में निहित विभाजन की धारणा को समाहित करने के लिए 'विभाजन' को नये सिरे से अभिव्यक्ति देते हैं। सांख्य के सृष्टि के इस आख्यान में एकाकीपन में निर्वासित एक आद्य कारण-रूप 'नर' - 'पुरुष' - है, जो आत्मानुभूति की आकांक्षा से भरकर अपने से 'अन्य' की सृष्टि के लिए खुद को 'विभाजित' करता है। यह क्रियाशील कारण-रूप 'नारी' - 'प्रकृति' अपनी बाह्योन्मुख गति में उस सब कुछ की सृष्टि करती है जिसे हम जगत के नाम से जानते हैं। इसी गति के भीतर अपने आद्य अन्य से पुनः एकाकार होकर पूर्णता प्राप्त करने की अकर्मक नर कारणता की आकांक्षा भी व्यक्त है। विभाजन इस फ़िल्म में नये सिरे से अभिव्यक्ति पाता है और उसमें बीसवीं सदी के आरम्भिक दौर में हुए बंग-विभाजन की ध्वनि से कहीं अधिक व्यापक अन्तर्ध्वनियाँ मौजूद हैं।

'मेघा ढाका तारा' एक कहानी है जो एक लोकप्रिय शृंखला के रूप में एक समाचार-पत्र में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी, अपने शरण-स्थल में जीवित बने रहने का संघर्ष कर रहे, पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों के एक मध्यवर्गीय परिवार के इर्दगिर्द घूमती है। यह बंगाल के विभाजन का अख्यान है, उस घटना का आख्यान जो बहुत-से बंगालियों के लिए प्रलय की तरह था, लेकिन घटक इस विभाजन में उस आद्य विभाजन में अनुभव की गयी क्षति का एक व्यापक आयाम जोड़ते हैं, और इस फ़िल्म के सभी चरित्र विभिन्न रूपों में 'विभाजित' हैं।

इस परिवार का मुखिया बिजन अँग्रेज़ी का एक भूतपूर्व स्कूली अध्यापक है जो अब बेरोज़गार है, और उसकी सख़्त पत्नी सुरामा गृहस्थी चलाती है। समझा जाता है कि अपनी अभिनेत्री को इस चरित्र के बारे में समझाते हुए घटक ने कहा था : ''जानती हो गीता, तुम सुरामा की भूमिका निभा रही हो, और बिजन मैं हूँ''। - गीता घटक। अपनी अभिनेत्री के लिए उसके द्वारा निभाये जा रहे चरित्र को समझने के लिए किये गये इशारे के तौर पर घटक का यह संकेत उन सारे संकेतों की शुरुआत करता है जो घटक इस फ़िल्म में करते हैं, इसकी हर घटना में अर्थ की अनेक छबियाँ पैदा करते हुए। बिजन खुद ही 'विभाजित है। वह बायरन, शेली और कीट्स को उद्धृत करना पसन्द करता है, उन लोगों की भाषा को जो उसके भूतपूर्व औपनिवेशिक मालिकों की भाषा है, लेकिन उसे बाउल गायक ख़ानाबदोश भिक्षुओं की संगत में शराब पीकर धुत्त होना भी अच्छा लगता है।'

इस कहानी-शृंखला का मूल शीर्षक था 'चीनामुख' (पहचाना हुआ चेहरा), लेकिन घटक ने फ़िल्म का नाम रखा *मेघा ढाका तारा,* जिसका शब्दशः अर्थ है 'बादलों से आच्छादित तारे', जो द टेम्पेस्ट में प्रॉस्पेरो के स्वागत कथन की एक पंक्ति से लिया गया है, जिसके साथ फ़िल्म में आईनों के खेल की शुरुआत होती है :

द टेम्पेस्ट में प्रॉस्पेरो का स्वागत कथन :

और इस दृश्य के निराधार पट की तरह,

मेघों से ढँकी मीनारें,

भव्य महल

पवित्र देवालय, स्वयं विशाल भूमण्डल –

हाँ, वह सब जो उसे विरासत में मिला हुआ है – विलीन हो जाएगा।

क्षति का यह आद्य बोध, जो फ़िल्म को परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है, स्वयं शीर्षक में बँध जाता है।

फ़िल्म की तीनों स्त्रियाँ अलौकिक मातृत्व के तीन पक्ष होने के साथ-साथ सात्विक, राजसिक और तामसिक, तीन गुण भी हैं, जो भारतीय उपमहाद्वीपीय परम्पराओं में किसी भी व्यक्ति के स्वत्व को गढ़ते हैं। इनमें सबसे बड़ी बेटी नीता पोषक या सात्विक स्वत्व है, माँ अहंकारी या राजसिक स्वत्व है और सबसे छोटी बहन स्वेच्छाचारी या तामसिक स्वत्व है।

एक अन्य प्रतिबिम्बात्मक परत दुर्गा पूजा के उस गीत के माध्यम से जोड़ी गयी है, जो उस परिवार की क्षति का गीत है जो अपनी बेटी सती को विदाई दे रहा है, जो अपने पति के साथ पर्वतों पर रहने, उनको छोड़कर जा रही है। यह गीत नीता को जल्दी ही विदा लेने जा रहीं उमा/सती का रूप देता हुआ एक अवचेतन विलाप बन जाता है। यह बंगाल का एक लोकप्रिय गीत है जो विवाह के अवसरों पर गाया जाता है और जो बेटी के विवाह के बाद उससे अलग होने जा रहे माता-पिता के शोक को व्यक्त करता है। इस फ़िल्म के सन्दर्भ में यह गीत दरअसल एक विवादी स्वर का रूप ले लेता है, क्योंकि यह विवाह गीत मुख्य किरदार, नीता, की मृत्यु की पूर्वसूचना देते गीत का रूप ले लेता है। 'ध्वनि' के विचार को घटक ने जिस तरह नया रूप दिया है उसमें 'विवादी स्वर' की धारणा भी शामिल है।

आ, मेरी बेटी उमा, मेरे पास आ। मैं तुझे फूलों का हार पहना दूँ। तू मेरे उदास स्वत्व की आत्मा है, माँ, जन्मदात्री। मैं तुझे विदा कर दूँ, मेरी बेटी! तू मेरे घर को वीरान कर अपने पति के घर जा रही है। कैसे सहूँ मैं तेरा जाना, मेरी बेटी?

ये परतें वही बनी रहती हैं जो वे हैं, परतें, जो आख्यान को किसी रूपक-कथा में संकुचित किये बिना आख्यान में अर्थ-छवियों का योगदान करती रहती हैं। अपने चरित्रों को, पार्श्व संगीत को, या स्वयं चरित्रों द्वारा बोले गये वाक्यों को आकार देने का उनका ढंग इन परतों को, इसके पहले कि

वे एकरैखिक आख्यान का हिस्सा बन जाएँ, प्रकाश-वृत्त में ले आता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक गीत का ख़ूबसूरत इस्तेमाल नीता को उमा के रूप में गढ़ देता है :

रात में आँधी मेरे दरवाज़े को पीटती रही, मुझे ठीक-से मालूम नहीं था कि तुम अन्दर आओगी,

सब कुछ अँधेरे में डूब गया, दीपक की रोशनी मद्धिम पड़ गयी,

अनजाने ही मैं आकाश में चला गया, अँधेरे में मैं स्वप्निल-सा लेटा रहा।

क्या मैं जान सकता था कि वह आँधी महज़ तुम्हारी विजय की अगवानी कर रही थी?

सुबह होने पर ही मैंने देखा; तुमको वहाँ खड़े हुए। खड़े हुए वहाँ जो एक ख़ाली कमरा था।

रजस की एक चेतना के बिना विशुद्ध सात्त्विकता जीवित नहीं रह सकती, और तामसिक का किसी भी क़ीमत पर होना ज़रूरी है; और इसलिए नीता अन्त में तपेदिक से मर जाती है, पर्वत पर, अपने मिथकीय पति शिव के निवास-स्थल पर।

अपनी फ़िल्म के बारे में बात करते हुए घटक कहते हैं :

मैं अपनी फ़िल्मों में प्रयोग कर रहा हूँ। ये उनके पीछे सक्रिय विचार थे। मेरे लिए मेरी सारी फ़िल्में महज़ पूर्णता को प्राप्त हुए अभ्यास हैं; मैं उनके बारे में कोई राय क़ायम नहीं कर सकता। लेकिन जब, उदाहरण के लिए, मैं सुनता हूँ कि तपेदिक की शिकार लड़की की ठीक उसकी मृत्यु के क्षण की अयथार्थवादी पुकार कि 'जीना चाहती हूँ', परिप्रेक्ष्य में भयानक रूप से बलात् लायी गयी है, तो मुझे सचमुच आश्चर्य होता है। मुझे लगता है कि मैं अपनी नायिका के साथ संहार के देवता की पत्नी उन उमा के समूचे रूपकात्मक रिश्ते को सम्प्रेषित नहीं कर पाया हूँ जो सदियों से सारे बंगाली घरों की बेटियों और वधुओं की आदर्श रही हैं। या, उदाहरण के लिए, जब मैं सुनता हूँ कि मैं अपनी ताज़ा फ़िल्म में अभिव्यंजनावाद के प्रयोग का अपराधी हूँ, और अभिव्यंजनावाद तथा प्रतीकवाद साथ-साथ नहीं चल सकते, तो मैं सोचने की कोशिश करता हूँ कि वे क्या चीज़ें हैं जिनके बल पर अभिव्यंजनावाद फलता-फूलता है। मेरे लिए, असंख्य और स्थूल पैटर्नों तथा बलों के परस्पर-प्रतिकूल प्रवाहों से युक्त समकालीन वास्तविकता ही वह चीज़ है जो उस सूरत में अमूर्तन की माँग करती है जब मैं उस वास्तविकता के कुछ ख़ास बुनियादी लक्षणों को प्रस्तुत करने का लक्ष्य अपने सामने रखता हूँ। मैं समझता हूँ कि अगर हम इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते, तो हमें आधुनिक कला, और साहित्य और चित्रकला के ज़्यादातर हिस्से को उठाकर फेंक देना पड़ेगा।

अपने दृश्य-विन्यास और प्रतिबिम्बात्मक आख्यान के साथ घटक विभाजनोत्तर बंगाल के एक मध्यवर्गीय परिवार की पीड़ाओं में एक महाकाव्यात्मक आयाम का योगदान करते हैं।

जिन कारणों से हम रामायण या महाभारत जैसे महाकाव्यों का पुनराख्यान करते हैं, उनमें से एक प्राथमिक कारण को घटक पुनर्स्थापित करते हैं; इन ग्रन्थों को हमेशा उन नैतिक आधारभूत ढाँचों के रूप में देखा गया था जिनके माध्यम से हम अपने विखण्डित जीवन में उस चीज़ के बारे में अपनी खुद की धारणाओं को प्रश्नांकित करते हैं, जिसको हम जीना कहते हैं।

मेघा ढाका तारा पर वापस लौटें, तो घटक इस फ़िल्म की समूची दृश्य-रचना को इस गीत के साथ खड़ा करते हैं :

''माझी, मैं तो तेरा नाम भी नहीं जानता!''

मैं देर तक पुकारता रहा, इस सांसारिक नदी के तट पर खड़ा।

कौन है जो पार उतरने में तेरी मदद करेगा, ओ मेरे मन।

मैं अपने अच्छे दिन बिता चुका हूँ और अब मैं नदी-तट पर आया हूँ।

ओ माझी, मैं तेरा नाम नहीं जानता।

मैं किसे पुकारूँ?

मैं तेरा नाम नहीं जानता।

यह सुन्दर गीत उस मध्यवर्गीय परिवार के बुनियादी सम्भ्रम की और विस्मय-बोध की भी रचना करता है जो विभाजन के परिणामस्वरूप अपनी जड़ों से कट गया है और अजनबी परिस्थितियों में अपना रास्ता तलाश रहा है। यह गीत और इसके फ़िल्मांकन का ढंग हमेशा मेरे दिमाग़ पर छाया रहा है। इस गीत की दृश्य-रचना में आख्यान के टकराव के सारे मुख्य बिन्दु लगभग सादे ढंग से, बिना किसी उद्यम के उकेरे गये हैं।

यह दृश्य परिवार के मुखिया, अकर्मक पुरुष तत्त्व, बिजोन के इर्दगिर्द रचा गया है। आख्यान को वास्तविक प्रेरणा देने वाले सकर्मक नारी तत्त्व - सात्त्विक के रूप में नीता, राजसिक के रूप में सुरामा, और तामसिक के रूप में छोटी बहन - हैरान और सम्भ्रमित बिजोन के इर्दगिर्द रचे गये दृश्य-विन्यास में प्रवेश करते हैं। आख्यान के टकराव के सारे बिन्दुओं को, इन तीन स्त्रियों में रूपायित मुख्य चरित्रों के बीच के तनावों को, असहाय बिजोन के बरक्स चित्रित किया गया है।

विक्षुब्ध, 'विभाजित' परिवार के आख्यान को एक सुन्दर बाउल गीत की पृष्ठभूमि में विन्यस्त किया गया है, वह गीत जिसमें आत्म और अन्य के तमाम द्वैतों से मुक्ति की लालसा व्यक्त की गयी है। 'विभाजन' शब्द यहाँ अर्थ की अनेक अनुगूँजें और परतें हासिल कर लेता है।

घटक के बारे में बात करते हुए मणि कौल ने एक बार 'ध्यान' शब्द की चर्चा की थी, जिसका अँग्रेज़ी में मोटे तौर पर 'मैडीटेशन' के रूप में अनुवाद किया जाता है। मणि कहते हैं :

अगर आप अन्यथा न लें, तो मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ। 'मैडीटेशन' शब्द, जिसे पश्चिम में रहस्यमय बना दिया गया है, का हिन्दुस्तान में कोई अर्थ नहीं है। वहाँ सिर्फ़ एकाग्रता का प्रश्न है, एकाग्रता का गुण। 'ध्यान' शब्द का शब्दशः अर्थ एकाग्रता ही है।

अस्तित्व और ध्यान के बीच एक विसंगति है। अस्तित्व अपने को कुछ ख़ास तरह के दुःखों से मुक्त नहीं कर सकता; वह स्वयं को अपनी समस्याओं और असन्तोषों से मुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि अस्तित्व उनसे भरा हुआ है। इनसे ऊपर उठने और उस अवस्था में पहुँचने का विचार जहाँ कोई दुःख नहीं है, एक सपना भर है। आप उसके बारे में बात कर सकते हैं, लेकिन आपके जीवन-पर्यन्त आपके दुःख आपका पीछा करते रहेंगे।

लेकिन 'एकाग्रता' मुक्त हो सकती है। एक महान गुरु इस एकाग्रता को - सुनने की, बात करने की, देखने की, छूने की एकाग्रता को - उस अवस्था में रूपान्तरित कर सकता है जहाँ कोई दुःख नहीं है, कोई क्षोभ नहीं है, कोई पीड़ा नहीं है; संगीत में, और शायद मेरी कुछ फ़िल्मों में आपको 'एकाग्रता' का यह गुण मिल सकता है।

ऋत्विक घटक की फ़िल्मों में, और उनके हमवतन मोहन राकेश के नाटकों में 'ध्यान' का यह गुण है। हर बिम्ब, हर शब्द, प्रतिच्छायाओं की एक शृंखला को उत्प्रेरित कर देता है। प्रत्येक संश्लिष्ट शब्द/बिम्ब में कई आख्यान निहित हैं, जिनमें से हर आख्यान दूसरे आख्यानों को 'विन्यस्त' करता है; और समूचे बिम्ब को सच्चे अर्थों में अनुभव करने के लिए इस सौन्दर्योपासक ने समूचे बिम्ब को उसके स्वतन्त्र आख्यानों में विभाजित कर दिया है, और समग्र को नये ढंग से उनके अपने दिमाग़ों में पुनर्विन्यस्त कर दिया है। जब व्यक्ति के अपने मन में यह पुनर्विन्यास घटित होता है, तो वह एक विस्फ़ोट की तरह होता है, उसके लिए एक इलहाम का क्षण।

जब कभी मुझसे सिनेमा की दृश्य-रचना पर कोई कार्यशाला संचालित करने को कहा जाता है, तो मैं अपने इस सत्र की शुरुआत इसी दृश्य-बन्ध से करना पसन्द करता हूँ, जो वास्तव में 'विभाजन' की अवधारणा पर, और पुनः 'पूर्ण' होने के अर्थ पर घटक के ध्यान को उद्घाटित करता है : https://youtu.be/-plif-5t7A4 : सामूहिक चेतना और मिथक की शक्ति की वह अवधारणा जिसे वे अपनी फ़िल्म-त्रयी *मेघा ढाका तारा, कोमल गन्धार* और *सुवर्णरेखा* में अन्वेषित करते हैं।

नृत्यालोचना के सन्दर्भ में प्राश्निक की भूमिका

चेतना ज्योतिषी ब्योहार

प्रदर्शनकारी कला के रूप में नृत्य आलोचना-समालोचना का क्षेत्र आज नृत्य के प्रदर्शन और उसमें नर्तक, दर्शक, आलोचक, सम्पादक और पाठक की भूमिका के इर्द-गिर्द, उनके परस्पर सम्बन्धों और बाज़ार के रुख को भाँपकर आकार ले रहा है, विस्तार पा रहा है। हमारी प्रयोगधर्मा कलाएँ अब विशुद्ध व्यावसायिक हो चली हैं इसलिए अब इनका प्रकृष्ट दर्शन नहीं किया जाता। यों अब भी इन्हें 'प्रदर्शनकारी' कहा ज़रूर जाता है। संगीतादि कलाओं का लक्षण, उनका प्राण, नित्य प्रकृष्ट सम्भावनाओं का सम्यक् योग हुआ करता था और वे अपने इस योगरूपी धर्म को धारण करने के कारण ही 'प्रयोगधर्मा' कहलाती थीं। इन प्रयोगधर्मा कलाओं के प्रकृष्ट दर्शन का लाभ प्रेक्षक को तत्क्षण सुख-दुःख से विमुक्त करने की क्षमता रखता था। ऐसे अलौकिक, अनिर्वचनीय रससिक्त कलारूप/कलारूपों की समालोचना का व्यापार तब साधक प्रस्तोता, सहृदय प्रेक्षक और विलक्षण बुद्धि सम्पन्न प्राश्निक के मध्य जन्म लेता था।

आज स्थितियाँ भिन्न हैं। व्यावसायिक लक्ष्य को लेकर चलने वाली कलाओं में विभिन्न स्तरों पर हुए समझौतों का उतार-चढ़ाव स्पष्ट देखा जा सकता है। साधन और सम्पन्नता बढ़ी है किन्तु इनके मोटे आवरण के पीछे बारीकियाँ खो गई हैं। फिर भी, कलाकारों-आयोजनों-आयोजकों की नित्य बढ़ती संख्या, कलाकार और उसकी कला को प्रोत्साहित करने वाला विशाल समुदाय तथा इन सबके बीच आलोचकों की 'विशिष्ट' श्रेणी ने वर्तमान समय में आलोचना/समालोचना को भी एक नया आयाम दिया है, एक औपचारिक दर्जा दिया है। कलाकार की सफलता में बहुत बड़ी भूमिका आज आलोचकों के मन्तव्य की होती है। दर्शक और पाठक के मानस में सकारात्मक अथवा नकारात्मक भावभूमि रचने में भी ये सहायक होते हैं। यह लेख मुख्यतः नृत्य को केन्द्र में रखते हुए समालोचना के क्षेत्र में समालोचक की भूमिका के इर्द-गिर्द बुना गया है।

हममें से बहुशः अँग्रेज़ी भाषा के शब्द Criticism और हिन्दी के शब्द 'आलोचना' के कोशगत अर्थ से परिचित होते हुए भी बोल-चाल में इनका प्रयोग अनायास नकारात्मक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए करते रहते हैं। जैसे- क्यों कर रहे हो मेरी आलोचना? तुम्हारी तो आदत ही है आलोचना

करने की। Plz don't criticize इत्यादि। अपनी चर्चा आरम्भ करने से पूर्व चलिये एक बार 'आलोचना' शब्द के कोशगत अर्थ का पुनर्पाठ कर लिया जाये। हिन्दी भाषा के शब्द आलोचना का कोशगत अर्थ है- दर्शन करना, देखना, सर्वेक्षण, समीक्षा, विचार करना, विचार-विमर्श। इसी तरह अँग्रेज़ी में Criticism is - to evaluate, to review, to appraise, to assess, to comment and to analyse यानी पुनर्विचार, मूल्यांकन, आँकना, टिप्पणी करना तथा विश्लेषण करना। समालोचना, आलोचना का अगला स्तर है जहाँ किसी वस्तु को अवधान पूर्वक देखा जाये, उसका निरीक्षण किया जाये, गहराई-से सोचा-समझा-परखा जाये और तब राय रक्खी जाये।

जैसा कि हमने पूर्व में कहा, आलोचना के शाब्दिक अर्थ को जानने पर भी हमने अपने चित्त में इस शब्द को नकारात्मक भूमिका में समझने और बरतने का अभ्यास बना लिया है। सम्भवतया इसीलिये कलाकार/सर्जक भी ज़रा इससे या इनसे दूर ही रहते हैं। कारण यह नहीं कि उनके विषय में कुछ कहा-लिखा जाये, ऐसा वे नहीं चाहते। कारण यह है कि या तो वे यह चाह बैठते हैं कि बड़ा अच्छा-सा कहा अथवा लिखा जाये। या फिर वही छाप दिया जाये जो उन्होंने लिखकर दिया है। और दूरी इस विचार से बनाते हैं कि आलोचना है तो अवश्य ही यह नकारात्मक होगी। लिखने-कहने वाले भी बहुत ही कम ऐसे हैं जो तटस्थ भाव से आलोचना का कार्य सम्पन्न करते हों। अब एक नज़रिये से तो हम-आप सब प्रेक्षक भी हैं और प्राश्निक भी। क्योंकि हम जब भी कुछ (संगीत-नृत्य के सन्दर्भ में) देखते हैं तो अवश्य उसपर टीका-टिप्पणी करते हैं। हमारी आलोचना का क्षेत्र हमारे अपने दो-चार मित्रों तक होता है। पर क्या हमारी राय को समालोचना का दर्जा दिया जा सकता है? नहीं न? तो सम्भाव्य आलोचना/समालोचना/critique के ऐसे कौन-से सर्वमान्य लक्षण हैं या होने चाहिये जिनके अभाव में वह मात्र रपट बनकर रह जाती है?

पश्चिम में आज सामान्यतः Criticism को सत्रहवीं शताब्दी के आसपास colonial period में प्रस्फुटित विधा के रूप में माना जाता है जिसका विकास अगली शताब्दियों में क्रमशः होता गया। कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में आधुनिक नृत्य के सन्दर्भ में प्रस्तुत शोधकार्य 'Writing Dancing : The scope and limits of contemporary modern dance criticism' में सन् १८४० में पहली बार उत्तरी अमेरिका में 'Theatrical Dance Performance' पर आलोचना प्राप्त होने की बात कही गई है।[1] यह एक तरह से नृत्य प्रस्तुति का लेखा-जोखा मात्र थी। शोधकर्ता Raewyn Whyte के अनुसार 'Until 1927 there was no such thing as dance critic'[2] - इस शोधग्रन्थ में इस विषय पर विस्तृत विमर्श के बाद शोधकर्ता ने यह माना है कि एक विधा के रूप में आलोचना बीसवीं शताब्दी में ही विकसित हुई।

---

1. Writing Dancing : The scope and limits of contemporary modern dance criticism/p.5
2. Writing Dancing : The scope and limits of contemporary modern dance criticism/p.6

इस सम्बन्ध में सुखद तथ्य यह है कि भले ही पश्चिमी देशों में आलोचना का पदार्पण सत्रहवीं शताब्दी में हुआ हो और बाद में इसका एक विधा के रूप में विकास हुआ हो, किन्तु भारत के लिये यह विधा नई नहीं है। आचार्य भरतकृत नाट्यशास्त्र को विभिन्न विद्याओं का आदिग्रन्थ कहा जाता है। इस सन्दर्भ में स्वयं भरतमुनि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही घोषणा की है-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यन्न दृश्यते।[३]

अर्थात् सभी प्रकार का शिल्प, ज्ञान, विद्या, कला-सभी कुछ इस नाट्य/नाट्यवेद में कहा गया है।

इस परम सूत्र का मनन करते हुए जब लेखिका ने नाट्यशास्त्र का अवगाहन किया तो पाया कि नाट्यशास्त्र के २७वें 'नाट्यसिद्धि निरूपणाध्याय' में प्रसंगवश प्राश्निक के विषय में गहन-गम्भीर चर्चा की गई है। प्राश्निक यानी assessor/appraiser/judge/evaluator/critique आलोचक/निर्णायक। इसका आशय यह कि भारतवर्ष में आलोचना/समालोचना/Criticism का इतिहास दो हज़ार वर्ष से अधिक पुराना है।

नाट्यशास्त्र में प्रयोगधर्मा कलाओं के सन्दर्भ में प्राश्निक के बड़े ही मार्मिक लक्षण कहे गये हैं-

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्राश्निकानां तु लक्षणं।।

चारित्राभिजनोपेताः शान्तवृत्ताः कृतश्रमाः।

यशोधर्मपराश्चैव मध्यस्थवयसान्विताः।।

षडंगनाट्यकुशलाः प्रबुद्धाः शुचयः समाः।

चतुरातोद्यकुशला वृत्तज्ञास्तत्त्वदर्शिनः।।

देशभाषाविधानज्ञाः कलाशिल्पप्रयोजकाः।

चतुर्धाभिनयोपेता रसभावविकल्पकाः।

शब्दच्छन्दोविधानज्ञा नानाशास्त्रविचक्षणाः।

एवं विधास्तु कर्तव्याः प्राश्निका दशरूपके।।

नाट्यशास्त्र/२७/४६-५३

३. नाट्यशास्त्र/परिमल प्रकाशन/प्रथम अध्याय/श्लोक ११६

अर्थात् सच्चरित्र, कुलीन, शान्त प्रकृति तथा व्यवहार वाला, विद्याभ्यास में परिश्रमी, गुण और यश का आकांक्षी, मध्य अवस्था वाला, नाट्य के छहों अंगों को जानने वाला, प्रत्युत्पन्नमति, पवित्र विचार वाला, आतोद्य की चारों विधाओं तंत्र, अवनद्ध, सुषिर और घन के मर्म को समझने वाला, विभिन्न भाषाओं का जानकार, नेपथ्य विधान को जानने वाला, चारों प्रकार के अभिनय का ज्ञाता, रसभाव को समझने वाला, और भाषा आदि के शब्द तथा छन्द शास्त्र का ज्ञाता ही प्राश्निक बनाया जाये।

ऊपर कहा गया अर्थ स्पष्ट है। इतने सारे गुणों का आगार, और साथ ही निरहंकारी, निर्लिप्त मति वाला व्यक्ति ही प्राश्निक बनने का अधिकारी है। उक्त सूची में कुछ गुण तो जन्मगत-संस्कारगत हो सकते हैं किन्तु अनेक गुण ऐसे हैं जो कठिन परिश्रम, धैर्य और अभ्यास से ही अर्जित किये जा सकते हैं। ध्यान दें कि मुनि ने प्राश्निक के लिये उपयुक्त वय मध्य आयु कही है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न प्रकार के ज्ञान और कौशल को अर्जित किया हुआ, प्रकृति से शुद्ध, शान्त और मध्यम आयु वाला ज्ञान वृद्ध व्यक्ति ही प्राश्निक बनने के योग्य है। क्योंकि छोटी आयु में चंचलता और वयोवृद्ध में शारीरिक अशक्तता सामान्य लक्षण हैं। किन्तु सभी गुणों का एकीकृत होकर किसी एक व्यक्ति में मिल पाना सहज-स्वाभाविक नहीं है। इतना ही नहीं मनुष्य की आयु का एक बड़ा भाग इन गुणों के अर्जन में व्यतीत होने की भी सम्भावना जान पड़ती है। इस तथ्य को समझते हुए आगे भरत कहते हैं कि-

न चैवैते गुणाः सम्यक् सर्वस्मिन् प्रेक्षके स्मृता।
विज्ञेयस्याप्रमेयत्वात्संकीर्णानां च पार्षदि।।

नाट्यशास्त्र/२७/५५

यानी ये विविध गुण किसी एक व्यक्ति में विद्यमान नहीं रह सकते क्योंकि ज्ञेय विषयक अनेक हैं और जीवन छोटा। तो फिर समाधान क्या है? वे कहते हैं-

संघर्षे तु समुत्पन्ने प्राश्निकान् सन्निबोधत।।
यज्ञविन्नर्तकश्चैव छन्दोविच्छब्दवित्तथा।
अस्त्रविचित्रकृद्वेश्या गान्धर्वो राजसेवकः।।

नाट्यशास्त्र/२७/६४-६५

इसका अर्थ यह हुआ कि जब नाट्यप्रयोग की सफलता अथवा असफलता पर विचार संघर्ष उत्पन्न हो तब किसी एक प्राश्निक पर निर्भर न करते हुए, आगे बतलाये जा रहे विशिष्ट वर्ग के प्राश्निकों से सम्मति ली जाये। विशिष्ट वर्ग के प्राश्निक हैं- याज्ञिक, नर्तक, छन्दवेत्ता, वैयाकरण,

अस्त्रशास्त्रों का ज्ञाता, चित्रकार, वेश्या, संगीतकार तथा राजा का सेवक।

एक साधारण बीमारी पर भी हम तीन चिकित्सकों की राय जानने का प्रयास करते हैं। एक साधारण-सी बात पर भी अपने इष्ट-मित्रों से सलाह लेते हैं। तो फिर समालोचना जैसे गुरू गम्भीर दायित्व के निर्वहन में शुद्धता हेतु आवश्यकता होने पर विषय के जानकारों की राय का महत्व समझा जा सकता है। और कुछ न हो तो युवा विद्यार्थी वर्ग से भी उनकी राय लेते हुए अपनी शंका का समाधान किया जा सकता है। इससे एक लाभ यह भी होगा कि जहाँ वे स्वयं को और अपनी कला को महत्वपूर्ण महसूस करेंगे, वहीं सजग होकर देखने-समझने का अभ्यास भी डालेंगे, कि पता नहीं कब हमसे कुछ पूछ लिया जाये।

भरतमुनि के उक्त कथन से यह तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि आलोचक को आलोच्य विषय की गहरी जानकारी हो। सहकारी विषयों का ज्ञान आलोचक के कार्य को उत्कृष्ट बनाता है। नृत्य की प्रस्तुति का एक अहम हिस्सा उसका accompaniment होता है जो प्रस्तुति को सम्भाले रखता है। उम्दा संगत से सामान्य स्तर की नृत्य प्रस्तुति को निखरते और इसके विपरीत संगत उपयुक्त न होने पर अच्छे नर्तक को बेबस होते भी देखा गया है। सामान्य दर्शक अवश्य इस भेद को जान-समझ न पाये किन्तु आलोचक के लिये यह आवश्यक है कि वह मूल और सहकारी की चमक के भेद को परख सके। इसके अलावा नृत्य की विधा अपने आप में आकर्षण के तमाम साधन लिये हुए मंच पर आती है। नर्तक का वेश विन्यास, उसकी मुख सज्जा, मंच सज्जा इत्यादि भी वे घटक हैं जो मूल प्रस्तुति के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करते हैं। इन बाह्य तत्वों से अप्रभावी रहने की अपेक्षा एक आलोचक से की जाती है।

इस सम्बन्ध में सांख्य दर्शन में कहीं पढ़ी चर्चा याद आती है, सन्दर्भ नहीं दे पाऊँगी अभी। वहाँ स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण की चर्चा की गई है। प्राश्निक या आलोचक के लिये इन लक्षणों को जानना बड़ा उपयोगी, साथ ही रोचक होगा। स्वरूप लक्षण तो वह कहा गया जो किसी वस्तु/व्यक्ति/कला का स्वरूप है, उसका अपना रूप है, इस तरह यह उसका आंतरिक लक्षण हुआ। यह उसका आत्म तत्व कहा जा सकता है। यानी जिसके बिना वह, वह नहीं रह जाता। जैसे मनुष्य के शरीर का मूल ढाँचा किसी अन्य प्राणि के शरीर के मूल ढाँचे से भिन्न है। जैसे ध्रुपद गान और ठुमरी या फ़िल्मी संगीत के मूल कथ्य में अन्त है। जैसे कथक, भरतनाट्यम् और भांगड़ा-नृत्य वर्ग में होने पर भी परस्पर पूर्णतः भिन्न हैं। तो स्वरूप लक्षण वे तत्व हैं जो किसी वस्तु, व्यक्ति या विधा का 'वह पन' तय करते हैं और उन्हें कायम रखते हैं। कला के प्रसंग में इससे आगे बढ़कर विभिन्न कलारूपों में प्रयोगधर्मिता के कारण आये आंतरिक परिवर्तन भी शामिल किये जा सकते हैं। कालान्तर

में ऐसे परिवर्तन उनके 'स्वरूप' को वैशिष्ट्य भी प्रदान करते हैं। इसलिये किसी कला के स्वरूप लक्षणों के साथ-साथ ऐसे विशिष्ट परिवर्तनों को जानना, समझना और फिर तदनुसार बरतना प्रयोक्ता (अभिनेता/नर्तक) के साथ-साथ प्राश्निक के लिये भी आवश्यक है। अन्यथा उनके अपने मार्ग से विचलित होने की सम्भावना बन जाती है। स्वरूप लक्षणों को जानने वाला तथा आच्छादित होने वाले अन्य तत्वों के प्रति तटस्थ प्राश्निक ही उच्च कोटि का समालोचक गिना जा सकता है।

दूसरा है- तटस्थ लक्षण। ये दरअसल बाह्य स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार कहे गये हैं जो देश और काल के अनुसार अपेक्षाकृत अधिक गति से बदलते हैं या बदले जा सकते हैं। प्रश्न उठता है कि फिर इन लक्षणों को बाह्य लक्षण न कहकर तटस्थ लक्षण क्यों कहा गया? यहाँ तटस्थ प्राश्निक के दृष्टिकोण से कहा गया है। सामान्य प्रेक्षक का ध्यान प्रस्तुति के विभिन्न घटकों यथा परिवर्तित वेशभूषा अथवा नेपथ्य आदि की चमक-दमक में भटक सकता है, बहुत सम्भव है कि सामान्य प्रेक्षक कला की गुणवत्ता को गहराई से न समझ सके। सामान्य प्रेक्षक इन बाहरी घटकों से सबसे अधिक प्रभावित होता है और उसका ध्यान मूल तत्व से भटक जाता है। किन्तु प्राश्निक के लिये यह आवश्यक है कि वह इन हावी होने वाले घटकों के प्रति तटस्थ रहे और मूल तत्व को अपने अवधान केन्द्र में रखे। इस तरह एक बार फिर गुरु-गम्भीर उत्तरदायित्व बनता है आलोचक का।

यद्यपि किसी प्रस्तुति में प्रयोक्ता का यह कर्त्तव्य है कि वह इन बाह्य उपकरणों और उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग का संज्ञान स्वयं ले तथापि यदि प्रयोक्ता इन प्रचलित और लोकप्रिय उपकरणों का ग्रहण असन्तुलित रूप से करता भी है तो फिर प्राश्निक से यह अपेक्षा रहती है कि वह कला के 'स्वरूप लक्षणों' पर आच्छानकारी 'बाह्य लक्षणों' के प्रति तटस्थ रहते हुए अपने वक्तव्य/समालोचना से प्रयोक्ता तथा प्रेक्षक, दोनों को सजग करे। यह बतलाये कि ऐसे उपकरणों का प्रयोग किस सीमा तक ग्राह्य है। एक तरह से आलोचक, प्रयोक्ता का पथ प्रदर्शक बने। इसलिये प्राश्निक या आलोचक का अवधान आवश्यक रूप से 'स्वरूप लक्षणों' पर केन्द्रित रहना चाहिये तब ही वह अपने मूल्यांकन में आवश्यक निर्देशों का समावेश करते हुए अपने उत्तरदायित्व का वहन कर पायेगा। इसलिए जब ये प्रश्न उठे कि आलोचक की विषय के प्रति आसक्ति हो अथवा प्रयोक्ता के प्रति? जो बहुत स्पष्ट और सीधा समाधान है कि वह मात्र विषय के प्रति आसक्त रहे। प्रकारान्तर से प्राश्निक अपनी न्यायपूर्ण तटस्थ समालोचना के द्वारा कलाओं के संरक्षण का कार्य भी कर सकता है।

अब इतने ज्ञान, सजगता और अन्य आवश्यक संसाधनों से लैस प्राश्निक एक तरह से कलाकारों का भाग्यविधाता बन जाता है। उसकी कृपादृष्टि की लालसा हर वर्ग के कलाकार को रहती ही है। तो फिर क्या अब ऐसे प्राश्निक के लिये किसी निर्देश की आवश्यकता नहीं बचती? नहीं। आचार्य

भरत ने इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट रूप से कहा है कि प्राश्निक अपनी समालोचना का प्रारम्भ सकारात्मक टिप्पणियों से करे। इसका आशय यह है कि जो कुछ अच्छा है उसे अपनी लेखनी से अधिक सशक्त और खूबसूरत तरीके से प्रस्तुत करे। सकारात्मक टिप्पणियाँ एक ओर तो प्रयोक्ता का मनोबल बढ़ाती हैं, वहीं दूसरी ओर उन विशेष बिन्दुओं के प्रति सजगता के संस्कार बीज प्रेक्षकों में भी रोपित करती हैं। एक तरह से ऐसी टिप्पणियाँ प्रेक्षकों को संस्कारित करते हुए, उन्हें अच्छा देखने-सुनने को प्रेरित करती है। प्राश्निक की यह नैतिक ज़िम्मेदारी है कि वह कमज़ोर बिन्दुओं को भी अपनी आलोचना में स्पष्ट करे। सुलझे तौर पर की गई खरी किन्तु सधी व्याख्या से न केवल प्रयोक्ता सही मार्ग का अवलम्ब लेंगे वरन् प्रेक्षक में यह समझ पैदा होगी कि क्या सही और क्या सतही है।

'कृतश्रमी' और 'जिज्ञासु' होना प्राश्निक के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रत्येक प्रस्तुति, जिसपर अपनी सम्मति देनी हो, उसे पूर्णरूप से धैर्यपूर्वक देखने का अभ्यास एक योग्य प्राश्निक का गुण है। विषय का ज्ञाता होने पर भी बालसुलभ जिज्ञासा लिये प्रस्तुति के प्रत्येक पक्ष को जानने की चेष्टा, उसके सजग और सहृदय होने का संकेत है। उपरोक्त गुणों से सम्पन्न प्राश्निक/समालोचक, प्रस्तोता के दिशा-निर्देशन और प्रेक्षक के शिक्षण के साथ-साथ कलाओं के संरक्षण की त्रिविध भूमिका निभाते हुए समाज के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का महत् कार्य भी कर सकता है। इत्यलम्।

रसखान

योगेश प्रताप शेखर

सैयद इब्राहिम रसखान हिन्दी साहित्य में भक्त कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में भी उनके बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। गार्सा द तासी के इतिहास-ग्रन्थ में तो उनका कोई ज़िक्र भी नहीं मिलता। शिवसिंह सेंगर लिखित 'शिवसिंह सरोज' (१८७८ ई.) में उन्हें 'पिहानी वाले' बताया गया है और यह विवरण दिया गया है कि 'ये कवि मुसलमान थे। श्री वृन्दावन में जाय कृष्ण चन्द्र की भक्ति भाव में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी त्याग कर, माला कण्ठी धारण किये हुए वृन्दावन की रज में मिलि गए। इनकी कविता निपट ललित माधुर्यता से भरी हुई है। इनकी कथा भक्तमाल में पढ़ने योग्य है।' इससे यह पता चलता है कि रसखान वृन्दावन कभी गए थे और वहीं रह गए। पता नहीं शिवसिंह सेंगर ने यह कैसे लिखा कि रसखान की कथा नाभादास कृत 'भक्तमाल' में है? 'भक्तमाल' में एक छप्पय है जिसमें कृष्ण यानी 'श्रीव्रजचन्द्रजी के षोडश सखा' का उल्लेख है। इसी में रसखान का नाम 'रसदान' करते हुए उनकी चर्चा है। हो सकता है कि शिवसिंह सेंगर का अभिप्राय 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' से हो।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपनी किताब 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' (१८८६ ई.) में रसखान को 'पिहानी' का ही बताया है और उनका जन्म-वर्ष १५७५ ई. माना है। गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र, जो हिन्दी साहित्य में 'मिश्रबन्धु' के नाम से जाने जाते हैं, ने अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' के पहले भाग (१९१३ ई.) में रसखान पर किंचित् विस्तार से लिखा है। मिश्रबन्धुओं ने रसखान का जन्म १५५८ ई. और मृत्यु १६२८ ई. में मानी है।

इन सबसे अनुमान लगाया जा सकता है कि रसखान के कृष्ण-भक्त हो जाने में एक गुत्थी है जो अभी तक सुलझ नहीं पाई है। इतना तो स्पष्ट है कि मध्यकालीन भारतीय समाज और संस्कृति में व्यापक तौर पर हिन्दुओं और मुसलमानों में मिश्रण हुआ था। निश्चय ही हिन्दुओं और मुसलमानों के जीवन जीने के तरीके, खान-पान, मान्यताएँ और विश्वास अलग-अलग रहे होंगे पर जीवन की आवश्यकताओं ने उन्हें एक-दूसरे के क़रीब भी किया था। इसलिए आगे चलकर जीवन जीने के तरीके, खान-पान, मान्यताएँ और विश्वास और यहाँ तक कि भाषा में भी व्यापक मेल-जोल दिखायी देता है। पर यह सवाल तो है ही कि रसखान कृष्ण-भक्ति की ओर कैसे आकृष्ट हुए? ऊपर की किंवदंतियों

और जनश्रुतियों से जुड़ी यह बात भी है कि रसखान फारसी में श्रीमद्भागवत पुराण का अनुवाद पढ़ा करते थे। पर हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा जैसा कि ऑड्रे तुरुष्के ने अपनी किताब 'कल्चर ऑफ इनकाउंटर्स' में लक्ष्य किया है कि मध्यकालीन धार्मिक विविधता को केवल हिन्दू-मुसलमान के खाँचे में नहीं समझा जा सकता है। ऐसा इसलिए भी कि केवल यही दो समुदाय ही उस समय नहीं थे। फिर भी दोनों समुदायों में जीवन की ज़रूरतों के कारण व्यापक सहयोग भी होता रहा है। अभी त्रैमासिक पत्रिका 'समास' में (अंक १७) वरिष्ठ समाजशास्त्री आशीष नन्दी ने सम्पादक से बातचीत के दौरान यह ध्यान दिलाया है कि 'अयोध्या की सभी देवमूर्तियों (विग्रहों) के कपड़ों के बनाने वाले मुसलमान थे। हज़ार मन्दिरों के सभी कपड़े मुसलमान ही बनाया करते थे। वहाँ के कुछ मन्दिर मुसलमानों के थे। देवताओं के सभी आभूषण भी मुसलमान बनाया करते थे। सभी पर्दे और कपड़े मुसलमान ही सिलते थे। मन्दिरों में इस्तेमाल होने वाले सभी फूल मुसलमान उगाते थे, उन्हीं की स्त्रियों के हाथों की गूँथी मालाएँ अयोध्या के देवी-देवताओं को पहनायी जाती थी। असली अयोध्या वो है। अब ये किसको समझाएँ।' इससे यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में अनेक तरह की साधना पद्धतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई, एक-दूसरे को काटती हुई और एक-दूसरे को सहयोग देती हुई चल रही थीं। रसखान और आगे चलकर नज़ीर अकबराबादी (१७३५-१८३० ई.) इस पूरी प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। निश्चय ही इसमें कृष्ण के खुले व्यक्तित्व का भी योगदान था जिसे लम्बे समय में मिथकीय रूप में जनता द्वारा रचा गया था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९२९ ई.)' में रसखान पर गहराई-से विचार है। उन्होंने रसखान की कविता की लोकप्रियता और उसकी भाषा की विशेषताओं को सामने रखा। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में वे लिखते हैं कि 'प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्गार इनके सवैयों में निकले कि जनसाधारण प्रेम या शृंगार सम्बन्धी कवित्तसवैयों को ही 'रसखान' कहने लगे -- जैसे 'कोई रसखान सुनाओ।' इनकी भाषा बहुत चलती, सरल और शब्दाडम्बरमुक्त होती थी। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफ़ाई इनकी और घनानन्द की रचनाओं में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।' आचार्य शुक्ल का रसखान की भाषा को 'शुद्ध' कहना अपने-आप में काफ़ी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अपने 'इतिहास' में वे बहुत कम कवियों की भाषा को शुद्ध मानते हैं। रसखान के अलावा आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन कवि घनानन्द की ब्रजभाषा को शुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में रसखान को किस तरह से देखा गया है? रसखान की रचनाओं का सबसे पहले संग्रह 'उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले' किशोरीलाल गोस्वामी ने किया। बाद में और कई लोगों यथा प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, बाबू अमीर सिंह और पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने क्रमशः 'रसखान-पदावली', 'रसखान और घनानन्द' और 'रसखानि ग्रन्थावली' नामक संग्रहों में रसखान की रचनाओं का संकलन किया। इन संग्रहों में रसखान

की तीन रचनाएँ रखी गई हैं। इन तीनों रचनाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध 'सुजान-रसखान' है। इसके अतिरिक्त 'प्रेम-वाटिका' और 'दान-लीला' रचनाएँ भी हैं। 'सुजान-रसखान' में प्रमुखतः सवैये और कबित्त संकलित हैं। हालाँकि, इसमें अल्प मात्रा में दोहे और सोरठे भी हैं। 'दान-लीला' में भी सवैये और कबित्त संकलित हैं। 'प्रेम-वाटिका' में दोहे हैं। भक्ति साहित्य पर अभी-अभी अंग्रेजी में सम्पादित किताब 'टेक्स्ट एंड ट्रेडिशन इन अर्ली मॉडर्न नॉर्थ इंडिया' (सं. टेलर विलियम्स, अंशु मल्होत्रा, जॉन स्ट्राटन हॉवले, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, २०१८ ई.) में जापानी विदुषी हिरोको नागासाकी ने यह बात लिखी है कि रसखान द्वारा व्यवात सवैया छन्द दरअसल उत्तर भारतीय काव्य-परम्परा और फ़ारसी छन्द-विधान का मिश्रण था। अपने इसी लेख में हिरोको नागासाकी ने यह भी लक्ष्य किया है कि रसखान की कविता में सूफ़ी दर्शन और कृष्ण भक्ति का मिश्रण बहुत गहरे समर्पण के साथ हुआ है।

रसखान के यहाँ कृष्ण के लिए भक्ति दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है। एक रूप तो वह है, जहाँ सीधे-सीधे कृष्ण के प्रति रसखान की अनन्य भक्ति सामने आती है। दूसरी स्थिति में यह भक्ति गोपियों की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है। रसखान की कृष्ण के प्रति जो अनन्यता है, उसे भक्ति का शास्त्रीय वर्गीकरण करने वाले विद्वानों ने 'सायुज्य' भक्ति कहा है। रसखान का निम्नांकित सवैया कृष्ण के प्रति उनकी अनन्यता को प्रकट करता है:

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं निलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

इस सवैये में हर स्थिति में रसखान वह होना चाहते हैं जिससे उनका जुड़ाव कृष्ण से बना रहे। इसके साथ-साथ यहाँ यह बात भी लक्ष्य की जा सकती है कि पुनर्जन्म की पुख़्ता अवधारणा जिस प्रकार हिन्दू धर्म में है, उस तरह से इस्लाम में नहीं। फिर भी इसे मानकर रसखान अपनी इच्छा व्यक्त कर रहे हैं। अपनी धार्मिक पहचान के समानान्तर दूसरे की धार्मिक मान्यताओं को आत्मासात करके रचना करना, यह भक्ति की उदार भावना के कारण सम्भव हुआ है। उनके लिए कृष्ण का साथ महत्त्वपूर्ण है चाहे वह गोकुल गाँव के ग्वालों के रूप में हो या नन्द की गायों के रूप में या गोवर्धन पर्वत के पत्थर के रूप में या यमुना किनारे कदम्ब के पेड़ों पर रहने वाले पक्षियों के रूप में। भक्ति की यह अनन्यता और समर्पित भावना दुर्लभ है।

रसखान के कृष्ण की यह विशेषता है कि वे एक ही साथ सगुण भी हैं और निर्गुण भी। उनकी लीलाओं के वर्णन में रसखान उनके 'लीलाधर' रूप से भी वाकिफ़ हैं और उनके परब्रह्म रूप से भी।

यों तो सूरदास के कृष्ण भी दोनों हैं पर रसखान की विलक्षणता इस बात में है कि उनके कृष्ण एक ही साथ दोनों रूपों में सामने आते हैं। यहाँ उनके निर्गुण रूप के बखान के लिए किसी सन्देशवाहक की ज़रूरत नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं :

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

इस अतिप्रसिद्ध सवैये की कई विशेषताएँ हैं। कविता के धरातल पर भी और विचार के स्तर पर भी। पहली पंक्ति में 'स' वर्ण की आवृत्ति, दूसरी पंक्ति में 'अ' की आवृत्ति, तीसरी में 'प' की आवृत्ति और चौथी पंक्ति में 'छ' वर्ण की आवृत्ति हुई है। इस कारण इसमें विशेष प्रकार की संगीतात्मकता आ गयी है जिसके कारण यह आसानी-से ज़ुबान पर चढ़ जाता है। यह तो हुई कविता के धरातल पर बात! विचार के स्तर पर यह एक रचनात्मक वैभव ही है कि जो निर्गुण है, जिसको बड़े-बड़े देवता भी भजते हैं, जिसे वेद अनादि, अनन्त और अखण्ड बताते हैं, श्रेष्ठ भक्त भी उसके स्वरूप का पूरी तरह पता नहीं लगा पाते, वह परब्रह्म यानी चरम सत्ता एक तथाकथित छोटी-सी चीज़ 'छछिया भर छाछ' पर साधारण गोपियों, जो न तो कृष्ण को भजती हैं, न उन्हें अनादि, अनन्त और अखण्ड मानती हैं और न ही कृष्ण के स्वरूप को लेकर किसी खोज में लगती हैं, के द्वारा नचाया जाता है। रसखान की कविता भक्ति का प्रेम में रूपान्तरण की प्रक्रिया का श्रेष्ठ रचनात्मक उदाहरण है। इसी से मिलता-जुलता एक और सवैया है :

ब्रह्मा मैं ढूँढ़्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देखौ दुरो वह कुंजकुटीर मैं बैठो पलोटत राधिका के पायन।

यहाँ कहा जा रहा है कि उस परम ब्रह्म को मैंने पुराणों और गीतों में खोजा। उसे मैंने चौगुने चाव से वेद की ऋचाओं में ढूँढ़ा कि शायद उन्हें पता हो। मैंने उसे न तो देखा, न ही उसके बारे में सुना और न ही यह जान पाया कि उसका स्वरूप और स्वभाव कैसा है? मैं उसे पुकारता और खोजता हुआ थककर हार गया क्योंकि किसी पुरुष या स्त्री ने उसका पता नहीं बताया। वह मुझे कहीं नहीं मिला पर अन्त में वह कुंजकुटीर में छुपकर राधा के पैरों को दबाता हुआ मिला। ऊपर के दोनों सवैयों को मिलाकर पढ़ने पर कुछ बातें सैद्धान्तिक रूप से भी समझ में आती हैं। पहली बात तो यह है कि भक्ति की शास्त्रीय अवधारणा के समानान्तर उसकी अपेक्षाकृत लौकिक अवधारणा भी सशक्त है। अगर

यह नहीं होती तो वह परम ब्रह्म एक क्षुद्र-सा लगने वाला काम क्यों करता? दूसरी बात यह कि भक्ति में जानने से अधिक महसूस करने की बात है। ऊपर की तीन पंक्तियों में महसूस करने से अधिक जानने की बात है जबकि चौथी पंक्ति में देखने की बात कही जा रही है। तीन पंक्तियों में ज्ञान की बात है तो चौथी में अनुभव की। इस दृष्टि से देखने पर लगता है कि रसखान की भक्ति में जैसे कबीर और सूर की भक्ति मिल गयी हो। ऐसा इसलिए कि कबीर 'अनुभव' यानी 'आँखिन देखी' की बात करते हैं और सूरदास विवशता में ही सही पर स्वीकार करते हैं कि वे 'सगुन पद' 'गा' रहे हैं। भक्ति की शास्त्रीय अवधारणा यह कहती है कि ईश्वर की कृपा से तीनों लोकों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो सकता है, तमाम तरह के ऐश्वर्य हासिल हो सकते हैं, मोक्ष मिल सकता है। रसखान ऐसी कोई कामना नहीं करते। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वे हर हाल में कृष्ण से जुड़े रहना चाहते हैं। जैसे किसी से सच्चे प्यार का कोई कारण नहीं होता वैसे ही सच्ची भक्ति का भी कोई कारण नहीं होता। यहीं पर रसखान के सूफ़ी दर्शन से प्रभावित होने की बात भी समझ में आती है। ईराक की प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त राबिया ने कहा है कि हे ईश्वर, यदि मैं नरक के भय से तुम्हारी पूजा करती हूँ तो मुझे नरकाग्नि में जला दो, यदि स्वर्ग की आशा में मैं तुम्हारी उपासना करती हूँ तो मुझे स्वर्ग से निकाल दो परन्तु यदि मैं तुम्हारी उपासना केवल तुम्हारे लिए करती हूँ तो अपने शाश्वत सौन्दर्य को मुझसे न छिपाओ। रसखान भी यही बात दूसरे अन्दाज़ से कह रहे हैं। रसखान की भक्ति में शास्त्रीय अवधारणा के समानान्तर लौकिक अवधारणा को नीचे दिए जा रहे सवैये से भी समझा जा सकता है:

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं।
रसखानि कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक रौ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।

हिन्दी साहित्य में इस सवैये को कृष्ण के कथन के रूप में पढ़ा-पढ़ाया जाता रहा है। लोग ऐसे प्रसंग की कल्पना कर लेते हैं कि मथुरा में रहते हुए कृष्ण यह सब सोच रहे हैं। अपने पुराने दिनों को याद कर रहे हैं और उन पर आज के अपने ऐश्वर्य को न्योछावर कर रहे हैं। यहाँ इस अर्थ से कोई असहमति नहीं प्रकट की जा रही है परन्तु इसमें इस अर्थ की भी सम्भावना है कि यह सारा कुछ एक भक्त कह रहा है। ऐसी सम्भावना के स्वीकार से राबिया के कथन से रसखान की भावना का सम्बन्ध दिखायी देगा। एक भक्त अपने भगवान की लीला की वस्तुओं पर तीनों लोकों के राज को त्याग देने की बात कह रहा है। वह संसार की प्रसिद्ध आठों सिद्धियों और नवों निधियों को भी भूल सकता है यदि उसे नन्द की गाय चराने को मिल जाए। उसके मन में यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह अपने इष्ट की लीला-स्थली को जी भर के निहार सके। इतना ही नहीं, वह करोड़ों ऐश्वर्यशाली सोना-चाँदी के महलों को करील के कुंजों पर न्योछावर कर रहा है। इससे रसखान की भक्ति का अनन्य

और समर्पित रूप दिखायी देता है।

सूरदास पर लिखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी विशेषता बतलाते हुए कहा है कि सूर की बड़ी भारी विशेषता है, नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना। यहाँ निवेदन यह है कि कोई भी कवि या रचनाकार मिथकीय या पौराणिक प्रसंगों या चरित्रों को आधार बना रचना करता है तो उसकी रचना में नवीनता या रचनात्मकता बिना नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना के आ ही नहीं सकती। मिथकीय और पौराणिक चरित्र उसे यह छूट देते हैं कि वह अपनी रचनाशीलता के हिसाब से उनमें अर्थ और प्रसंग भर सके। ऐसा इसलिए भी कि किसी भी ऐसे रचनाकार का उद्देश्य मिथकीय या पौराणिक प्रसंगों या चरित्रों की पुनर्प्रस्तुति करना कतई नहीं होता। यही कारण है कि जयदेव की राधा से विद्यापति की राधा अलग है। विद्यापति की राधा से भिन्न सूरदास की राधा है। सूरदास की राधा से आधुनिक कवि धर्मवीर भारती की रचना 'कनुप्रिया' की राधा अलग है। अतः यह देखना दिलचस्प होगा कि रसखान नवीन प्रसंगों की कहाँ और कैसी उद्‌भावना करते हैं? कुछ प्रसंगों से यह बात शायद स्पष्ट हो।

रसखान ने कृष्ण के बाल-रूप का उतना वर्णन नहीं किया है जितना कि गोपियों से उनके प्रेम का पर एक जगह वे कहते हैं कि कृष्ण धूल से भरे हैं और उनके सिर पर सुन्दर चोटी बनी हुई है। वे आँगन में खेलते हुए खाते फिर रहे हैं। उनके चलने से पैजनी बज रही है और वे पीली कछोटी पहने हुए हैं। उनके इस रूप को देखकर करोड़ों कामदेव की सुन्दरता न्योछावर है। कौवे का बड़ा सौभाग्य है कि वह कृष्ण के हाथ से माखन-रोटी छीनकर ले गया।

धूर भरे अति शोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैंजनी बाजती पीरी कछोटी।
वा छवि को रसखानि बिलोकत बारत काम-कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी।

इस सवैये में भी भक्ति का लौकिक और अलौकिक रूप मिश्रित है। प्रथम तीन पंक्तियों में लौकिक रूप वर्णित है। चौथी पंक्ति में जो कहा जा रहा है कि कौवे का बड़ा सौभाग्य है कि वह कृष्ण के हाथ से माखन-रोटी छीन कर ले गया। यदि इसके कारण पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि कौवे का सौभाग्य इसलिए है कि वह कृष्ण के हाथों से छीनकर ले जा रहा है जो दरअसल परब्रह्म हैं। यानी सर्वोच्च सत्ता को एक सामान्य या तुच्छ कौवा भी जीत सकता है। इस सवैये में जो यह विषमता है वही हमें आकर्षित करती है। मान लीजिए यदि ऐसा कुछ वर्णन होता कि कृष्ण कौवे से प्रसन्न होकर उसे अपने हाथों से रोटी खिला रहे होते तो इसका प्रभाव कभी भी वैसा नहीं पड़ता जैसा अभी पड़ा है।

गोपियों के साथ कृष्ण के सम्बन्ध भिन्न-भिन्न तरह के हैं। कभी वे कहती हैं कि सब कुछ करेंगी लेकिन कृष्ण के अधरों पर रहनेवाली मुरली को अपने अधरों पर नहीं रखेंगी। कभी वे कहती हैं कि

यशोदा का यह छोरा मुरली बजाता है और ब्रज में विष फैला रहा है? कभी कहती हैं कि पूरे ब्रज में कृष्ण के प्रेम का डंका बज रहा है। गोपियाँ कृष्ण के रूप पर लुब्ध हैं। इसके साथ-साथ वे कृष्ण के मुरली बजाने पर अपनी सुध-बुध खो बैठती हैं। कृष्ण से प्रेम के कारण और कृष्ण के मुरली बजाने के फलस्वरूप गोपियों की कुल की लज्जा ख़त्म हो जाती है। विद्यानिवास मिश्र द्वारा संपादित 'रसखान रचनावली' में ढेरों ऐसे छन्द हैं जिनमें गोपियाँ 'कुल की कानि' यानी 'कुल की लज्जा' के टूट जाने की बात करती हैं। इन घटनाओं में भी रसखान द्वारा नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना नज़र आती है। इन छन्दों में रसखान की स्वच्छन्द कल्पना अपनी उड़ान भरती है और अनेक मार्मिक प्रसंगों की रचना करती है।

जैसा कि संकेत किया गया कि रसखान की गोपियाँ बार-बार 'कुल की कानि' के न रहने या उसके टूट जाने या नष्ट हो जाने की बात करती हैं। भारतीय समाज में कुल या परिवार की इ़ज़्ज़त को बचाने का ज़िम्मा लड़कियों को ही दिया गया है। संस्कृत से लेकर हिन्दी साहित्य में जो नायिका-भेद की अवधारणा आयी है उसका यदि समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाए तो लड़की के बनने की प्रक्रिया को साहित्यिक तौर पर समझ पाएँगे। लड़की की यौनिकता पर भी अनेक तरह के पहरे हैं। इन सबके पीछे यही बात डर के रूप में बैठी लगती है कि लड़की या स्त्री अपनी मर्ज़ी से कोई सम्बन्ध न बना ले। जैनेंद्र कुमार के प्रसिद्ध उपन्यास 'त्यागपत्र' (१९३७ ई.) में कथावाचक प्रमोद अपनी बुआ मृणाल के बारे में यह बताता है कि मृणाल की भौजाई उसे 'आर्य गृहिणी' के आदर्श के रूप में ढालना चाहती थीं। 'आर्य नैतिकता' के बोझ तले भारत की स्त्रियाँ दबी रहती हैं। रसखान की गोपियाँ खुलकर कृष्ण से अपने प्रेम को स्वीकार करती हैं। दरअसल, कृष्ण के व्यक्तित्व में ही वह सम्भावना है कि किसी प्रकार के बाहरी बन्धन को न माना जाए। उदाहरण के लिए कृष्ण एक से नहीं बल्कि अनेक गोपियों से प्यार करते हैं। जिससे सबसे अधिक प्यार करते हैं यानी राधा उससे विवाह नहीं करते। मथुरा जाते हैं तो वहाँ भी कुब्जा से प्रेम करने लगते हैं। एक नहीं बल्कि अनेक शादियाँ करते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कृष्ण का व्यक्तित्व भारतीय जनता ने इस रूप में रचा है कि पूर्व-निर्धारित नैतिकता वहाँ ध्वस्त हो जाती है। रसखान की गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम, अपनी चाहत और अपनी समर्पण-भावना का बिना डरे वर्णन करती हैं। नीचे दिए जा रहे कबित्त में गोपियाँ कृष्ण के असर को स्पष्ट कह रही हैं :

ब्याही अनब्याही ब्रजमाहीं सब चाही तासों,
दूनी सकुचाई दीठि परै न जुन्हैया की।
नेकु मुसकानि रसखानि की बिलोकत ही,
चेरी होत एक बार कुंजनि दिखैया की।
मेरो कह्यो मानि अन्त मेरो गुन मानि है री,
प्रात खात जात ना सकात सौंह भैया की।

माइ की अँटक जौं लौं सासु की हटक तौ लौं,
देखी ना लटक मेरे दूलह कन्हैया की।

इस कबित्त में गोपी साफ़-साफ़ कह रही है कि क्या विवाहित और क्या अविवाहित, सभी उसे यानी कृष्ण को चाहती हैं। भाई की कसम सुबह-सुबह क्या खाऊँ! जब तक अपने दूल्हे कृष्ण का अपने प्रति झुकाव नहीं देखा तभी तक माँ की रोक और सास की मना करने की हालत है। इसी तरह से एक गोपी यह कहती है :

जा दिन तें निरख्यो नन्दनन्दन कानि तजि घर बन्धन छूट्यो।
चारु बिलोकनि की निसि मार सम्हार गई मन मार ने लूट्यो।
सागर को सरिता जिमि धावत रोकि रहे कुल को पुल टूट्यो।
मत्त भयो मन संग फिरै रसखानि सरूप सुधारस घूट्यो।

इस सवैये में रसखान की विराट कल्पना-क्षमता का पता चलता है। गोपी का कहना है कि जिस दिन से मैंने नन्दनन्दन यानी कृष्ण को देखा, उस दिन से ही लज्जा त्याग दी और घर के बन्धन छूट गए। उस सुन्दर को देखने के बाद मैंने किसी तरह रात भर अपने को सँभाला परन्तु कामदेव ने मेरा मन लूट लिया। जिस तरह से नदी समुद्र से मिलने के लिए दौड़ती है वैसे ही मैं भी कृष्ण से मिलने के लिए दौड़ी और कुल का पुल टूट गया। मैं मतवारी होकर संग फिरती रही और उसके सुन्दर रूप का अमृत लूटती रही। इस सवैये में कुल के पुल टूटने का प्रयोग सर्जनात्मकता का विस्फोट है। ठीक इसी प्रकार एक गोपी उस आर्य नैतिकता के टूटने की भी बात करती है :

रंग भर्यो मुसकात लला निकस्यो कल कुंजनि तें सुखदाई।
मैं तब हीं निकसी घर तें तकि नैन बिसाल की चोट चलाई।
रसखानि सो घूमि गिरी धरती हरिनी जिमि बान लगे गिरि जाई।
टूटि गयो घर को सब बन्धन छूटिगो आरज लाज बड़ाई।

गोपी कह रही है कि मैं जब घर से निकली तब कृष्ण कुंज से मुस्काते हुए निकले और उन्होंने अपने नेत्रों की चोट से मुझे घायल कर दिया। मैं ज़मीन पर ऐसे गिर पड़ी जैसे बाण लगने पर हिरणी गिर जाती है। इस पूरी प्रक्रिया में घर के सारे बन्धन छूट गए और 'आर्य लज्जा' भी नष्ट हो गयी।

एक गोपी यह कह रही है कि अब तक मुझे कुछ समझ में नहीं आया कि कृष्ण के साथ आँखें नचा-नचा कर ब्रज में लोग क्यों हँसते हैं। मेरी सास रोज़ यह देखकर ठण्डी साँसें भरती हैं और मेरी माँ की कान्ति रोज़ क्रमशः नष्ट हो रही है। चारों ओर पिता की कसम का शोर सुनती हूँ और मेरा मन उलझता जाता है। पर मैं क्या करूँ? उसे देखकर मेरा जी हुलसता ही जाता है :

समझी न कछू अजहूँ हरि सों ब्रज नैन नचाइ नचाइ हँसै।
नित सास की सीरी उसासनि सों दिनहीं दिन माइ की कान्ति नसै।
चहुँ ओर बबा की सौं सोर सुनै मन मेरेऊ आवति री सकसै।
पै कहा करौं वा रसखानि बिलोकि हियो हुलसै हुलसै हुलसै।

गोपियाँ कृष्ण की मुरली की ज़बरदस्त चाहने वाली हैं। एक गोपी तो यहाँ तक कह देती है कि पति मेरा परदेस गया हुआ है परन्तु मुरली सुनकर मेरी देह में जैसे कामदेव सजने लगता है। अब मैं क्या करूँ? मेरा कोई वश ही नहीं है :

बजी है बजी रसखानि बजी सुनि कै अब गोपकुमारि न जीहै।
न जीहै कोऊ जो कदाचित कामिनी कानी मै वाकी जु तान कू पीहै।
कू पीहै बिदेस सँदेस न पावति मेरी व देह को मैन सजी है।
सजी है तो मेरे कहा बस है सु बैरिन बाँसुरी फेरि बजी है।

इतना ही नहीं, बाँसुरी के प्रति गोपियों के मन में ईर्ष्या भाव भी है। एक गोपी तो चिढ़कर यहाँ तक कह देती है कि अब ब्रज में केवल बाँसुरी ही रहेगी। एक कहती है कि पूरे बाँस को ही कटवा डालने का उपाय कीजिए क्योंकि न रहे बाँस न बाजे बाँसुरी। ऊपर यह उल्लेख किया गया था कि एक गोपी को यह लगता है कि यशोदा का छोरा बाँसुरी बजा रहा है या पूरे ब्रज में विष फैला रहा है? उसी कबित्त में गोपी यह भी कहती है कि मैंने दूध दूहा, उसे ठण्डा होने के लिए रखा और फिर उसमें मिलाने के लिए रखा जामन कि पड़ा-पड़ा खट्टा हो जाएगा। इसी बीच कृष्ण ने बाँसुरी बजायी और सब कुछ उलट-पुलट हो गया। उसका यह करना सारे नर और नारियों को बिल-बिलाने पर मजबूर कर देगाः

दूध दुह्यो सीरो पर्यो तातो न जमायो कर्यो,
जामन दयो सो धर्यो धर्योई खटाइगो।
आन हाथ आन पाइ सबही के तबहीं तें,
जबहीं तें रसखानि तानन सुनाइगो।
ज्यौंहीं नर त्यौंहीं नारी तैसी ये तरुन बारी,
कहिए कहा री सब ब्रज बिललाइगो।
जानिए न आली यह छोहरा जसोमति को,
बाँसुरी बजाइगो कि विष बगराइगो।

रसखान के यहाँ स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति भरपूर है। इसलिए उनकी प्रेम-भावना में व्याकुलता और

भावाकुलता दोनों हैं। प्रेम की भावाकुलता के कारण दोनों यानी प्रेमी और प्रेमिका की जो सहज एवं स्वाभाविक दशा होती है, उसका वर्णन रसखान ने अपने एक लाजवाब कबित्त में किया है। एक सखी दूसरी सखी से प्रेमी-प्रेमिका (सम्भवतः कृष्ण-राधा) की भावाकुलता का वर्णन करते हुए कह रही है कि ऐ सखी! आजकल दोनों सारे लोक-लाज त्यागकर सभी प्रकार से प्रेम में सराबोर हैं। यह बात दो दिन में सब जगह फैल जाएगी, भला कोई कब तक विकसित चन्दा को हाथों में छुपा सकता है! आज ही देखा कि यमुना किनारे दोनों एक-दूसरे को मुड़-मुड़ कर देख मुस्कुरा रहे थे। दोनों एक-दूजे की बलैयाँ ले रहे थे और कृष्ण को गाएँ भूल गयीं और राधा को गागर उठाना!

एरी आजु काल्हि सब लोक लाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसाइबो।
यह रसखान दिना द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँ लौं सयानी चन्दा हाथन छिपाइबो।
आजु हौं निहार्यो बीर कालिन्दी तीर,
दोउन को दोउन सों मुरि मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ इन्हैं,
भूलि गईं गैयाँ उन्हैं गागर उठाइबो।

ऊपर 'कुल-कानि' की चर्चा की गई है। इस दृष्टि से अगर देखा जाए तो रसखान की गोपियाँ सूरदास की गोपियों से भिन्न हैं। सूरदास की गोपियाँ सिर्फ़ 'भ्रमरगीत-प्रसंग' में आत्मविश्वास से भरी हैं और वे जी भर के उद्धव का उपहास करती हैं। रसखान के यहाँ भ्रमरगीत प्रसंग अलग से नहीं है। रसखान की गोपियाँ, सास, ननद और बचाव करने वाले के समानांतर अपनी दृढ़ता और प्रेम को अभिव्यक्त करती हैं। एक गोपी कहती है :

तुम चाहो कहौ सो कहौ हम तौ नन्दवारे के संग ठईं सो ठईं।
तुम ही कुलवीने प्रबीने सबै हम ही कुछ छाँड़ि गईं सो गईं।
रसखान यों प्रीत की रीति नई सु कलंक की मोटैं लईं सो लईं।
यह गाँव के पासी हँसैं सो हँसैं हम स्याम की दासी भईं सो भईं।

इस सवैये का विश्लेषण हम करें तो पाएँगे कि इसमें गोपी की दृढ़ता के साथ-साथ उसके द्वारा दी जा रही चुनौती भी अभिव्यक्त हो रही है। वह कितने विश्वास से यह कह रही है कि 'तुम्हें जो कहना है कहो। हम तो श्याम के साथ दृढ़ संकल्प ले चुकी हैं। तुम होगे कुलीन और प्रवीण पर हमने यह कुलीनता और तथाकथित प्रवीणता छोड़ दी है। यह प्रेम की नयी रीति है, जिसमें हम ने कलंक की गठरी ले ली है। गाँव के बहेलिये हँसें तो हँसें। हम तो श्याम की दासी हो गयीं सो हो गयीं।' यहाँ

तथाकथित कुलीनता का तिरस्कार तो है ही, साथ-ही-साथ गाँव के लोगों को बहेलिया कहा जा रहा है, जो काफ़ी व्यंजक है। इसी तरह एक गोपी कहती है :

सास की सासन ही चलिबौ चलियै निसि द्यौस चलावै जिंही ढंग।
आली चबाव लुगाइन केर जातन ये ननदी ननदौ संग।
भावती औ अनभावती भीर मैं छ्वै न गयौ कबहूँ अंग सो अंग।
बैर करैं घर ही में तब रसखानि सौं मोसों कहा भयो रंग।

इस सवैये में गोपी सास के अनुशासन और ननद की चुगली एवं उसके द्वारा उड़ायी गयी अफ़वाह से परेशान है। हाल यह है कि जाने या अनजाने और प्रिय एवं अप्रिय भीड़ में भी प्रिय का स्पर्श प्राप्त नहीं हुआ है। घर में बैर करने पर ही राग यानी प्रेम मिल सकता है। दरअसल, सास और ननद पितृसत्ता के ढाँचे में निर्मित स्त्रियाँ हैं, जिनके सामने नयी बहू को अनेक तरह की दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। सास का अनुशासन और ननद की चुगली से लोक साहित्य भी भरा हुआ है। लोकगीतों में 'जनम के बैरी छोटकी ननदिया' जैसी उक्तियाँ खूब मिलती हैं। ज़ाहिर है कि अगर इस दमघोंटू माहौल से बाहर निकलकर प्रेम की स्वच्छन्द दुनिया में जाना है तो घर से बैर करना ही होगा। यहीं पर पूरे मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और भारतीय साहित्य की एक विशेषता सामने आती है। मध्यकाल में चाहे जितनी भी कटूक्तियाँ स्त्रियों के बारे में कही गयी हों पर वहीं पहली बार लम्बे अरसे के बाद स्वयं स्त्रियाँ काव्य-रचना करती दिखायी देती हैं और कवियों के यहाँ भी एक स्वछन्द मनोलोक निर्मित होता है। यही कारण है कि रसखान की गोपियाँ स्पष्ट घोषणा करती हैं कि 'गृह काज समाज सबै कुल लाज लला ब्रजराज को तोरत है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रसखान का काव्य समर्पण, स्वच्छन्दता, नवीन प्रसंगों की उद्भावना और सहज कलात्मकता से रचा गया है। इस काव्य में भारत की सामासिक वैचारिकता की गहरी पृष्ठभूमि है। यहाँ प्रेम अपनी उदात्तता, मार्मिकता और सहृदयता के साथ उपस्थित है। यहाँ प्रेम में समर्पण के साथ-साथ एक दृढ़ता, आत्मविश्वास और अपने होने की गरिमा भी है। 'प्रेम-वाटिका' में एक दोहा है :

लोक-वेद-मरजाद सब लाज काज संदेह।
देत बहाए प्रेम करि बिधि-निषेध को नेह।

लोक, वेद, मर्यादा, लज्जा, काज और संदेह सबको प्रेम बहा देता है। क्या करना चाहिए यानी विधि और क्या नहीं करना चाहिए यानी निषेध इन सबका भी कोई निर्देश प्रेम में नहीं होता। इन सबसे मुक्त मनुष्य ही काम्य है, जो रसखान की कविता में उपस्थित है।

बूझती अंगुलियाँ-२

जगदीश स्वामीनाथन

अँग्रेज़ी से अनुवाद : अखिलेश

समय : मिथकीय मुक्ति

गोंडों की उत्पत्ति का मिथकः लिंगो का मिथक में हिस्टॉरिकल समय को आश्चर्यजनक ढंग से हासिल किया गया है। इसके कई पाठ्यान्तर दन्त कथाओं और लोक कथाओं के रूप में उपलब्ध हैं, उनमें से कुछ दूसरों से बिलकुल ही भिन्न हैं, फिर भी समान बात कहते हैं। उदाहरण के लिए, बस्तर से निकली कथाएँ, रीवा की लिंगो पर्वत से सम्बन्धित कथाओं से भिन्न हैं। उनमें से कुछ साधारण लोककथाओं की तरह ध्वनित होती हैं, और कुछ गोंड वंश की उत्पत्ति और सृजन की कथा कहती हैं, जबकि एल्विन के अनुसार, 'लिंगो का मूड़ियाओं के लिए सबसे बड़ा योगदान 'घोटुल संस्था'[1] का निर्माण था।

हम इन विभिन्न दन्त कथाओं और कथाओं के विस्तार में नहीं जाएँगे, अपने लक्षणों में उनमें से बहुत-सी अपूर्ण हैं, इन दो के अलावा, एक हिस्लाप के द्वारा दर्ज किया गया कथन और दूसरा हेमनडार्फ़ के द्वारा। ये वर्णन गोंड उत्पत्ति की संश्लिष्ट और सम्पूर्ण कथा, उनका कारावास और उनकी निर्णायक स्वतंत्रता तथा पुनर्बसाहट समेटे हैं। शेख गुलाब, जिन्होंने मण्डला के गोंडों के बीच पूरा जीवन बिताया है, ने हाल ही में इसी से मिलता-जुलता पाठ्यान्तर लिखा है, जो उन्होंने मांडगाँव[2] के परधान काशीराम से सुना था।

इनमें हमारी रुचि इस तथ्य को जानने में है कि ये कथाएँ, लम्बे समय में तथाकथित इण्डो-आर्यन और देशज लोगों के सम्बन्धों पर सार्थक प्रकाश डालती हैं, जो इस उप महाद्वीप में रहने वाले लोग हैं, और उनका वह फैलाव जिसे वर्ण या जाति-प्रथा ने उन्हें अपने में आत्मसात या उनको एकीकृत कर लिया। जैसा कि मैंने कहीं लिखा है, 'आदिवासियों के साथ बरताव करने में हम उन लोगों के साथ बरताव कर रहे हैं, जो हिन्दू समाज की संरचनात्मकता रीढ़ की कांतिहीन व्यवस्था के बाहर के लोग हैं।

यहाँ पर हम हिस्लाप और हेमनडार्फ़ द्वारा प्रस्तुत की गई मिथ का सम्पूर्ण वर्णन या विस्तृत

पुनर्प्रस्तुति नहीं कर रहे हैं। हम सिर्फ़ मिथ के निर्णायक संकेतों को ही देखेंगे, जो हमारे विश्लेषण के लिए महत्त्व के हों।

हिस्लाप के वर्णन[३] के अनुसार पृथ्वी के निर्माण के बाद, भगवान ने महादेव और पार्वती को अपने हाथ के फोड़े से जन्म दिया। महादेव के पेशाब से अनेक वनस्पतियाँ पैदा हुईं। पार्वती ने उन्हें खाया और गर्भवती हो गई, फिर अठारह करोड़ भुसौरा ब्राह्मण देवताओं और बारह करोड़ भुसौरा गोंड देवताओं को जन्म दिया।

कोयतोर आया, आये दल बाँधकर वे सब,
इतने की सोलह खलिहान भर जाएँ,
आये और फैल गये सारे देश में,
पहाड़ों और घाटियों में,
जंगल की हर किनार तक
सब जगह देश में वो भर गये
हर जीव को मारकर खाते,
बिना भेदभाव के खाते
साफ़ और गंदा खाते,
कच्चा और सड़ा हुआ खा जाते।
कव्वे और चील खाते,
खाते वे गिद्ध।
डोकुमा चमरघेंघ (सारस पक्षी) खाते।
गाय खाते, बछड़ा खाते।
खाते भैंसा, और भैंसिन।
चूहा, मूसा और खाते घूस।
इस तरह गोंड ने किसी में भेद नहीं किया।
आधे साल तक नहीं नहाया
न ही मुँह धोया।
वो गोंड जो गंदे और घृणित ढंग से रहा।
जब वे गिरे गोबर के ढेर पर
तब कोयतोर पैदा हुआ

और दुर्गन्ध फैल गई
जंगलों में पहाड़ों पर चहुँओर
और महादेव के देवलगिरी तक पहुँची
क्रोधित महादेव ने अपने दूत नारायण से कहा-
''पकड़ लाओ इन दुष्ट गोंडों को,
कितना बसा रहे हैं और
फैल गये हैं मेरे देवलगिरि तक''[४]

महादेव ने तय किया कि गोंडों से मुक्ति पाना है, उन्होंने अपने शरीर के मैल से एक चिकुरी (गिलहरी) बनाकर गोंडों के बीच छोड़ दी। सभी गोंड उसका पीछा करने लगे, उन्होंने उस पर लकड़ी से हमला किया, पत्थर फेंके और मिट्टी के ढेले बरसाये, और उनके बिखरे बाल हवा में लहराये। गिलहरी उन सबको चकमा दे भाग चली महादेव के संकेतों पर, अन्त में एक बड़ी-सी गुफा में घुस गई, पीछे-पीछे गोंड भी गुफा में घुस गये। तब महादेव ने एक बड़ी चट्टान से गुफा का मुख बन्द कर दिया, सिर्फ़ चार बाहर रह गये वे कांचीगोपा, लोहागढ़ा या लाल पहाड़ी की लौहगुफा की तरफ भाग गये और वहाँ रहने लगे।

इस बीच पार्वती को बोध हुआ कि गोंडों की गन्ध, जो उसे भाती थी, धवलगिरी से वह गायब हो गई है। उसकी इच्छा गन्ध को वापस पाने की हुई, अतः उसने तपस्या शुरू की, छह महीने तक उसने उपवास और कठोर तपस्या की। भगवान झूला झूल रहे थे। पार्वती की तपस्या से उन्हें विघ्न पहुँचा, भगवान ने उससे पूछा, उसे क्या चाहिए? पार्वती बोली, वह अपने गोंडों की कमी से दुखी है और उन्हें वापस चाहती है। भगवान ने वचन दिया कि गोंड उसे वापिस दिये जायेंगे।

लिंगावद माड़ (पहाड़) पर
पाहिन्दी का वृक्ष फल-फूल रहा
नये-नये पुष्पगुच्छ अधखिले
पीले फूल पाहिन्दी के
भागवंतल के गोंड राजा ने देखा
देखा और कोयतोर के बारे में सोचा
दुखी मन से पहाड़ों पर भटकते हुए
और देवलगिरि के जंगल के बीच
देखा और आया जैसे बारिश से भरा बादल,

पंखों जैसा फैलता और तूफ़ान जैसा गरजता,
बिजली चमकी और आकाश गहरा हो गया
रात के चौथे प्रहर में
केसर का अम्बार गिरा
और फैल गया पाहिन्दी वृक्ष तले
इस तरह भगवान फूलों में आये
अँधेरे ने उसे चारों ओर से ढँक लिया
आहिस्ता-से उसकी कोपलें खुलीं
नरमी-से गिरी एक तेज़ फुहार,
और पाहिन्दी पुष्प ने गर्भ धारण कर लिया
सुबह की लालिमा में बादल खुल गये,
खुले हुए बादल अभी भी गरज रहे थे
पाहिन्दी का पीला फूल खिल उठा
सूरज की रोशनी में फूटा
मेरा लिंगो इस तरह जीवन पाया[५]

लिंगो ने उन चारों भाइयों को ढूँढ़ लिया और उन्हें खेती करने की कला सिखाई। उसने गुणी रिकड़ गौरी को सम्मोहित किया, जिसकी सात कन्याएँ थीं, इन चारों भाइयों से उनका विवाह कराया। जब इन चारों भाइयों की पत्नियों ने लिंगो में काम-भाव जगाना चाहा, बदले में उसने उन्हें उपकृत करने से मना कर दिया। तब उन्होंने अपने पतियों को इसके ख़िलाफ़ भड़काया और पतियों ने मिलकर लिंगो की हत्या कर दी। भगवान ने लिंगो को ढूँढ़ने और पुनर्जीवित करने के लिए काकसुर, सरदार रावण को भेजा। पुनर्जीवित लिंगो कारावास में बन्द गोंडों को खोज निकालता है, अपनी कठोर तपस्या से महादेव को बाध्य करता है कि, गोंडों को मुक्त कर दिया जाये, लिंगो उन्हें खेती करना सिखाता है, उन्हें विभिन्न गोत्रों में विभाजित करता है, उनके भगवान रूपायित करता है, और उन्हें बलि देने के कर्मकाण्ड सिखलाता है, नाचना और गाना सिखलाता है।

''फिर वह उनके देखने में घुल गया
और देखने के लिए उन्हें आँखों पर बहुत ज़ोर लगाना पड़ा
किन्तु वह ग़ायब हो गया, फिर कभी दिखा नहीं।''[६]

हेमनडार्फ़ द्वारा दिया गया आदिलाबाद क्षेत्र का पाठ्यान्तर कुछ अलग है किन्तु हमारे प्रयोजन

के लिए सारभूत है, जो समान निष्कर्षों तक ले जाता है। इस वर्णन में, काली कंकाली समुद्र में नहाने जाती है और देखती है, वहाँ पैंसठ करोड़ देवता नहा रहे हैं। उसके मन में काम-वासना जागती है और वह गर्भवती हो जाती है, वह बारह करोड़ गोंड देवता, तैंतीस करोड़ तेलागू देवता, बत्तीस करोड़ मराठा देवताओं को जन्म देती है, पर उन्हें घर ले जाने से भयभीत होकर वहीं जंगल में छोड़कर चली जाती है। काली कंकाली भी गर्भ में इसी तरह आई थी जब देवता पापी निरंजन पेन और देवी निरा निरंजन एक-दूसरे को पहली बार देखने के बाद समागम करते हैं।

शेम्बू महादेव मेरूगिरी पर्वत पर अपने सिंहासन से उठते हैं और कहते हैं- ''मैं अपनी पृथ्वी की भूमि पर यात्रा करूँगा : घाटी-दर-घाटी उसे देखूँगा।'' फिर उसने अपने सफ़ेद नन्दी को तैयार किया। गिर्जल पार्वती ने कहा- ''मैं भी दुनिया देखूँगी'' और वे गुज़रे घाटियों से, बरसाती बादलों से। पहले उत्तर की तरफ, फिर मोबूलाबी प्रदेश, फिर पश्चिम की तरफ और अन्त में पूर्व की तरफ। पार्वती ने काली कंकाली के पिनपिनाते बच्चों को देखा, उन्हें इकट्ठा किया और अपनी साड़ी की तह में रख लिया। उसने अपने दाहिने स्तन से गोंड देवताओं को दूध पिलाया, बायाँ स्तन तेलागू और मराठा देवताओं को दिया। बायाँ स्तन कड़ा और गोल बना रहा, जबकि दायाँ स्तन सिकुड़ गया। शेम्बू ने कहा कि, 'जिन गोंड देवताओं को तुमने छिपा रखा है, उन्हें दूध नहीं बल्कि ठोस आहार खिलाना चाहिये।' शेम्बू ने स्वयं सभी देवताओं के लिए शाकाहारी भोजन तैयार किया। गोंड देवता शराब और मांस चाहते थे। शेम्बू नाराज़ हो गये। उन्होंने अपनी जाँघ से एक गिलहरी पैदा कर उसे गोंडों के बीच छोड़ दिया। वे गिलहरी के पीछे भागे, वह गुफा में छिप गई, गोंड उसके पीछे गुफा में घुस गये, शेम्बू ने चट्टान से गुफा का दरवाज़ा बन्द कर दिया।

हेमनडार्फ़ कहते हैं :

''कुछ देर के लिए पौराणिक नायक लिंगो की इस छवि जो हिस्लाप के वर्णन में भी है, को छोड़ देते हैं, और ट्रेंच के द्वारा दर्ज किया गया आख्यान और बस्तर और छत्तीसगढ़ के कुछ समान मिथ और कहानियाँ, जो आदिलाबाद के रहने वाले परधान और गोंडों की धारणाओं पर केन्द्रित हैं, इनमें हम अपूर्व व अनोखी भिन्नता पाते हैं जो उनकी उत्पत्ति, प्रकृति तथा चरम भाग्य के सन्दर्भ में है और एक ही बिन्दु है जहाँ सभी मिथक सहमत हैं, कम से कम मोटे तौर पर, वह गोंड देवताओं को मुक्त कराने और गोंड रिवाजों की स्थापना करने में उसकी भूमिका।[७]

''लगभग सभी गोंडों के लिए 'पाहिन्दी कूपर लिंगल' नाम का कोई ख़ास अर्थ नहीं है, वे इसके अलावा कोई और व्याख्या नहीं देते हैं कि यह नाम उनके मिथक के नायक का है। किन्तु 'पाहिन्दी' एक झाड़ी का भी नाम है, जिसमें लाल फूल खिलते हैं। चूँकि हिस्लाप का वर्णन कहता है कि कैसे लिंगल पाहिन्दी के फूल से पैदा हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि, पाहिन्दी एक विशेषण

है, जिसका अर्थ वह 'फूल - जिससे लिंगल पैदा हुआ' : कूपर का अक्षरशः अर्थ, 'बालों का जूड़ा', जो सिर के एक तरफ बाँधा जाता है, किन्तु आदिलाबाद में दोनों ही विशेषण लिंगल के नाम का हिस्सा हो गये हैं और सामान्य तौर पर समझे नहीं गये।

'मैं आज तक ऐसे गोंड या परधान से नहीं मिला हूँ, जो लिंगल के फूल से पैदा होने के मिथक को जानता हो, किन्तु एक गीत है, जो हमें बतलाता है कि उसका जन्म पाहिन्दी के पेड़ के नज़दीक हुआ है। बहुत-से परधान कहते हैं कि, पाहिन्दी कूपर लिंगल उस झाग से पैदा हुआ है, जो पानी के भँवर के ऊपर बनता है, इस ईश्वरीय उत्पत्ति के कारण उसके न तो माता-पिता हैं, न कोई भाई। जंगूबाई के मिथक में पाहिन्दी कूपर लिंगल की उत्पत्ति अधिकतर किस्मत के साथ अपरिवर्तनीय है, मिथ के अनुसार - लिंगल के माता-पिता जलकादेवाडसोर और उसकी रानी हीरादेवी, पोरोपातर बिजलीपुरा में रहते थे। वहाँ लिंगल अपने हाथों में लिंग धारण किये हुए पैदा हुआ, उसके पैरों, गले और सिर पर भी लिंग था। जब उसकी माँ ने उसकी विचित्र शक्ल देखी, तो उसे पालने से इंकार कर दिया और उसे कुरुवादीप के घने जंगल में अरक्षित छोड़ दिया। वहाँ वह संत सोनखासतर गुरु को मिला, जिसने अपनी भविष्य-सूचना के वृहद ग्रन्थ में खोजा कि, यह बच्चा यश पायेगा और गोंड देवताओं के लिए असाधारण कार्य करेगा, भविष्य में जिसका पुजारी (कटोरा) उसे होना है।''

पाहिन्दी कूपर लिंगल अन्ततः गोंड देवताओं की खोज में निकला। अपने भटकने के दौरान वह कालीपरसर पेन से मिलता है, जो उसे कहता है कि, गोंड देवताओं को ढूँढ़ने में सिर्फ़ जंगूबाई मदद कर सकती है।

''तब लिंगल बुपत कुरवा घाटी के लिए चल पड़ता है, वह एक नदी के पास पहुँचता है, जो बजरी पर जिलजिल और पत्थरों के बीच कलकल आवाज़ कर रही थी। इस नदी के पाट पर साज का एक पेड़ लगा था और दूसरे पाट पर डोंडरा का पेड़। दोनों के बीच सुनहरा धागा बँधा था, धागे पर कोसा का सुनहरा कोकून एक से दूसरी तरफ लूम की शटल की तरह जर्रर्र्रम आवाज़ करता हुआ आ-जा रहा था। लिंगल नदी में नहाया, फिर पाट पर बैठकर अपना चादर कन्धों के चारों ओर लपेट कर प्रार्थना शुरू की : सुबह से दोपहर तक उसने जंगूबाई की प्रार्थना की और अन्त में उसने कोसा कोकून से आती जंगूबाई की आवाज़ सुनी : 'यदि मैं तुम्हारी मदद करूँ तो बदले में तम मुझे क्या दोगे?' 'माँगो, जो भी तुम्हारी इच्छा है, वह तुम्हारा होगा।' लिंगल ने जवाब दिया। तब जंगूबाई ने कोसा कोकून से पानी में छलाँग लगाई और एक सुन्दर लड़की बन लिंगल के पास आई। 'बाई, मुझे मेरे देवताओं तक जाने का रास्ता दिखलाओ।' लिंगल ने प्रार्थना की। जब जंगूबाई ने लिंगल से उसके वंश की वीरगाथा के बारे में पूछा और तब अपनी मदद के बदले में अपने रिश्तेदारों को लिंगल के वंश में प्रवत्त होने का वचन उसने तत्काल लिया। 'तब, मेरे पीछे-पीछे आओ', जंगूबाई बोली; जंगल

के रास्ते में उसने लिंगल को पेड़ों की गोंद इकट्ठा करने को कहा, अन्त में वे उस जगह पहुँच गये, जहाँ गोंड देवता गुफा में बन्द थे। गुफा के प्रवेश द्वार पर पहरा देने के लिए शेम्बू ने चन्दन के पेड़ पर गुरुरपंक चिड़िया को तैनात किया हुआ था, वहीं चिड़िया का घोंसला था। जंगूबाई ने लिंगल से गोंद पिघलाने को कहा, जो वे रास्ते के पेड़ों से इकट्ठी करके लाये थे, और कहा- 'इन चिड़ियाओं का मुँह बन्द करने के लिए यह चिपचिपा पदार्थ इनके गले तक भर दो।' जंगूबाई, जिसने अपना आकार पेड़ों की ऊँचाई तक बढ़ा लिया था, के कन्धे पर खड़े होकर पाहिन्दी कूपर लिंगल चिड़िया के घोंसले तक पहुँच गया तथा उन्हें चुप करा दिया, किन्तु नीचे उतरते समय लिंगल का पैर जंगूबाई की छाती पर पड़ा, फिसलते समय उसकी पीठ पेड़ की ओर थी और उसका पेट जंगूबाई के पेट से रगड़ता चला गया, इस क्रियाकलाप से वह भाई नहीं रहा। जंगूबाई निर्दयता से पेश आई, शिकायती लहज़े में कहा कि, उसका यह व्यवहार सम्बन्धियों के साथ व्यभिचार जैसा है। जंगूबाई ने कहा, 'तुम्हें आज के बाद मेरी उपस्थिति से बचना होगा।'

''तब पाहिन्दी कूपर लिंगल पास की नदी के तट पर उगी झाड़ियों में छिप गया। जल्द ही गुरुरपंख चिड़िया वापस लौटी, उसने अपने बच्चों को मरा पाया, वह हत्यारे को तलाशने लगी। उसने अपने पंख पूरी प्रचण्डता से फड़फड़ाये, फलतः कई पेड़ जड़ से उखड़ गये और वह झाड़ी, जिसके पीछे लिंगल छिपा था, तिनके की तरह उड़ गई। 'तुमने मेरे बच्चों को मारा है, अब मैं तुम्हें मारूँगी', चिड़िया चिल्लाई। अपनी लौह सदृश्य चोंच जो तलवार से ज़्यादा कठोर थी, उठायी। पाहिन्दी कूपर लिंगल ने अपनी तलवार निकाली और कहा : तीन बार तुम मुझ पर प्रहार करोगी, किन्तु चौथा प्रहार मेरा होगा, तब वह विशालकाय चिड़िया भयानक गति से लिंगल पर झपटी, तीव्र गति से लिंगल उसकी चोंच से कतराकर बच गया, चिड़िया ने दो बार लिंगल पर और प्रहार किया, और चूकी।

फिर लिंगल की बारी आई, अपने पहले ही प्रहार से उसने उसका एक विशाल पंख काट दिया और दूसरे से चिड़िया का सिर।

फिर पाहिन्दी कूपर लिंगल ने गुफा को खोला और गोंड देवताओं को आज़ाद किया...।''

इस मिथ में अधिकतर क्षेपक हिन्दू मूल से है, ऐसा कई विद्वान मानते हैं, फोरसिथ कहते हैं : ''मानें या न मानें, किन्तु इस अंश के भीतर गोंड परम्परा का मौलिक आधारभूत सिद्धान्त है, जो शायद सन्देह का विषय हो; किन्तु यह पक्का है कि यह पूरी तरह से हिन्दूवादी पदावली की चेतना से भरा हुआ है। यह स्वीकार करता है कि, गोंडों की उत्पत्ति के मूल में हिन्दू देवताओं का हाथ है।''[८] एल्विन ने भी इशारा किया है कि, हिस्लाप का वर्णन हिन्दू पूर्वाग्रहों से ग्रसित है।

''दुर्भाग्य से, हिस्लाप के इस वर्णन में सर रिचर्ड टैम्पल द्वारा पर्याप्त काँट-छाँट की गयी। जो स्कॉटलैण्ड मिशन के फ्री चर्च के सहायक रेव बाबा पांडुरंग के मित्र थे, बाबा पांडुरंग जो हिस्लाप

के स्थानीय सहायक थे और कुछ यात्राओं में उनके साथ भी रहे, जिन्हें हिस्लाप ने जानकारियाँ इकट्ठी करने के लिए अक्सर नौकरी पर भी रखा था... किन्तु टैम्पल का अनुवाद मनोरंजक है तथा इसे पढ़ने से हिन्दूवादी परधानों की गर्वीली आँखों से देखा गया गोंडों का निष्पक्ष चित्र सामने आता है। ये परधान उस क्षेत्र की राजधानी की अग्रगामी संस्कृति से भलीभाँति परिचित थे, ये कहना ज़्यादा सच होगा कि यह गोंड के बारे में हिन्दू मिथ थी या शायद हिन्दू मठों का विस्तार शैव मत को फैलाने की कोशिश में लगा हुआ था, बजाय गोंड मिथक के प्रामाणिक तत्त्वों के।''[९]

हेमेनडार्फ़ भी सोचते हैं कि फिसलॉक का वर्णन 'आदिलाबाद के मिथक से ज़्यादा हिन्दू लक्षणों को अपने में धारण किये है।'[१०]

गोंडों और हिन्दुओं के बीच बड़ी मात्रा में आपसी मेल-मिलाप प्रामाणिक रूप से दिखता है। उदाहरण के लिए, राजगोंड अपने को राजपूत समझते हैं या राजपूतों के आसपास, बजाय गरीब आदिवासी भाई-बहनों के। जैसा कि फोरसिथ व्यंग से कहता है :

''और देशों की तरह यहाँ भी आभिजात्य होना बाज़ार में बेचे जाने योग्य है, मठ प्रमुख को इस तरह के विशेषाधिकार के लिए ऊँची रकम चुकानी पड़ती है; इसके अलावा और कुछ नहीं है जो इन परिवारों को कंगाल बना देती है। जब इन्हें लगातार अपनी जाति के कुलीन होने के लिए रिश्वत देना पड़ती है और इसके लिए भी ऊँची रकम चुकाते हैं और अपनी गुणवत्ता के लिए पुरोहितीय मध्यस्थ को मनाने की भी ऊँची कीमत देते हैं।

''इसी दरार से घुसकर ब्राह्मणवाद ने इन देशज जनजातियों को पूरी तरह प्रभावित किया। पवित्रता की परीक्षा इन जातियों में अनिश्चित रूप से गिरती रही है, जो कि हिन्दू जाति के विधान के विस्तार की तरह देखा जा सकता है और उसके वंशानुक्रम के प्रमाण की औपचारिकता की तरह है। इन नस्लों के अनिश्चित वंश-परम्परा में पवित्रता की परीक्षा का फैलाव हिन्दू-कोड की पवित्रता और अनुष्ठान का पालन ज़्यादा है बजाय वंशानुक्रम के वास्तविक सबूत के। एक तरह से हेराल्ड कॉलेज से पढ़कर निकले ब्राह्मण हैं जिसे सम्मानित नामावली में उत्कीर्ण होना है जो कुछ पीढ़ियों तक महत्त्वकांक्षी को हक़दार बनाता है कि वो अपने को उन परिवारों के साथ जोड़ सके जो उसके बरक्स पहले ही ऊँचा स्थान पा चुके हैं।''[११]

यह लगातार चल रही प्रक्रिया है। फिर भी, वस्तुतः जैसा कि लोग जानते हैं, हिन्दू एक निश्चित तौर-तारीकों से वर्ण/जातिव्यवस्था में पहचाने जाते हैं। आदिवासी इस पद्धति के बाहर हैं, और हम उन्हें पहचानते हैं जिन्हें समस्तरीय या ऊर्ध्वगामी स्तर पर भी वर्ण और जातिप्रथा में शामिल नहीं किया गया है, और जो पुरखों से समानता रखने की प्रक्रिया में, बाहर रह गये हैं या लाचार हैं 'असभ्य' के अधर में लटकने को।

गोंड, हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा आदिवासी समुदाय, द्रविड़ियन मूल का माना जाता है। वे एक बड़े समूह के बेढंगे कुछ कम या ज़्यादा सुस्पष्ट समूह हैं, जिनमें से कुछ इण्डो ऑस्ट्रोलायड मूल के हैं, जैसे कि 'मूरिया'। तथ्य है, हालाँकि, वे अनार्य या आर्य के पहले के मूल लोग हैं। लिंगो का मिथ यहाँ पर निर्णायक महत्त्व का हो जाता है, जब हम इन आदिवासी समूहों के साथ व्यवहार करते हैं, जो कई बदलाव समस्तरीय आधार पर पाने के बावजूद भी हिन्दू जातिप्रथा की श्रेणीबद्धता में शामिल नहीं किये गये हैं। ड्यूमा कहते हैं :

''ऐसा लगता है कि यह बाद के वैदिक समाज के चार स्तरीय विभाजन परिणाम की तरह देखा जा सकता है, जिसमें चौथी श्रेणी को पहली तीन के साथ जोड़ा गया है। यह इण्डो-यूरोपियन तीन अंश के विभाजन से मेल खाता है, जो कि सामाजिक कार्यकलाप का है। (ड्यूमेसिल) और पहली पुरोहिताई में यह त्रिमूर्ति पायी जाती है, साम्राज्यवाद और जातियों या लोगों में। ऋग्वेद के बाद के श्लोकों में शूद्रों का वर्णन है और ऐसा लगता कि वे मूल लोग (दास या दास्यु की तरह) समाज में शामिल कर लिये गये हैं, दासत्व की पीड़ा के साथ।''[१२]

यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आदिवासी जो वर्ण/जातिप्रथा की पुष्टि नहीं करते हैं, और अछूतों की पाँचवीं श्रेणी की भी, क्योंकि उनके आदर्श या मानदण्ड के कारण वे श्रेणीबद्ध पद्धति की महत्ता को नहीं स्वीकार करते हैं, अपना सम्मान और स्वतंत्रता को किसी-न-किसी तरह लगभग बचाते हुए रह रहे हैं। भारत सरकार की जो भी कसौटी इस बात को दर्शाने में रही हो कि अमुक समुदाय अनुसूचित जाति है और दूसरा अनुसूचित जनजाति है, दोनों के बीच का फ़र्क साफ और स्पष्ट है। किन्तु कुछ लेखक जैसे बी.एच. मेहता इसकी अनदेखी करते हैं और उन्होंने तथाकथित आदिम और जनजातीय समुदायों को हिन्दू धर्म की मुख्यधारा का अंग ही माना है।[१३] बुरे समाजशास्त्र की गंध, और उससे भी बदतर, अंध देशभक्ति का प्रमाण है यह। जैसे कि, हिन्दुस्तान की भौगोलिक सीमा रेखाओं में रह रहे सभी समुदायों को हम ठीक ही भारत राष्ट्र के देशवासियों की तरह शामिल कर सकते हैं, किन्तु ऐसा नहीं कर सकते कि सहगामी होने के नाते हम यह भी दावा करें कि वे देश के प्रमुख समुदाय से सम्बद्ध हैं जिन्हें हिन्दू की तरह जाना जाता है।

हम मिथक पर वापस लौटते हैं, शुरू करते हैं महादेव से। श्री ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार, ''देवताओं द्वारा उकसाये जाने पर शिव ब्राह्मण का भेष धारण कर पार्वती के पिता हिमालय को खुद के बारे में बतलाते हैं, ओ राजा! मुझे पता चला है कि तुम अपनी बेटी की शादी शंकर से करने जा रहे हो। यदि यह सच है तब मुझे तुम्हारी मूर्खता पर हँसी आती है कि कैसे तुम अपनी प्रिय पुत्री का हाथ एक ऐसे आदमी के हाथ में देने का सोच सकते हो, जो नंगा है, बूढ़ा है, जिसके बाल बिखरे हैं, जिसके पास जीवन-यापन का कोई साधन नहीं है, जो बिना सहायता के है, अनाथ है, जिसमें कोई

योग्यता नहीं है और जो श्मशान में रहता है।''[९४] शिव का यह जंगली पक्ष बहुत अच्छी तरह से जाना जाता है और जिसे सविस्तार बतलाया जा सकता है। अपने बारे में हिमालय को बतलाने में, ऐसा लगता है कि वह लगभग गोंड देवता के बारे में कह रहे हैं, जैसा कि मिथक में वर्णित है। प्रश्न यह है कि : शिव गोंड से कैसे घृणा कर सकता है, जो कि उन्हीं के गणों की तरह है? किन्तु यह दिलचस्प है कि वास्तव में यह शिव ही है महादेव की तरह, जो गोंड को स्वीकार नहीं करता है।

त्रिपुरा की पौराणिक कथा शिव के महादेव में बदलने की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालती है : ''कि असुरों द्वारा ब्रह्मा की तपस्या करने पर वे उनसे त्रि (तीन) पुरा (शहर) पाने में सफल हुए, जो कि सुरक्षित शहर हैं, जिन्हें सिर्फ़ एक तीर से भेदा जा सकेगा, जो महाशक्तिशाली भगवान द्वारा चलाया जायेगा और जिसे शक्ति से समृद्ध कर इस तरह के हथियार को सुरक्षित धारण करने का ज्ञान होगा। इस तरह मोर्चेबन्दी कर असुरों ने जल्दी ही देवताओं को जीत लिया। इन्द्र शिव के पास सहायता माँगने गये। शिव ने देवताओं की तरफ से कुछ भी करने की अनिच्छा ज़ाहिर करते हुए कहा कि वे उनकी आधी शक्ति ले सकते हैं, जो कि उन्होंने सोचा शत्रु को नष्ट करने के लिए काफी होगी। किन्तु देवता शिव की आधी शक्ति भी सहन करने योग्य नहीं थे। तो उन्होंने अपना समझौता बदल लिया, और व्यवस्था में फेरबदल किया। उन सबने मिलकर अपनी आधी शक्ति शिव को दी; और शिव, और शक्तिशाली हुए, त्रिपुरा- असुर को हराया। त्रिपुरारियों की हवाई शक्ति, लोहा, सोना और चाँदी के क़िले, धूल में मिल गये। सभी देवता मिलकर भी शिव की आधी शक्ति बाँटने में निष्फल रहे; जबकि अकेले शिव ने सहजता और सम्मान के साथ उन सबकी आधी शक्ति का वहन किया। जब से शिव के पास इन देवताओं की शक्ति है, और इस तरह वे महादेव कहलाये।[९५]

जी.एस. घुर्ये जैसे लेखकों को छोड़ दें, जो शिव के आर्य-पूर्व या मुण्डा या द्रविड़ियन मूल के होने के सारभूत प्रमाण नहीं पाते हैं (हालाँकि वे खुद इस बात से सहमत हैं कि ''रुद्र शिव की महागाथा, जो कि लिंग के सामने मौजूद इस पशु (बैल) की प्रतिमा है, कैसे कोई कह सकता है कि ऋग्वैदिक रुद्र का विकास बिना किसी अनवैदिक भारतीय पद्धतियों के प्रभाव में महागाथा के रुद्र शिव में हुआ।'')[९६], ज़्यादातर लेखक इस बात पर सहमत हैं कि शिव पूर्व आर्य मूल के हैं। जैसा कि एस.के. चटर्जी बतलाते हैं :

''शिव और उमा अपने सारे प्रमाणों में द्रविड़ियन मूल के हैं, अतः वे भारतीय रूपान्तरण और दार्शनिक उदात्तीकरण है - उस महान मातृदेवी और उसके सहचारी का, जो सम्बद्ध है भूमध्यसागरीय लोगों से। शिव नाम, कम-से-कम द्रविड़ियन मूल का है जैसा कि तमिल व्याख्या में बतलाया गया है। उदाहरण के लिए, शिवन का अर्थ लाल है, और पूर्व आर्यन के लिए नीला लोहिता का अर्थ ईश्वर है। वह लाल जो नीला (गला) लिये हुए है। यह उस पौराणिक कथा की तरफ इशारा

है जो बाद के समय के पुराण में पायी जाती और निस्सन्देह ऋग्वेद में वर्णित है, (X, 136,VII), जिसमें शिव ने दुनिया का जहर पी लिया और अपने गले में उसे रोक लिया, जो इस कारण नीला हो गया। शेम्बू दूसरा प्रचलित शिव का उपनाम, तमिल शब्द चेम्पू या सेम्बू, जिसका अर्थ 'ताँबा', लाल धातु, होता है, से तुलना की जा सकती है। शिव और वैदिक रुद्र इसी तरह पहचाने जाते हैं : यह द्रविड़ियन बोलने वाले लोगों के लाल भगवान के नाम की तरह ही है, उनके सारे देवताओं में सबसे महत्त्वपूर्ण ईश्वर पहली बार आर्यों की वाचिक परम्परा में रुद्र की तरह इस्तेमाल हुआ, फिर यह नाम आसानी-से आर्यों के पहले से मौजूद तूफ़ान के देवता के साथ पहचाना जाने लगा, मारुत के पिता या तूफ़ानी पवन आर्यन में रुद्र नाम बिलकुल ही अलग अर्थ रखता है - 'गर्जन'।''[१७]

और बी. भट्टाचार्य आगे जोर देकर कहते हैं कि अनार्य और आर्य साथ-साथ रहते हुए अपने धार्मिक भेदभाव को इतना नज़दीक ले आये कि वे ज़्यादा समय तक उन्हें अलग न रख सके। वैदिक जीवनशैली शिथिल हो गयी और उसने इन्हें जगह दे दी, अब रुद्र और शिव समानार्थी हो गये। आँसू बरसाने वाले क्रुद्ध देवता पिता की तरह सौम्य और वृद्ध हो गये, सन्तुष्ट करना बहुत ही आसान था। शिव का यह साहचर्य रूद्र के साथ और जनजातियों के साथ वाजसनयी संहिता में वर्णित है, जहाँ पर वह असामाजिक तत्त्वों के रक्षक की तरह वर्णित हैं। जहाँ रुद्र को चोर, विश्वासघाती, धोखेबाज़ कहा गया है। पहले तो भय और संहार के देवता की तरह रुद्र को देखा गया और जल्दी ही शिव के विचार में उसे शामिल कर दिया गया, मंगलकारी भगवान। इन सन्दर्भों के अलावा शिवभक्तों के द्वारा बतलाये गये शिव के अनार्य जनजातियों के साथ उनके न भुलाये जाने वाले सम्बन्ध हैं (हमने पहले ही रुद्र देवता की तरह वर्णित शिव की तरफ इशारा किया है)। यह याद दिलाने वाले पक्ष हैं, जैसे रुद्राक्ष का इस्तेमाल, बेलपत्र, धतूरा और गांजा... सिन्दूर, साँप, वृक्ष, नदियाँ, नदी की मिट्टी, फूल, पानी, पत्ती और घास का इस्तेमाल।''[१८]

पुरातात्त्विक प्रमाण भी इस धारणा को विश्वसनीयता प्रदान करते हैं कि शिव आर्यों के पहले के देवता हैं। कई विशेषज्ञ इस नतीजे पर पहुँचे हैं, जो सिन्धु घाटी की सभ्यता की खुदाई में प्राप्त वस्तुओं का अध्ययन कर रहे थे। ए.डी. पुसलकर कहते हैं कि : पुरुष देवताओं में प्राप्त सबसे विशिष्ट तीन चेहरों वाला देवता है, जो सींगों का मुकुट पहना है और एक सिंहासन पर पालथी मार बैठा है, जो हाथी, शेर, बैल और गेंडों से घिरा हुआ है, जिसके सिंहासन के नीचे से हिरण झाँक रहे हैं, जो बहुत-सी चूड़ियाँ और जो अपने गले के चारों तरफ कवच पहना है, और जिसके ऊपर सात अक्षर उत्कीर्ण हैं...। यह प्रस्तुति कम-से-कम तीन धारणाओं को बल देती है जो शिव के साथ जुड़ी हैं कि वह- (१) त्रिमुखा है, (२) पशुपति है और (३) योगेश्वर या महायोगी है। पहली दो धारणाएँ मुद्रा से ही प्रत्यक्ष हैं। देवता पद्मासन में बैठे हैं और उनकी आँखें नाक की नोंक पर केन्द्रित हैं, जो उनके

योगेश्वर देव की धारणा को पुष्ट करता है। कुछ विशेषज्ञों की यह धारणा है कि यह शिव-पंथ सिन्धु सभ्यता के इण्डो-आर्यन से उधार लिया गया है, किन्तु ऋग्वेद में शिव का वर्णन है और शिव हिन्दू देव-मन्दिरों में ज़बरदस्ती शामिल होने वाले बाद के घुसपैठिये नहीं हैं।

''आगे की खुदाई में शिव की दो और मुद्राएँ मिली हैं... देवता हमेशा नग्न हैं, कमर पर एक मेखला और सिर पर सींगों वाला मुकुट है। एक मुद्रा में देवता तीन चेहरों वाला है और छोटे-से तख्त पर बैठा है। जबकि दूसरा है जिसमें चेहरा रेखाचित्र की तरह है; दोनों में फूलों की एक टहनी है या पत्तियों की है, जो सिर के ऊपर से उठकर दोनों सींग के बीच आती है। यह टहनी दर्शाती है कि देवता, जिसका शृंगार वनस्पति से किया गया है, वह उर्वरता का देवता है - यह एक दूसरा संकेत है शिव के लिए, जो कि प्रकृति में मौजूद उत्पादक शक्तियों के रूप में दर्शाया गया है। एक सींगों वाला धनुषधारी वनस्पतियों की पोशाक पहने... शिव के पवित्र शिकारी होने को बतलाता है।

''इससे यह लगता है कि शिव उनके प्रमुख देवताओं में से थे, वे लोग माँ देवी के साथ-साथ उनकी पूजा भी करते थे। उनकी पूजा हालाँकि किसी मूर्ति के रूप में नहीं होती थी, किन्तु एक लिंग की तरह भी जैसा कि वह बहुत सारे नुकीले और बेलनाकार पत्थरों में दिखाई देता है। यह नुकीले और बेलनाकार पत्थर शायद उर्वरता का प्रतीक हैं और इनका सम्बन्ध शिव के पंथ से है, जो लिंग की तरह है। कई विशेषज्ञ ऋग्वेद में मौजूद लिंग की पूजा के प्रतीक को तिरस्कारपूर्ण मानते हैं और यह सिन्धु घाटी में रहने वाले आर्यों के पहले के लोगों के धार्मिक तौर-तरीकों की तरफ एक छिपा हुआ इशारा भर मानते हैं, किन्तु दूसरों के द्वारा यह सुझाया गया है कि यह लेखांश साधारण तौर पर इन्द्रियगम्य कामुक लोगों को दर्शाता है।''[१९]

मॉर्टिमर व्हीलर लिखता है कि : ''मुद्रा पर उत्कीर्ण शिव के ईश्वरत्व बारे में कम-से-कम कोई अनिश्चितता जुड़ती नहीं है। भले ही आकृति, जो कि इतने छोटे आकार में विचारमग्न है वह ऐतिहासिक भारत का महान देवता जो धमकाने वाली शक्तियों से भरा और परितृप्त देवता है। यहाँ आर्यों के पहले का कोई तत्त्व, यदि कुछ पहचाना जा सकता है जो बचा रहा आर्यों के आक्रमण से और जो महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, तथाकथित वैदिक समय के बाद की आर्य संस्कृति में। लिंग पूजा ऐसा ही दूसरा तत्त्व है, एक अनार्य परम्परा, जो कि हड़प्पन सभ्यता में अपना ली गयी थी, यदि कुछ पॉलिश किये गये पत्थर, ज़्यादातर छोटे, किन्तु दो फिट ऊँचे ठीक-ठीक लिंग की तरह पहचाने जा चुके हैं, दूसरा बिंधा हुआ पत्थर योनी की तरह, तब इसकी सम्भावना है कि शिव और लिंग की पूजा पद्धति हिन्दुओं को हड़प्पन सभ्यता से विरासत में मिली हैं जो शायद बैलों (शिव का वाहन) की बहुतायत के कारण या बैल की तरह के पशु की प्राप्त मोहरों पर बनी आकृतियाँ के कारण पुष्ट होती हैं।''[२०]

और स्टीफ़न फुक के अनुसार : ''तीन मुद्राओं पर हमें सींगों वाले देवता की आकृति मिलती है एक तख्त पर बैठे हुए या ज़मीन पर, उसी मुद्रा में जो भारतीय साधु जानते हैं : पैर शरीर की तरफ खींचे हुए और दोनों एड़ियाँ एक-दूसरे को छूती हुईं। देवता नग्न हैं, कंगन पहने, कण्ठहार गले में, और ख़ास तरह का मुकुट, सींगों की जोड़ी, दोनों के बीच में एक पौधे जैसा कुछ। सबसे बड़ी मोहर पर वह हाथियों, शेर, गेंडा और एक भैंसे से घिरा हुआ है, जबकि दो हिरन स्टूल के नीचे से झाँक रहे हैं, जिस पर वह बैठा हुआ है। उसके चेहरे पर तेज है, और दोनों तरफ बाहर निकला हुआ हिस्सा दिखाई देता है (दो और चेहरे?), उसका लिंग प्रमुखता से दिखता है। वह स्पष्ट रूप से उर्वरता का देवता है। मार्शल उसे आदिशिव या पशुपति - चौपायों का देवता कहता है।''[२१]

हड़प्पन सभ्यता और द्रविड़ियन के बीच की कड़ी बाशम भी दिखलाते हैं :

''आधुनिक दक्षिणी भारतीय अक्सर भूमध्यीय और प्रोटो ऑस्ट्रोलायड का मिश्रण नज़र आते हैं, दो हड़प्पन संस्कृति के कबीलों के प्रमुख प्रतिनिधि : इसके अतिरिक्त हड़प्पा धर्म हिन्दू धर्म के उन तत्त्वों से कई तरह की समानता दिखलाता है, जो ख़ास तौर पर द्रविड़ियन देश में लोकप्रिय हैं। बलूचिस्तान के पहाड़ों में जहाँ नल और झोब संस्कृति के लोगों ने अपने छोटे गाँव बसाये हैं, जहाँ ब्राहुत यद्यपि जो अब प्रजातीय दृष्टि से प्रमुख रूप से ईरानी हैं, द्रविड़ियन भाषा बोलते हैं। इस प्रकार यह इस बात की तरफ इशारा है कि हड़प्पा के लोग द्रविड़ियन थे, और फ़ादर एच. हैरास, उन विशेषज्ञों में से हैं जिन्होंने उनकी लिपि पढ़ने की कोशिश की है, का दावा यह भी है कि उनकी भाषा तमिल से भी ज़्यादा प्राचीन है।''[२२]

ब्रिगेट और रेमण्ड आलचिन कहते हैं : वैदिक समय के धर्म और बाद के हिन्दू धर्म के कई लक्षण दिखाई देते हैं, जिससे हम इसका अनुमान लगा सकते हैं। हमें शहरों में बने मन्दिरों के नीचे पत्थरों पर उकेरी मूर्तियों पर ध्यान देना होगा। ये आश्वस्त करता है कि वह इस बात पर सहमत हैं कि वे धार्मिक विश्वासों की अनेक जानकारियाँ धारण किये हैं। यह प्रमाण कि कुछ आकार जैसे कि पीपल का पत्ता या स्वास्तिक पहले से ही हड़प्पन के बीच में धार्मिक महत्त्व के थे। इनमें इस तरफ इशारा है कि उनका धर्म एक प्रभावशाली और महान देवता के प्रभुत्व में है जो बाद के शिव के कई मूल तत्त्वों से साझा करते हुए कि वह एक योगी की तरह, पशुओं के देवता की तरह, जिसका पूरा सम्प्रदाय उर्वरता और लिंग से सम्बद्ध है और जो बाद के समय में जाकर महादेव (महा देव) से जुड़ जाता है... और दूसरी तरफ उस महा देवी से, जो बराबर-से सारे लक्षण पार्वती से साझा करती है, शिव की पत्नी है, जो खुद भी देवी की तरह जानी जाती हैं, मातृदेवी कई नामों और कई रूपाकारों में।[२३]

अब हम लिंगों की तरफ लौटते हैं। जैसा कि एस.के. चटर्जी कहते हैं :

''शिव का प्रतीक लिंग, लिंग दिखाई पड़ता है, दोनों, अपने रूप और नाम के अर्थ में ऑस्ट्रिक या प्रोटो ऑस्ट्रोलायड मूल का जान पड़ते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि ज़मीन पर रखे गये रहस्यमयी शंक्वाकार पत्थर (यूरोप के सेल्टिक प्रदेश में मैनहिल की तरह) साक्ष्य है कि मोन-खमेर और कोल सम्प्रदाय के बीच की वस्तुएँ हैं और यह आदिम हल की तरह खुदाई की लकड़ी से समानता लिये है और ज्यां पर्जीलुस्की ने बतलाया जैसे कि पहले देखा गया है, कि कैसे शब्द लिंग, लकुता, लगुडा, लंगुला ऑस्ट्रिक मूल के हैं। किन्तु शिव की आकृति महान योगी की तरह बैठा हुआ समाधिष्ट योगी, विरूपक्ष की तरह या 'भयंकर', पशुपति की तरह या 'पशुओं के देवता' या आत्माओं की तरह, ऊर्ध्व लिंग की तरह या 'जो अपनी सर्जनात्मक शक्ति के साथ खड़ा है', वास्तव में, गहरे और दार्शनिक संकेत शिव की कल्पना में प्रकट मोहन जोदड़ो के लोगों के बीच ज्ञात थे, जैसा कि महत्त्वपूर्ण मुद्रा में दिखलाया गया है, जिसमें देवता की आकृति बाद के समय के शिव से मिलती-जुलती है और यदि मान लिया जाये कि मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के लोग द्रविड़ियन बोलते थे, यह इस बात की पुष्टि ही करता है कि शिव का विचार या शिव की पौराणिकता द्रविड़ियन मूल की ही है : शिव लिंग के प्रतीक के अलावा जो गौरी-पत्ता योनी है, कुछ हद तक ऑस्ट्रिक मैनहिर से ली गयी है, जो कि अब तक चला आ रहा है, मुण्डा के सासान-डिरिस या परिवार के क़ब्र के पत्थर के रूप में।[२४]

एलविन कहते हैं कि ''लिंगो का लैंगिग प्रतीक जैसे कि नाम की उत्पत्ति साफ़-साफ़ बतलाती है...।''[२५]

जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, हिस्लॉफ और हेमेनडार्फ़ द्वारा बतलाई गयी लिंगो का मिथक हमारी शुरुआत के लिए महत्त्वपूर्ण है। बहुत सारे वर्णन, जो कि एलविन और दूसरे विद्वानों द्वारा बतलाये गये हैं, कुछ अस्पष्ट नज़र आते हैं, और यह आख्यान लोककथाओं के कई तत्त्वों को अपने में समेटे हैं, जबकि हिस्लॉफ और हेमेनडार्फ़ का वर्णन अपने में सम्पूर्ण मिथक की पूर्णता लिये हुए है। जहाँ तक कि गोंड की उत्पत्ति की बात करते हैं, उनके पुनर्जन्म या निर्वासन और बाद में उनकी मुक्ति और उनके पुनर्स्थापन की बात कर रहे हैं।

इन दो वर्णनों के प्रति जो भी संकोच समाजशास्त्रियों का रहा हो, जो भी दोषारोपण हिन्दू प्रभाव के नाम पर किया गया हो, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि दोनों वर्णन सुस्पष्ट रूप से गोंडों के मुक्त होने की बात करते हैं। इन दोनों वर्णन में गोंड जातिप्रथा के प्रकार की तरह नहीं प्रकट होते हैं और न ही इस तरह कि उन्हें इसमें समेट लिया गया है। दूसरी तरफ अपनी बन्धन अवस्था से स्वतंत्र लोगों की तरह पुनर्प्रकट होते हैं। इस पर विश्वास करना मुश्किल हो जाता है कि हिन्दुवादी-परधान या ईसाई-हिन्दू, हिन्दू-प्रथा के साथ सहानुभूति रखते हुए गोंडों की इस प्रथा को प्रोत्साहित करते हुए परिवर्तन की इच्छा को बचाये हुए उन्हें जोड़ता है, इस विशाल समूह का रूप धारण

करने में, जो कि हिन्दू समुदाय की तरह जाना जाता है, जिसने गोंड मिथक में लिंगो की आकृति को जमाया है (और इस तरह न अलगाये जा सकने वाले शम्भू और पार्वती को) और उसके साथ इस बात का महत्त्व जोड़ दिया कि वह गोंडों का मुक्तिदाता है और उनकी स्वतंत्रता का पुनर्स्थापना करने वाला। ऐसा लगता है कि कुछ लेखकों ने घोड़े के आगे गाड़ी रख दी है। यह सिद्धान्त कि इस मिथक को शैव मत वालों ने तोड़ा-मरोड़ा है, इसकी बहुत गुंजाइश नहीं है। इसका उलटा लगभग सच है। शिव आर्यों के पहले का या अनार्यों का देवता है, अतः वह देशज है और उन सब समुदायों के साथ साझा करता है।

चाहे जो भी हो, शिव जब हिन्दू देवताओं में जा जुड़ते हैं, तब वे इस रूपान्तरण से गुज़रते हैं, असली समस्या और अर्थ बदलाव की इस प्रक्रिया के बाहर है, जो त्रिपुरा के आख्यान में घटित होता है, जहाँ शिव महादेव में बदल जाते हैं। यहाँ, यह महादेव ही हैं, जो गोंडों को देश से निकालता है और गुफा में बन्द कर देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह जंगली और जोशीला आर्यों के पहले का शिव, पुनर्सज्जित होकर इण्डो-आर्यन देवताओं का शक्तिशाली और परिष्कृत देवता बन बैठता है। फिर, किस कारण शिव, जो महादेव नहीं है, गोंड देवताओं को अपरिष्कृत, गंदा और दूसरे देवताओं के साथ न बैठने लायक और सिर्फ़ देश निकाले जाने लायक मानता है। क्या यह इस बात की तरफ इशारा नहीं करता कि आर्य और अनार्य, जो आर्यों के पहले से रह रहे हैं, के बीच कोई संघर्ष है? हमने पहले ही कुछ कोशिश की है कि आर्यों के पूर्व और अनार्य और हड़प्पन सभ्यता के लोगों के बीच कुछ कड़ी जोड़ी जा सके, जो कि इस बात से मोटे तौर पर छिन्न-भिन्न है कि यह सब आर्य जाति द्वारा नष्ट किया गया है। जॉन मार्शल के अनुसार :

''एक दूसरी मुद्रा में सींगों वाली आकृति ईश्वर के तख्त पर बैठी नज़र आती है, दो साँपों के द्वारा रक्षित, जिनके सिर उठे हुए हैं। सींगों वाले योगी और मध्य भारत के आदिवासियों द्वारा पहने जाने वाले शिरोवस्त्र की तुलना, बस्तर के माड़िया द्वारा भैंसे के सींग का शिरोवस्त्र, विस्मयकारक समानता बतलाता है। यहाँ एक जैसे दिखने वाले भैंसों के सींग जिनके बीच मोरपंख सजाये जाते हैं, बस्तर के गोंडों द्वारा की गई लकड़ी की नक्काशियों में, जिसमें नाचने वालों को ढोलक के साथ ईश्वरीय सींग पहने जिसमें मोरपंख बाहर निकले हुए लगे हैं, दर्शाया जाता है : एक दूसरी लकड़ी की नक्काशी में, सींग स्वतंत्र रखे हैं, पवित्र उपस्थिति के प्रतीक की तरह। भैंसों के सिर की चीरफाड़ करने वाले मैनहिर आकृतियाँ, जो लकड़ी की होती हैं, मण्डला के गोंडों द्वारा भी बनायी जाती हैं...।''[२६]

यह सामान्य तौर पर स्वीकार्य है कि महादेव, जो कि शिव या शम्भू या शिश्नदेव का ही रूप है, वह आर्यों के पूर्व का देवता है। हड़प्पा की खुदाई से मिले पुरातात्त्विक अवशेष इस बात को बल देते हैं और ऋग्वेद के कई अंश भी। इसके अतिरिक्त, 'लिंग' शब्द ऑस्ट्रिक या इण्डो ऑस्ट्रोलायड

मूल का माना जाता है। मिथक में हम तीन स्तरीय बदलाव पाते हैं। पहला उसमें अन्तर्निहित है और दूसरे दो मिथ के शब्दों में ही शामिल हैं। अब यह मान लेना प्रमाणित ही है, जैसा कि हमने ऊपर देखा कि शिव आर्यों के पहले का देवता है जो आर्य देवताओं के बेड़े में शामिल करने की प्रक्रिया में वह महादेव बन जाता है, और यह भी कि आर्य के पहले रह रहे लोगों के बीच लिंग पूजा प्रचलित थी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सिन्धु घाटी सभ्यता में मिली स्त्री आकृतियाँ मातृ-पूजा के प्रचार को दर्शाती हैं।

जब महादेव गोंड देवताओं को रचते हैं, वे उन्हें सबसे ज़्यादा बदबूदार पाते हैं, हर चीज़ खाते हुए और सामान्य तौर पर घृणित पदार्थ भी - जो कि शिव के गणों की याद दिलाता है। वह उन्हें चतुराई से गुफा में जाने को बाध्य करता है और वहाँ बन्द कर देता है। किन्तु देखने योग्य बात यह है कि गोंडों की जो गंध बहुत ही बदबूदार और महादेव को नाराज़ करने वाली थी, जिसके कारण उन्हें निर्वासित किया गया था, वह पार्वती के लिए मीठी और सुन्दर थी। क्या यह एक तरफ पुरुष शक्ति के उदय की तरफ इशारा करता है और दूसरी तरफ पार्वती का अपने प्राचीन भेष में, जो कि माँ का है, में लौट आने का पुनर्कथन है और शिव के आर्य पूर्व के रूप और मूल का संकेत है? निश्चित ही, आर्य पूर्व के पार्वती और शिव के मूल की तरफ इशारा करते हुए कौसाम्बी इन देशज लोगों के देवताओं के बारे में कहते हैं कि ''...उनके पुरुष देवता बाद के महसोवा या उसके समकक्ष, के वास्तव में कोई संगी-साथी नहीं हैं, और कुछ हद तक पहले की मातृ-देवी और खाना इकट्ठा करने वालों की देवी के बीच द्वन्द्व की स्थिति में हैं। ये दो समूह जल्दी ही मिल जाते हैं, और देवी-देवता तदनुसार विवाहित हैं। कभी-कभी हम यह देख सकते हैं कि देवी भैंसासुर महसोवा को नष्ट कर रही है, जबकि चार सौ मीटर दूर ही किसी एक मन्दिर में उसका विवाह उसी महसोवा से हुआ है, थोड़े-से नाम परिवर्तन के साथ। ब्राह्मणों की टीका में यह पार्वती है जो शिव की पत्नी है, किन्तु महिषासुर का मर्दन करती है; और किसी एक अन्य प्रसंग में वह शिव को कुचलने वाली में बदल जाती है। यह महत्त्वपूर्ण है कि सिन्धु घाटी की मुद्रा में शिव तीन चेहरों वाले हैं और अपने शिरोवस्त्र की तरह भैंसे के सींग धारण किये हैं।[२७]

वही गंध, जो मीठी और आनन्ददायी थी, महादेव के लिए बदबूदार हो जाती है। यह पार्वती है, जो गंध का अभाव महसूस करती है और तपस्या करती है, और इस तरह लिंगो का जन्म होता है - महादेव पूर्व आर्यों के रूप में, शिव के लिंग प्रतीक के रूप में। लिंगो, निश्चित ही गोंडों को मुक्त कराने का बीड़ा उठाते हैं और उसमें सफल होते हैं। जैसा कि वागीश शुक्ल कहते हैं- ''जैसे ही किसी प्रक्रिया की कड़ी इस ब्रह्माण्ड से टूटना शुरू होती है, मिथ उसे अपनी कड़ी से जोड़ लेती है।''[२८] यह मिथ साफ़-साफ़ दिखलाती है अनार्य गोंडों का दमन और महादेव का लिंगो की तरह सफलतापूर्वक

पुनर्स्थापन। मिथक का समय फिर से पकड़ा जा चुका है और समुदाय की स्वतंत्रता के साथ। हम इतिहास की भूल-भुलैया से, वापस रोशनी में लौटते हैं। एक समय-शून्य क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में।

सन्दर्भ सूची :

१. अविवाहित लड़के-लड़कियों का सामूहिक शयनालय, देखें, द मूरिया एंड देयर घोटुल - वेरियर एल्विन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४७.

२. गोंड (हिन्दी), शेख गुलाब, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल.

३. रेव स्टीफ़न द्वारा हिस्लॉप फ़्री चर्च ऑफ़ स्कॉटलैण्ड के अग्रगामी ईसाई धर्म-प्रचारक थे, जिन्होंने गोंडों के बीच काम किया।

४. हिस्लॉप लिखित वृत्तान्त को जे. फ़ोरसिथ ने पद्य रूप में प्रस्तुत किया। दि हाइलैंड्स ऑफ़ सेन्ट्रल इंडिया, कै. जे. फ़ोरसिथ, एशियन पब्लिकेशन सर्विसेज़, नई दिल्ली, इंडिया, १९७५.

५. द हाइलैंड्स ऑफ़ सेन्ट्रल इंडिया, कैप्टन जे. फ़ोरसिथ.

६. द हाइलैंड्स ऑफ़ सेन्ट्रल इंडिया, कैप्टन जे. फ़ोरसिथ.

७. द राजगोंड्स ऑफ़ आदिलाबाद, क्रिस्टोफ़र वॉन. फ़्यूरर-हेमनड्राफ़ लंदन १९४८.

८. द हाइलैंड्स ऑफ़ सेन्ट्रल इंडिया, कैप्टन जे. फ़ोरसिथ.

९. द मूरिया एंड देयर घोटुल, वेरियर एल्विन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४७.

१०. द राजगोंड्स ऑफ़ आदिलाबाद, क्रिस्टोफ़र वॉन फ़ुरर, हेमनडार्फ़, लंदन, १९४८.

११. द हाइलैंड्स ऑफ़ सेन्ट्रल इंडिया, कैप्टन जे. फ़ोरसिथ.

१२. होमो हेरारचिकस, लुईस डमोंट, द यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो, १९८०.

१३. गोंड्स ऑफ़ द सेन्ट्रल इंडियन हाइलैंड्स, बी.एम. मेहता, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९८४.

१४. द ब्रह्मवैवर्त पुराण, सम्पादित-डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री, धर्मग्रन्थ प्रकाशन, दिल्ली, १९८२.

१५. शैविज़्म एंड द फ़ैलिक वर्ल्ड, बी. भट्टाचार्य, भाग-दो, ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई.बी.एच. पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९७५.

१६. वैदिक इंडिया, जी.एस. धुर्ये, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, १९७९.

१७. द वैदिक एज (चैप्टर-८ : रेस मूवमेंट एंड प्री हिस्टॉरिक कल्चर - एस.के. चटर्जी), डॉ. के.एम. मुंशी के निर्देशन में तैयार, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९७१.

१८. शैविज़्म एंड द फ़ैलिक वर्ल्ड, बी. भट्टाचार्य, भाग-दो, ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई.बी.एच. पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९७५.

१९. द वैदिक एज (चैप्टर-९ : रेस मूवमेंट एंड प्री हिस्टॉरिक कल्चर - एस.के. चटर्जी), डॉ. के.एम. मुंशी के निर्देशन में तैयार, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९७१.

२०. द इंडस वैली सिविलाइज़ेशन, सर मोर्तिमर व्हीलर, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

२१. द ओरीजन ऑफ़ मेन एंड हिज़ कल्चर, स्टीफ़न फुक्स.

२२. द वंडर दैट वॉज़ इंडिया, ए.एल. बाशम, रूपा एंड कम्पनी, १९८५.

२३. द बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन, ब्रिगेत एंड रेमंड आलचीन, पेंग्विन बुक्स, १९६८.

२४. द वैदिक एज (चैप्टर-८ : रेस मूवमेंट एंड प्री हिस्टॉरिक कल्चर - एस.के. चटर्जी), डॉ. के.एम. मुंशी के निर्देशन में तैयार, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९७१.

२५. द मूरिया एंड देयर घोटुल, वेरियर एल्विन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४७.

२६. मोहन जोदड़ो एंड द इंडस वैली, जॉन मार्शल एंड अदर्स, पुपुल जयकर द्वारा उद्धृत द अर्थन ड्रम में, नेशनल म्यूज़ियम, जनपथ, नई दिल्ली.

२७. द कल्चर एंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ एशियंट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन, डी.डी. कौसाम्बी, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लिमि., १९७०.

२८. डॉ. वागीश शुक्ल, डिपार्टमेंट ऑफ़ मैथेमेटिक्स, आई.आई.टी. नई दिल्ली, स्वामीनाथन से बातचीत के बीच.

समय : कला के पंख

बस्तर, मध्यप्रदेश के नारायणपुर तहसील में छोटा डोंगर से ओरछा की तरफ जाते हुए हमारी जीप, अबूझमाड़ शृंखला की उम्दाई पहाड़ियों की सर्पीली सड़क, जो चौड़ी की जा रही थी, जल्दी ही हिचकोले खाने वाले रास्ते में बदल गयी (अब मोटर कार के लिए नयी सड़क बन गयी है), को एक मूरिया ने रोका, जो सड़क के बीचोबीच खड़ा था। इसके पहले कि हम कुछ कह सकें या कर सकें, वह उछलकर पिछली सीट पर बैठ गया और कहा- 'चलो चलें।' हमने, हमारे मूड़िया दोस्त बैलगूर से कहा, जो हमारे साथ यात्रा कर रहा था कि इससे पता करें, वह कहाँ जाना चाहता है। उसने अपने दोनों हाथ विपरीत दिशाओं में फैलाये और इशारा करते हुए कहा कि वह दोनों तरफ जा रहा है। ज़ाहिर है वह महुआ पिये हुए था, या निश्चित ही वह उस सच्चाई के परे रह रहा था, जिसे हम अपनी 'सामान्य' इन्द्रियों से जानते हैं।

हम इस मूरिया के साथ चलने की कोशिश करते हैं, एक साथ कई दिशाओं में यात्रा कर सकने की सम्भावना की गहराई को जानने की कोशिश करें, या कुछ-कुछ हमें यह जानने की कोशिश करना चाहिए कि हमने अपने ऊपर ज़ोर डालकर रहने का जो तरीका अपनाया है, उसे देखें, जहाँ दिशाएँ अपना अर्थ खो देती हैं, और हम दाखिल होते हैं 'Garden of the forking paths.'[1] हमें सोचना चाहिए अपने होने के सन्दर्भ में 'समय' के बारे में, 'समय' कला के सन्दर्भ में।

'हमें दुनिया के केन्द्र से निकाल लिया गया है और हम अभिशप्त हैं उसे जंगलों के बीच और रेगिस्तानों में या ज़मीन के भीतर बनी भूलभुलैयाओं के चक्करदार रास्तों में ढूँढ़ने के लिए', ऑक्टोवियो पाज़ कहते हैं। 'और एक समय ऐसा भी था, जहाँ समय अनुक्रमण और परिवर्तन नहीं था, कुछ-कुछ शाश्वत स्रोत था स्थिर वर्तमान का, भूतकाल और भविष्य से भरा हुआ। जब मनुष्य इस अनन्तकाल से बाहर कर दिया गया जिसमें सारे समय एक थे, वह सही समय बताने वाले यंत्र में दाखिल हुआ और घड़ी और कैलेण्डर का गुलाम होकर रह गया। जैसे ही समय कल, आज और कल में विभाजित किया गया, घण्टों में, मिनटों में और सेकॅण्ड्स में, मनुष्य समय के साथ रुक गया। यथार्थ के साथ बहना भी अवरुद्ध हुआ। जब कोई कहता है 'कि इस क्षण में' वह क्षण वास्तव में जा चुका है। यह समय नापने के अवकाश सम्बन्धी यंत्रों ने - मनुष्य को यथार्थ से अलग कर दिया - जो कि लगातार वर्तमान है - और सभी उपस्थितियों को जिसमें यथार्थ अपने को प्रकट होने दे रहा है, जैसा वर्गसन ने कहा, माया में बदल देता है।"[२]

लगातार उपस्थित रहने की धारणा : क्या यह लेविन का ऐतिहासिक भूतकाल है, जैसा मॉस्लाव कहते हैं : 'भूतकाल सक्रिय और सिर्फ़ उस वक्त ज़िन्दा है और वह व्यक्ति के भीतर पुनर्सृजित होता है, और उपस्थित व्यक्ति द्वारा पचा लिया जाता है। यह उस व्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं है। व्यक्ति के लिए कुछ अनजाना-सा। वह अब व्यक्ति बन चुका है (और वह अपनी पहचान किसी अन्य और दूसरों से अलग होने में खो चुका है), जैसे कि खाये जा चुके मांस के टुकड़े अब मुझमें बदल चुके हैं, मांस के टुकड़े नहीं रहे। पचाया गया भूतकाल (पचा लेने का स्वांग), अनपचे भूतकाल से अलग है। क्या यह लेविन का हिस्टोरिकल भूतकाल है?[३] या यह, जैसा मार्लो कहते हैं कि 'मनुष्य के हाथों द्वारा बनायी गयी आकृतियों से समय पराजित हो चुका है?'[४] क्या यह समय के नहीं होने का आधार है जिसे बर्ज़र बतलाता है : क्या यह सच नहीं है कि चित्रित आकृति की स्थिरता समय की अनन्तता के बारे में कुछ कहती है?... भूतकाल क्या है, वर्तमान और भविष्य इसके आधार में सहभागी हैं, समय की अनन्तता का धरातल।'[५]

निश्चित ही कला में समय की अनन्तता की इस धारणा को स्वीकारा जाना है, नहीं तो हम कैसे भूतकाल में बनी कलाकृतियों पर प्रतिक्रिया के योग्य होते? यह समय की अनन्तता, अनजान के समतुल्य हैं, जैसा कि जुंग बतलाते हैं, 'किसी भी प्रतिक्रिया की प्रेरणा सामान्य तौर पर समझी जा सकती है : किन्तु सृजनात्मक कर्म, जो प्रतिक्रिया परम प्रतिपक्ष है हमेशा के लिए मनुष्य की समझ को भ्रमित करता है। वह केवल अपने प्रकटीकरण में ही व्याख्यायित हो सकती है; उसे अस्पष्ट ढंग से महसूस किया जा सकता है, किन्तु कभी पूरी तरह पकड़ा नहीं जा सकता।'[६] क्या यही वो कारण नहीं है, जिससे हम लोग बार-बार अभी के या भूतकाल की कलाकृतियों के पास खिंचे चले जाते हैं?

समय की अवधारणा, चाहे जैसी हो, एक क्रमबद्धता को अर्थ देती है, एक विकास : जैसे कि, यदि हम पाषाणयुगीन और आदिम मनुष्य की या महान सभ्यताओं की कलात्मक उपलब्धियों के बारे में जागृत हैं, इसके बदले में उन्हें पता नहीं है कि हम क्या जानते हैं। उनका अलग-थलग होना एकमात्र कारण है, दोनों समय और अवकाश के अर्थों में। ऐतिहासिक रूप से कहा जाए, तब यह दीखता है कि हालाँकि हम शायद भूतकाल को पढ़ सकते हैं, किन्तु हम भविष्य का पूर्वानुमान नहीं लगा सकते, तब क्या इस अर्थ में समय का यह विकास अपने उलटे चक्र में नहीं है? अक्षर की वर्णक्रमिकता के अनुसार अक्षर 'बी' 'ए' को धारण किये है, 'सी' 'ए' और 'बी' को धारण किये है और 'डी' 'ए', 'बी' और 'सी' को धारण किये है और इसी तरह आगे तक। कला में, जैसा भी हो, भूतकाल हमारे साथ रहता है दूसरे वर्तमान की तरह, वह समय को जीत लेता है। 'समय' अपने विकासवादी बोझ से मुक्त कर दिया गया है, अब वह धातु-सूत्र है।

कब और कैसे हम समय की अनन्तता की धारणा से बँधे? वह क्या है जो अनन्त है, जो कि 'हमेशा मनुष्य की समझ को भ्रमित करता है', यह तथाकथित 'आधार'?

पाज़ ने यथार्थ की अवधारणा को लगातार उपस्थिति मान लिया था और यह लगातार उपस्थिति और क्या हो सकती है अनादि-अनन्त के अलावा, वह जिसकी कोई शुरुआत नहीं है और कोई अन्त नहीं। सिर्फ़ एकरेखीय अर्थ में ही नहीं, बल्कि सभी व्यापक अर्थों में? यहीं अनन्तता का गर्भ मौजूद है, रियलिटी न तो 'ए' से शुरू होती है और न ही 'ज़ेड' पर खत्म होती है। उसको समझना, एक बुनियाद की तरह या विभाजक की तरह इसे गणितीय समता में घटा देगा जहाँ यह फ़ार्मूला की तरह यथार्थ को दिखला देगा किन्तु खुद नहीं होगा। अनन्तता को यथार्थ की तरह देखने की धारणा, इसलिए वह साँचा नहीं है, जो बिना शुरुआत और बिना अन्त के है अपने सभी व्यापक अर्थों में, इस प्रकार यह एक अनन्त बदलाव भी है : जो अचल है, जिसे अनन्त होना ही है। इस प्रकार अनादि-अनन्त सिर्फ़ अपने अनन्त प्रकटीकरण में ही देखे जा सकते हैं, दोनों अपने में अनूठे हैं, फिर भी उसी अनादि-अनन्त का प्रकटीकरण हैं। यथार्थ की यह अनादि-अनन्त की धारणा किसी भी विकास को सम्भव नहीं होने देती, उसके सभी प्रकटीकरण अनन्त सहकालिकता की वसीयत हैं। 'जबकि अनादि-अनन्त अपने को सहकालिक प्रकटीकरण के भीतरी केन्द्र में प्रस्तुत करता है, कहने के लिए प्रकटीकरण की अद्वितीयता समय की अवधारणा की तरफ ले जाती है, जो कि हमें सामान्य संवेदनाओं से उसकी बाहरी रूपरेखा की तरह दिखते हैं। गेटे ने इसी की कल्पना की है, 'पेड़-पौधों को अस्तित्व से कम आँकना, एक-दूसरे से अपरिवर्तनीय और रूपान्तरण की तरह सभी एक या दूसरे तरीके से अपनी भाषा में किसी ख़ास रूप या पत्ती या अपने फूल के रूप में अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं, यह आधारभूत सत्य है, जो दुनिया के सभी वनस्पतियों का है।'[9] यह सादृश्यता शायद अनादि-अनन्त

के यथार्थ की धारणा तक बढ़ायी जा सकती है। चाहे जैसा हो, आधारभूत सामान्य सत्य सिर्फ़ परिशुद्धता के रास्ते वास्तविकता पा लेता है। इसकी कल्पना इस तरह नहीं की जा सकती कि अपने अनन्त प्रकटीकरण के इतर एक स्वतंत्र सत्ता में हो : यह मात्रात्मक सम्बन्धी समीकरण में भी घटाया नहीं जा सकता, क्योंकि गुणवत्ता के बगैर किसी भी मात्रा की कल्पना अपने में अमूर्त है जिसका यथार्थ में कोई आधार न हो। यथार्थ अपने को आकार के रास्ते ही प्रकट करता है : हम उसे 'अस्पष्ट ढंग' से ही महसूस कर सकते हैं, हम कभी जान नहीं सकते। यह छवि इसलिए, अनन्त के प्रकटीकरण के रूप में, आश्चर्य की वस्तु बन जाती है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।[८]
पूर्ण है यह पूर्ण है वह,
उदित होता है पूर्ण से पूर्ण ही
पूर्ण से पूर्ण को निकालने के बाद
शेष रहता है पूर्ण ही

अनादि-अनन्त की यह दार्शनिक व्याख्या एक अनन्त साँचे की तरह ली जा सकती है, जिसमें समय दूसरे स्तर पर व्यवहार करता है, समय इतिहास की तरह। हिस्टॉरिकल समय की धारणा आनुभाविक धारणा है, एक भ्रामक मचान।[९] हम अपने आगमन के समय से इस गुज़रे समय की परख करना जारी रखते हैं, शुरुआत तक पहुँचने की असम्भावना से बेखबर हो, प्रगति क्रम बनाना शुरू कर देते हैं, प्रगति इतिहास की तरह, पृथ्वी का इतिहास, पृथ्वी पर जन्म का इतिहास, प्रजातियों के विकास का इतिहास और सभ्यताओं के विघटन और परिवर्तन के दौरान मनुष्य का इतिहास। हिस्टॉरिकल समय मनुष्यों की संस्कृतियों के बीच काम करते वक्त़ उन्हें असमान क्रम में रखता है, विकास जो प्रकृति के दोनों, नये किये जा सकने वाले और जिनका नवीनीकरण नहीं हो सकता, स्त्रोतों का पूर्ण उपयोग करते हुए तकनीकी विकास के ऊँचे और निचले स्तर पर आधारित है। अतः, आज पश्चिमी सभ्यता अन्य मानव जाति के बरक्स ज़्यादा विकासशील दिखाई देती है। शेष सभी संस्कृतियाँ और सभ्यताओं को आधुनिक तकनीकी रूप से परिष्कृत पश्चिम के स्तर तक आना होगा, अपने को समकालीन बनाने के लिए। यह तकनीकी विकास के असमान होने के कारण हम इस धारणा तक पहुँचते हैं कि पहला, दूसरा और तीसरा विश्व है, जो कि तथाकथित आदिवासी समुदायों के साथ है और संस्कृतियाँ उनके भी पीछे-पीछे चली आ रही हैं।

इतिहास मनुष्यता की हलचल को सिर्फ़ एक ही कोण से देख पाता है, यह देखने का कोण

चाहे जो हो। जबकि इतिहास का अध्ययन शायद और शायद नहीं भी पत्र-शैली में लिखे गये उपन्यास की समस्या प्रस्तुत करे, यथार्थ का अध्ययन एक ऐसी औपन्यासिक दूरी पैदा करता है, जिसे पाटा न जा सके। *भाषा ज्ञान की वाहक है, इस निमित्त से सन्देश के रूप में अनुभव का वाहन बन जाती है और ज्ञान का नहीं, जो कि यथार्थ के साथ एक हो चुका है :*

विचार और
वास्तविकता के बीच
गति और
कार्य के बीच
सिर्फ़ छाया है[१०]

लोगों और समुदायों की कलाओं के भीतर अपने ज्ञान को हिस्टोरिकल मानसिकता के नज़रिये से देखना ही मुश्किल का कारण है, कहने के लिए, कि हमें अपने ज्ञान की बेदी पर यथार्थ की बलि चढ़ानी होगी इतिहास की तरह। इस तरह यह अपने को ही नष्ट करने वाली प्रक्रिया बन जाती है। कला, रीड कहते हैं :

'...वह किसी जादुई कारण से किया गया हो या महज़ सौन्दर्य बढ़ाने के लिए, यह क्रिया आकस्मिक है और रेखाओं की अभिव्यक्ति और रंगों का वहाँ होना सब कुछ नैसर्गिक है। इस तथ्य के सामने हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी क्षमता मनुष्य में अन्तर्निहित है: *यह मनुष्य के पास उतनी ही प्राकृतिक ढंग से है, जैसे कि बोलना या किसी और अभिव्यक्ति की ज्ञानात्मक क्रियाएँ। मैं शब्द 'ज्ञानात्मक' में आ चुका हूँ और शायद यह आपको आश्चर्यचकित करे। किन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, कला सम्बन्धी मेरे दर्शन के रूप में।* मनुष्य जो भी करता है, अपने सहज नैसर्गिक प्रतिमा निर्माण की प्रक्रिया, प्रतीक के सृजन, वह यथार्थ के संज्ञान की अभिव्यक्ति है - यथार्थ के उस पक्ष की जो उस समय उसके देखने या उसकी बुद्धि द्वारा समझा गया है। कला का सारा मकसद मनुष्य की एक गतिविधि की तरह इस अर्थ में ज्ञानात्मक है।'[११]

सिर्फ़, यह संज्ञानात्मक है यथार्थ के साथ *समागम* की और कलाकार यथार्थ की समझ की अभिव्यक्ति नहीं करता - जो, ज्ञान के रूप में सीमित होना ही है, किन्तु यह यथार्थ है जो कलाकार की सृजनात्मक क्रियाओं से अपने को अभिव्यक्त करता है 'एक पक्ष की तरह', इस तरह ज्ञान को आश्चर्य के अर्थ में घोलता हुआ। अनजान के साथ दर्शक की सहभागिता को समीप लाते हुए।

मार्क्सवाद की दफ़्तरी भाषा में यह तर्क किया गया है कि इतिहास से नहीं बचा जा सकता है और यह भी कि मनुष्य सिर्फ़ इस हिस्टॉरिकल प्रक्रिया में ही अपने उत्पीड़न से मुक्त हो सकता है।

दूसरे शब्दों में, कि यह मान लिया गया है कि मनुष्य की स्वतंत्रता ऐतिहासिक विकास के किसी स्तर पर निर्भर है : कि मनुष्य कभी स्वतंत्र नहीं था, किन्तु इतिहास की अनिवार्यता पर बहुत निर्भर रहा। यहाँ हम एक विचित्र विरोधाभास के सामने आते हैं कि जहाँ एक भाग्यवादी भौतिकवादी बन गया है। एक छोटे-से अन्तर के साथ जहाँ शब्द *डेमीओरगॉस* शब्द इतिहास से बदल दिया गया है। अतः आदर्शवाद और भौतिकतावाद, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह नज़र आते हैं। तब यथार्थ का क्या हुआ और वास्तव में क्या हुआ?

समाजों के और समुदायों के हमारे पक्षपाती निरीक्षण से जिसे हमारे पूर्वजों का समर्थन प्राप्त है, जो हम तक आता है, जिसे हम ज्ञान का भण्डार कहते हैं, उसे हम श्रेणीबद्ध तरीके से रख सकते हैं, इस आदर के साथ कि हमारे वर्तमान के अनुभव के सन्दर्भ में अर्थवान हो सकेगा। यथार्थ के इर्दगिर्द जिसमें हम रहते हैं, हम एक काल्पनिक मचान तैयार करते हैं, और यह ढाँचा हमारे सामने यथोचित यथार्थ के रूप में प्रस्तुत होता है।

तीसरा स्तर, अपने होने का अहसास जिसमें हम बिना किसी समय की बाध्य करने वाली क्रमबद्धता से व्यवहार करते हैं, जिसे मैं हमारी सजगता का आत्मनिष्ठ संसार कहना चाहूँगा, हम अपनी इच्छानुसार कई क्षेत्रों में साथ-साथ ऊँची उड़ान भरते हैं, तथाकथित भूतकाल के क्षेत्र और भविष्य के, और सर्जनात्मकता के, एक गतिशील वर्तमान से, 'लगातार होने' की अवस्था से।

हमारी इस आत्मनिष्ठ अवस्था में, कम-से-कम, हम इतिहास के उत्पीड़न के विषय नहीं रहते।

एक कहानी है कि एक युवा भील पेड़ के नीचे बैठा आनन्द से बाँसुरी बजा रहा था। एक बनिया उसके पास जाता है और कहता है : 'तुम अपना समय क्यों बर्बाद कर रहे हो, कुछ काम क्यों नहीं करते?' उस युवा ने पूछा : 'अगर मैं काम करूँ तो क्या होगा?'

'तुम कुछ पैसे कमाओगे।' बनिये ने कहा।

'यदि मेरे पास पैसे हैं तब क्या होगा?'

'तुम खुश होगे और तुम परम आनन्द में होगे।' बनिये ने कहा।

आनन्द में डूबे उस युवा ने कुछ जवाब देने की बजाय, अपनी बाँसुरी वापस बजाना शुरू कर दिया।

यथार्थ की इस व्यक्तिनिष्ठ अवस्था में जैसा कि जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव अपनी ही शर्तों पर होता है और एक व्यक्ति के द्वारा अनुभव किया जाता है, न कि किसी ऐतिहासिक श्रेणी में। यह वही

अवस्था है, जिसमें एक व्यक्ति हमेशा से रहा है जब से मनुष्य की उत्पत्ति हुई और आगे भी रहेगा, यदि हिस्टॉरिकल समय ने इस प्रजाति को रहने की छूट दी तो : यदि डायनासॉर अपने शरीर के वज़न के कारण लुप्त हो गये हैं, तब कोई कारण नहीं है कि शायद मनुष्य अपने दिमाग के वज़न के कारण लुप्त हो जायेगा।

चाहे जो भी हो, हिस्टोरिकल समय, जो कि पश्चिमी सभ्यता के एकरेखीय विकास की तरह दर्शाया गया है, ज़रूरी नहीं है कि उसे मानदण्ड माना जाये, जैसा हमने देखा है कि महान सभ्यताएँ भी अपनी उपलब्धियों की पराकाष्ठा पर नष्ट और विघटित होती हैं। हम भी, इस तरह, अपनी समकालीनता को सह-अस्तित्विक संस्कृतियों के एक साथ होने की मान्यता देते हैं, जो इस अनन्तता के साँचे में होने वाली घटनाओं के एक साथ होने की मान्यता भी है। हम, इस तरह आदिवासी कला को समकालीन कला की तरह देखते हैं, उसके पीछे चाहे जो प्रेरणा रही हो।

अनिवार्यता इतिहास की चाल के बाहर नहीं बहती है। यह एक कहानी है, जो कि भूतकाल की असंदिग्ध पश्च-दृष्टि से एक तरह की तार्किक संरचना है। भौतिक नृशास्त्र भले ही अलग-अलग लोगों की खोपड़ियों के नाप लेता रहे, उनके नाक के चपटे होने या तीखे होने को, या उनके बालों के रंगों और टेक्शचर को बतलाता रहे, किन्तु क्या इसकी व्याख्या हो सकती है कि कैसे एक झारा विशिष्ट जादुई शक्तियों की मूर्तियाँ बना सकता है या एक गोंड दीवाल पर भित्तिचित्र बनाता है या नक्काशी करता है जो मंत्रमुग्ध कर देता है? क्यों पिकासो आदिवासी कला से प्रेरणा प्राप्त करने के लिए खिंचा चला गया? क्या आधुनिक कला को एक नयी ताकत देने का काम इस तरह के जीवन्त कला ने नहीं किया, जो कि अन्ततः उसी सभ्यता में जन्म लेती है जो आधुनिक विज्ञान और तकनॉलॉजी पर आधारित है? इस तरह से हिस्टॉरिकल समय कभी भी बोध करने का मानदण्ड नहीं बन सकता, आदिवासी कला के सामने होने पर और उसे पहचानने और जानने के लिए उसके अपने हक़ में भी।

भाषा विचारों के आदान-प्रदान में निश्चित ही अपनी चमड़ी से बाहर कूद आती है और खुद को अपने बूट-स्ट्रेप से ऊपर उठा लेती है, जब वह कला बनती है। दोनों तरफ एक साथ यात्रा करने के योग्य होने का अर्थ यह नहीं है कि अदला-बदली करना तथाकथित यथार्थ और भ्रम की दुनिया में बल्कि समानान्तर यथार्थ के बीच घूमना है। मैं कला के संसार को समानान्तर यथार्थ का संसार कहता हूँ और जैसा कि नॉन-यूक्लीडियन ज्यॉमेट्री के अनुसार सिद्ध है कि समानान्तर रेखाएँ मिलती हैं, दोनों यथार्थ एक-दूसरे में उलझ जाते हैं और इस तरह कला का संसार यथार्थ के रूपान्तर और रूपान्तरण में देखा जा सकता है। यहाँ पर ज्ञानात्मक खाई भरी नहीं गयी है, उसे एक तरफ सरका दिया गया है या वस्तुतः वह अपने होने में स्थगित है, यह खाई सिर्फ़ एक भ्रम है जो भाषा के सम्प्रेषण करने की क्षमता के अर्थ में एक प्रकार की हाथ की सफाई है : यथार्थ के इर्दगिर्द बनाये गये काल्पनिक

मचान का व्यवस्थित ज्ञान, सुव्यवस्थित सम्प्रेषण। इकारस की नियति ही गिरना और नष्ट होना था क्योंकि उसके पंख मोम के थे। मनुष्य अपने कला के पंखों के साथ स्वर्ग तक ऊँचे उड़ता है।

कला क्षेत्र के इसी यथार्थ के भीतर, इन समुदायों और लोगों तक हम पहुँचते हैं इतिहास के द्वारा घोषित पिछड़े और अविकसित का दर्जा पाये हुए, दोनों दिशाओं में एक साथ जाने की अवस्था में, और इनके साथ एक घनिष्ठता बनाने के सन्दर्भ में।

समाजशास्त्रियों की श्रेणियाँ मनुष्य के जीवन के व्यक्तिनिष्ठ अनुभव का विषय नहीं हैं। जब मार्क्स ने हीगल के तर्क-विधान को ठीक कर देने की बात कही, वह मनुष्य को आदर्शवादी दलदल से बाहर नहीं खींच निकाल रहा था बल्कि अनन्तता के स्थल से मनुष्य को लूट रहा था और इतिहास की निर्दयता से उसको कीलित कर रहा था। इतिहास जो दर्ज करता है या जो दर्ज करने का दावा करता है कि जो ज्ञात है। जिसे समय में मनुष्य की ज्ञात और पहचानी जा सकने वाली यात्रा 'मिथक' को हटाने के लिए की गयी है, जिसके देवी-देवता लगातार बढ़ते जा रहे हैं और फिर भी जो समय से अनजान है। मनुष्य को समय के भीतर मरना होगा, इतिहास के सृजन के लिए। इस अर्थ में कला मिथक के क्षेत्र से सम्बद्ध है।

समाज के असमान रूप से विकसित होने की धारणा तकनॉलॉजी के असमान रूप से विकास के उत्पादन की ऐतिहासिक धारणा है। मनुष्य, चाहे वह जंगल में रहता हो, वहाँ के उत्पादों के भरोसे या महानगरीय केन्द्रों में तथाकथित तकनीकी रूप से समृद्ध दुनिया में अनजाने और असम्बद्ध एजेन्सी के द्वारा बनाये गये उत्पादों पर निर्भर मनुष्य, अभी भी अन्तहीन अनन्तता की विशालता के प्रश्न से रूबरू है। अनन्तता के सन्दर्भ में, दोनों ही समान विरोधाभासी सीमाओं में रखे जा सकते हैं। ओरछा की सड़क के बीच खड़ा मूड़िया विरोधाभास की तरफ इशारा नहीं करता है, बल्कि उसे जीता है।

आकाश में बारिश का तूफ़ान एकत्र हो गया है
गंगा और जमुना पानी से लबालब हैं
पानी कहाँ चला गया है?
मछलियों के गले में
और मछलियाँ, वे कहाँ हैं?
वे नदी में खेल रही हैं और नाच रही हैं।''[१२]

सन्दर्भ सूची :

१. ए स्टोरी, बोर्गेस.

२. द लेबिरिन्थ ऑफ़ सॉलीट्यूड, ऑक्टोवियो पॉज़, ग्रोव प्रैस आई.एन.सी. एवरग्रीन बुक्स लिमिटेड, न्यूयॉर्क,

लंदन.

३. द फ़र्दर रीचन्स ऑफ़ ह्यूमेन नेचर, ए.के. मास्लोव, पेंग्विन बुक्स, १९८२.

४. द वॉइसेस ऑफ़ साइलेंस, आन्द्र मालरोक्ष.

५. एंड अवर फ़ेसेज़ माई हार्ट, ब्रीफ़ एस. फ़ोटोस, जॉन बर्गर, पेंथन बुक्स, न्यूयॉर्क, १९८४.

६. मॉडर्न मेन इन सर्च ऑफ़ सोल, सी.जी. युंग, रोल्डगे एंड कीगन पॉल लिमिटेड, ब्राडवे हाउस, लंदन.

७. साइटेड-लेवि-स्ट्रॉस, सेमियाटिक्स ऑफ़ कल्चर में आइरीन पोर्टिस विन्नर द्वारा उद्धृत, मोंतो पब्लिशर्स.

८. ईश उपनिषद्.

९. स्काफ़ोल्डिंग रूपक का प्रयोग आइंस्टाइन ने अपने पत्र 'लेटर्स ए मॉरिस सॉल्विन (पेरिस १९५६) में किया था, जिसे माइकल टेब्लेट ने 'मिस्टिसिज़्म एंड द न्यू फ़िज़िक्स' में उद्धृत किया.

१०. कलेक्टेड पोयम्स बाय टी.एस. इलियट, फेबर, १९३६.

११. द आर्टिस्ट इन ट्राइबल सोसायटी : रॉयल एन्थ्रोपोलॉजिकल इंस्टीट्यूट में हुई एक परिचर्चा में इस पर मनन (विचार) किया गया। बाय मेरियन डब्ल्यु स्मिथ, रुटलेग एंड केगन पॉल द्वारा सम्पादित, लंदन.

१२. गोंड सॉंग फ़्राम सांग्स ऑफ़ द फ़ॉरेस्ट, हिवले एंड एल्विन, जॉर्ज एलें एंड अनविन लिमिटेड, लंदन, १९३५.

कला और आदिवासी

अलास्का से ब्रिटिश कोलम्बिया तक फैले हुए पैसिफ़िक उत्तर पश्चिम इलाकों में रहने वाले इण्डियन्स की कला के बारे में लिखते हुए लेवि-स्ट्रॉस कहते हैं : 'यह सतत् नवाचार, यह आविष्कारिक सुनिश्चितता जहाँ भी लागू की जाए, सफलता का ज़िम्मा लेती है, घिसी-पिटी बातों की अवज्ञा हमेशा नयी कामचलाऊ व्यवस्था ले आती है जो कि निश्चित ही चकाचौंध कर देने वाले परिणामों की तरफ ले जाती है, इसके एक अनुमान के लिए हमारे समय को इन्तज़ार करना पड़ा पिकासो की असाधारण नियति का।'[११] *ले दे मोज़ेल दाविन्यों*[१२] १९०७ में पूरी हुई। पिकासो ने अपने दोस्त के स्टूडियो में आदिवासी कलाकृतियों को देखा था, पुरानी वस्तुओं के बाज़ार में और निश्चित *ही म्यूज़े द ऐकनॉग्राफ़ी ड्यू त्रोकादेरो* संग्रहालय देखा होगा, देमोजेल को पूरा करने के पहले। संग्रहालय से लौटने के बाद यह कहा जाता है, पिकासो ने कहा : 'मैंने अनुभव किया कि चित्रकला किस बारे में हैं।'[१३] अपने किसी दूसरे वक्तव्य में उसने ज़ोर देकर कहा : 'आदिम शिल्पों से श्रेष्ठ कभी भी हम नहीं रच सकते।'[१४] 'सभी कलाएँ', हेनरी मूर ने कहा : 'अपनी जड़ें आदिम कलाओं में ही पाती हैं।'[१५] और आन्द्रे मालर्रो ने कहा : 'विश्व पर यूरोप का प्रभुत्व कोई परिणाम नहीं दे पाता, यदि चित्रकला को आगे नहीं लाया होता जिसने हमारी पश्चिमी आँखों का मोतियाबिन्द दूर किया और पहली बार कलाकृतियों के 'रूपात्मक जोश' को प्रकट किया, जिसका विरूपण औपचारिक तौर पर अनभिज्ञता और अनाड़ीपन

की तरह देखा गया।'[६] सर हर्बर्ट रीड ने एक विचार गोष्ठी में 'आदिवासी समुदाय में कलाकार' विषय पर प्रश्न उठाते हुए कहा : 'आदिम कला में वह क्या है जो कलात्मक विशेषताओं को स्थापित करता है?' और जवाब देते हैं, 'मैं 'सुन्दरता' शब्द से बचना चाहता हूँ, क्योंकि मैंने कई बार इस ओर इशारा किया है कि कलाकृति का आकर्षण पेचीदा है और किसी भी प्रभावी कलाकृति में अभिव्यक्त जीवन-शक्तियों के तत्त्व हमेशा मौजूद होते हैं और जो सौन्दर्य के तत्त्वों पर भी प्रभुत्व रखते हैं, जो भाववाचक और वैश्विक है। आदिवासी कला सामान्य तौर पर सुन्दर होने की बजाय प्राणदायी है। किन्तु फिर भी वह कला है। सुन्दरता प्रायः शास्त्रीय पूर्वाग्रह की तरह वर्णित है किन्तु यही एक है जिसे हम सभी साझा करते हैं। मैं यह कहूँगा कि आदिम कला का बहुत थोड़ा-सा हिस्सा ही इस शास्त्रीय 'सुन्दर' शब्द के अर्थ में व्याख्यायित किया जा सकता है, किन्तु उसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में जीवन-शक्ति है जो किसी भी कला द्वारा जीती न जा सकी।'[७]

विलियम रूबिन अधिक विस्तार से लिखे निबन्ध 'आधुनिक आदिमता वाद' में कहते हैं: 'बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में ज्ञानबोध पर आधारित कला बंधनों से मुक्त होते हुए कला ने विभिन्न सौन्दर्य शास्त्रीय लक्षणों को बढ़ावा दिया जो आदिवासी कला के समानान्तर थे। और इन सबमें अन्तिम नहीं, यह स्वतंत्रता है जिसने वस्तुतः यथार्थवादी अनुपातों की बलि दी जो यूरोपियन कलाकारों की - चाहे जैसी भी उनकी भिन्न शैलियाँ हों - जो गोथिक काल से उत्तर-अभिव्यक्तिवाद तक फैली हैं (और १९०५-०६ के फावईज़्म तक भी), अभिव्यक्ति का साधन थी। इन शताब्दियों के दौरान शरीर की कुल लम्बाई के अनुपात में सिर का अनुपात, बहुत ही कम मात्रा में अलग होता दिखता है। अनुपात की चरम दरों में बदलाव १९०६ के उत्तरार्द्ध में पिकासो कि 'आइबेरियन' शैली के चित्र 'दो औरतें' में दिखा। किन्तु १९०७ में यह घटा - 'देमोज़ेल' में (सीधे हाथ की तरफ नीची वाली आकृति में ख़ास तौर पर) और मातीस के चित्र 'ल ल्युक्स' में पुरानी परम्परा से स्वतंत्रता निर्णायक ढंग से प्रतिष्ठित हुई। यह जल्दी ही जर्मन कलाकारों द्वारा अपना लिये जाने वाला था 'अभिव्यक्त अनुपातहीनता'[८] के रूप में।

यहाँ हमारा सरोकार है, शक्तिदायी, भावपूर्ण आव्हान करने वाली, जादुई - सामाजिक विज्ञान के अर्थ में जादुई नहीं बल्कि दृश्यमान ऐन्द्रिक अर्थ में - आदिवासी कला के विस्तार से। यह जीवनदायी जादुई आयाम प्रकृतिवादी यथार्थपरक परम्परा के विपरीत इसे हम मार्क्स की उस तुलना से मिला नहीं सकते जहाँ वह हमारी बाल-चित्रकला और शास्त्रीय ग्रीक कला की समझ की तुलना कर रहा है, जब मार्क्स ग्रीक के बारे में कहता है 'मानव जाति के सामान्य बच्चे'[९] और हमारे द्वारा उनकी कला परखने की क्षमता को जो हमारी बाल-चित्रकला की परख की तरह ही है, वह वास्तव में ग्रीक कला को प्लास्टिक अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में नहीं बतला रहा है, जो कि मोटे तौर पर, यथार्थवादी है अपने रूप

में, बल्कि मानव-पौराणिक कथा रूपी सामग्री के लिए।

मिथक की बन्द दुनिया मुक्त हो इतिहास के खुले सिरों वाली पद्धति में आकर एक अग्निदेवता का इस औद्योगिक समय में जन्म शायद सम्भव न हो, किन्तु निश्चित ही आज के नियो-यथार्थवादी चित्र या मूर्ति इस तरह बना रहे हैं जो यथार्थवाद का स्मरण कराता है, जिसमें शास्त्रीय ग्रीक कला के कलाकारों ने अपने देवताओं और देवियों का चित्रण किया है और जहाँ पौराणिक कल्पना की महक भी आकृतिमूलक बयान की तरह पत्रकारीय रिपोर्ताज में बदल गयी। उलटे क्रम में इसके उदाहरण में डाली सम्भवतः फ्रायड का स्वप्न संसार चित्रित कर रहा हो, किन्तु निश्चित ही वह यथार्थवादी चित्रकार है न कि अति-यथार्थवादी, इस तरह वह सिर्फ़ यथार्थ को ही प्रस्तुत करता है पूरी प्रकृतिवादी निष्ठा के साथ।

ग्रीक तार्किकवाद ने आदिवासी कला की बहुआयामी मानवारूपी कल्पना के बरक्स एकरेखीय विपरीत रुख अपनाया। इस तरह दीखने में अनगढ़ किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली आकृतियाँ, आदिवासी अभिव्यक्तियाँ, अन्ततः एक प्रकार से वीनस डिमेलो[१०] के आयाम में घटा दी गयीं, मध्य वर्ग के लिए एक परिपूर्ण यथार्थवादी शारीरिक अनुपात जो आज भी स्त्री सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में निर्णायक भूमिका निभाता है। हमारी शताब्दी में पश्चिम में एक पिकासो की ज़रूरत पड़ी जो वीनस के सौन्दर्य की इस पश्चिमी शास्त्रीय धारणा को ले दे मोज़ेल दाविन्यों का सृजन कर हमेशा के लिए अपनी कला में नष्ट कर सका।

आदिवासी कला की यह जीवन-शक्ति पिकासो और कुछ और यूरोपियन कलाकारों द्वारा इस शताब्दी की शुरुआत में खोजी गई और विलियम रूबिन जैसा इसको रखते हैं कि उन्होंने इसके साथ 'सादृश्यता' पायी। चाहे यह सादृश्यता का मसला हो या वे आदिवासी कला से सीधे प्रभावित हुए हों, हमारा सरोकार यह नहीं हैं। महत्त्व की बात यह तथ्य है कि उन्हें यह महसूस हुआ कि आदिवासी कला को न अलभ्य कलाकृतियों की तरह या 'अल्पविकसित' दिमाग की कला की तरह देखा जा सकता है। उन्हें अहसास हुआ कि यह कला 'साधारण' नहीं है बल्कि बहुत ही किफ़ायत में, कम-से-कम चित्रण है जटिल संकल्पनाओं का। आदिवासी कला को 'बचकानी' की तरह नहीं देखना है, जिस अर्थ में 'भोला' वह होता है जो वयस्क अभिव्यक्तिहीन है।

अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष कि भले ही इस आधुनिक तक्नॉलॉजी के नींव पर सामाजिक रचना में यह मान लिया जाये कि कुछ समाज वैसे ही 'आदिम' हैं जैसे दूसरे तरक्की पाये हैं, विकास की प्राथमिक और उन्नत स्तरों की धारणा कला में तकनीकी तरक्की के रूप में घातक सिद्धान्त होगा। यदि इस तरह की धारणा को स्वीकार किया जाना है, तब हमें 'विगत काल' की सभी कला को रद्द करना होगा और साथ ही साथ समकालीन आदिवासी कला के प्रकटीकरण को भी, जैसे हम एक

अविकसित तकनॉलॉजी को रद्द करते हैं। और जिस तरह पूर्वकालिक कला को हम बाल चित्रकला की तरह ही सराहते हैं, यहाँ ध्यान देने योग्य है कि बाल चित्रकला भी एक पक्षीय प्रस्ताव नहीं है, हालाँकि यह दूसरा मसला है।

आदिवासी कला की आन्तरिक और स्थाई शक्ति को सराहने में समस्या शायद इस तथ्य में है कि हममें से बहुत अभी भी उन्नीसवीं शताब्दी के, जैसी वह पश्चिम में विकसित हुई, यथार्थवाद की धारणा से चिपके हुए हैं। प्रकृति विज्ञान के पाठ्यक्रम का अनुगमन करते हुए, यथार्थवादी कला के समर्थक चाहते थे कि जैसा देखा गया और प्रमाण योग्य तथ्य है, ये कला भी 'वस्तुनिष्ठता' से चिपक जाये। जोला के लिए यह पूरा प्रयत्न 'अवास्तविक की वास्तविक से विलोपन की कोशिश है।'[११] डेमियन ग्राण्ट ने जोला के इस 'कल्पना के बहिष्कार' को प्लेटो के कवि का आदर्शवादी राज्य से बहिष्कार की तरह देखा है।[१२]

बर्नाड क्रॉस कहते हैं- 'प्रकृति विज्ञान के अंधविश्वासी सम्प्रदाय अक्सर एक किस्म के पाखण्ड ओढ़े रहते हैं (अक्सर यह अन्धविश्वास का नसीब है), रासायनिक, भौतिक और मनोवैज्ञानिक वैधशालाएँ विलासी उद्यान बन गये हैं, मानव-स्वभाव की अत्यन्त गहरी समस्याओं की सहज पूछताछों के प्रश्नों से गुँजायमान।' हिपोलाइट टेन की किताब 'फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट' से उद्धरण देते हुए ग्रॉस कहते हैं- 'टेन दावा करते हैं सौन्दर्य प्रेमी होने का जो चरित्र निर्धारित करते हैं और वनस्पति शास्त्र के नियमों को दर्शाते हैं। संतरे और बेल, चीड़ और भोज वृक्ष का अध्ययन करते हैं, उनमें समानता खोज निकालते हैं; निश्चित ही यह एक तरह का वनस्पति शास्त्र है, जो मनुष्य के कामों पर लागू किया गया है बजाय वनस्पति के।'[१३] लुकास जोला के ऊपर लिखे अपने निबन्ध में कहते हैं- 'यथार्थवाद की एकरसीय होना आम बात है, जो पूँजीवाद के नीरस यथार्थ का सीधा यंत्रवत् प्रतिबिम्बन है।'[१४]

भूतपूर्व अँग्रेज़ी शासकों ने नग्न आँखों से दिख रही मानसिक जड़ता को ऊँचे शहरी भारतीय मानस पर चस्पा कर दी। इस तरह अठारह सौ अड़सठ में एक दूसरे दर्जे का अँग्रेज़ चित्रकार थियोडोर जैनसन हिन्दुस्तान आया। त्रावनकोर के महाराजा ने उसे आमन्त्रित किया और रवि वर्मा[१५] ने उससे तेल चित्र की तकनीक सीखी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि रवि वर्मा ने न सिर्फ़ उससे तेल चित्र की तकनीक सीखी, बल्कि जैनसन से अकादमिक यथार्थवाद भी जाना। बकिंघम के ड्यूक, जो उस वक्त मद्रास के गवर्नर थे, जो भारतीय कलात्मक परम्परा के बारे में दरिद्र विचार रखते थे, ने रवि वर्मा को बहुत ही आनन्द के साथ चित्र बनाने का न्यौता दिया और उसकी प्रतिकृतियाँ ओलियोग्राफ़ के रूप में पूरे हिन्दुस्तान में इस दिशा से उस दिशा तक आग की तरह फैल गयीं।

आनन्द कुमारस्वामी रवि वर्मा के चित्रों के बारे में यह सोचते थे कि- 'आवश्यक साहित्य और सतही भारतीय जीवन के अध्ययन के बाद कोई भी यूरोपियन छात्र इस तरह के चित्र बना सकता

है।'[९६] हाविल ने उसमें देखा 'अत्यधिक कल्पनाशील भारतीय कविता और रूपकों के चित्रण में काव्यात्मक क्षमता का दुखदायी अभाव।'[९७]

फिर भी, शुरुआती अँग्रेज़ी शासकों के आदेशानुसार अभी भी हमारे बहुत-से कला विद्यालयों में विद्यार्थियों को ग्रीक और रोमन शिल्पों के प्लास्टर से बनी मूर्तियों की नकल करने की बाध्यता है और अनजाने में, और चाहे-अनचाहे, हमारे शहरी बौद्धिक समाज ने पिछले अँग्रेज़ी परामर्शदाताओं का यथार्थवादी अंधापन हासिल कर लिया है। कला के प्रति उनके इस आग्रह का हम सम्मान करते हैं चाहे वो आदिवासी हो या आधुनिक।

वस्तुतः जैसे मनुष्य की आँख एक लेंस है और उसका देखना कि हम क्या देखते हैं, उसकी प्रकृति और संरचना पर निर्भर करता है, इसके अलावा आँख सिर्फ़ एक इन्द्री है, उन इन्द्रियों में से एक जो मस्तिष्क को सन्देश भेजती हैं, जो कि एक या उससे ज़्यादा इन्द्रियों द्वारा नकारा भी जा सकता है। फिर कैसे हम अपने एक जीवित अनुभव को कला की शर्तों पर एक आकृति में बदल लेते हैं? साहित्य और कविता के सन्दर्भ में इस बिन्दु पर समझना आसान है, उपमाओं, अलंकार और रूपक का प्रचलन दोनों में समान रूप से मौजूद है। इस प्रकार एक युवती की आँखें मृग की तरह हो सकती हैं या एक बच्चे का चेहरा चाँद की तरह हो सकता है। एक औरत शायद कुतिया और एक मनुष्य, कुत्ता या गधा या राक्षस। जैसा भी हो, यह मानव रूपी रूपान्तरण देखे गये हैं। यदि अविश्वास के साथ नहीं तो, दोषदर्शिता के साथ, जहाँ तक चित्रकला और शिल्पकला का सवाल है, इस तरह के रूपान्तरण स्वीकार्य हैं, वे सिर्फ़ एक कहानी या एक पौराणिक या एक मिथ के चित्रण की तरह स्वीकार्य हैं। इस प्रकार यथार्थवादी अंधत्व कला के अ-दृश्य सहायक कारकों पर भी चढ़ आये, फलस्वरूप कल्पना की धड़कती साँसों को भी नग्न किया।

यहाँ दृष्टि और अन्तर्दृष्टि के फ़र्क़ को समझना ज़रूरी है। मनुष्य की आँख, निश्चित ही, अपने ग्राह्य सिरे पर एक आकृति प्रक्षेपित करती है। वहाँ कोई खाली परदा नहीं है किन्तु मस्तिष्क है। मनुष्य का मस्तिष्क न सिर्फ़ आँख के अलावा इन्द्रियों द्वारा पोषित होता है, किन्तु जेनेटिक बोधक्षमता से भी, या शायद जैसा जुंग कहते हैं- 'सामूहिक अचेतन' से भी। दृष्टि की अन्तर्दृष्टि बनने की क्षमता लेंस पर नहीं, मस्तिष्क पर टिकी है। जैसा क्रॉस कहते हैं- 'एक काल्पनिक मनुष्य के लिए चित्र का क्या अर्थ होगा, जो समस्त या लगभग सभी इन्द्रियों को खो चुका है, तब देखने वाले अंग को तत्काल कौन ग्रहण करेगा? जिस चित्र को हम देख रहे हैं और मान रहे हैं, वह हम सिर्फ़ अपनी आँखों से देखते हैं, जो शायद उसकी आँखों से कुछ ज़्यादा एक चित्रकार की रंगों से लिपी-पुती पैलेट की तरह दिखेगा।'[९८]

आदिवासी कल्पना की गुंजाइश यथार्थवाद की विवशता में नहीं है, हालाँकि वह प्रकृति के ऊपर

मँडराती है और अपनी जीविका वहीं से प्राप्त करती है।

यथार्थवादी चित्रण का यह दावा कि वस्तुनिष्ठ यथार्थ के दर्पण प्रतिबिम्बित बोध है चित्रकला, फिर भी; प्रकृति का प्रतिबिम्बन नहीं है। यह एक समानान्तर यथार्थ है। यह समानान्तर यथार्थ सिर्फ़ इसलिए सम्भव होता है कि मिथक के सभी सच इसमें रच-बस गये हैं, कल्पना की एक प्रक्रिया दोनों से अपना ताना-बाना बुनती है, दुनिया जिस तरह मौजूद है और मस्तिष्क उसे जैसे ग्रहण करता है, इन दोनों के जोशीले सम्बन्धों से। सभ्यता की त्रासदी यह है कि उसने एक आयामी मनुष्य, एक रेखीय विकासवादी रास्ता अपनाया रचने के लिए[१६], जो फिशर जैसे सिद्धान्तवादी लोगों को बाध्य करता है कला की श्रेष्ठता पर और हमारे अपने समय में भी मिथ की प्रासंगिकता पर ज़ोर देने के लिए।[२०]

कला में सादृश्यमूलकता की समस्या पर हम कुछ देर और विचार करते हैं। हमने पहले ही 'आँख अकेली ही अन्तर्दृष्टि की पथप्रदर्शक' है की धारणा को छोड़ दिया है। सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि आदिवासी कला में परिप्रेक्ष्य का अभाव है। हिस्टॉरिकल तौर से कह रहा हूँ, एकरेखीय परिप्रेक्ष्य की धारणा या तथाकथित अदृश्य बिन्दु चित्रकला में उच्च रेनेसां के दौरान प्रस्तुत किया गया था। सीधे कहें तो साधारणतया, वस्तुएँ जो क्षितिज की तरफ जा रही हैं, वे क्रमशः छोटी और छोटी होती जाएँगी और जैसे-जैसे हम उन तक पहुँचेंगे, वे अपना आकार ग्रहण करने लगेंगी। यह मनुष्य की आँख का सामान्य अनुभव है। इस चाक्षुष अनुभव की चित्रकला में भूमिका सादृश्यमूलकता को और अधिक यथार्थ बना देने की थी। जैसा भी हो, आँख के भ्रम के बावजूद भी वस्तुएँ छोटी या बड़ी नहीं होती हैं। कला में और ज़्यादा यथार्थ लाने के नाम पर रेनेसां परिप्रेक्ष्य ने वास्तव में भ्रम को चित्रकला में प्रस्तुत किया। इसने कला के व्याख्यात्मक पक्ष को सहारा दिया और कला के उद्घाटित करने की प्रकृति को हानि पहुँचाई। इसने कला में दृष्टान्त स्वरूप पक्ष का सहारा दिया और उद्घाटित करने की उसकी प्रकृति को हानि पहुँचायी। इसने अन्दरूनी संयोजनात्मक की संरचना का उल्लंघन भी किया और उद्घाटित आकृति की स्थिति को आँख के भ्रम के अनुरूप लाने की कोशिश में उसे बदला भी।

यह मान लेना कि आदिवासी कलाकारों को परिप्रेक्ष्य के ज्ञान का अभाव है, क्योंकि वे लोग मानसिक रूप से विकसित नहीं हैं या 'उचित' प्रस्तुति के लिए तकनीकी रूप से अक्षम हैं, यह बुद्धिमत्ता और कला, दोनों का ही अपमान करना होगा। इससे भी ज़्यादा यह सोचना कि आदिम लोग परिप्रेक्ष्य का अर्थ नहीं जानते हैं, निश्चित ही गलत होगा; फिर ऐसा कैसे हो सकता है कि वह अपनी झोपड़ी या निवास तक वापस लौट आता है, जिसे वह शिकार के या किसी अन्य कारण से छोड़कर गया था, एक दूरी से वह निश्चित ही यह नहीं जान सकता कि वह उतनी ही दूरी से लौटा है जहाँ से वह चला था? उसकी झोपड़ी या निवास छोटा दिखेगा या बड़ा, यह पहचान पाना असम्भव जान पड़ता है, क्योंकि इसकी सापेक्षता उसके वहाँ होने पर है। और योग्यता के बारे में यह सोचना मूर्खतापूर्ण होगा कि जो

मस्तिष्क और हाथ रेखाओं, रंगों और अवकाश का आश्चर्यजनक इस्तेमाल करने योग्य है, वह परिप्रेक्षिय संसर्ग को अनुभूत करने में अयोग्य हो जायेगा। साधारण-सा तथ्य यह निकलता है कि आदिवासी परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल चित्रकला में नहीं करते हैं, क्योंकि वह यथार्थ को प्रस्तुत करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं, जैसा कि नग्न आँखों से दिखाई देता है किन्तु वे कला का समानान्तर यथार्थ रच रहे हैं।

कला के आधुनिक आन्दोलन ने, जैसा कि सर्वविदित है, रेनेसां के परिप्रेक्ष्य को बाहर फेंक दिया, उसने आधारभूत प्रस्तुतीकरण को भी प्रश्नांकित किया है और कला को पुनर्परिभाषित किया, और साथ ही कला को मशीनी ढंग और असंगत कृत्रिमता से मुक्त किया। मैं यहाँ पॉल क्ले का प्रसिद्ध उद्धरण देता हूँ :

''क्या मैं एक उपमा का इस्तेमाल कर सकता हूँ, एक वृक्ष की उपमा? एक कलाकार इस दुनिया की विविधता का अध्ययन करता है और, हम सोच सकते हैं, हठी ढंग से उसमें अपना रास्ता पाता है। उसके दिशा-ज्ञान ने आकृतियों और अनुभव की बहती धारा में एक तरह का क्रम लाया। प्रकृति और जीवन में इस दिशा के ज्ञान का, इस विभाजित होने और व्यवस्थित ढंग से फैलने में मुझे इसकी तुलना वृक्ष की जड़ों से करनी चाहिए।

''जड़ों से रस कलाकार तक बहता है, उसमें से उसकी आँखों तक बहता है।

''इस तरह वह एक वृक्ष के तने की तरह खड़ा है।

''दुरुपयोग से विकृत और बहने की ताकत से अचल वह अन्तर्दृष्टि अपने काम में गढ़ता है।

''जैसे, दुनिया के विहंगम दृश्य में, वृक्ष का शिखर अपने को खोलता है और फैलता है समय में और अवकाश में, ऐसा ही उसके काम के साथ है।

''कोई भी यह प्रमाणित नहीं कर सकता कि वृक्ष का शिखर उसकी जड़ों का बिम्ब है। ऊपर और नीचे के बीच में कोई आईने का प्रतिबिम्ब हो नहीं सकता। यह सुस्पष्ट है कि भिन्न क्रियाएँ जो भिन्न तत्त्वों में फैल रही हैं, उन्हें महत्त्वपूर्ण मतभेद पैदा करने चाहिए। किन्तु यह सिर्फ़ कलाकार है, जो उस वक्त प्रकृति से उन प्रस्थान को नकारता है जो उसकी कला की माँग है। वह अक्षमता और जानबूझकर की गयी तोड़-मरोड़ से ही आवेशित है।

''और फिर भी, अपने नियत जगह पर खड़ा है, वृक्ष का तना, वह कुछ नहीं करता सिवाय इसके कि जो उस तक गहराइयों से आ रहा है, उसे इकट्ठा करे और आगे गुज़ार दे। वह न तो सेवा करता है न ही शासन करता है - वह प्रसारित करता है।''[२१]

यथार्थवाद की पट्टी आँख पर बाँध 'कला सिर्फ़ सादृश्यमूलक है, की धारणा रख' हम अब देखने के फ़ुटबोर्ड से स्वप्न के क्षेत्र में छलाँग लगाते हैं।

न्यू मैक्सिको के प्यूएब्लो इण्डियन्स के बारे में बात करते हुए, डेनियल हेल्पर्न लिखते हैं :

''चित्र लेख और नक्षत्र मण्डल के चट्टानों पर बने चित्र या बारहसिंगा या हिरण अपना जादुई हिस्सा रचते हैं, उस प्रक्रिया से जहाँ सारी प्रार्थना का केन्द्र और एकाग्रता वस्तु खुद पर टिकी है, जो बदले में, शिकारी के हाथ को निर्देशित करती है। मिजाज़ के विस्तार के साथ इस सम्बन्ध के लिए एक आकृति या रूप की ज़रूरत है, जो इसमें अन्तर्निहित है। एक 'जीवन सादृश्य' बारहसिंगा का प्रस्तुतीकरण भी प्रतिबंधात्मक है। सिर्फ़ बारहसिंगा ही अपने में। बारहसिंगा का एक यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण हर हालत में किसी ख़ास तरह के एक बारहसिंगा का ही होगा। शिकार करने का कर्मकाण्ड का कारण और जादू इस बात का है कि सभी बारहसिंगों की आत्माओं से सम्पर्क हो सके।''[२२]

सभी कलाएँ, और ख़ास तौर पर आदिवासी कला स्वप्नदर्शी हैं। कला के रास्ते ही हम इन्द्रियों के उत्पीड़न से बाहर आ सकते हैं और अन्जान के आतंक को अनुभवातीत पाते हैं। कला, इस तरह, मनुष्य की पहली आवश्यकता है उसके मस्तिष्क के स्वास्थ्य के लिए, ठीक वैसे ही जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिए भोजन है। यह एक आवश्यक उद्दीपक है अस्तित्व की बोरियत से बाहर निकलने के लिए, मनुष्य सिर्फ़ जैविक मशीन नहीं है। वह सिर्फ़ खाना, मल त्याग करना और प्रेम ही नहीं करता, बल्कि बोधगम्य और बोधक्षम, दोनों ही है, इस अन्तरिक्ष में हमेशा अपना स्थान खोजता हुआ। यह ध्यान देना दिलचस्प होगा कि अल्कोहल पेय पदार्थ और भ्रान्तिजनक औषधियाँ मनुष्य द्वारा बिलकुल शुरुआत से ही इस्तेमाल की जाती रही हैं, और निश्चित ही सभी आदिवासी समुदाय इसे जीवन के आवश्यक पदार्थ की तरह व्यवहार में लाते हैं। यदि इस तरह के उद्दीपक जीने के मूर्त कारण प्रस्तुत करते हैं, एक समानान्तर यथार्थ में उसे प्राप्त करने के लिए कला उसका उत्कृष्ट साधन है।

कला के साथ व्यवहार करने में, चाहे वह आदिवासी हो या अन्य, हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारा बहुत ज़्यादा सरोकार आकृति के यथार्थ से नहीं है जितना कि यथार्थ की आकृति से है। कला में रूप की तरह एक आकृति अपना यथार्थ पाती है। आकृति यथार्थ के हमारे देखने से निकलकर उसकी संकल्पना से आती है। जैसे भी हो, कला में, वह एक प्रक्रिया, वह एक रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुज़रती है और न कि अनुवाद की प्रक्रिया से। जो तत्त्व इसे बाहर निकालते हैं वह सृजन के तत्त्व हैं, जो कि अपने को विश्लेषण करने के लिए प्रस्तुत नहीं करते हैं बल्कि अभिव्यक्ति की तरह प्रस्तुत होते हैं। कला में आकृति, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, वह आईना-प्रतिबिम्ब नहीं है। यदि हम पीछे जाकर इसके स्त्रोतों को देखने की कोशिश करेंगे तब वह अपने कारणों में सहायक

होंगे - वह किसी भी भीतरी मूल्य का नहीं है बल्कि सन्देश की सूचनाओं का वाहन है। जैसा भी हो, हम जानते हैं, यह स्थिति नहीं है। ''भाषा में सम्प्रेषण के साधन की तरह, सन्देश ग्रहण किया गया है या ग्रहण किया जाने वाला है, जैसा कि उसका मतलब है। वास्तविक सम्प्रेषण अस्पष्टता से नफरत करता है। यदि एक बच्चा भी लिख रहा है $E = mC^2$, वह उससे कम अर्थ नहीं सम्प्रेषित करेगा जो उसका मतलब है। भाषा में, सम्प्रेषण के साधन की तरह, माध्यम का दृश्य-चेहरा, कहने को, पूरी तरह से खत्म हो गया है। खराब हस्तलेखन, जो सम्प्रेषित किया जाना है, उसके बीच में नहीं आता। चित्रकला में चाक्षुक रूपान्तरण ही अपने में सन्देश है। यदि $E = mC^2$ को चित्रकला में अपना सच पाना है, तब उसे, इसके अतिरिक्त सुलेखन की अभिलाषा रखनी होगी, चाक्षुक अनुभूति, किसी भी तरह की खूँटाबन्दी नहीं स्वीकारती और न ही सम्प्रेषित सन्देश में कमतर होना।''[२३]

कला में अनुभव करना और खासकर और विशेष तौर पर आदिवासी कला, यह सर्वोच्च महत्त्व का आशय है। जैसे कि, समाजशास्त्रीय नृशास्त्र के हिसाब से हम सम्भवतः कला का विश्लेषण कर सकते हैं और आदिवासी लोगों के मिथकों का भी उनके सामाजिक सम्बन्धों की समझ के लिए, पर निश्चित ही हम इतने अख्खड़ भी नहीं हैं कि यह सोचें कि वे अपनी कला का सृजन हमारे विश्लेषण की भूख के लाभ के लिए करते हैं।

किसी एक मिथ या कला को, जाने हुए या जानने योग्य तथ्य के द्वारा अर्थ जानने का पूरा दायित्व सौंपना, साधनों के अर्थ को नकारने जैसा है; क्योंकि कला में जैसे कि मिथ में यह हलचल उसकी उत्पत्ति की तरफ जाने की नहीं है बल्कि विपरीत दिशा में उससे मुक्त होने की सम्भावनाओं की तरफ है। यह 'यथार्थ' से एक उड़ान है, कल्पना योग्य यथार्थ बनाने के अनुक्रम में है।

सामाजिक सम्बन्धों और मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों की स्थापना में मिथकों की व्यवहारिक और संरचनात्मक विश्लेषण की सम्भावना की छूट देते हुए भी, वे छँटनी की प्रक्रिया की तरह बनी रहती है, अमूर्त और क्षीण एक किताब रखने वाले के प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह उपस्थितियाँ हैं जिनमें क्षमता है हमें रोज़मर्रा की जानने योग्य प्रतिक्रियाओं से बाहर खींच निकालने की, और अनुभव की विस्मयकारी दुनिया में ले आने की।

जैसा डॉ. मैरी डगलस बतलाते हैं, 'यह कुछ-कुछ शब्दार्थ विज्ञान के टुकड़े बनाने की प्रक्रिया जैसा है जिसमें मिथ का बहुत-सा अर्थ खो जाता है।'[२४]

आदिवासी कला या कला की सामान्य तौर पर व्याख्या करने की कोशिश में उनका सामना करते वक्त, ऐसा लगता है कि हम 'कला, कला के लिए है' इस या 'कला अपने में एक वस्तु है' के सिद्धान्त को रख रहे हैं, हमारी बात से बगैर पीछे हटे हुए हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि हम

अपनी विश्वसनीयता को फिर प्राप्त करें। मनुष्य की कोई भी अभिव्यक्ति, यहाँ तक कि अव्यवस्थित मस्तिष्क की भी, के हम कारण खोज सकते हैं। अनजानी लिखावट को पढ़ा जा सकता है, संकेतों को तोड़ा जा सकता है। इस अर्थ में कला की विषय-वस्तु, उसके सार, उसके स्त्रोत या उसके सन्दर्भ के स्त्रोतों को खोजा जा सकता है। किन्तु कला सिर्फ़ संकेत नहीं है या प्रतिलिपि का चरित्र। 'सौन्दर्यशास्त्रीय आयाम कभी भी यथार्थ के सिद्धान्त को प्रमाणित नहीं कर सकते।'[२५]

'कल्पना की तरह, इसकी संरचनात्मक, मानसिक क्षमता, सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्रफल तत्त्वतः 'अ-यथार्थवादी है'।'[२६] वह संवेदनशीलता को एक धड़कता हुआ स्पर्शी आकार देने के लिए नकारती है, छुटकारा पाती है और यहाँ तक कि कारण को छलती भी है। वह अनुमान और उसके प्रमाणों के क्षेत्र में नहीं व्यवहार करती। एक अर्थ में यह विशेष क्षमता है मस्तिष्क के सन्दर्भ में, शरीर की प्रजनन क्षमता की तरह। सिर्फ़ सौन्दर्यशास्त्रीय आयामों में संकर उर्वरण की अनन्त सम्भावना है; जो कि प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में असम्भव नज़र आता है, वह कला के क्षेत्र में सर्वस्वीकार तथ्य है। कला की अर्थगत कल्पना के सनकी नियम से संचारित है। यदि हम उसे नियम कहें, यह सिर्फ़ इसलिए है कि यहाँ अनिवार्यता है, जिसका हम अनुमान नहीं लगा सकते किन्तु वह पूरी तरह से रूपायित परिणाम है, पूरी आन्तरिक तार्किक संरचना के साथ; एक कलाकृति, वास्तव में, अपनी ही शर्तों पर समझी जा सकती है, उसके सुव्यवस्थित तत्त्व के आपसी सम्बन्धों के आधार पर। ''कलाकृति, अतः दोषयुक्त नहीं है और अपूर्ण नहीं है, सिर्फ़ सुविधा का साधन है। यह मूलभूत और अपने में पूर्ण सत्ता है, अपने ही अधिकारों में खड़ी और अपनी स्वायत्तता को लिये।''[२७]

कला, निश्चित ही कला के लिए है, किन्तु यह मनुष्य को सम्बोधित है, यह उसे अनजान की तरफ से, एक आश्चर्यजनक वस्तु की तरह उपहार के रूप में सम्बोधित है।

आदिवासी कला का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उसमें एक व्यक्ति की भूमिका कलाकार की है। जो भी उत्प्रेरक हो, यह तथ्य बना रहता है कि आदिवासी समुदायों में व्यक्तिगत विलक्षणता कलाकृतियों में अपनी अभिव्यक्ति पाती है, फिर समुदाय भले ही उसे सामूहिक विरासत की तरह स्वीकार कर ले। जैसा सर हरबर्ड रीड कहते हैं :

''मैं मानता हूँ कि अपने उद्‌गम में यह तत्त्वतः व्यक्तिवादी है कि एक कलाकार की कलाकृति इसके पहले कि वह सामाजिक संकेत ग्रहण कर ले या समुदाय के सांकेतिक प्रतीकों के तौर-तरीके का एक हिस्सा बन जाये, अस्तित्व में आती है। दूसरे शब्दों में, मैं यह मानता हूँ कि धार्मिक-कला के पहले से कला मौजूद है, या कला किसी भी तरीके से गुण-सम्पन्न हो, मौजूद है। निस्सन्देह, कलाकृति के धार्मिक, सामाजिक सरोकार और व्यक्तिवादी गुण में फ़र्क़ करना मुश्किल हो जाता है। यह मुश्किल बढ़ जाती है जैसे समाज और गूढ़ होता जाता है और एक व्यक्ति उस समाज में पैठता जाता है और

उसे सृजन की सामुदायिक गतिविधियों में भाग लेना होता है। किन्तु आधारतः मैं सोचता हूँ कि यह मनोवैज्ञानिक तथ्य लगता है। मूलतः कलाकृति एक व्यक्ति का सृजन है और सिर्फ़ बाद में ही समुदाय के तालाब में फेंका जाता है, जैसा कि है कि निश्चित ही वह व्यक्तिवादी विभिन्नताएँ प्रकट करता है जो कुछ नृतत्त्वशास्त्रियों को पहेली लगती है, व्यक्तिवादी विभिन्नताएँ जो हम कुछ आदिवासी प्रतीकों में पाते हैं। मैं सोचता हूँ कि यह व्यक्तित्व की विभिन्नताओं या व्यक्ति की कलाकृति बनाने के स्वभाव में विभिन्नता के कारण है... इसलिए, मैं इस बात का समर्थन चाहता हूँ कि आदिम कला के सौन्दर्यवादी गुण किसी भी अन्य कला माध्यमों के सौन्दर्यशास्त्री गुणों के समान हैं...।''[२८]

जैसा विलियम रूबिन कहते हैं :

''कि पारम्परिक आदिवासी कला व्यक्तिगत सृजन कि बजाय सामूहिक थी जिसमें समूह में प्रचलित पद्धतियों के दोहराव शामिल थे, जिन्हें शख़्स ने कारीगरी से थोड़ा ऊपर खींच निकाला। इस कला के साथ मेरे खुद के अनुभव ने स्पष्टतः साफ़ कर दिया कि मेरा यह सोचना सही है कि अच्छी कला सिर्फ़ प्रतिभाशाली लोगों के द्वारा बनायी जाती है। मैं, वास्तव में, आदिवासी कलाकृतियों की विभिन्नताओं से चमत्कृत हूँ बजाय उनकी समानताओं के, उसी शैली की (कम-से-कम वे अपने होने में यूरोपियन पसन्द के प्रमाण रूप नहीं हैं) और ख़ास तौर पर उनकी अद्वितीयता के कारण मैं कहूँगा, वे श्रेष्ठ कलाकृति हैं। उदाहरण के लिए, दर्जनों मुखौटे या ग्रेबो मुखौटे जिन्हें मैंने देखा है, कोई भी दो एक जैसे नहीं हैं, यद्यपि वे सब आधारभूत अवयव धारण किये हैं। और शहरी कलाकृतियाँ, सबसे अच्छे समूह की, सबसे कम विशिष्ट हैं। इन मुखौटों के बीच की विभिन्नता कुछ वैसी ही है जैसी पश्चिमी मध्यवर्गीय शैली के अज्ञात कलाकारों के बीच की है, उदाहरण के लिए अपने-अपने क्षेत्रों में - किसी भी विशिष्ट शैली के रोमन शिल्पकारों की होती है। और सबसे अच्छी कलाकृति दोनों ही तरह के अपने विशिष्ट गुणों से अपने को अलगाती है, अपनी अभिव्यक्ति और अपने आविष्कार में। वे मूर्तिशिल्प उतने ही स्पष्ट हैं, जैसे ग्रेबो मास्क आदिम कलाकृतियों के बीच निश्चित ही दुर्लभ हैं। आदिवासी कला का बड़ा भाग बहुत अच्छा नहीं है, वह किसी समय का सच्चा उत्पाद नहीं है, यदि विशिष्ट नहीं है - हमारी कला भी।''[२९]

हमारा भी अनुभव लगभग यही था। कई आदिवासी समुदायों के साथ हमने सम्पर्क स्थापित किया, हमने पाया कि उस समुदाय के ख़ास व्यक्तिगत लोग ही सामान्य तौर पर पहचाने जाते हैं जो इस दिशा में प्रतिभा-सम्पन्न हैं, और निश्चित ही हमारा यह मूल्यांकन उस समुदाय के सरोकार रखने वाले लोगों के निर्णय से मेल खाता था। यहाँ पर, यद्यपि, शायद आदिवासी समुदायों में एक व्यक्ति का कलाकार होना और हमारे बीच में एक व्यक्ति का कलाकार होना, इसमें फ़र्क है, जुंग कहता है :

''हमारी एक तरफा सोच को धन्यवाद देना चाहिए जिसमें तथाकथित प्राकृतिक कार्य-कारणों

के सम्बन्धों से हमने यह भेद करना सीखा है कि वस्तुनिष्ठ और 'प्राकृतिक' के बीच आत्मपरक क्या है और आत्मिक क्या है। आदिम मनुष्य के लिए, इसके विपरीत, उसके बाहर की दुनिया में आत्मिक और वस्तुनिष्ठ सम्मिलित हैं। किसी भी अद्वितीय के समक्ष वो खुद नहीं है जो अचम्भित है, बल्कि वह वस्तु विस्मयकारी है। यह जादुई शक्तियों से भरी है। जिसे हम कहते हैं कल्पना की शक्तियाँ और यह प्रस्ताव उसे अदृश्य शक्ति की तरह दिखाई देता है जो बग़ैर उसके, उस पर असर कर रहा है। उसका देश न तो भौगोलिक, न ही राजनीतिक सत्ता है। यह वह प्रदेश है जो उसके मिथक को अपने में समोया है, उसके धर्म को, उसकी हर सोच को और उसकी हर इच्छा को, इस हद तक कि वह इनकी प्रतिक्रियाओं से अनभिज्ञ है।''[३०]

और आगे :

''आदिम मनुष्य अ-मनोवैज्ञानिक है। आत्मिक घटनाएँ एक विषयपरक ढंग से उसके बाहर घटती हैं। यहाँ तक कि जिन चीज़ों के वह सपने भी देखता है, उसे यथार्थ नज़र आते हैं; यह एकमात्र कारण है कि जिसकी वजह से वह सपनों की तरफ ध्यान देता है।''[३१]

मार्कुस सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की भिन्नता और यथार्थवादी सिद्धान्तों के बीच मतभेद की बात करता है जिनसे उसे आशा है, सुलझाया जा सकता है : इस प्रकार एक स्वतंत्र संस्कृति के प्रकट होने में 'कारण का उदात्तीकरण एक प्रक्रिया की तरह निश्चित है, संवेदनशीलता की आत्म उदात्तता की तरह। दमनकारी स्थापित पद्धति में कारण की दमनकारी संरचना और इन्द्रियों के दमनकारी संघटन, दोनों एक-दूसरे के पूरक और एक-दूसरे को सहारा देते हैं।' फ़्रायड के शब्दों में : ''सभ्य नैतिकता, दमनकारी सहज वृत्ति की नैतिकता है; दूसरे की स्वतंत्रता पहले को नीचा दिखाती है जो उसमें अन्तर्निहित है। किन्तु ऊँचे मूल्यों का मानमर्दन करना उन्हें वापस जैविक संरचना में ले जायेगा, जो मनुष्यता की है और जिससे वे अलगाये जा चुके थे और यह पुनर्मिलन इस संरचना को शायद बदल दे। यदि उच्चतर मूल्य निचले संकायों से अपना एकाकीपन खो दे और उनके विपरीत एकाकी होना बन्द करे, तब बाद वाला शायद संस्कृति के प्रति स्वतंत्र संवेदी हो जाये।''[३२]

मार्कुस यह भी कहता है कि ''अ-दमनकारी ढंग वास्तव में प्रचुरता का ढंग है; ज़रूरी दबाव अति-प्रचुरता के कारण आते हैं बजाय ज़रूरत के। स्वतंत्रता के साथ सिर्फ़ बहुतायत की रीति ही सहजीवी हो सकता है... जहाँ सभी आधारभूत ज़रूरतें कम-से-कम शारीरिक और मानसिक ऊर्जा के खर्च में और कम समय में पूरी की जा सकती हैं।''[३३]

क्या हम आडम्बरहीनता और प्रचुरता को एक-दूसरे के सामने नहीं ला सकते? और निश्चित ही जो आडम्बरहीन की तरह देखा जा रहा है या नकारा जा रहा है या समाज की ज़रूरतों

को प्रतिबंधित कर रहा है, जो बहुतायत के समाज में भौतिक सम्पत्ति के असमान वितरण पर आधारित है, आदिवासी या आदिम अर्थशास्त्र में प्रचुरता हो जाती है? एक मनुष्य जो अपने शिकार पर ज़िन्दा रहता है या जंगल से फल-फूल, कन्द इकट्ठा करता है या जो जगह बदलकर के खेती करता है, वह मनुष्य काम में नहीं लगा है बल्कि खेल में लगा है। शायद वह सीज़ोफ्रेनिक दबाव में खेल और काम के सिद्धान्तों के बीच की अनबन का विषय, उसका मुद्दा नहीं है।

यह आदिवासी कला नहीं है, इसलिए, सभी मनुष्यों की कला है और निश्चित ही, आधुनिक समाज में, जैसा हरबर्ट रीड कहते हैं : ''शक्ति का निर्णायक स्रोत कलाकार को समाज द्वारा दिया गया है, और ठीक-ठीक यही है जो आधुनिक कलाकार में नहीं है। हमें समूह की कोई समझ नहीं है, लोगों की, जिसके लिए और जिसके साथ हम काम कर सकते हैं। यही आधुनिक कलाकार की त्रासदी है, *और सिर्फ़ जो अंधे हैं अपनी सामाजिक अनबन के प्रति और आध्यात्मिक अलगाव के प्रति, वे आधुनिक कलाकार को उसकी दुर्बोधता के लिए दोषी ठहराते हैं।*'[३४]

हमें अपनी सामाजिक टूट-फूट और आध्यात्मिक अलगाव को यहाँ आदिवासी कला या कला के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी की सम्भावनाओं के बीच नहीं ले आना चाहिए। जो मैं यहाँ बताने की कोशिश कर रहा हूँ वह कला के प्रति सहजीवी सरोकार है जो नृतत्त्वशास्त्र से सम्बन्धित है। यह उग्र सुधारवादी प्रस्ताव है। यह समझ की स्थिर धारणा को अपने में शामिल नहीं करना है, जितना कि भाग लेने की सक्रिय धारणा को।

० ० ० ०

''१९वीं शताब्दी की सबसे बड़ी मनोग्रन्थि, जैसा कि हम जानते हैं, इतिहास था।'' मिशेल फूको कहता है, ''अपने विकास के कथ्यों के साथ और स्थगन के साथ, संकट और चक्र के, भूतकाल के फिर से संग्रहण के कथ्य और मरे हुए मनुष्यों की महत्ता और दुनिया के बर्फ़ से ढँक जाने की धमकियों से, ऊष्मा गतिकीय विज्ञान के दूसरे सिद्धान्तों में १९वीं शताब्दी अपने महत्त्वपूर्ण मिथकीय स्रोतों को पा लेता है। वर्तमान युग शायद इससे ऊपर अन्तरिक्ष का युग होगा। हम सहकालिकता के युग में रह रहे हैं; हम सन्निकटता के युग में हैं, पास और दूर के युग में, साथ-साथ के युग में और विखण्डन के युग में।''[३५]

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, हमारे दृष्टिकोण से, हम समकालीनता को संस्कृतियों की सह उपस्थिति की तरह परिभाषित करते हैं। अनन्त के गर्भाशय में एक ही समय में हो रही घटनाओं की तरह।

मनुष्य की नियति क्या है, यदि वह मनुष्य नहीं है? इतिहास ने जैसा हम जानते हैं, पश्चिम

के दृष्टिकोण से जानते हैं मनुष्य को अनन्तता की अवस्था के स्तर से, समय के प्राणी के रूप में घटा दिया है। तकनॉलॉजी के असमान विकास में, मनुष्य का वैश्विक भाईचारा दो हिस्सों में बँटा नज़र आता है, उसे टुकड़ों में काट दिया गया है, सभी सभ्यताएँ प्रभावी सभ्यता का विषय हो गयी हैं, जो मनुष्य की आत्मा को खो चुकी हैं। मनुष्य होमोसेपियन बनने को बाध्य है, जो कि, निश्चित ही, शुरूआत में नृतत्त्वशास्त्र द्वारा कल्पित किया गया है। हमें अपने समाज में आदिवासी सभ्यताओं की तरफ जाना होगा, भाईचारे की मानसिकता लेकर। और जो हम सबकी उस अचम्भे में भागीदारी है, उसमें धड़कती उपस्थिति में अबोधगम्य जो लगातार हमारे चारों ओर खुल रहा है। हमने पहले भी आदिवासी समुदायों को एक बन्द पद्धति की तरह बरतने की असम्भावना पर बात की है। फिर भी यदि सैद्धान्तिक कारणों से, यदि इस तरह के प्रयास से कुछ निर्देश प्राप्त होते हैं, इस तरह का मार्गदर्शन बदलते यथार्थ की चुनौतियों और ज़रूरतों को आगे बढ़ाने में सहायक ही होगा।

आदिवासी लोगों की जन्मजात सृजनात्मक विलक्षणता का सम्मान करते हुए, जैसे हम अपना सम्मान खुद करते हैं, हम उन्हें देखते हैं कि वे हमारे साथ सामान्य अवस्था में रह रहे हैं। हम देखते हैं कि हमारी नियति उनके साथ अडिग रूप से जुड़ी है, और नये कलात्मक संस्कार तभी पैदा होंगे जब इस सहभागिता को महसूस कर लिया जाये।

सन्दर्भ सूची :

१. द वे ऑफ़ द मास्क, क्लॉड लेवि-स्ट्रॉस, जोनाथन केप, लंदन, १९८३.

२. ल दे' मोजेल द अविग्नॉन, अफ़्रीकन ट्राइबल आर्ट से प्रभावित या उनसे घनिष्ठता दिखाती पिकासो की एक पेंटिंग.

३. विलियम रुबिन द्वारा 'प्रिमिटिविज़्म' इन ट्वेन्टीएथ सेन्चुरी आर्ट में उद्धृत, भाग-१, द म्यूज़ियम ऑफ़ मॉडर्न आर्ट, न्यूयॉर्क, १९८५.

४. वही.

५. डेविड डब्ल्यू थोमेन द्वारा 'आर्ट एंड बिलीफ़' में उद्धृत, डेविड डब्ल्यू बोमेन एवं जेम्स हेंडरसन, हेमिश हेमिल्टन, लंदन, १९६७.

६. वॉइसेज़ ऑफ़ साइलेंस, आन्द्रे मार्लो.

७. द आर्टिस्ट इन ट्राइबल सोसायटी, मेरियन डब्ल्यू स्मिथ द्वारा सम्पादित, रुटप्लेग एंड केगन पॉल, लंदन, १९६१.

८. 'प्रिमिटिविज़्म' इन ट्वेन्टीएथ सेन्चुरी आर्ट, विलियम रुबिन द्वारा सम्पादित, द म्यूज़ियम ऑफ़ मॉडर्न आर्ट, भाग-१, १९८५.

९. ए कन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी, कार्ल मार्क्स.

१०. ए वर्क ऑफ़ अबाउट, १०० बी.सी. इन द स्टाइल ऑफ़ प्रेक्सीटेल्स, लूव्र में.

११. रियलिज़्म, डेमियन ग्रांट, मेथन, १९८२.

१२. वही.

१३. ऐस्थेटिक्स, बेनेदेलो क्रोक, रूपा पब्लिकेशन.

१४. स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज़्म, जॉर्ज लुकास, हिल वे पब्लिशिंग कम्पनी, १९५०.

१५. मॉडर्न इंडियन पेंटिंग, पी.आर. रामचन्द्र राव, १९५३ में प्रथम प्रकाशन रचना, मद्रास से.

१६. वही.

१७. वही.

१८. ऐस्थेटिक्स, बेनेदेलो क्रोक, रूपा पब्लिकेशन.

१९. सी वन डायमेंशनल मेन, हर्बर्ट मारकोस, स्फ़ेयर बुक्स लिमिटेड, लंदन, १९६८.

२०. आर्ट अगेन्स्ट आइडोलॉजी, अर्न्स्ट फिशर, अलें लेन, द पेंग्विन प्रेस, लंदन, १९६९.

२१. पॉल क्ली ऑन मॉडर्न आर्ट, फ़ेबर एंड फ़ेबर, १९७९.

२२. लैंडस्केप, हिस्ट्री एंड द प्वेब्लो इमेजीनेशन, लेस्ली मार्मन सिल्को, एन्टेस नं.५७, ऑटम, १९८६, न्यूयॉर्क.

२३. फ़ॉर्म लेंग्वेज टाइम, जे. स्वामीनाथन द्वारा भारत भवन में एक सेमिनार के दौरान पढ़ा गया पेपर, १९८४.

२४. द स्ट्रक्चरल स्टडी ऑफ़ मिथ एंड टोटेमिज़्म, टेविस्टाक पब्लिकेशन्स, १९७८.

२५. इरोज़ एंड सिविलाइजेशन, हर्बर्ट मार्कज़, स्फ़ेयर बुक्स लिमिटेड, लंदन, १९५६.

२६. वही.

२७. मीनिंग इन आर्ट, लुईस अर्मान्द रीड, जॉर्ज अलें एंड अनविन, १९६९.

२८. द आर्टिस्ट इन ट्राइबल सोसयटी, मेरियन डब्ल्यू स्मिथ द्वारा सम्पादित, रूटलेग एंड केगन पॉल, लंदन, १९६१.

२९. 'प्रिमिटिविज़्म' इन ट्वेन्टीएथ सेन्चुरी आर्ट, विलियम रुबिन द्वारा सम्पादित, द म्यूज़ियम ऑफ़ मॉडर्न आर्ट, भाग-१, १९८५.

३०. मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ़ ए सोल, सी.जी. जुंग, रूटलेग एंड केगन पॉल, लंदन.

३१. वही.

३२. इरोज़ एंड सिविलाइजेशन, हर्बर्ट मार्कज़, स्फ़ेयर बुक्स लिमिटेड, लंदन, १९५६.

३३. वही.

३४. पॉल क्ले ऑन मॉडर्न आर्ट विद इन इंट्रोडक्शन बाय हर्बर्ट रीड, फ़ेबर एंड फ़ेबर, लंदन, १९७९.

३५. ऑफ अदर स्पेसेज़, मिशेल फूको द क्रिटिक में, स्प्रिंग, १९८६, भाग-१६.

गाँधी और उनके हत्यारे

जेम्स डब्ल्यू. डॅगलॅस

अनुवाद : मदन सोनी

गाँधी अपने हत्यारों को जानते थे।

बताया जाता है कि उनकी मुलाक़ात उस आदमी से पहले भी हो चुकी थी जिसने उनपर गोली चलाकर उनकी हत्या की थी। कहा जाता है कि भविष्य में उनपर गोली दागने वाले इस आदमी को गाँधी ने अपने साथ एक सप्ताह बिताने के लिए आमन्त्रित किया था - जब यह आदमी उनकी हत्या करने की नाकामयाब कोशिश में गिरफ़्तार कर लिया गया था।

गाँधी उस हिन्दू राष्ट्रवादी विचारधारा से भलीभाँति परिचित थे जिसके षडयन्त्रकारी पूरे जी-जान से उनकी हत्या करने की योजना रच रहे थे। उनका गिरोह उस उभरते हुए आन्दोलन का कट्टरपन्थी सत्व था जो हिन्दुस्तान को तब तोड़ने वाला था और आज भी उसपर वर्चस्व क़ायम करने का ख़तरा बना हुआ है।

गाँधी उनकी हत्या के पीछे सक्रिय उस आध्यात्मिक नेता से विशेष रूप से परिचित थे, जो क्रान्तिकारी हिंसा का एक प्रतिभाशाली हिन्दुस्तानी विचारक था, जिससे वे दशकों पहले इंग्लैंड में मिल चुके थे। हिंसा और अहिंसा के, आतंकवाद और सत्याग्रह के, हत्या और शहादत के इन दोनों लोगों के विकसित होते सपने हिन्दुस्तान और दुनिया के भविष्य के लिए तब एक-दूसरे से होड़ कर रहे थे - और आज उससे कहीं ज़्यादा उतावले ढंग से होड़ कर रहे हैं।

गाँधी और उनके हत्यारों के परस्पर गुँथे हुए क़िस्से हमें वह व्याख्यात्मक खुर्दबीन उपलब्ध कराते हैं जिसकी मदद से हम वास्तविकता को समझ सकते हैं। हम एक ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जिसमें राजनैतिक हत्या वह अकथनीय और राष्ट्रीय मान्यता-प्राप्त कला बन चुकी है, जिसका उद्देश्य अपने लोकतन्त्र पर गर्व करने वाले, हिन्दुस्तान से लेकर संयुक्त राज्य अमेरिका तक के देशों में बुनियादी परिवर्तन को कुण्ठित कर देना है।

१९०९ में, जिस दौरान गाँधी दक्षिण अफ़्रीका में पहले-पहल सत्याग्रह को समझ रह थे, उन्होंने

साम्राज्यवादी सरकार के समक्ष अपने घिरे हुए समुदाय की ओर से अपना पक्ष रखने के लिए लन्दन की अपनी दो निराशाजनक यात्राओं में से दूसरी यात्रा की थी। १९०६ के उनके पिछले उपक्रम की भाँति जनमत तैयार करने का उनका १९०९ का उपक्रम भी गाँधी के लिए कमज़ोर स्थिति से सत्ता के केन्द्र को सम्बोधित करने की निस्सारता को बल प्रदान करने वाला साबित हुआ था। एक मज़बूत स्थिति में खड़े होकर बात करने के लिए गाँधी को ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों का प्रतिनिधित्व करना ज़रूरी हो गया था, उन लोगों का प्रतिनिधित्व जिनका व्यापक हिस्सा हिन्दुस्तान में रहता था, न कि दक्षिण अफ़्रीका में। गाँधी हिन्दुस्तान वापस लौटने की गहरी ज़रूरत पहले से ही महसूस कर रहे थे, जहाँ स्वाधीनता आन्दोलन मज़बूत हो रहा था।

१९०९ की इस यात्रा में गाँधी यह जानकर भी चौकन्ने थे कि किस तरह हिन्दुस्तानियों की एक नयी पीढ़ी अँग्रेज़ों से मुक्ति पाने के एकमात्र तरीक़े के रूप में राजनैतिक हत्याओं और सशस्त्र संघर्ष की ओर आकृष्ट हो रही थी। दरअसल, जब वे १० जुलाई १९०९ को लन्दन पहुँचे थे तो एक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवादी द्वारा गर्व के साथ की गयी हत्या की सनसनीख़ेज ख़बर ने वहाँ उनका स्वागत किया था।

१ जुलाई को लन्दन को उस वक़्त गहरा आघात पहुँचा था जब एक हिन्दुस्तानी छात्र ने सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया के राजनैतिक सलाहकार सर विलियम कर्ज़न विली की गोली मारकर हत्या कर दी थी। यह हत्या लन्दन के केन्द्र में स्थित इन्स्टिट्यूट ऑफ़ इम्पीरियल स्टॅडीज़ में नेशनल इंडियन एसोसिएशन द्वारा आयोजित एक भव्य स्वागत समारोह के दौरान की गयी थी। हत्या करने वाला था मदनलाल धींगड़ा, जिसने लन्दन के यूनिवर्सिटी कॉलेज से हाल ही में इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी की थी। जब विली के साथ का एक पारसी डॉक्टर धींगड़ा से उलझ पड़ा, तो हत्यारे ने अपनी आख़िरी गोलियों का इस्तेमाल करते हुए डॉक्टर को भी मार डाला।

विली और धींगड़ा एक-दूसरे को जानते थे। विली मदनलाल धींगड़ा के परिवार के एक दोस्त थे। धींगड़ा के पिता, जो हिन्दुस्तान में एक जाने-माने डॉक्टर थे और ब्रिटिश सम्राट के वफ़ादार थे, ने विली से अनुरोध तक किया था कि वे मदनलाल का मार्गदर्शन कर उसे लन्दन के छात्रों की उग्रवादी कार्रवाइयों से दूर हटाने में मदद करें।[१] विली के आख़िरी क्षणों में, मुमकिन है उनको अहसास हो गया हो कि इसके लिए कितना कम अवसर बच रहा था। जब विली उस स्वागत समारोह से जाने को थे, तब मदनलाल अपने हाथ में पिस्तौल छिपाये हुए, मानो दोस्ताना अन्दाज़ में उनसे गुडनाइट कहने, उनके पास जा पहुँचा। अचानक उसने विली के चेहरे पर दो गोलियाँ दाग दीं, और जैसे ही वे फ़र्श पर गिरे, वैसे ही दो और गोलियाँ उनके शरीर में दाग दीं, और इस तरह उनको वहीं घटना-स्थल पर ही ख़त्म कर दिया।[२]

धींगड़ा का ध्येय राजनैतिक था। वह हिंसक क्रान्ति और राजनैतिक हत्या में विश्वास रखने वाले छब्बीस वर्षीय हिन्दुस्तानी विचारक विनायक दामोदर सावरकर का कट्टर अनुयायी बन चुका था। सावरकर लन्दन स्थित अपने हॉस्टल इंडिया हाउस में रह रहे उग्रवादी हिन्दुस्तानी छात्रों के एक काडर के नेता थे। उन्होंने महीनों मेहनत करके मदनलाल धींगड़ा को राजनैतिक हत्यारे के साँचे में ढाला था। सावरकर ने ही धींगड़ा को विली की हत्या करने की मुहिम सौंपी थी। ये धींगड़ा को सौंपी गयी दूसरी ज़िम्मेदारी थी। वह इसके पहले सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया की हत्या की सावरकर द्वारा सौंपी गयी मुहिम में उस वक़्त नाकामयाब रहा था, जब गोली चलाने वाले और उसके निशाने के बीच का दरवाज़ा बन्द हो गया था। सावरकर इससे बौखला उठे थे। जब धींगड़ा ने विली की हत्या करने के अपने उद्यम के लिए अपने गुरु का आशीर्वाद माँगा, तो सावरकर ने उसको महज़ एक रिवॉल्वर देते हुए कहा था, 'अगर तुम इस बार नाकामयाब रहे, तो मुझे अपना चेहरा कभी मत दिखाना।'[३]

जब धींगड़ा उन विली की हत्या करने में सफल रहा जिन्हें 'इंडिया ऑफ़िस की आँख और दिमाग़' कहा जाता था, तो सावरकर ने जेल में बन्द अपने इस चेले को उसकी इस उपलब्धि के लिए बधाई दी थी। उन्होंने इस अभिशप्त हत्यारे का अपने कवच और प्रवक्ता की तरह भी इस्तेमाल किया था।

धींगड़ा को फाँसी दिये जाने के अगले दिन, १८ अगस्त को सावरकर अख़बारनवीसों से अपने दोस्ताना रिश्तों की मार्फ़त लन्दन डेली न्यूज़ में प्रकाशित 'धींगड़ा का बयान' का पूरा मज़मून हासिल करने में कामयाब रहे। इस बयान में धींगड़ा को यह कहते हुए उद्धरित किया गया है : 'मैं स्वीकार करता हूँ कि कुछ दिन पहले मैंने देशभक्त हिन्दुस्तानी नौजवानों को अमानवीय ढंग से दी गयी फाँसियों और उनको देशनिकाला दिये जाने के विनम्र प्रतिशोध के तौर पर अँग्रेज़ ख़ून बहाने की कोशिश की थी। इस उद्यम में मैंने अपनी अन्तरात्मा के सिवा और किसी का परामर्श नहीं लिया था; मैंने सिवा अपने कर्तव्य के और किसी के साथ मिलकर षडयन्त्र नहीं रचा था।'[५] सावरकर द्वारा लिखे गये ये शब्द[६] जहाँ उस व्यक्ति के नाम पर हत्या की सफ़ाई पेश करते हैं जिसने पिस्तौल का घोड़ा खींचा था, वहीं वे इस षडयन्त्र को रचने वाले पर, यानी स्वयं सावरकर पर परदा डाल देते हैं।[७]

मदनलाल धींगड़ा खुद उस आदमी पर परदा डालने को जो उसको अँग्रज़ों की बलि चढ़ा रहा था इस क़दर कृतसंकल्प था कि उसने सावरकर के दूसरे अनुयायियों से कहा था कि 'अगर हम जीवित बने रहते हैं और सावरकर मर जाते हैं, तो हम सब मिलकर भी एक सावरकर को तैयार नहीं कर सकते, लेकिन अगर मैं मर जाता हूँ और सावरकर जीवित बचे रहते हैं, तो वे सैकड़ों मदनलाल तैयार कर सकते हैं।'[८]

विली की हत्या के नौ दिन बाद लन्दन पहुँचने पर गाँधी ने गहराती हुई चिन्ता के साथ हत्या

के इस नाटक को खेले जाते देखा था, जिसकी पराकाष्ठा के तौर पर उस धीगड़ा को फाँसी दी गयी थी, जिसको अनेक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवादी एक बहादुर नायक की मृत्यु की तरह देख रहे थे। गाँधी विली से परिचित थे। उन्होंने उनकी मौत पर शोक व्यक्त किया। वे धींगड़ा के प्रति भी सहानुभूति महसूस कर पा रहे थे, उसको एक बहादुर नायक के रूप में देखते हुए नहीं, बल्कि विनाशकारी विचारों के वशीभूत एक इन्सान की तरह देखते हुए। हमेशा की तरह गाँधी ने अपने विचारों को सार्वजनिक किया। उन्होंने कहा, 'मेरी नज़र में, मिस्टर धींगड़ा स्वयं बेकुसूर हैं। यह हत्या एक नशे की हालत में की गयी थी। आदमी को शराब या भाँग से ही नशा नहीं आता; कोई विचार भी यह काम कर सकता है। धींगड़ा के साथ यही हुआ था।'[९]

गाँधी ने कहा कि मैं समझता हूँ कि जिसने धींगड़ा को हत्या के माध्यम से मुक्ति के पागलपन-भरे विचार से उकसाया था वह इस कृत्य के लिए सबसे ज़्यादा ज़िम्मेदार है :

मुझे कहना होगा कि जो लोग ऐसा मानते हैं और ऐसा तर्क देते हैं कि इस तरह की हत्याएँ हिन्दुस्तान का भला कर सकती हैं, वे निश्चय ही अज्ञानी हैं। छल-कपट का कोई भी कृत्य कभी किसी राष्ट्र को कोई फ़ायदा नहीं पहुँचा सकता। यहाँ तक कि अगर इस क़िस्म के हत्यारे कृत्यों के नतीजे में अँग्रेज़ चले भी जाते हैं, तो उनके स्थान पर कौन हुकूमत करेगा? इसका एकमात्र जवाब है : हत्यारे. ..। हत्यारों की हुकूमत से हिन्दुस्तान कुछ भी हासिल नहीं कर सकता - वे हत्यारे चाहे गोरे हों या काले।[१०]

प्रभाव में आकर की गयी हत्या कहकर इस हत्या की जो आलोचना गाँधी ने की थी उससे वे निश्चय उन सावरकर के प्रिय नहीं बने रह सके होंगे, जिनके लेखन का वे उस वक़्त हवाला दे रहे थे जब उन्होंने इसी आलोचना के दौरान यह भी कहा था कि 'मिस्टर धींगड़ा को, निरर्थक लेखन के उनके अपाच्य पठन ने प्रोत्साहित किया था।'[११]

सावरकर से गाँधी १९०६ में मिले थे, जब वे कुछ दिनों के लिए इंडिया हाउस में ठहरे थे।[१२] वे सावरकर की प्रभावशाली पुस्तक द फ़र्स्ट इंडियन वॉर ऑफ़ इंडिपेंडेंस, १९५७ से परिचित थे, जिसमें सावरकर ने अँग्रेज़ों के ख़िलाफ़ १८५७ के विद्रोह का इस्तेमाल 'विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध' के लिए 'मानव प्रकृति के रुझान'[१३] की प्रशंसा के लिए किया था - जो उस चीज़ के लिए प्रोत्साहित करने वाली थी जिसे गाँधी ने, विली की हत्या का हवाला देते हुए, महज़ एक 'हत्यारे कृत्य' के रूप में देखा था। गाँधी इंडिया हाउस में रहने वाले नौजवानों पर सावरकर के नियन्त्रण से भी वाकिफ़ थे। उनको विली की हत्या में लगभग निश्चित तौर पर सावरकर का हाथ होने का सन्देह था जिसका संकेत उनके द्वारा इस बात पर दिये गये बल में निहित था कि उस 'पागलपन-भरे कृत्य' की ज़िम्मेदारी गोली चलाने वाले धींगड़ा से परे कहीं थी।

गाँधी यह भी समझते थे कि अँधेरे की ओट में छिपा हुआ कोई व्यक्ति उन शब्दों के लिए भी ज़िम्मेदार था जिनका इस्तेमाल बचावकर्ता ने विली की हत्या करने के औचित्य के दावे के रूप में किया था। गाँधी ने कहा था : 'मिस्टर धींगड़ा का अपना बचाव भी रटा-रटाया लगता है। दरअसल सज़ा उसको मिलनी चाहिए जिसने उनको बरगलाया था।'[१४]

२४ अक्टूबर १९०९ को, जब गर्मियों में हुई उस हत्या का नाटक अभी भी लोगों की स्मृति में ताज़ा था, गाँधी और सावरकर लन्दन में वक्ताओं के उस एक ही मंच पर मौजूद थे जहाँ हिन्दुस्तान के भविष्य के बारे में प्रतिस्पर्धी दृष्टिकोणों को पेश किया जा रहा था। ये दोनों वक्ता उस सशुल्क डिनर के मुख्य आकर्षण थे जो एक हिन्दुस्तानी रेस्तराँ में दशहरे के अवसर पर आयोजित था - दशहरा जो महान हिन्दू महाकाव्य रामायण की कथा के मुताबिक़ बुराई पर अच्छाई की, या रावण पर राम की जीत का जश्न मनाने के लिए आयोजित किया जाता है। इस रात्रिभोज का विचार इंडिया हाउस में रहने वाले सावरकर के उग्रवादी छात्रों के दिमाग़ की उपज था।[१५] उन्हीं ने गाँधी को शेर की अपनी माँद में आमन्त्रित कर प्रथम वक्ता की भूमिका निभाने का आग्रह किया था, जिसके बाद सावरकर को बोलना था।

बाद में अपने एक दोस्त के सामने गाँधी ने क़बूल किया था कि वह रात्रिभोज 'दरअसल, उस अतिवादी समिति के द्वारा आयोजित किया गया था।' उन्होंने आगे यह भी जोड़ा था कि 'मैंने इस प्रस्ताव को बिना किसी संकोच के इसलिए स्वीकार कर लिया था ताकि मैं वहाँ एकत्र लोगों के सामने सुधारों की ख़ातिर हिंसा की निरर्थकता के बारे में बोल सकता।'[१६] उन्होंने दो शर्तें भी रखी थीं : पहली यह कि 'भोजन विशुद्ध शाकाहारी होना चाहिए'[१७] (जिसको गाँधी स्वयं पकाने वाले थे), और दूसरी यह कि 'किसी तरह की विवादास्पद राजनीति की चर्चा न की जाए।'[१८] आयोजक राज़ी थे। इसलिए गाँधी ने डिनर से उठकर अपना भाषण देने के कई घण्टे पहले, २४ अक्टूबर के अपराह्न में छात्रों के साथ बैठकर ख़ुशी-ख़ुशी आलू छीले थे।[१९]

गाँधी के वक्तव्य में रामायण को सत्य की ख़ातिर दुख झेलने की दृष्टि से समझा गया था। उनका कहना था कि इस महाकाव्य के मुख्य चरित्र दुख के माध्यम से स्वतन्त्रता तक पहुँचने का रास्ता दिखाते हैं। वे ईश्वर के अवतार राम के वनवास की पीड़ा के बारे में, क़ैद के दौरान सीता की सहनशीलता के बारे में, और लक्ष्मण के पश्चातापी संयम की साधना के बारे में बोले। गाँधी का मानना था कि सत्य के लिए पीड़ा भोगने का उनका ढंग हिन्दुस्तान को मुक्ति दिलाएगा और 'झूठ पर सचाई की नयी विजय का स्रोत होगा।'[२०]

गाँधी ने कहा कि 'अगर हिन्दुस्तानी उस ढंग से जीवन जीना सीख लेते हैं, तो वे उसी क्षण से स्वयं को स्वतन्त्र मान सकते हैं।।'[२१] गाँधी अहिंसक साधनों से स्वाधीनता को पहले ही हासिल की

जा चुकी मानते थे। सत्य के लिए पीड़ा भोगने वाला कोई भी समाज अपने वर्तमान में ही स्वतन्त्र होता है। उनको औपनिवेशिक सत्ता द्वारा स्वतन्त्रता दिये जाने का इन्तज़ार नहीं करना होता। एक मुक्तिदायी, अहिंसक साधन सम्भवन की प्रक्रिया में पहले से ही एक लक्ष्य बन चुका होता है।

सावरकर ने उसी कहानी से एक भिन्न शिक्षा हासिल की थी। उन्होंने दावा किया कि 'राम ने दमन और अन्याय के प्रतीक रावण का वध करने के बाद ही आदर्श राज्य (राम-राज्य) की स्थापना की थी।' रावण के वध को शाब्दिक अर्थ में लिया जाना ज़रूरी था। आप पाप करने वाले का विनाश करके ही पाप का विनाश करते हैं। सावरकर का वक्तव्य प्रतिशोध की प्रचण्ड देवी दुर्गा का गुणगान करने वाला, और पापात्मा रावण की वास्तविक हत्या करने की ज़रूरत पर बल देने वाला था।[२२]

स्पष्ट तौर पर 'विवादास्पद राजनीति की चर्चा' किये बग़ैर गाँधी और सावरकर उस मुद्दे के मर्म तक पहुँच गये थे जो उनको एक-दूसरे से अलग करता था। उस रात वे सिर्फ़ हिन्दू मिथक-विद्या के, हिंसक या अहिंसक, अर्थ पर केन्द्रित महान बहस में ही मुब्तिला नहीं थे। उन्होंने आज़ाद हिन्दुस्तान के लक्ष्य को पाने के अपने नितान्त भिन्न साधन भी सामने रखे थे।

अगले चार दशकों तक गाँधी और सावरकर की अपनी निजी ज़िन्दगियाँ सामाजिक परिवर्तन की उनकी नितान्त विपरीत दृष्टियों को रूपायित करने वाली थीं, जहाँ ये दोनों दृष्टियाँ अन्ततः सावरकर और उनके अनुयायियों द्वारा गाँधी की हत्या में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचनी थीं। रामायण को लेकर सावरकर की कल्पना के मुताबिक़ जो वध करने योग्य पापात्मा, यानी रावण था, वह गाँधी बन जाने वाला था। और गाँधी की मृत्यु, जैसी की उनकी कामना थी, उनके होंठों पर ईश्वर के अवतार 'राम' नाम के साथ, अपने हत्यारे को आशीर्वाद देते हुए होनी थी। रामायण को लेकर गाँधी की कल्पना के मुताबिक़ रावण के साथ आख़िरी लड़ाई में राम को इस पापात्मा शत्रु पर, उसकी हत्या करके नहीं बल्कि सत्य की ख़ातिर ख़ुशी-ख़ुशी अपना जीवन न्यौछावर कर विजय हासिल करनी थी।

१३ नवम्बर १९०९ को इंग्लैंड से दक्षिण अफ़्रीका के लिए रवाना होने-होने तक गाँधी हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन में हिंसा को मिल रही व्यापक स्वीकृति से बहुत विचलित हो चुके थे। सावरकर और इंडिया हाउस के निवासी एक प्रभावी प्रवृत्ति के अतिरंजित उदाहरण थे। गाँधी ने कहा था कि 'मुझे वाक़ई ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिला जो यह विश्वास करता हो कि हिन्दुस्तान हिंसा का सहारा लिये बिना कभी आज़ाद हो सकता है।'[२३]

हिंसा के अनुयायियों को मिल रही हिन्दुस्तान की स्वीकृति के प्रति गाँधी की बेचैनी ने उनको अपनी सबसे भावावेशपूर्ण पुस्तक, *हिन्द स्वराज* लिखने को प्रेरित किया, जिसका लेखन उन्होंने दक्षिण अफ़्रीका लौटते वक़्त *एस.एस. किल्डोनॉन कैसल* नामक जहाज़ में बैठकर किया था। उनके हाथ उनके विचारों की गति का साथ नहीं दे पा रहे थे। वे आवेश में आकर पहले आपने दाँयें हाथ से लिखते,

फिर बाँयें हाथ से लिखने लग जाते, और इस तरह लगातार दाँये से बाँयें और बाँये से दाँयें हाथ से लिखते हुए उन्होंने दस दिन की अपनी उस यात्रा में पाण्डुलिपि पूरी कर डाली।

हिन्द स्वराज अहिंसा के माध्यम से हिन्दुस्तान की आज़ादी का गाँधी का क्रान्तिकारी घोषणा-पत्र था। स्वराज यानी 'स्वशासन' (सैल्फ़-रूल)। गाँधी ने हिन्दुस्तान के स्वशासन को, मूलतः, पश्चिमी सभ्यता (जिसको वे एक वदतोव्याघात मानते थे) से मुक्ति के रूप में देखा था। उन्होंने बेबाक ढंग से कहा था कि पश्चिम हिंसा पर आधारित सभ्यता है। अगर हिन्दुस्तान पश्चिम की ग़ुलामी से आज़ादी हासिल करना चाहता है, जो एकमात्र सच्चा स्वराज होगा, तो ऐसा वह सिर्फ़ अहिंसक साधन अपनाकर ही कर सकता है। अन्यथा हिन्दुस्तानी अपने अनुकरणात्मक विद्रोह के माध्यम से पश्चिम की हिंसक हुकूमत की पुनर्रचना कर खुद को नये सिरे से ग़ुलाम बनाने से ज़्यादा कुछ नहीं कर सकते।

गाँधी ने इस विषय को एक 'सम्पादक' और एक 'पाठक' के बीच संवाद की शैली में विकसित किया था। यह 'सम्पादक' वे स्वयं थे, और 'पाठक' की चुनौतियाँ लन्दन में उनके प्रतिद्वन्द्वियों के साथ हुए उनके टकरावों से निकली थीं। गाँधी ने यही शब्द सावरकर और उसके उग्रवादी अनुयायियों से सुने थे।[२४] सम्पादक-पाठक के बीच के इस टकराव को गाँधी ने जिस तरह विकसित किया है, उसका सारतत्त्व साधनों और साध्यों के बीच के सम्बन्ध में निहित है :

सम्पादक : हमारी अपनी ग़ुलामी मिट जाए, तो हिन्दुस्तान की ग़ुलामी मिट गयी ऐसा मान लेना चाहिए। हम अपने ऊपर राज करें वही स्वराज्य है; और वह स्वराज्य हमारी हथेली में है। लेकिन मुख्य बात तो हर शख़्श के स्वराज्य भोगने की है। डूबता आदमी दूसरे को नहीं तारेगा, लेकिन तैरता आदमी दूसरे को तारेगा। हम खुद ग़ुलाम होंगे और दूसरों को आज़ाद करने की बात करेंगे, तो वह सम्भव नहीं है। अब इतना तो आपकी समझ में आया होगा कि अँग्रेज़ों को देश से निकालने का मक़सद सामने रखने की ज़रूरत नहीं है। अगर अँग्रेज़ हिन्दुस्तानी बनकर रहें तो हम उनका समावेश यहाँ कर सकते हैं। अँग्रेज़ अगर अपनी सभ्यता के साथ रहना चाहें, तो उनके लिए हिन्दुस्तान में जगह नहीं है। ऐसी हालत पैदा करना हमारे हाथ में है।

पाठक : मुझे ये सब बातें ठीक नहीं लगतीं। हमें लड़कर अँग्रेज़ों को निकालना ही होगा, इसमें कोई शक नहीं। अँग्रेज़ हमारे देश के लिए यम (काल) जैसे हैं। उस यम को हमें किसी भी प्रयत्न से भगाना होगा।

सम्पादक : अँग्रेज़ों को यहाँ लाने वाले हम हैं और वे हमारी ही बदौलत यहाँ रहते हैं। आप यह कैसे भूल जाते हैं कि हमने उनकी सभ्यता अपनायी है, इसलिए वे यहाँ रह सकते हैं? आप उनसे जो नफ़रत करते हैं वह नफ़रत आपको उनकी सभ्यता से करनी चाहिए। फिर भी मान लें कि हम लड़कर उन्हें निकालना चाहते हैं, तो यह कैसे हो सकेगा?

पाठक : हम पहले तो कुछ अँग्रेज़ों का ख़ून करके आतंक फैलाएँगे, फिर जो थोड़े-से लोग हथियारबन्द होंगे, वे खुल्लमखुल्ला लड़ेंगे। उसमें पहले तो बीस-पच्चीस लाख हिन्दुस्तानी ज़रूर मरेंगे। लेकिन आख़िर हम देश को अँग्रेज़ों से जीत लेंगे। हम गुरिल्ला लड़ाई लड़कर अँग्रेज़ों को हरा देंगे।

सम्पादक : आपका ख़याल हिन्दुस्तान की पवित्र भूमि को राक्षसी बनाने का लगता है। आप अँग्रेज़ों का ख़ून करके हिन्दुस्तान को छुड़ाएँगे, ऐसा विचार करते हुए आपको त्रास क्यों नहीं होता? ख़ून तो हमें अपना करना चाहिए; क्योंकि हम नामर्द बन गये हैं, इसलिए हम ख़ून करने का विचार करते हैं। ऐसा करके आप किसे आज़ाद करेंगे? धींगड़ा ने जो ख़ून किया है उससे या जो ख़ून हिन्दुस्तान में हुए हैं उनसे देश को फ़ायदा हुआ है, ऐसा अगर कोई मानता है, तो बड़ी भूल करता है। धींगड़ा को मैं देशाभिमानी मानता हूँ, लेकिन उसका देशप्रेम पागलपन से भरा था। उसने अपने शरीर का बलिदान ग़लत तरीक़े से दिया; उससे अन्त में तो देश को ही नुक़सान होने वाला है।

पाठक : आपको नहीं लगता कि आपकी यह बात आपके ही ख़िलाफ़ जाती है? आपको स्वीकार करना होगा कि अँग्रेज़ों ने खुद जो कुछ हासिल किया है, वह मारकाट करके ही हासिल किया है। आप कह चुके हैं कि उन्होंने जो कुछ हासिल किया है वह बेकार है, लेकिन इससे मेरी दलील को धक्का नहीं पहुँचता। उन्होंने बेकार (चीज़) पाने का सोचा और उसको पाया। मतलब यह कि उन्होंने अपनी मुराद पूरी की। साधन क्या था, इसकी चिन्ता हम क्यों करें? अगर हमारी मुराद अच्छी हो तो क्या हम उसे चाहे जिस साधन से, मार-काट करके भी पूरा नहीं करेंगे?

सम्पादक : अँग्रेज़ों ने मार-काट की और हम भी कर सकते हैं, यह बात तो ठीक है। लेकिन मार-काट से जैसी चीज़ उन्हें मिली, वैसी ही हम भी ले सकते हैं। आप क़बूल करेंगे कि वैसी चीज़ हमें नहीं चाहिए। आपका यह मानना बहुत बड़ी भूल है कि साधन और साध्य के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भूल के कारण उन लोगों तक ने घोर कृत्य किये हैं जो खुद को धार्मिक मानते हैं। यह तो धतूरे का पौधा लगाकर मोगरे के फूल की इच्छा करने जैसा हुआ। साधन बीज है और साध्य - हासिल करने की चीज़ - पेड़ है; इसलिए जो सम्बन्ध बीज और पेड़ के बीच है, वही साधन और साध्य के बीच है। आप जैसा बोते हैं, ठीक वैसा ही काटते हैं।[२५]

हिन्द स्वराज में गाँधी सावरकर की उस हत्यापरक नैतिकी से टक्कर ले रहे थे, जो एक आज़ाद देश के साध्य के रूप ब्रिटिश अधिकारियों की हत्याओं को साधन के रूप में मान्य ठहराती थी। दरअसल, इस तरह के साधनों को अपनाने का नतीजा, इन साधनों को अपनाने वाले लोगों के लिए, नये साधनों और साध्यों के विकसित होने की प्रक्रिया में, एक अखण्ड हिन्दू राष्ट्र को हासिल करने की ख़ातिर, वर्षों बाद अनिवार्यतः उनके विरोधी, यानी गाँधी की हत्या के रूप में सामने आने वाला था।

जैसे ही गाँधी लन्दन से लौटकर दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन में मुब्तिला हुए, सावरकर ने हिन्दुस्तान में एक राजनैतिक हत्या को अंजाम देने का षडयन्त्र रचा। २१ दिसम्बर १९०९ को हिन्दुस्तान के नासिक ज़िले के एक अँग्रेज़ मजिस्ट्रेट ए.एम.टी. जैक्सॅन की, जो अपने पद से हटने ही वाला था, उसके विदाई-समारोह के दौरान गोली मारकर हत्या कर दी गयी। अनन्त कन्हारे नामक इस सोलह-वर्षीय हत्यारे पर मुक़दमा दायर किया गया और उसको मौत की सज़ा सुनायी गयी। जैक्सॅन की हत्या के लिए उसने जिस ब्रॉउनिंग पिस्तौल का इस्तेमाल किया था उसके बारे में पता चला कि वह लन्दन से सावरकर के पास से आयी थी, जिन्होंने इसे दूसरी पिस्तौलों के साथ एक मध्यस्थ की मार्फ़त ग़ैरक़ानूनी ढंग से हिन्दुस्तान भेजा था। कन्हारे के साथ षडयन्त्र में शामिल अन्य आरोपियों के पास से सावरकर के ख़त बरामद हुए। इस नौजवान हत्यारे के मक़सद के तार सावरकर से जुड़े थे, जिनके बड़े भाई बारबाराव पर मजिस्ट्रेट जैक्सॅन द्वारा देशद्रोह का अभियोग लगाया गया था। बारबाराव को दोषी पाया गया था और उनको आजीवन कारावास की सज़ा सुनायी गयी थी। कन्हारे ने अपने मुक़दमे के दौरान बयान दिया था कि उसने सावरकर के बड़े भाई की सज़ा का बदला लेने के लिए जैक्सॅन की हत्या की थी।[२६]

ब्रिटेन की बम्बई सरकार ने सावरकर पर देशद्रोह, हथियार बाँटने, और जैक्सॅन की हत्या के लिए उकसावा देने के आरोप लगाते हुए उनकी गिरतारी का वारंट तार द्वारा लन्दन भेजा। सावरकर ने लन्दन में अधिकारियों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था और उनको बम्बई लाया गया, जहाँ उनपर मुक़दमा चलाया गया और उनको दोषी पाया गया। जून १९११ में उन्होंने उस अण्डमान द्वीप पर पोर्ट ब्लेयर की सेलुलर जेल में पचास साल का कारावास भोगना शुरू किया, जो अपनी कठोर परिस्थितियों के लिए कुख्यात था। सावरकर को हिन्दुस्तान की सबसे क्रूर जेल में दस साल तक सज़ा भुगतनी पड़ी। सज़ा का पहला साल ख़त्म होने के पहले ही उन्होंने अँग्रेज़ सरकार से क्षमा की याचना की। १९१३ में उन्होंने एक और याचिका दायर की जिसमें उन्होंने कहा :

अगर सरकार अपने अनेकविध उपकार और दया के चलते मुझे मुक्त कर देती है, तो मैं पहला व्यक्ति होऊँगा जो अँग्रेज़ सरकार की संवैधानिक प्रगति का और उसके प्रति निष्ठा का कट्टरतम पक्षधर हुए बिना नहीं रहूँगा, जो कि उस प्रगति की सबसे मुख्य शर्त है...। इसके अतिरिक्त, मेरे संवैधानिक मार्ग पर चलने लगने से भारत और भारत से बाहर के वे सारे भटके हुए नवयुवक सही मार्ग पर लौट आएँगे जो किसी समय मुझे मार्गद्रष्टा समझकर मेरी ओर ताकते थे। सरकार मुझे जिस किसी भी काम के योग्य समझेगी मैं वह काम करने को तैयार हूँ, क्योंकि जिस तरह मेरा मत-परिवर्तन आन्तरिक विवेक से परिचालित है, उसी तरह, आशा है, मेरा भावी आचरण भी परिचालित होगा। मुझे जेल में रखकर उसकी तुलना में कुछ भी प्राप्त नहीं होगा जो मुझे मुक्त करके प्राप्त किया जा सकता

है। जो महाशक्तिशाली होता है, वही दयावान होने की सामर्थ्य रखता है, और इसलिए एक भटका हुआ बेटा माइ-बाप सरकार के अभिभावकीय द्वार के अलावा और कहाँ लौट सकता है?[२७]

जिस वक़्त सावरकर अँग्रेज़ों से अण्डमान द्वीप की जेल से रिहाई की भीख माँग रहे थे, उस वक़्त गाँधी दक्षिण अफ़्रीका में अपने सत्याग्रह का समापन कर रहे थे। जब १९१५ में गाँधी हिन्दुस्तान वापस लौटे तो उनको नये सिरे से हत्या के कुतर्क का सामना करना पड़ा। दक्षिण अफ़्रीका में बाईस साल रह चुकने के बाद उनको हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन में नवागन्तुक की तरह देखा जा रहा था। लेकिन उन्होंने नवागन्तुक की तरह बरताव नहीं किया। जब उनका ऐसे छात्रों से सामना होता था जो इस बात पर ज़ोर देते थे कि राजनैतिक हत्याएँ अँग्रेज़ों से मुक्ति के लिए एक ज़रूरी रणनीति है, तो गाँधी उनका विरोध करने के मामले में अडिग बने रहते थे।

१३ मार्च १९१५ को गाँधी ने कलकत्ता में उग्रवादी छात्रों के एक विशाल जमावड़े को सम्बोधित किया। उन्होंने उन छात्रों से कहा कि राजनैतिक हत्याएँ 'हिन्दुस्तान में एक पूरी तरह से विजातीय उपज' हैं। उन्होंने कहा कि जो लोग हिन्दुस्तान का आतंकीकरण करना चाहते हैं उनको यह समझ लेना चाहिए कि मैं 'उनके ख़िलाफ़ खड़ा होऊँगा'। तब भी, आतंकवाद के प्रति उनकी प्रतिबद्धता की उन्होंने सराहना की - हत्या करने की उनकी तत्परता की नहीं, जिसका वे तिरस्कार करते थे, बल्कि जान दे देने की उनकी इच्छा की, जिसके लिए, अपने अहिंसक प्रतिरोध के दौरान वे खुद तैयार रहते थे। उन्होंने राजनैतिक हत्या के पैरोकारों से कहा कि अगर उनके पास देश के लिए कोई योजना है, तो उसे उनको 'खुलेआम जनता के सामने रखना' चाहिए। उन्होंने कहा : 'अगर मैं राजद्रोह के पक्ष में हूँ, तो मुझे राजद्रोह के पक्ष में खुलकर बोलना चाहिए। मुझे अपने विचारों को सार्वजनिक करना चाहिए और उसके नतीजों के लिए तैयार रहना चाहिए...अगर आप मरने के लिए तैयार हैं, तो मैं भी आपके साथ मरने को तैयार हूँ।'[२८]

१९१७ से १९२० और १९३० के दशकों तक गाँधी अँग्रेज़ी साम्राज्य के ख़िलाफ़ राजद्रोह की ओर मुड़ते रहे, उन्होंने खुलेआम उसकी पैरवी की, और उस प्रक्रिया में मरने के लिए तैयार रहे। इसकी शुरुआत हुई थी १९१७ में चम्पारण ज़िले के किसानों के साथ चलायी गयी उस मुहिम से, जिसका उद्देश्य था अँग्रेज़ों के बँटाईदारी के अनुबन्धों में निहित अन्याय पर विजय पाना।[२९] जब गाँधी हालात की पड़ताल करने वहाँ पहुँचे, तो अँग्रेज़ों ने उनको जेल की धमकी देते हुए उस इलाक़े से तत्काल बाहर चले जाने का आदेश दिया। जब गाँधी ने एक न्यायाधीश के समक्ष इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया, तो उनके समर्थन में हज़ारों किसानों ने अहिंसक ढंग से अदालत को घेर लिया। अँग्रेज़ों ने उस आदमी के सामने से पीछे हट जाना ही बेहतर समझा जो न सिर्फ़ अपनी गिरफ़्तारी को बल्कि अपनी मौत तक को निमन्त्रण दे रहा था। उसके बाद सत्याग्रह की एक साल लम्बी,

आधारभूत, कामयाब मुहिम चली - जो समूचे देश के लिए एक आदर्श बन गयी।

गाँधी ने कहा, 'मैंने जो कुछ किया था वह साधारण-सा काम था। मैंने ऐलान कर दिया था कि अँग्रेज़ मेरे ही मुल्क में मेरे ऊपर हुक्म नहीं चला सकते।'[३०] गाँधी के इस साधारण-से कृत्य को असाधारण बनाने वाला इस कृत्य का संक्रामक चरित्र था। चम्पारण के किसानों ने अन्याय के सामने सिर झुकाना बन्द कर दिया था। वे अँग्रेज़ों के दखल के प्रति खुलेआम गाँधी जितने ही निर्भीक बन गये थे। जनता के बीच निर्भयता का एक उदाहरण - अपने जीवन की क़ीमत चुकाते हुए भी आततायी के प्रति असहयोग - अँग्रेज़ी हुकूमत के अन्त की शुरुआत का प्रतीक बन गया।

जनवरी १९३० में लिखे गये अपने लेख 'द कल्ट ऑफ़ बम' में गाँधी ने हिंसा के बरक्स अहिंसा के अपने चुनाव का वर्णन इन शब्दों में किया था :

इतना काफ़ी नहीं है कि हम छिपाकर की गयी हिंसा के माध्यम से अँग्रेज़ों की ज़िन्दगियों को असुरक्षित बनाते हुए, उनको बाहर खदेड़ें। इसका परिणाम स्वाधीनता के रूप में नहीं बल्कि निरी अराजकता के रूप में सामने आएगा। स्वाधीनता की स्थापना सिर्फ़ हम दिल और दिमाग़ के प्रति एक अपील के माध्यम से अपने मतभेदों को सुलझाते हुए, स्वयं अपने बीच जैविक एकता विकसित करते हुए ही कर सकते हैं, उन लोगों को आतंकित करते हुए या उनकी हत्या करते हुए नहीं, जिनके बारे में हमारा ख़याल है कि वे हमारे अभियान में बाधा डाल सकते हैं, बल्कि एक धैर्यपूर्ण और विनम्रतापूर्ण सुलूक के माध्यम से, विरोधी का मतपरिवर्तन करते हुए।

हिंसा का विकल्प था 'जन-समुदाय की बड़े पैमाने की सविनय अवज्ञा।'[३१]

अहिंसा के माध्यम से स्वतन्त्रता की अपनी कल्पना का सार गाँधी ने तीन शब्दों में पेश किया था : 'करो या मरो।' 'करो या मरो' क्रान्ति का उनका मरते दम तक मन्त्र बना रहा था : अपने समूचे जीवन के साथ अन्याय का प्रतिरोध करो।[३२] इसे प्यार से करो। अहिंसक ढंग से, खुलेआम, निर्भीकतापूर्व प्रतिरोध करो। इसके जो भी नतीजे हों उनको सहर्ष झेलो, मरने की हद तक : 'करो या मरो।'

साम्राज्य के प्रति अपने भय को हिन्दुस्तानियों ने सबसे ज़्यादा प्रभावशाली ढंग से उस राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह के दौरान झाड़ फेंका था जिसकी पहल १९३० के नमक आन्दोलन के साथ हुई थी। एक बार फिर, साम्राज्यवादी क़ानून की निर्भीक खुलेआम अवज्ञा का एक उदाहरण व्यापक जन-आन्दोलन की उत्प्रेरक घटना बन गया। गाँधी के आश्रम के अठहत्तर लोग उनके साथ तीन हफ़्तों की पैदल यात्रा करते हुए समुद्र तट पर पहुँचे। ६ अप्रैल १९३० को गाँधी 'नीचे झुके और उन्होंने कुदरती नमक से युक्त एक मुट्ठी गीली मिट्टी उठायी,'[३३] और इस तरह उस क़ानून को तोड़ दिया जिसने हिन्दुस्तानी नमक के

स्वामित्व, इस्तेमाल, और विक्रय पर अँग्रेज़ों का एकाधिकार क़ायम कर रखा था। गाँधी के इस कृत्य ने समूचे राष्ट्र में एक अहिंसक संकेत प्रसारित कर दिया।

उसी दिन दिये गये एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था : 'चूँकि नमक-क़ानून का तकनीकी या आनुष्ठानिक उल्लंघन किया जा चुका है, इसलिए अब यह कृत्य उस हर आदमी के लिए सुलभ होगा जो जहाँ उसकी मरज़ी हो और जहाँ उसके लिए सुविधाजनक हो वहाँ पर नमक तैयार करने के लिए नमक-क़ानून के तहत अभियोग झेलने का जोख़िम उठाने को तैयार होगा।' उन्होंने विशेष रूप से हिन्दुस्तान के गाँवों के उन ग़रीब लोगों को सम्बोधित किया जिनको नमक-क़ानून ने सबसे ज़्यादा क्षति पहुँचायी थी। गाँधी ने सभी के लिए सविनय अवज्ञा की सिफ़ारिश की लेकिन साथ में यह भी जोड़ा : 'यह बात ग्रामीणों के समक्ष एकदम स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि यह उल्लंघन खुलेआम होना चाहिए और किसी तरह चोरी-छिपे नहीं होना चाहिए।'[३४]

जनता ने ज़बरदस्त सविनय अवज्ञा के साथ गाँधी के उदाहरण और परामर्श का अनुसरण किया - समुद्र से नमक उठाना, नमक बनाना, नमक की नीलामी करना, नमक बेचना, नमक ख़रीदना। हिन्दुस्तानियों द्वारा क़ानून तोड़े जाने की इन घटनाओं से अदालतों में हिन्दुस्तानियों का ताँता लग गया। पुलिस ने इस उमड़ते ज्वार को पीछे धकेलने की कोशिश में ज़्यादा-से-ज़्यादा गिरफ़्तारियाँ कीं। कारागारों में जगह नहीं बची।

पुलिस ने ५ मई को रात १:३० बजे गाँधी की कुटिया में जाकर उनको जगाया और उनको गिरफ़्तार कर लिया। इसके पहले उसी रात उन्होंने ब्रिटिश वायसराय को एक पत्र लिखकर घोषणा की थी कि उनका अगला क़दम अपने साथियों के साथ धरसाना जाकर अँग्रेज़ों द्वारा नियन्त्रित नमक कारखाने पर क़ब्ज़ा करने का होगा।[३५] इसकी बजाय गाँधी को जेल जाना पड़ा, लेकिन नमक कारखाने पर धावा बोलने का जो प्रण उन्होंने किया था, उसको आन्दोलन ने पूरा किया।

२१ मई १९३० को यूनाइटेड प्रेस के संवाददाता वेब मिलर ने सारी दुनिया को धरसाना में अँग्रेज़ साम्राज्य की पुलिस और निहत्थे सत्याग्रहियों के बीच हुई उस मुठभेड़ की ख़बर दी जो इस संवाददाता की आँखों के सामने हुई थी :

सफ़ेद वस्त्रधारी स्वयंसेवकों ने चाँदनी रात में घुटनों के बल बैठकर प्रार्थनाएँ कीं, और कवियित्री-नेता श्रीमती सरोजनी नायडू के जोशीले भाषण के साथ...धरसाना नमक कारखाने पर स्वाधीनता-संग्राम के २,५०० प्रदर्शनकारियों ने सामूहिक हमला बोल दिया।

घर की बनी मोटी खद्दर की साड़ी और, बिना जुराबों के, मुलायम चप्पलें धारण किये इस कवियित्री ने अपने साथी आन्दोलनकारियों को इस धावे के लिए प्रोत्साहित किया।

स्वयंसेवकों को हमले के लिए अग्रसर करते हुए उन्होंने पुकार लगायी, 'हिन्दुस्तान की इ़ज़्ज़त आपके हाथों में है। आपको किसी भी सूरत में किसी तरह की हिंसा का प्रयोग नहीं करना है। आपको पीटा जाएगा लेकिन आपको विरोध नहीं करना है : आघातों से बचने के लिए आपको अपना हाथ भी ऊपर नहीं उठाना है।'

'भले ही गाँधी की काया जेल में है, लेकिन उनकी आत्मा आपके साथ है।'

सुबह के धुँधलके में एक-दूसरे से सटे खड़े स्वयंसेवकों के अँधेरे झुण्ड से 'गाँधीजी की जय' के नारे गूँज उठे।

स्वयंसेवकों ने कतारें बना लीं, जिनके आगे चलने वाले नेताओं के हाथों में रस्सियाँ और तार काटने के औज़ार थे। वे धीरे-धीरे नमक कारखाने की ओर बढ़े।

इस संक्षिप्त जुलूस के निशाने पर चमचमाते नमक के वे ढेर थे जिनको पुलिस द्वारा खड़ी की गयी कँटीले तारों की बाड़ों ने घेर रखा था। स्थानीय सूरत पुलिस के लगभग ४०० जवान बाड़ों के अन्दर और बाहर खड़े हुए थे। कई अँग्रेज़ अधिकारी पुलिस को निर्देश दे रहे थे, जिनको पाँच से ज़्यादा व्यक्तियों को एकत्र होने से रोकने के आदेश दिये गये थे।

गाँधी के दूसरे बेटे मणिलाल गाँधी जुलूस के सबसे आगे चल रहे थे। जैसे ही यह भीड़ नमक के ढेरों के क़रीब पहुँची, तो लोगों ने 'इंक़लाब ज़िन्दाबाद!' के नारे लगाने शुरू कर दिये।

ये कतारें सुबह ६:३० बजे नमक कारखाने पर पहुँचीं। कुछ तालियाँ बजीं और जिन नेताओं के हाथों में रस्सियाँ थीं, उनने कँटीले तारों की बाड़ों को सहारा देने के लिए गाड़े गये खम्भों को उखाड़ने के इरादे से उनपर फन्दे डालने की कोशिश की। पुलिस भागती हुई आयी और उसने उन लोगों से वहाँ से हट जाने को कहा। स्वयंसेवकों ने मना कर दिया।

कतार ने ख़ामोश रहते हुए चेतावनी की उपेक्षा की और धीरे-धीरे आगे बढ़ती गयी...

अचानक, एक आदेश पर ढेरों पुलिसवाले प्रदर्शनकारियों की ओर भागे और उनके सिरों पर लोहे की मूठ वाले अपने डण्डे बरसाने लगे। एक भी प्रदर्शनकारी ने आघातों से बचने के लिए अपना हाथ ऊपर नहीं उठाया। वे टेनपीन्स की तरह ज़मीन पर लुढ़क गये। जहाँ पर मैं खड़ा हुआ था, वहाँ से मैं नंगे सिरों पर पड़ती लाठियों के कुत्सित प्रहारों की आवाज़ें सुन सकता था। अपनी बारी आने का इन्तज़ार करती भीड़ हर प्रहार पर गहरी साँस भरती हुई आह कर उठती थी।

जिनके सिरों पर चोटें पड़ी थीं वे बेहोश होकर ज़मीन पर पड़े थे, या पड़े-पड़े खोपड़ी फटने या कन्धे टूटने की पीड़ा से छटपटा रहे थे। दो-तीन मिनिट के भीतर ही ज़मीन शरीरों से ढँक गयी। उनके सफ़ेद कपड़ों पर ख़ून के बड़े-बड़े धब्बे फैले हुए थे। जो अब तक चोट खाने से बचे रह गये

थे, वे कतार से अलग हुए बिना ख़ामोश और दृढ़ निश्चय के साथ तब तक आगे बढ़ते गये जब तक कि वे भी चोट खाकर गिर नहीं गये। जब पहली कतार का हर व्यक्ति ज़मीन पर गिरा दिया गया, तो स्ट्रेचर सँभाले लोग पुलिस की रोक-टोक के बिना तेज़ी-से भागते हुए आये और घायलों को उस एक छप्परदार झोपड़ी में ले गये जिसका इन्तज़ाम एक कामचलाऊ अस्पताल के रूप में किया गया था।

तभी एक और कतार तैयार होने लगी जिस दौरान उनके नेता उनसे आत्म-संयम बरतने का आग्रह करते रहे। वे धीरे-धीरे पुलिस की ओर बढ़े। हालाँकि, हर किसी को मालूम था कि कुछ ही मिनिटों के भीतर वह पीटकर गिरा दिया जाएगा, या शायद मार दिया जाएगा, लेकिन मुझे उनके चेहरों पर किसी तरह की हिचकिचाहट या भय का कोई निशान दिखायी नहीं दिया। वे निरन्तर सिर उठाये आगे बढ़ते गये, वहाँ न कोई संगीत था, न तालियों की गड़गड़ाहट थी, और न ही उनको प्रोत्साहित करने वाली ऐसी किसी सम्भावना का आश्वासन था कि वे गम्भीर चोट या मौत से बच सकते हैं। पुलिस भागती हुई आयी और उसने सिलसिलेवार और यान्त्रिक ढंग से इस दूसरी कतार को भी ढेर कर दिया। कोई मारपीट नहीं हुई, कोई संघर्ष नहीं हुआ : सिर्फ़ प्रदर्शनकारी उस वक़्त तक आगे बढ़ते रहे जब तक कि वे चोट खाकर गिर नहीं गये। कहीं कोई चीख़-चिल्लाहट सुनायी नहीं देती थी, सिर्फ़ जब वे चोट खाकर गिरते थे तब कराहने की आवाज़ें भर सुनायी देती थीं। घायलों को उठाकर ले जाने के लिए पर्याप्त संख्या में स्ट्रैचर ढोने वाले नहीं थे : मैंने अठारह घायलों को एकसाथ ले जाते हुए देखा, जबकि बयालीस लोग अभी भी बहते ख़ून से लथपथ ज़मीन पर स्ट्रैचरवालों के इन्तज़ार में पड़े थे। जिन कम्बलों का इस्तेमाल स्ट्रैचरों के रूप में किया जा रहा था, वे ख़ून से सराबोर हो गये थे...।

कई बार ऐसा हुआ कि नेतागण इन्तज़ार करती भीड़ पर से अपना नियन्त्रण खो बैठे। वे आगे-पीछे भागते हुए उन बेहद उत्तेजित लोगों से व्यग्रतापूर्ण ढंग से निवेदन करते हुए उनको गाँधी के निर्देशों को याद रखने की समझाइश देते। ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह निहत्थी भीड़ पुलिस पर सामूहिक हमला करने की कगार पर थी। प्रभारी अँग्रेज़ अधिकारी, सूरत के सुपरिन्टेंडेंट रॉबिन्सॅन ने विस्फोट की आसन्न सम्भावना को भाँपते हुए एक छोटी-सी पहाड़ी पर गोलियाँ दागने के लिए तैयार पच्चीस रायफ़लधारियों को तैनात कर दिया था। वह मेरे पास आया, और मेरी पहचान के बारे में पूछताछ करने बाद उसने मुझसे कहा : 'बेहतर होगा कि आप इस जगह से दूर चले जाएँ क्योंकि यहाँ गोलियाँ चल सकती हैं। हमें मजबूर होकर भीड़ पर गोलियाँ चलानी पड़ सकती हैं।' जिस वक़्त हम लोग यह बातचीत कर ही रहे थे, तभी विश्वविद्यालय में पढ़ने वाला एक गाँधीवादी नौजवान छात्र भागता हुआ रॉबिन्सॅन के पास आया जिसका चेहरा गुस्से से विकृत था। उसने खादी का अपना कुरता फाड़ा और अपनी नंगी छाती को सामने करते हुए वह ज़ोर-से चीख़ा : 'मुझे गोली मार दो! मुझे गोली मार

दो! मार डालो मुझे, ये मेरे देश की ख़ातिर ज़रूरी है!' नेताओं ने भीड़ को किसी तरह शान्त किया।

गाँधी के आदमियों ने अपनी रणनीति बदली, वे पच्चीस-पच्चीस के समूह में आगे बढ़े और, ज़्यादा क़रीब जाने की कोशिश किये बिना, नमक के ढेरों के पास बैठ गये। कॉफ़ी के रंग वाले एक भारी-भरकम, बदसूरत पारसी पुलिस सार्जेंट एन्टिया के नेतृत्व में पुलिस की टुकड़ी एक बैठे हुए समूह के पास पहुँची और उसने भीड़ जमा न करने के आदेश का हवाला देते हुए, उन लोगों से तितर-बितर होने को कहा। गाँधी के अनुयायियों ने उनकी उपेक्षा करते हुए उन लाठियों की तरफ़ भी नहीं देखा जो धमकी भरे अन्दाज़ में उनके सिरों के ऊपर मँडरा रही थीं। एन्टिया के एक आदेश पर बिना कोई गुस्सा दर्शाये पिटाई का सिलसिला शुरू हो गया। तीन-तीन, चार-चार शरीर एक-दूसरे के ऊपर लुढ़क गये। उनके सिर के घावों से बेतहाशा ख़ून बह रहा था। एक के बाद एक समूह आगे बढ़ते गये, बैठते गये, और प्रहारों को रोकने के लिए एक भी हाथ उठाये बिना उन्होंने खुद को उस निर्मम पिटाई के अधीन कर दिया।

अन्ततः पुलिस इस प्रतिरोधहीनता से कुपित हो उठी, और वह अपने कोप में, मेरा ख़याल है, उस रोष में साझा कर रही थी जिसे मैं प्रदर्शनकारियों में पहले ही महसूस कर चुका था जो उनमें जवाबी हमला न कर पाने की वजह से व्याप्त था। उन्होंने बैठे हुए लोगों के पेट और अण्डकोषों पर वहशियाना ढंग से लातें मारना जारी रखा। घायल आदमी यातना से छटपटा और चीख़ रहे थे, जिससे लगता था पुलिस का आवेश और भी भड़क रहा था। भीड़ अपने नेताओं से छिटक कर लगभग अलग हो गयी। इसके बाद पुलिस उन बैठे हुए लोगों के हाथ या पैर पकड़कर उनको घसीटने लगी। कभी-कभी वे उनको सौ गज तक घसीटकर ले जाते, और उनको गढ़ों में पटक देते। एक व्यक्ति को घसीटकर उस गड्ढे में ला पटका गया जहाँ पर मैं खड़ा था : उसके शरीर के गिरने से हुए छपाके ने मुझे कीचड़ से सराबोर कर दिया। एक और पुलिसवाले एक अन्य गाँधीवादी को घसीटकर उस गढ़्ढे में ला पटका और फिर अपनी लाठी से उसके सिर को बुरी तरह पीटा। घण्टे-घण्टे बाद स्ट्रैचरधारी आकर अचेत और बहते ख़ून से लथपथ शरीरों को लादकर ले जाते।

ज़्यादातर समय सूरत की स्थानीय भावशून्य पुलिस हमला करने को अनिच्छुक प्रतीत होती थी। यह ध्यान देने लायक़ बात थी कि जब अधिकारी लाइन के दूसरे किसी हिस्से में व्यस्त होते थे, तो पुलिस ढीली पड़ जाती थी, और फिर धमकाना और पीटना तभी शुरू करती थी जब अधिकारी वापस लौट आते थे। मैंने ऐसा भी कई बार देखा जब स्वयंसेवक पुलिस से अपने साथ मिल जाने का अनुरोध कर रहे थे...

ग्यारह बजते-बजते शेड में गर्मी १६६ पर पहुँच गयी और गाँधीवादी कार्यकर्ताओं की गतिविधियाँ ठण्डी पड़ गयीं। मैं घायलों का हाल-चाल जानने उस कामचलाऊ अस्पताल में गया। वे एक

खुली, ताड़ की पत्तियों के छप्पर वाली झोपड़ी की छाया में नंगी ज़मीन पर कतारबद्ध पड़े हुए थे। मैंने ३२० घायलों की गिनती की, जिनमें से कई फटी हुई खोपड़ियों वाले लोग अभी भी अचेत थे, तो दूसरे लोग पेट और अण्डकोषों पर पड़ी लातों की पीड़ा से छटपटा रहे थे। गाँधी के लोग बहुत थोड़े-से स्थानीय डॉक्टरों को जुटा सके थे, जो ख़ासे अपर्याप्त साधनों के साथ जो बन पड़ रहा था, वह कर रहे थे। ढेरों ऐसे घायल थे जिनको कई-कई घण्टों तक कोई इलाज उपलब्ध नहीं हो सका था और उनमें से दो लोग मर गये थे।[३६]

जिस धावे की ख़बर मिलर ने दी थी वह उसी शाम दोबारा किया गया था, और ४०० और भी स्वयंसेवक उसमें घायल हुए थे। दो दिन बाद पास के सत्याग्रह शिविर में, जिसको पुलिस ने कुछ सत्याग्रहियों को छोड़ ज़्यादातर ख़ाली करा लिया था, बचे हुए सत्याग्रहियों की एकबार फिर पुलिस से मुठभेड़ हुई। वहाँ उपस्थित एक गाँधीवादी ने पुलिस के साथ हुई उस अन्तिम मुठभेड़ का बयान इन शब्दों में किया था :

२३ तारीख़ को दोपहर बाद अधिकारी लौटे और उन्होंने शिविर में रह रहे लोगों के सारे काग़ज़ों को बड़ी सावधानी से जाँचा। कोई बीस पुलिसवालों ने हमें घेर लिया। हम अपने-अपने कामों में लगे हुए थे। चूँकि बहुत गर्मी थी, हमने पुलिस के अपने भाइयों को ताज़ा ठण्डा पानी पिलाया। २१ और २२ की सुबह, हमने उनको पूरे धीरज और ख़ामोशी के साथ अपना ख़ून दिया था। जब २२ की सुबह पुलिस हमें वहाँ से बाहर खदेड़ने के लिए आयी थी, तो उन्होंने खुद ही हमारे रसोई-भण्डार से कुछ फल उठाकर खा लिये थे, जो हमने अपने घायल सिपाहियों के लिए लाकर रखे हुए थे। अगर उनने हमसे पूछा होता, तो भी हमने उनको खुशी-खुशी वे फल दे दिये होते।[३७]

एक बार गाँधी से पूछा गया था कि क्या वे ईसा के इस उपदेश (सर्मन ऑन द माउंट) में विश्वास करते हैं कि 'अगर कोई आदमी आपका कोट ले लेता है, तो उसको अपना चोग़ा भी ले जाने दो।' उन्होंने जवाब दिया :

'आपने जिस छन्द को उद्धरित किया उसमें ईसा ने अहिंसक असहयोग के महान सिद्धान्त को चित्रात्मक और अर्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। अपने विरोधी के साथ आपका असहयोग उस वक़्त हिंसक हो जाता है जब आप प्रहार के जवाब में प्रहार करते हैं, और यह लम्बी अवधि के दौरान निष्फल होता है। आपका असहयोग उस वक़्त अहिंसक होता है जब आप अपने विरोधी को उसकी ज़रूरत की चीज़ों की जगह सब कुछ दे देते हैं। आपने अपने ऊपरी सहयोग से उसको हमेशा के लिए निहत्था कर दिया होता है, जोकि असल में सम्पूर्ण असहयोग होता है।'[३८]

१९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सत्याग्रहियों ने प्रेमपूर्ण भावना से अंजाम दिये गये अहिंसक असहयोग की मदद से अँग्रेज़ों को निहत्था कर दिया था। जैसे-जैसे मारे गये हिन्दुस्तानियों

की संख्या बढ़ती गयी, वैसे-वैसे अँग्रेज़ों का स्वयं को जायज़ ठहराने का तर्क कमज़ोर पड़ता गया।

अगर गाँधी के समुदाय के लोग 'करो या मरो' के लिए तैयार न होते - अगर वे लम्बी जेल-यात्राओं, पिटाई और स्वयं मृत्यु की मार्फ़त अपने अहिंसक प्रतिरोध को क्रियान्वित करने के लिए तैयार न हुए होते, तो मुट्ठी-भर नमक की मार्फ़त राष्ट्र को भेजे गये अहिंसा के संकेत का कोई अर्थ नहीं रह गया होता। नमक सत्याग्रह स्वराज की गाँधी की कल्पना का साकार होना था। ये हिंसा पर पश्चिम के विश्वास से आज़ादी थी। यह अहिंसा के माध्यम से आज़ादी थी। जेल के दरवाज़ों में प्रवेश करने की प्रक्रिया में, निर्मम पुलिस बलों के बीच घुस जाने की प्रक्रिया में, और स्वयं अपना जीवन न्यौछावर कर देने की प्रक्रिया में हिन्दुस्तानी आज़ाद हुए, जबकि अँग्रेज़ों ने उपनिवेशीकृत लोगों को गुलाम बनाने की अपनी हिंसक शक्ति को खो दिया। हिंसा से न डरने वाले लोगों पर हिंसा का कोई ज़ोर नहीं चलता। अँग्रेज़ दोबारा कभी हिन्दुस्तान पर अपना वर्चस्व क़ायम नहीं कर सके। उपनिवेशवादियों के प्रति बरते गये स्नेहपूर्ण प्रतिरोध की प्रक्रिया में दुख और मौत को गले लगाने की गाँधी और उनके समुदाय की तत्परता स्व-शासन की कुंजी थी।

हालाँकि, 'करो या मरो' की अपनी तत्परता में गाँधी प्रलोभन से मुक्त नहीं थे। स्वराज की ख़ातिर अपनी मृत्यु को असमय आमन्त्रण देना उनकी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा प्रलोभन रहा हो सकता है। ईश्वर की मरज़ी के मुताबिक़ किसी भी क्षण अहिंसक ढंग से प्राण त्याग देने के लिए गाँधी ने पूरे जीवन भर प्रार्थना की थी और खुद को तैयार किया था। अगस्त १९४२ में, जब उनको लगा कि स्वाधीनता आन्दोलन ब्रिटेन के साथ एक गतिरोध की दिशा में बढ़ रहा है, तो उनको लगा उनके जीवन के उत्सर्ग का समय आ गया है।

प्रधान मन्त्री विन्स्टॅन चर्चिल और उनके सलाहकार, हिन्दुस्तान के गृह सचिव लियोपोल्ड अमेरी ने गाँधी के ख़िलाफ़ रक्षात्मक कार्रवाई करने का फ़ैसला किया। चर्चिल और अमेरी गाँधी की इस माँग से आशंकित थे कि अँग्रेज़ दूसरे विश्व युद्ध के दौरान या तो हिन्दुस्तान छोड़कर चले जाएँ या राष्ट्रव्यापी सविनय प्रतिरोध का सामना करने को तैयार रहें। जैसे ही अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने ८ अगस्त की बम्बई की अपनी बैठक में भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित किया, वैसे ही इन अँग्रेज़ नेताओं ने गाँधी और काँग्रेस के दूसरे नेताओं को गिरफ़्तार करने की योजना बना ली। ब्रिटिश वॉर कैबिनेट ने तो एक मुकाम पर गाँधी को हिन्दुस्तान से बाहर (सम्भवतः दक्षिण अफ़्रीका के न्यासलैंड उपनिवेश में) भेज देने तक का फ़ैसला कर लिया था, ताकि अगर वे जेल में रहकर उपवास करने लगते, तो उनको ज़्यादा आसानी-से नियन्त्रित किया जा सकता।[३६] द वॉर कैबिनेट ने अन्त में उनको हिन्दुस्तान के पुराने आगा खाँ पैलेस में बन्द करने का चुनाव किया।

गाँधी जानते थे कि अँग्रेज़ स्वाधीनता आन्दोलन को एक असहनीय युद्धकालीन व्यवधान के रूप

में कुचलने की तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने उनकी इस चुनौती को आज़ादी के लिए हर चीज़ कुर्बान कर देने के आमन्त्रण की तरह लिया। बम्बई की बैठक में उन्होंने काँग्रेस के नेताओं से आज़ाद हिन्दुस्तान की ख़ातिर अपनी जान दे देने का आह्वान किया :

'यह एक छोटा-सा मन्त्र है जो मैं आपको दे रहा हूँ। इसको आप अपने दिलों में उतार लीजिए और इसे आपकी एक-एक साँस में इसको व्यक्त होने दीजिए। यह मन्त्र है : 'करो या मरो'। हम या तो हिन्दुस्तान को आज़ाद करें या इसकी कोशिश में अपनी जान दे दें...अब के बाद से हर मर्द और औरत अपने जीवन के एक-एक पल को इस बोध के साथ जिये कि वह सिर्फ़ आज़ादी हासिल करने की ख़ातिर खा या जी रहा/रही है और, अगर ज़रूरत पड़ी तो इस लक्ष्य को हासिल करने की ख़ातिर मर जाएगा/जाएगी।'[४०]

गाँधी चाहते थे कि अपने इन शब्दों पर अमल करने वाले वे पहले व्यक्ति हों। जैसा कि उनके सहयोगी और यहाँ तक कि अँग्रेज़ भी इस नतीजे पर पहुँच चुके थे कि गिरफ़्तार होते ही वे 'अगर ज़रूरत पड़ी, तो इस लक्ष्य को हासिल करने की ख़ातिर' आमरण अनशन पर बैठने की कगार पर थे। वे तो बिना जल तक के उपवास करने पर विचार कर रहे थे, जो वे जानते कि उपवास को 'संक्षिप्त और फुर्तीला' बना देगा।[४१]

गाँधी के सचिव महादेव देसाई को भय था कि यह सचमुच ही संक्षिप्त, फुर्तीला और मृत्यु की ओर ले जाने वाला होगा - एक ऐसी मृत्यु जिसके बारे में देसाई को लगता था कि युद्ध के तानव से ग्रस्त अँग्रेज़ नेताओं ने उसका सहर्ष स्वागत किया होता। देसाई को भय था कि 'सरकार जिस तरह की हताशा की स्थिति में थी उसमें वह उनको उस अग्निपरीक्षा के दौरान मर जाने की छूट देगी' और वह 'गाँधी मृत्यु की ख़बर को दबा तक सकती थी'।[४२]

इससे भी बदतर, जैसा कि महादेव को लग रहा था, गाँधी की सोच थी, जो एक ऐसी असामान्य हताशा और हड़बड़ी की सूचना दे रही थी जिसकी अहिंसा के साथ संगति नहीं बैठती थी। देसाई ने गाँधी के चार अन्य प्रभावशाली सहयोगियों को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वे उनके साथ मिलकर अपने नेता को तत्काल ख़त लिखकर, उससे इस तरह का क़दम उठाने पर पुनर्विचार करने का अनुरोध करें। महादेव ने लिखा :

पिछले दिन आपने देवदास गाँधी के सबसे छोटे बेटे, और मुझसे यह कहा था कि 'यह सब होने वाला है, तुम लोग मुझे ज़िन्दा नहीं देखोगे।' उस समय मैं बहुत विचलित हुआ था। मुझे लगा था कि यह नतीजे को हासिल करने की हड़बड़ी थी जो उसको उपवास के माध्यम से संक्षिप्त और फुर्तीली बनाने के लिए ज़िम्मेदार थी। और मुझे लगा था कि आप इस तथ्य से उदासीन थे कि दुनिया आपके इस रुख़ को समझ पाएगी या नहीं समझ पाएगी...

कृपया मुझे क्षमा करें लेकिन मुझे लगा था कि यह पूरा-का-पूरा विचार ही भ्रामक है। कृपया अपने दिमाग़ से यह संक्षिप्त और फुर्ती का ख़याल निकाल दीजिए। जिस तरह आम के पेड़ जल्दी-से बड़े नहीं होते, उसी तरह क़ुर्बानी भी जल्दबाज़ी में नहीं दी जाती।[४३]

गाँधी ने अपने सहयोगियों के इस बेहद ज़रूरी अनुरोध के जवाब में एक संक्षिप्त, अस्पष्ट-सा नोट लिखा।[४४]

महादेव के बेटे नारायण देसाई ने अपने पिता की डायरी के आधार पर 'जेल भेजे जाने के तुरन्त बाद गाँधी के आमरण अनशन पर बैठने के इरादे' को लेकर काँग्रेस वर्किंग कमेटी के विरोध के बारे में लिखा है। जवाहरलाल नेहरू ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि बापू को खुद को इस तरह के फ़ैसले से नहीं बाँध लेना चाहिए। मौलाना ने कहा था कि इस तरह का क़दम आख़िरी क़दम होना चाहिए। पन्त ने अपने इस भय को व्यक्त किया था कि इसकी वजह से हिंसा और अराजकता फैल जाएगी। सत्यमूर्ति को लगा था कि आज़ाद हिन्दुस्तान को बापू की ज़रूरत उससे ज़्यादा होगी जितनी वह गुलाम हिन्दुस्तान को है। प्रफुल्ल घोष का मानना था कि यह उपवास एक आत्मघात होगा। नरेन्द्र देव ने कहा था कि वे इस उपवास के पूरी तरह से ख़िलाफ़ हैं...सरदार पटेल ने ज़बरदस्त विरोध दर्ज़ कराया।

'गाँधी ने यह कहकर वर्किंग कमेटी को सान्त्वना दी कि अभी उन्होंने कोई फ़ैसला नहीं किया है।'[४५]

जब पुलिस ९ अगस्त १९४२ को सुबह के अँधेरे में गाँधी और देसाई को गिरफ़्तार करने पहुँची, तो नारायण देसाई, जो उस समय सात साल के थे, ने अपने पिता के लिए थोड़ा-सा सामान बाँधना शुरू कर दिया। महादेव ने उनको यह कहकर रोका कि 'इन सब चीज़ों की कोई ज़रूरत नहीं है। बापू का अनशन मेरे सिर पर डेमाक्लीज़ की तलवार की तरह लटक रहा है। अगर वे अनशन पर बैठते हैं, तो मुमकिन है सरकार उनको मर जाने दे। मैं यह सब देखने के लिए जीवित रहने वाला नहीं हूँ। मैं नहीं जानता कि मैं जेल में एक हफ़्ते से ज़्यादा जीवित रह पाऊँगा या नहीं।'[४६]

जब गाँधी गिरफ़्तार किये जा रहे थे तो उनके उपवास को लेकर आशंकित अपने एक दोस्त से उन्होंने कहा था कि उनका 'इरादा तत्काल अनशन की घोषणा करने का नहीं था।'[४७] अनशन का दरवाज़ा खुला ही रहा।

महादेव देसाई का अपना स्वास्थ्य भी एक नाज़ुक मोड़ पर था। जब महादेव ने गाँधी के साथ आगा खाँ पैलेस में प्रवेश किया था, तो वे हाल ही में हुए हृदयाघात से उबर रहे थे। सचिव गाँधी के लिए जिस तरह से समर्पित, ऊर्जस्वित ढंग से रोज़मर्रा काम जारी रखे हुए थे, उसके चलते आश्रम उनके कमज़ोर दिल के बारे में लगभग भूल चुका था।

जेल में महादेव गाँधी पर उद्विग्न नज़र रखे हुए थे, क्योंकि उनको भय था कि वे किसी भी समय वह घातक अनशन शुरू कर सकते थे। महादेव को बार-बार यह दोहराते हुए सुना गया था कि 'ईश्वर से मेरी एक ही प्रार्थना है, 'मेहरबानी करके मुझे बापू से पहले उठा लें,' और ईश्वर ने मेरी प्रार्थना को कभी अनसुना नहीं किया।'[४८] साथी क़ैदी उनको ज़बरदस्त तनाव में रहते हुए देख रहे थे। छह दिन बाद महादेव अचानक ढह गये। उनकी मृत्यु गाँधी की बाँहों में हुई।

गाँधी नीचे झुककर महादेव का सिर सहलाते हुए चिल्लाये, 'महादेव! उठो! महादेव!'[४९]

जिस तरह ईसा की पुकार पर लेज़ारॅस उठ खड़े हुए थे, वैसा कुछ नहीं हुआ : महादेव नहीं उठे।

जब बाद में गाँधी से उनके इस शिष्य को लगायी गयी पुकार के बारे में पूछा गया, तो गाँधी ने कहा, 'मुझे पूरा विश्वास है कि अगर महादेव ने एक बार भी आँखें खोलकर मेरी ओर देखा होता, तो वह उठ गया होता। उसने अपनी ज़िन्दगी में एक बार भी ऐसा नहीं किया कि मेरी आज्ञा न मानी हो। अगर मेरे शब्द उसके कानों तक पहुँच सके होते, तो मुझे पूरा विश्वास है कि वह मौत से लड़कर उठ खड़ा हुआ होता।'[५०]

गाँधी को अपने शिष्य के प्रेम की गहराई को महसूस करने के लिए शायद यह ज़रूरी था कि महादेव अपनी आँखें न खोलते।

नारायण देसाई का ऐसा विश्वास है कि उनके पिता की मृत्यु की वजह से ही गाँधी एक उतावले, और शायद सांघातक अनशन से विमुख हुए थे। गाँधी के एक अन्य सचिव और जीवनीकार प्यारेलाल इस बात से सहमत हैं कि महादेव की मौत ने गाँधी के उपवास को रोका था। उन्होंने कहा था : 'जब गाँधीजी को आमरण अनशन पर बैठने से रोकने के लिए तमाम लोगों के अनुरोध नाकाम रहे, तब महादेव सफल हुए। ये मेरी जानकारी में गाँधीजी के समूचे जीवन की अपनी तरह की एकमात्र घटना है।'[५१]

गाँधी ने सीधे-सीधे यह कहा था : 'महादेव का बलिदान कोई छोटी चीज़ नहीं है। उसने 'करो या मरो' के आह्वान का पूरी तरह पालन किया। यह बलिदान हिन्दुस्तान की मुक्ति के दिवस को तेज़ गति देकर रहेगा।'[५२]

अपने गुरु की ख़ातिर शिष्य पहले ही चला गया।

१९४४ की गर्मियों में, जब अँग्रेज़ अन्ततः हिन्दुस्तान को स्वाधीनता प्रदान करने की दिशा में बढ़ रहे थे, तब गाँधी उन लोगों के गिरोह द्वारा एक से अधिक बार सताये और धमकाये गये, जिनमें से कुछ लोग साढ़े तीन साल बाद उनकी हत्या करने वाले थे।

इस तरह की पहली घटना जुलाई १९४४ में हुई, जब गाँधी अपनी अन्तिम जेल यात्रा के बाद बीमारी से उबरते हुए पंचगनी की यात्रा पर गये थे। एक चार्टर्ड बस में सवार होकर पच्चीस नौजवान पूना से पंचगनी पहुँचे। शाम ५:३० बजे आयोजित होने वाली गाँधी की प्रार्थना-सभा के पहले इन आदमियों ने शहर में घूम-घूमकर गाँधी-विरोधी नारे लगाये। प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा इस बारे में दिये गये ब्यौरे अलग-अलग हैं कि इस समूह का नेता कौन था और उसने उस प्रार्थना-सभा में क्या किया था।

कुछ प्रत्यक्षदर्शियों के मुताबिक़ नाथूराम गोडसे हाथ में खंजर लिये 'गाँधी मुर्दाबाद!' का नारा लगाता हुआ गाँधी की ओर दौड़ा। गाँधी के दो समर्थकों ने गोडसे को क़ाबू में कर उसका हथियार छीना। यह वही आदमी था जिसने ३० जनवरी १९४८ को गाँधी को गोली मारकर उनकी हत्या की थी। गाँधी का बचाव करने वाले इन दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति था डी. भिलारे गुरुजी, जो बाद में काँग्रेस की ओर से विधान सभा के सदस्य बने थे। गुरुजी ने याद किया था कि जब उन्होंने तथा एक और आदमी ने नाथूराम को पकड़ा और उससे संघर्ष किया, तो गाँधी ने उनको पुकारा और हमलावर के साथ अभद्रता न बरतने का निर्देश दिया। वे चाहते थे कि नाथूराम गोडसे को उनके पास लाया जाता ताकि वे उससे बात कर सकते।[५३] पुलिस ने गोडसे और उसके साथियों को गिरफ़्तार कर लिया। 'गाँधी ने गोडसे से आग्रह किया था कि वह उनके साथ आठ दिन बिताये ताकि वह उसका दृष्टिकोण समझ सके। गोडसे ने उनके निमन्त्रण को ठुकरा दिया था और उदार-हृदय गाँधी ने उसको आज़ादी के साथ वहाँ से चले जाने की इजाज़त दे दी थी।'

दो पुलिस अधिकारियों के मुताबिक़, यह लोगों का समूह था जिसने नारे लगाते हुए सभा में बाधा डाली थी, उनके किसी खंजरधारी नेता ने गाँधी पर हमला करने की कोशिश नहीं की थी। पुलिस के इस बयान के मुताबिक़ इस झुण्ड का नेता नाथूराम गोडसे नहीं, बल्कि उसका दोस्त नारायण आप्टे था।[५५] हालाँकि नेता के रूप में पुलिस द्वारा की गयी आप्टे की पहचान इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह नारायण आप्टे ही था जिसको १९४८ में गोडसे के साथ मौत की सज़ा सुनायी गयी थी, क्योंकि दोनों ने मिलकर गाँधी की हत्या की अगुआई की थी।

भविष्य के इन दोनों हत्यारों में से जिस किसी ने भी जुलाई १९४४ में गाँधी की हत्या करने या महज़ उनकी सभा में ख़लल डालने के उद्देश्य से भीड़ का नेतृत्व किया हो, लेकिन यह घटना गाँधी के भविष्य पर मँडराती एक और आदमी की छाया का साक्ष्य थी, और वह आदमी था विनायक दामोदर सावरकर जो गाँधी का लन्दन के ज़माने का अपराजेय शत्रु था। नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे, दोनों ही सावरकर के शिष्य थे, जो अब सम्भावित हत्यारों के एक काडर के रूप में जेल से आज़ाद हो चुके थे।

अँग्रेज़ी साम्राज्य से सावरकर द्वारा की गयी क्षमादान की याचना उनके लिए फलदायी साबित हुई, साम्राज्य के इस 'भटके हुए बेटे' के लिए, जैसा कि उन्होंने १९१३ में 'माई-बाप सरकार के द्वार'

पर क्षमादान की याचना पेश करते हुए स्वयं को कहा था।[५६] पोर्ट ब्लेयर के एकान्त कारावास के दौरान सावरकर की विचारधारा साम्राज्य के ख़िलाफ़ विद्रोह से विमुख हो चुकी थी। सितम्बर १९१४ में उन्होंने हिन्दुस्तान की अँग्रेज़ सरकार को एक ख़त लिखकर एक साझा नस्लपरक पृष्ठभूमि पर आधारित ऐसे हिन्दुस्तानी-अँग्रेज़ी गठबन्धन की उम्मीद ज़ाहिर की थी जो उनके मुताबिक़ अँग्रेज़ी साम्राज्य को 'आर्य साम्राज्य' में रूपान्तरित कर देती।[५७] उन्होंने लिखा था कि 'अगर अँग्रेज़ी साम्राज्य हिन्दुस्तान को उसकी आज़ादी के लिए अनिवार्य शासन-पद्धति से लैस कर दे', तो वे और अन्य क्रान्तिकारी नेता अब 'ब्रिटिश साम्राज्य के साथ मैत्री स्थापित करने को तैयार और उत्सुक हैं।'[५८]

१९२१ में दूसरे क़ैदियों के साथ अपनी चर्चा के दौरान सावरकर ने गाँधी द्वारा चलायी जा रही स्वाधीनता की राष्ट्रव्यापी मुहिम की यह कहकर निन्दा की थी कि वह 'अहिंसा और सत्य के विकृत सिद्धान्त से हासिल की जाने वाली थी। स्वराज के लिए चलाया गया इन दो सिद्धान्तों पर आधारित असहयोग आन्दोलन एक शक्तिहीन आन्दोलन था जिससे देश की शक्ति का विनाश सुनिश्चित था। यह एक मरीचिका है, एक विभ्रम है, जो उस समुद्री तूफ़ान से भिन्न नहीं है जो जिस ज़मीन से होकर गुज़रता है उसको सिर्फ़ उजाड़ता ही है। यह विक्षिप्तता की बीमारी है, एक महामारी और अहंकार का उन्माद।'[५९]

१९२१ में अँग्रज़ों ने सावरकर को अण्डमान द्वीप से हटाकर रत्नागिरि स्थित हिन्दुस्तान के एक अधिक सह्य कारावास में भेज दिया, जहाँ वे जेल के पुस्तकालय के प्रभारी बन गये। १९२३ में उनको वहाँ से यरवदा जेल भेज दिया गया, जहाँ उनको जेल कारख़ाने का मुखिया बना दिया गया और कक्षाओं में पढ़ाने की इजाज़त दे दी गयी। उन्होंने अपनी इस नयी आज़ादी का इस्तेमाल हाल ही में क़ैद किये गये सत्याग्रहियों के विचारों को बदलने के लिए किया।

उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा था कि 'मैंने यहाँ गाँधी के इन तमाम अनुयायियों की तीखी आलोचना की ताकि उनकी आँखों पर पड़ा परदा हट सकता...। चरखा कातकर स्वराज हासिल करना, हिन्दुओं के कर्तव्य के रूप में मुसलमानों के ख़िलाफ़त आन्दोलन का समर्थन करना, और अहिंसा की हास्यास्पद परिभाषाएँ, इन सबकी मैंने अकाट्य तर्कों और इतिहास के हवालों के माध्यम से धज्जियाँ उड़ा दीं।'[६०]

गाँधी खुद भी उसी समय यरवदा जेल के एक क़ैदी थे जब सावरकर वहाँ थे। गाँधी उस साम्राज्य के ख़िलाफ़ देशद्रोह के आरोप में क़ैद थे जिसके प्रति अब सावरकर वफ़ादारी की पैरवी कर रहे थे। गाँधी, जोकि साम्राज्य के एक भूतपूर्व वफ़ादार नागरिक हुआ करते थे, अब उसके सबसे प्रमुख विरोधी बन गये थे, जबकि प्रसिद्ध विद्रोही सावरकर ने अँग्रेज़ों से वादा किया था कि वे अपनी रिहाई के बदले में राजनैतिक कार्रवाई से दूर रहेंगे।

सावरकर ने साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का वचन यरवदा में बम्बई के अँग्रेज़ गवर्नर सर जॉर्ज लॉयड को दिये गये एक साक्षात्कार में दिया था। उन्होंने अपनी रिहाई के लिए गवर्नर द्वारा रखी गयी इस शर्त को स्वीकार किया था कि वे न तो रत्नागिरि ज़िले के बाहर जाएँगे और न ही किसी राजनैतिक गतिविधि में मुब्तिला होंगे। सावरकर को यरवदा जेल से ६ जनवरी १९२४ को रिहा कर दिया गया।[६१]

उन्होंने अँग्रेज़ों के सामने अपने घुटने टेक देने का औचित्य यह कहते हुए प्रतिपादित किया था कि वे एक बन्दी बना लिये गये सेनापति थे, और अपनी तुलना उन्होंने भगवान कृष्ण से की थी : 'युद्धबन्दी सेनापति युद्ध संचालित नहीं कर सकते और रणभूमि में नहीं आ सकते। वे अपनी निष्ठा का वचन देने के बदले जमानत पर छोड़ दिये जाते हैं, उन भगवान कृष्ण की तरह जो इस बात पर राज़ी हो गये थे कि वे पूरे युद्ध के दौरान अस्त्र नहीं उठाएँगे। और उनके इस समझौते को कोई अपमानजनक चीज़ की तरह नहीं देखा गया था।'[६२]

सावरकर ने अपने संस्मरणों में अपनी रिहाई से पहले अपने साथी क़ैदियों के साथ हुई एक बातचीत को बयान किया था। लगता है जैसे इन लोगों द्वारा उनको दी गयी विदाई ने उनको १९०९ में लन्दन में गाँधी के साथ हुई बहस के विषय की याद दिला दी थी : रामायण में वर्णित रावण पर राम की विजय, पाप पर पुण्य की विजय। वे याद करते हुए लिखते हैं कि उनके समर्थकों ने १९२४ की उनकी रिहाई को महाकाव्यात्मक पदावली में यह कहते हुए घोषित किया था कि ''सावरकर, अपने देश से आपका निर्वासन वैसा ही था जैसे राम का निर्वासन था, जिनको चौदह बरस के लिए वनवास में जाना पड़ा था...। आपने भी उसी तरह की कठिन परीक्षाओं, कष्टों और अपने प्रियजनों के वियोगों को झेला है।'' सावरकर कहते हैं कि उन्होंने इसके जवाब में कहा था :

इस तुलना में एक बहुत बड़ी चूक है। राम को देशनिकाला दिया गया था, लेकिन राम ने रावण को ख़त्म कर युद्ध को जीत लिया था। मुझे भी देशनिकाला दिया गया और उसकी पीड़ाओं को मैंने झेला, लेकिन रावण अभी भी ज़िन्दा है। मैं स्वयं को तभी आज़ाद महसूस करूँगा जब यह काम पूरा हो जाएगा। ईश्वर की कृपा बनी रही तो यह काम उसी तरह खुद-ब-खुद पूरा हो जाएगा जिस तरह वे दूसरे छोटे-छोटे काम हुए हैं जिनमें मैंने हाथ डाला है। एक दिन, कभी, यह काम भी हो जाएगा और तब आप फ़र्क को समझ सकेंगे, और तब वह घटना आपको बहुत पीड़ा पहुँचाएगी।[६३]

'एक दिन, कभी' रावण की हत्या के माध्यम से राम की विजय के नाटक की पुनर्प्रस्तुति, जो ''आपको पीड़ा पहुँचाएगी', की सावरकर की यह भविष्यवाणी उनके जेल-संस्मरणों के अँग्रेज़ी अनुवाद में शामिल की गयी थी। सावरकर द्वारा जाँचा गया यह अनुवाद १९५० में,[६४] सावरकर के चेलों की मण्डली द्वारा की गयी गाँधी की हत्या के दो साल बाद प्रकाशित हुआ था।

१९२४ में समुद्र तट के एक छोटे-से नगर रत्नागिरि में रिहाई के बाद सावरकर वाक़ई राजनैतिक गतिविधियों में तो मुब्तिला हुए, लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया जिससे अँग्रेज़ अधिकारी परेशान होते। रत्नागिरि की जेल में रहते हुए सावरकर ने अपनी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक हिन्दुत्व : *व्हाट इज़ अ हिन्दू?* लिखी थी, जो उनके द्वारा नयी-नयी अपनायी गयी हिन्दू राष्ट्रवादी विचारधारा की उद्घोषणा करने वाला निबन्ध था। जेल के बाहर वे अपनी आक्रामक रूप से मुस्लिम-विरोधी और सांस्कृतिक रूप से हिन्दूवादी विश्वदृष्टि के प्रमुख प्रचारक बन गये थे। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वे जिस तरह के दोटूक विभाजन को प्रोत्साहित कर रहे थे, वह व्यावहारिक तौर पर 'बाँटो और राज करो' की अँग्रेज़ों की रणनीति का एक हिन्दुस्तानी अनुमोदन था।

मार्च १९२५ में रत्नागिरि में सावरकर के शुरुआती मुलाक़ातियों में एक के.बी. हेडगेवार थे, जो एक चिकित्सक थे और हाल में प्रकाशित सावरकर की पुस्तक हिन्दुत्व से प्रेरित थे। हेडगेवार ने सावरकर से परामर्श किया कि उनकी हिन्दू राष्ट्रवादी कल्पना को किस तरह साकार किया जाए। इस विचार-विमर्श के बाद हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) की स्थापना की,[६५] जिसके सीधे-सादे नाम के पीछे एक ऐसा संगठन छिपा हुआ था जो सचेत ढंग से मुसौलिनी की फ़ासीवादी ब्लैकशर्ट्स मुसौलिनी की राष्ट्रीय फ़ासीवादी पार्टी का अर्धसैनिक धड़ा 'राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सक्रिय स्वयंसेवी नागर सेना', की नक़ल करता था।[६६] यह आरएसएस बीसवीं सदी के अन्त में हिन्दुस्तान में राजनैतिक सत्ता हासिल करने के उद्देश्य से मुसलमानों को आतंकित करने के लिए कुख्यात होने वाला था। जिस समय सावरकर ने एक नया विचारधारात्मक अनुयायी वर्ग तैयार करने की शुरुआत की थी, तब १९२७ में गाँधी रत्नागिरि के उनके घर पर उनसे एक दोस्ताना मुलाक़ात करने गये थे। यह दोनों की आख़िरी मुलाक़ात थी। मुलाक़ात के बाद जब गाँधी वहाँ से निकल रहे थे, तो उन्होंने सावरकर से कहा, 'आप जो भी प्रयोग कर रहे हैं, उनकी क़ीमत राष्ट्र को चुकानी पड़ेगी।'[६७]

१९२९ में डाक विभाग के एक कर्मचारी को रत्नागिरि स्थानान्तरित किया गया। गोडसे के परिवार के नगर में आने के तीन दिन बाद, विनायक का उन्नीस साल का बेटा नाथूराम पहली बार सावरकर से मिलने गया। जैसा कि नाथूराम के छोटे भाई और गाँधी की हत्या के षडयन्त्र में शामिल गोपाल ने लिखा है, नाथूराम तब अक्सर सावरकर से मिलने जाया करते थे...। नाथूराम ने ख़ुशी-ख़ुशी वीर सारकर के लेखन की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का काम सँभाल रखा था।'[६८] नाथूराम की इस समर्पण-भावना से प्रभावित होकर सावरकर ने उसको अपना सचिव नियुक्त कर लिया।[६९] नाथूराम आरएसएस में भी भर्ती हो गया, जहाँ अन्त में वह उसकी एक शाखा के 'अकादमिक विभाग' का मुखिया बन गया।[७०] नाथूराम को एक ऐसा पेशा हाथ लग गया था जिसमें वह आजीवन लगा रहने वाला था - सावरकर की शिक्षाओं के अनुसरण, प्रचार और क्रियान्वयन का पेशा।

१९३० में, सावरकर ने हिन्दू महासभा नामक एक मुसलमान-विरोधी, सैन्योन्मुख संगठन तैयार करने में मदद की। वे १९३७ से १९४४ तक इस महासभा के अध्यक्ष रहे। जब दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हुआ, तो सावरकर ने हिन्दू नौजवानों से अँग्रेज़ों के नेतृत्व वाले सैन्य बलों में शामिल होने का अनुरोध किया ताकि वे 'एक लड़ाकू नस्ल में पुनर्जन्म ले सकते।'[७१] उनका १९४० का नारा हिन्दू राष्ट्रवाद के साथ युद्धपरक उद्यम का गठजोड़ क़ायम करने वाला था : 'सारी राजनीति का हिन्दूकरण करो और हिन्दुत्व का सैन्यीकरण करो।'[७२]

सावरकर के अनुयायियों की साजिश से जुड़ी १९४४ की एक दूसरी घटना एक बार फिर गाँधी की हत्या की पूर्वसूचना देने वाली थी। यह पहली घटना – सितम्बर १९४४ – के दो महीने बाद की है, जब गाँधी मोहम्मद अली जिन्ना के साथ वह बातचीत करने वाले थे जिसको लेकर उनको उम्मीद थी कि वह इस मुसलमान नेता के साथ एकता क़ायम करने वाली साबित होगी। नाथूराम गोडसे समेत नौजवानों का एक और समूह गाँधी के सेवाग्राम आश्रम में पहुँचा, जिसने गाँधी को जिन्ना से मिलने से रोकने के लिए सार्वजनिक रूप से शपथ ली। इन लोगों ने इस मुलाक़ात के लिए गाँधी को आश्रम से बाहर जाने से रोकने की तैयारी के सिलसिले में आश्रम के द्वार को घेर लिया। जब पुलिस ने इन आदमियों को गिरफ़्तार कर उनकी तलाशी ली, तो उन्होंने पाया कि एक व्यक्ति ने अपने पास '७½ इंच लम्बा एक पैना चाकू छिपा रखा था।'[७३]

गाँधी के सचिव प्यारेलाल ने गाँधी पर लिखी अपनी जीवनी में उस बातचीत का वर्णन किया है जो उस दिन गिरफ़्तार करने वाले एक अधिकारी तथा उस आदमी के बीच हुई थी जिसने वह चाकू छिपा रखा था :

उस अधिकारी ने मज़ाक के लहज़े में कहा, 'जो भी हो, तुम्हें एक शहीद होने का सन्तोष तो मिल ही गया।'

उस आदमी ने फुर्ती से जवाब दिया, 'नहीं, वह तब मिलेगा जब कोई व्यक्ति गाँधीजी की हत्या कर देगा।'

अधिकारी ने कहा, 'यह मसला हल करने की ज़िम्मेदारी तुम नेताओं पर ही क्यों नहीं छोड़ देते? उदाहरण के लिए, सावरकर आकर यह काम कर सकते हैं।'

उस आदमी ने जवाब दिया, 'यह गाँधीजी के लिए कुछ ज़्यादा ही बड़ा सम्मान देना होगा। इस काम के लिए (अपने बग़ल में खड़े आदमी की ओर संकेत करते हुए) जमादार ही काफ़ी होगा।'[७४]

प्यारेलाल टिप्पणी करते हैं : 'जिस आदमी को जमादार कहा गया था वह उस घेराबन्दी में उसका साथ देने वाला व्यक्ति – नाथूराम विनायक गोडसे था – गाँधी का भावी हत्यारा।'

गाँधी की हत्या, जिसे वास्तव में गोडसे ने अंजाम दिया था, का सन्दर्भ यह था कि गाँधी ने १२ जनवरी १९४८ की दिल्ली की अपनी प्रार्थना-सभा में यह ऐलान किया था कि अगले दिन से वे आमरण अनशन पर बैठने वाले हैं। उन्होंने कहा था कि 'मैं हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों के बीच हार्दिक मैत्री के लिए लालायित हूँ।'[७६] पिछले डेढ़ साल से हिन्दू, सिख और मुसलमान एक दूसरे की हत्याएँ करने में लगे थे, जिनके परिणामस्वरूप और जिनकी वजह से अँग्रेज़ी हुकूमत द्वारा अगस्त १९४७ में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नामक दो नये स्वाधीन देशों के रूप में उस देश विभाजन किया गया था जो इसके पहले तक एक हिन्दुस्तान हुआ करता था। बड़ी तादाद में हिन्दुओं और सिखों को पाकिस्तान से, और लगभग उतने ही मुसलमानों को हिन्दुस्तान से निकाल बाहर कर दिया गया था। दोनों तरफ़ के हज़ारों लोग मर गये थे, मर रहे थे, या अपने शत्रुओं से जान बचाकर भाग रहे थे।

गाँधी व्याकुल थे। उन्होंने कहा था :

एक समय था जब इस बात पर किसी को भरोसा नहीं होता था कि हिन्दुस्तान अहिंसा के रास्ते स्वाधीनता हासिल कर सकेगा। लेकिन अब जबकि स्वाधीनता एक हक़ीक़त बन चुकी है, हम अहिंसा को अलविदा कह रहे हैं...। अगर हिन्दुस्तान को अब अहिंसा की कोई ज़रूरत नहीं रह गयी है, क्या उसे मेरी ज़रूरत भी रह गयी हो सकती है? मुझे ज़रा भी अचरज नहीं होगा अगर राष्ट्रीय नेता मेरे प्रति सारा सम्मान व्यक्त करने के बावजूद एक दिन यह कहें कि ''इस बुड्ढे से हम तंग आ चुके हैं। ये हमें अकेला क्यों नहीं छोड़ देता?[७७]

अक्टूबर १९४६ में गाँधी हताशा के शिकार हो गये। उन तक ख़बरें पहुँचीं कि पूर्वी बंगाल के मुस्लिम-बहुल आबादी वाले नोआखाली ज़िले के मुसलमान हिन्दुओं का जनसंहार कर रहे हैं। इसके बदले में हिन्दू-बहुल आबादी वाले बिहार प्रान्त के हिन्दू मुसलमानों का जनसंहार कर रहे थे। हिन्दू-मुसलमान-एकता का जो सपना गाँधी आजीवन देखते आये थे, वह अँधेरे में डूब रहा था। उन्होंने तुरन्त नोआखाली जाने का निश्चय किया।

उन्होंने एक दोस्त से कहा था, 'मैं नहीं जानता, मैं वहाँ जाकर क्या कर पाऊँगा, मैं तो सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि जब तक मैं वहाँ नहीं जाऊँगा तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।' उनका विचार सिर्फ़ नोआखाली के लोगों तक, वहाँ के हिन्दुओं और मुसलमानों तक पहुँचने का, और जो ईश्वर कराता, उसे करने का था। विचार जब तक कार्यरूप नहीं लेता तब तक वह अशक्त बना रहता है। उन्होंने कहा कि 'लेकिन अपनी नवजात पवित्रता से युक्त और हमारे अस्तित्व की अविभाजित उत्कटता से लैस एक क्रियात्मक विचार शक्ति का पुंज बन सकता है और इतिहास रच सकता है।'[७८]

नोआखाली एक डेल्टा पर स्थित चालीस वर्ग किलोमीटर में फैला सघन बसावट वाला क्षेत्र था, जहाँ तक सिर्फ़ जलमार्ग से, वनस्पतियों से ढँकी पगडण्डियों के रास्ते, और नाज़ुक पुलों से होकर ही

पहुँचा जा सकता था।[७६] इसकी आबादी में १,८००,००० मुसलमान और ४००,००० हिन्दू शामिल थे। ये अल्पसंख्यक हिन्दू भूमिपति और व्यवसायी थे। उनने उन मुसलमान कामगारों के मन में बैठे अन्याय के अहसास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था जिनने, अन्यत्र हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों के मारे जाने के क़िस्सों से क्रोधित होकर नोआखाली के हिन्दुओं पर वहशियाना हमले कर दिये थे।[८०]

गाँधी उन गाँवों में गये जो सबसे ज़्यादा प्रभावित हुए थे। इन सभी जगहों पर एक ही तरह की हालत थी - थोड़े-से हिन्दू परिवारों की जिन झोपड़ियों को जलाकर राख कर दिया गया था, वे बड़ी तादाद में मुसलमानों के घरों से घिरी हुई थीं। इस तरह के ज़्यादातर इलाक़ों के हिन्दू मार दिये गये थे, जिनके शवों के जले हुए अवशेष और अस्थियाँ जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े थे। अन्य हिन्दू भाग गये थे। जो बचे रह गये थे, उनके चेहरों पर वीरानी छायी हुई थी। वे गहरे सदमे और आतंक में रह रहे थे। ज़्यादातर मुसलमान गाँधी के सवालों के जवाब में साफ़ मुकर गये। उस भयावहता की ज़िम्मेदारी लेने को कोई तैयार नहीं था, जो चारों तरफ़ पसरी हुई थी।

लेकिन जहाँ गाँधी यह देख रहे थे कि बंगाल में किस तरह बहुसंख्यक मुसलमानों ने हिन्दुओं की मारकाट की थी, वहीं उनको वे ख़बरें भी सुनने को मिल रही थीं कि किस तरह बिहार में बहुसंख्यक हिन्दू मुसलमानों के क़त्ल कर रहे थे।[८१]

१८ नवम्बर १९४६ की अपनी प्रार्थना-सभा में गाँधी ने उस ख़ौफ़ का वर्णन किया था जिसे उन्होंने नोआखाली में सर्वत्र देखा था। इसी के साथ उन्होंने इस बारे में भी बात की थी कि इस ख़ौफ़ पर किस तरह विजय पायी जा सकती थी :

जितना ही मैं इन इलाक़ों में गया, उतना ही मैंने पाया कि भय आपका सबसे बड़ा दुश्मन है। आतंकवादी और आतंकित, दोनों ही समान रूप से इसके शिकार होते हैं। यह उनके मर्मस्थलों को नष्ट कर देता है। आतंकवादी को अपने शिकार से किसी चीज़ का भय होता है, वह आतंक के शिकार व्यक्ति का वह मज़हब हो सकता है, जो आतंकवादी के मज़हब से भिन्न होता है, या वह आतंक के शिकार व्यक्ति की दौलत हो सकती है...।

लेकिन ऐसा कोई इन्सान न कभी हुआ है और न होगा जो किसी ऐसे इन्सान को डरा सके जिसने भय को अपने हृदय से निकाल फेंका है क्योंकि ईश्वर हमेशा निर्भय व्यक्ति के साथ होता है। अगर हम ईश्वर को अपना एकमात्र आश्रय बना लें, तो हमारे सारे भय जाते रहेंगे। जब तक आप अपने अन्दर निर्भीकता को विकसित नहीं करते, तब तक इन इलाक़ों में हिन्दुओं को या मुसलमानों को शान्ति नहीं मिल पाएगी।[८२]

निर्भीकता का अर्थ था आतंक में डूबे क्षेत्र के भीतर अकेले चलते चले जाना। विचार आतंक से लड़ने के लिए एक कार्य-योजना की माँग करता था, जिसमें गाँधी अपने सहकर्मियों के साथ साझा

करते। उन्होंने मुट्ठीभर सत्याग्रहियों को आमन्त्रित किया जो उनके साथ निडरता को जीने के लिए आतंक में डूबे नोआखाली के एक के बाद एक गाँव में फैल गये थे। उनमें से हरेक सामूहिक हत्या के कुकर्मियों और उनके शिकारों के बीच अकेला रह रहा था। वे 'उस गाँव के हिन्दुओं की सुरक्षा और हिफ़ाज़त की ख़ातिर स्वयं को बन्धक बनाने के लिए'[८३] मौजूद थे। वे जले हुए और तहस-नहस कर दिये गये मकानों की सफ़ाई करते, घरों का पुनर्निर्माण करते, समुदाय की सेवा करते, और हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच धीरे-धीरे आपसी विश्वास को फिर से स्थापित करते। जो हिन्दू आतंक से घबराकर भाग गये थे, उनकी सुरक्षित, शान्तिपूर्ण वापसी के लिए वे मुसलमानों से मदद माँगते। निर्भीकता की ख़ातिर हर सत्याग्रही अपना रचनात्मक काम अकेले करता था या करती थी, जिसके लिए वह सम्बन्धित गाँव के लोगों की मदद पर निर्भर होता था/होती थी।[८४] उद्देश्य था निर्भीक अहिंसा के माध्यम से नोआखाली से आतंक को हटाना।

गाँधी के दल के एक शंकालु व्यक्ति ने कहा, 'आप ऐसे लोगों से संवेदनशीलता की उम्मीद कैसे कर सकते हैं जो आपके ख़ून के प्यासे हैं? अभी हाल ही में आपके दो कार्यकर्ताओं की हत्या कर दी गयी थी।'

'मुझे मालूम है,' गाँधी ने कहा, 'इसी ग़ुस्से को क़ाबू में करना हमारा काम है।'

उन्होंने अपने एक दोस्त को लिखा था : 'मैं जिस काम में यहाँ लगा हूँ, वह हो सकता है मेरा आख़िरी कर्म हो। अगर मैं यहाँ से ज़िन्दा और सकुशल लौट आता हूँ, तो यह मेरे लिए पुनर्जन्म प्राप्त करने जैसा होगा। मेरी अहिंसा की यहाँ जिस तरह बार-बार परीक्षा ली जा रही है, वैसी कभी नहीं ली गयी।'[८५]

जनवरी १९४७ में श्रीरामपुर गाँव में रहने के बाद गाँधी ने आतंकग्रस्त इलाक़े में पैदल चलते हुए रोज़मर्रा तीर्थयात्रा की शुरुआत की। सात सप्ताहों के भीतर उन्होंने ११६ मील चलते हुए ४७ गाँवों का भ्रमण किया।[८६]

हर रोज़ सुबह ७:३० बजे सूरज के उगने के साथ गाँधी अपनी यात्रा पर निकल पड़ते - रवीन्द्रनाथ ठाकुर का गीत 'एकला चलो' गाते हुए, जो उनकी इस तीर्थयात्रा के मूल विचार को व्यंजित करता था :

अकेले चलो

अगर तेरी पुकार सुन कोई न आये तो फिर अकेला चल;
अगर वे सब डर के मारे दीवार की ओर मुँह मोड़ लें,
तो हे अभागे,
तू डरे बिना मुक्त-कण्ठ अपनी बात कह।

जब निर्जन वनप्रान्तर में वे तुझे अकेला छोड़कर चले जाएँ,
तो ओ अभागे,
पथ के कण्टकों को अपने पैरों से कुचलता हुआ
ख़ून से लथपथ रास्ते पर तू अकेला चल।

जब प्रभंजन से भरी अँधेरी रात में
कोई दीपक उठा तुझे रोशनी न दिखाए,
ओ अभागे,
तू अपनी पीड़ा की बिजली से अपने हृदय को जला
और उसे अकेला जलने दे।[८७]

आकाश और हरियाली की पृष्ठभूमि में गाँधी को ऊँचे खम्भों पर टिके बाँस के पुल, शैंको, को पार करते हुए देखा जा सकता था। सतहत्तर साल की उम्र में ख़तरनाक ढंग से फिसलन-भरे पुलों पर अपना रास्ता बनाते हुए चलने के लिए सबसे पहले मदद की ज़रूरत थी। लेकिन उन्होंने एक दिन में चार बार कम ऊँचाई वाले पुलों पर अभ्यास करने के बाद कहा, 'मुझे इसे अकेले ही पार करना होगा।'[८८] वे जल्दी ही हर शैंको पर निर्भय होकर चलने लगे (जैसाकि इस पुस्तक के आवरण की तस्वीर में देखा जा सकता है)।

उन्होंने दूसरी बाधाओं का सामना भी किया - उनके रास्ते पर छोड़ दिया गया इन्सानी मल, कभी कोई उनके चेहरे पर थूक देता, हत्या कर दिये जाने का निरन्तर ख़तरा।[८९] जैसे ही वे हर सुबह हल्की रोशनी में डूबे खेतों से होकर गुज़रते, तो वे काम पर जाते मुसलमान किसानों को सलाम करते जाते थे।[९०]

गाँधी से भयभीत दुर्भावना-ग्रस्त नेताओं की चेतावनियों के बावजूद, लोग इस तीर्थयात्री के दुआ-सलामों का जवाब देते थे। वे उनकी सान्ध्यकालीन प्रार्थना-सभाओं में शामिल होते थे।[९१] लेकिन वहाँ पर भी गाँधी को मौत के ख़तरे का सामना करना पड़ा। इस तरह की तकरारों को वे पुलिस की मदद के बिना खुद ही निपटा लेते थे, जैसा कि एक संवाददाता ने देखा था, जिसने लिखा था :

गाँधी ने सरकार के साथ ऐसा निश्चित कर रखा था कि उनकी प्रार्थना-सभाओं के दौरान किसी को गिरफ़्तार न किया जाए। एक मुसलमान आया जो महात्मा से अप्रभावित था। उसने महात्मा का गला पकड़ लिया और उसे उनका दम घुटने और चेहरा नीला पड़ने तक दबाये रहा। इस सबके बीच गाँधी मुस्कराते रहे, बल्कि हँसते रहे। प्रतिरोध और असन्तोष तक के उस अभाव ने हमलावर को इस क़दर हतोत्साहित कर दिया कि उसने उनका गला छोड़ दिया। बाद में वह आया और महात्मा

के पैरों पर गिर पड़ा और अपने उस कृत्य के लिए माफ़ी माँगने लगा।[६२]

धीरे-धीरे आतंक से परे की शक्ति की दिशा में गाँधी की इस तीर्थयात्रा ने नोआखाली पर एक असर डाला, जिसमें उनके सहकर्मियों द्वारा सम्बन्धित गाँवों में किये गये रचनात्मक काम ने भी योगदान किया था। उनकी मौजूदगी ने हिन्दू और मुसलमान, दोनों में साहस को विकसित किया।

विभाजन-पूर्व की हिंसा के एक सर्वेक्षण में न्यायमूर्ति जी.डी. खोसला ने नोआखाली में गाँधी के अहिंसक प्रतिबल को इन शब्दों में बयान किया था : 'गाँधी ने विक्षिप्त नोआखाली में विवेक और मानसिक सन्तुलन की रोशनी पैदा की थी। बड़ी तादाद में मुसलमानों ने आगे बढ़कर हिन्दू अल्पसंख्यकों की हिफ़ाज़त का वचन दिया। आत्मविश्वास एक बार फिर लौटा, और हिन्दुओं ने अपने दिलों से ख़ौफ़ को निकाल बाहर कर अपने घरों को वापस लौटना शुरू कर दिया।'[६३]

नोआखाली की अग्नि-परीक्षा ने अहिंसा को नहीं मारा। इसने सत्याग्रह की ताक़त में गाँधी की आस्था को और भी मज़बूती प्रदान की।[६४] इसके बाद वे मुसलमानों के जनसंहार में लगे उस हिन्दू आतंकवाद से लड़ने बिहार गये, और अन्ततः कलकत्ता और दिल्ली गये, जिसके दुष्चक्र को सिर्फ़ अहिंसा के रास्ते ही ख़त्म किया जा सकता था।

नोआखाली से लेकर बिहार, कलकत्ता और दिल्ली तक गाँधी एक ऐसा तड़ितदण्ड (लाइटनिंग रॉड) बन गये थे जो एक ओर उन इलाक़ों के मुसलमानों की हिंसा को अपने में सोख रहा था जिनको मुसलमान पाकिस्तान की ख़ातिर हिन्दुओं से ख़ाली करवाना चाह रहे थे, और दूसरी ओर उन हिन्दुओं की हिंसा को सोख रहा था जो मुसलमानों से रहित एक शुद्ध हिन्दुस्तान चाहते थे। दिल्ली में इस अन्धड़ के केन्द्र में जहाँ हिन्दुओं का वर्चस्व था, गाँधी पर इसलिए हमला किया गया क्योंकि वे मुसलमानों का पक्ष ले रहे थे, जोकि उस सन्दर्भ में सच था। वे हमेशा अल्पसंख्यकों का पक्ष लेते थे। वे स्वयं को हमेशा उन लोगों से तदात्म करके देखते थे जो सबसे ज़्यादा वध्य स्थिति में होते थे, वे लोग जिनको नजरेथ के ईसा ने 'इनमें से अल्पतम' ('लीस्ट ऑफ़ दीज़')[६५] कहा था। कभी मुसलमान, कभी हिन्दू या सिख, और हमेशा ही अछूत या हरिजन (जैसा कि गाँधी वर्ण-व्यवस्था के सबसे निचले पायदान के इन लोगों को पुकारते थे) - 'इनमें से अल्पतम' की यह पहचान राजनैतिक या सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करती थी। गाँधी निचले पायदान के इन लोगों के साथ जिये और उन्हीं के लिए मरे।

जनवरी में १९४८ में हिन्दुस्तान की हिन्दुओं के वर्चस्व वाली राजधानी दिल्ली में मुसलमानों के पक्षधर बन चुकने के बाद गाँधी के सिर पर मँडराता ख़तरा गहरा गया था। दक्षिणपन्थी हिन्दुओं ने स्वयं को गाँधी की अपनी कॉंग्रेस पार्टी के ख़ास तत्त्वों के साथ मिला लिया था। सावरकर के अनुयायी सरकार के मन्त्रीमण्डलीय और प्रशासनिक पदों पर थे।[६६] हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उग्रवादियों ने हिन्दुस्तान के सुरक्षा बलों में भी घुसपैठ कर ली थी। प्रमुख पुलिस अधिकारी गाँधी

के विविधतापूर्ण, धर्मनिरपेक्ष संघ के लोकतान्त्रिक आदर्श की बजाय एक पूरी तरह से हिन्दू राष्ट्र के प्रति ज़्यादा प्रतिबद्ध थे।[९७] अगर सम्भावित रूप से मुसलमानों के पक्षधर एक सत्याग्रही पर उन लोगों द्वारा हमला किया जाता जिनके प्रति पुलिस हमदर्दी रखती थी, तो इन अधिकारियों पर इस सत्याग्रही के जीवन की रक्षा करने का भरोसा नहीं किया जा सकता था। इस तरह राज्य की पुलिस ने गाँधी की हत्या के लिए परिप्रेक्ष्य उपलब्ध कराया।

गाँधी जानते थे कि वे अपना बचा-खुचा जीवन एक ज्वालामुखी पर जी रहे थे। वे अपने सहकर्मियों से लगातार कहते रहते थे, 'आप देखते नहीं? मैं अपनी चिता पर सवार हूँ।' क्या वे हालात के संकेतों को नहीं समझ पा रहे थे? वे उनकी मृत्यु के संकेत थे। उन्होंने यह कहते हुए अपनी चेतावनी पर बल दिया था कि 'आपको यह मालूम होना चाहिए कि यह एक लाश है जो आपसे यह बात कह रही है।'[९८]

अमंगलकारी विभाजन ने हत्या के लिए मंच तैयार कर दिया। यह उनके अपने शिष्यों, जवाहरलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल, की भागीदारी से घटित हुआ था, क्योंकि यही लोग स्वाधीनता मिलने के महीनों पहले से चली आ रही अन्तरिम सरकार का नेतृत्व कर रहे थे।

जब फ़रवरी १९४७ में अँग्रेज़ों ने भारत को छोड़कर चले जाने के अपने इरादे का ऐलान कर दिया, तो उन्होंने सत्ता के हस्तान्तरण की शुरुआत की, जो उतना ही विभाजनकारी था जितनी विभाजनकारी उनकी हुकूमत थी। सत्ता के हस्तान्तरण के बारे में गाँधी की काँग्रेस पार्टी से एक तरह की बात करते हुए, और मोहम्मद अली जिन्ना तथा मुस्लिम लीग से दूसरी तरह की बात करते हुए, अँग्रेज़ों ने 'बाँटो-और-राज करो' की अपनी रणनीति को जारी रखा। इसका नतीजा हिन्दुस्तान के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के रूप में सामने आया।[९९]

१९४७ के पहले दो महीनों के दौरान नोआखाली की यात्रा करने के बाद गाँधी ने पाया कि जिन्ना और नेहरू ने उनकी जानकारी के बिना स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य के लिए जिन्ना द्वारा चलायी जा रही उस हिंसक मुहिम के सामने घुटने टेक दिये थे, जिसको विभाजन के पक्षधर अँग्रेज़ी प्रशासन के दबाव से बल मिला हुआ था।[१००] पाकिस्तान बनने की छूट के साथ विभाजन के लिए नेहरू और पटेल के अनुमोदन ने गाँधी के इन भूतपूर्व प्रतिनिधियों तथा काँग्रेस के दूसरे नेताओं को, अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों द्वारा महीनों से डाली जाती रही रुकावट का सामना करने के बाद, अन्ततः हिन्दुस्तान की स्वाधीन सरकार में निर्विघ्न शक्ति हासिल करने में सक्षम बना दिया। पाकिस्तान के रूप में स्वतन्त्र राज्य की ख़ातिर मुस्लिम नेताओं के हट जाने ने नेहरू और पटेल को मुक्ति का वह अहसास कराया जिसके साथ वे हिन्दुस्तान पर हुकूमत कर सकते थे। जब अँग्रेज़ों ने गुपचुप ढंग से तय कर दी गयी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सरहदों का खुलासा कर दिया, और लाखों की तादाद

में हिन्दू, मुसलमान और सिख आपसी नरसंहार से घबराकर इन सरहदों के पार भागे, तो गाँधी इस विभाजन के भयावह नतीजों पर क़ाबू पाने के उपायों को तलाशने का संघर्ष कर रहे थे।

विभाजन के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता क़ायम करने के लिए गाँधी द्वारा किये गये दिल्ली के उपवास ने उस हत्यारे फ़ैसले के लिए एक तर्क उपलब्ध करा दिया जो फ़ैसला सावरकर और उनके शिष्य पहले ही ले चुके थे। गाँधी वर्षों से उनके निशाने पर रहे थे। लेकिन उनकी हत्या करने का इससे ज़्यादा उपयुक्त अवसर उनको कभी महसूस नहीं हुआ था। अब हत्यारे गाँधी पर विभाजन का दोषारोपण कर सकते थे, और कुप्रचार का सहारा लेकर उनकी हत्या को हिन्दू राष्ट्रवाद के बचाव के एक कृत्य के रूप में उचित ठहरा सकते थे। अपने गुरु के मार्गदर्शन और आशीर्वाद से एक गिरोह तैयार करने के बाद, नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे सावरकर के प्रमुख हत्यारों की भूमिका निभाने जा रहे थे। गोडसे पूना से प्रकाशित *अग्रणी* नामक उस अखबार का सम्पादक और नारायण आप्टे उसका प्रकाशक था, जो सावरकर के उग्र हिन्दूवाद का प्रचार किया करता था। सावरकर के प्रति उनका रिश्ता पूरी तरह से साष्टांग दण्डवत वाला था। आप्टे ने इसका सार-संक्षेप सावरकर की हिन्दुत्व सम्बन्धी विचारधारा पर केन्द्रित भाषण के लिए लिखे गये अपने एक नोट में इस तरह प्रस्तुत किया था :

नेता :- सावरकर

नीति :- नेता की आज्ञा का पालन करना।

एक नेतृत्व का क्या अर्थ है? सम्बन्ध।

ऊपर से मिले आदेशों का पालन करना।[१०२]

गाँधी द्वारा उनके दिल्ली उपवास की घोषणा के दो दिन पहले गोडसे और आप्टे उन शस्त्रों के लिए ऑर्डर भेज चुके थे, जिनका इस्तेमाल वे हत्या की योजना के क्रियान्वयन के लिए करने वाले थे। यह ऑर्डर उन्होंने १० जनवरी को पूना के हथियार-विक्रेता दिगम्बर बडगे को भेजा था। उन्होंने बडगे से कहा था कि वह आवश्यक विस्फोटक, रिवॉल्वर, और हथगोले १४ जनवरी तक बम्बई-स्थित हिन्दू महासभा के कार्यालय में पहुँचा दे।[१०३] सावरकर बम्बई आ गये थे, जहाँ हत्यारे अपने इस गुरु से अन्तिम निर्देश और आशीर्वाद प्राप्त करने वाले थे। १२ जनवरी की रात, जब गोडसे और आप्टे ने अपने टेलीप्रिण्टर पर गाँधी के उपवास की घोषणा के बारे में पढ़ा, तभी उन्होंने महात्मा की हत्या के लिए लक्ष्य के तौर पर २० जनवरी की तिथि सुनिश्चित कर ली।[१०४]

अपने अन्तिम उपवास के पहले दिन, १३ जनवरी को, गाँधी ने कहा था कि 'मैं तभी अपना उपवास तोड़ूँगा जब दिल्ली में शान्ति बहाल हो जाएगी। अगर दिल्ली में शान्ति बहाल हो जाती है, तो इसका असर न सिर्फ़ पूरे हिन्दुस्तान पर पड़ेगा बल्कि पाकिस्तान पर भी पड़ेगा। जब यह हो जाएगा

तभी एक मुसलमान शहर में अकेला घूम सकेगा।'[१०५]

जिस दौरान गाँधी दिल्ली में अपने उद्योगपति मित्र जी.डी. बिड़ला के घर पर उपवास कर रहे थे, तभी हिन्दुस्तान की सरकार के मन्त्रीमण्डल के सदस्य पास ही में एक अत्यन्त विवादास्पद मुद्दे पर पुनर्विचार करने के लिए बैठक कर रहे थे। जब पिछले अगस्त में अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को स्वाधीनता प्रदान की थी, तो पाकिस्तान अविभाजित हिन्दुस्तान की बाक़ी रक़म में से साढ़े-पाँच करोड़ रुपयों का लेनदार बनता था। लेकिन जब दोनों नये देशों के बीच कश्मीर क्षेत्र की विवादास्पद सरहद को लेकर लड़ाई छिड़ गयी तो हिन्दुस्तान की सरकार ने उस भुगतान को रोक लिया था। मन्त्रीमण्डल के सदस्य जानते थे कि हिन्दुस्तान द्वारा पाकिस्तान को उक्त भुगतान न किये जाने से गाँधी विचलित थे। दूसरी तरफ़, वे इस सम्भावना से भयभीत थे कि अगर पाकिस्तान के लिए उक्त भुगतान कर दिया गया तो उसको उस चीज़ के लिए धन उपलब्ध हो जाएगा जिसे वे कश्मीर पर पाकिस्तान के क़ब्ज़े की कार्रवाई के रूप में देखते थे। हिन्दू-मुसलमान एकता के लिए किया जा रहा गाँधी का आमरण अनशन मन्त्रीमण्डल के इन सदस्यों पर दबाव डालकर, उनको उनकी मानसिक और राजनैतिक सीमाओं के परे धकेल रहा था।

गाँधी के उपवास के दूसरे दिन, १४ जनवरी को गोडसे और आप्टे पूना से चलकर बम्बई में हिन्दू महासभा के कार्यालय में पहुँचे, जहाँ वे बड़गे और उसके नौकर शंकर से मिले। बड़गे खाकी रंग का एक भारीभरकम थैला लेकर आया था। इस थैले में विस्फोटक गन कॉटन (सेल्यूलोज़ नाइट्रेट) की दो पट्टियाँ, यूज़, प्राइमर, और पाँच हथगोले थे। बड़गे, आप्टे और गोडसे हिन्दू महासभा के कार्यालय से चलकर सावरकर के घर गये। बड़गे घर के बाहर इन्तज़ार करता रहा और आप्टे तथा गोडसे विस्फोटकों का थैला लेकर मकान के अन्दर चले गये।[१०६]

अगले दिन आप्टे ने बड़गे से कहा, 'सावरकर ने फ़ैसला किया है कि गाँधीजी, जवाहरलाल नेहरू और सुहरावर्दी को 'ख़त्म' कर दिया जाए और यह काम उन्होंने हमें सौंपा है।'[१०७]

सुहरावर्दी?

ये सुहरावर्दी कौन थे जिनके बारे में सावरकर ने कहा था कि उनको गाँधी और प्रधानमन्त्री नेहरू के साथ 'ख़त्म' कर दिया जाना चाहिए?

अपने विरोधियों के प्रति गाँधी के गहरे विश्वास का उदाहरण उन शहीद सुहरावर्दी के साथ उनकी निरन्तर मैत्री में देखा जा सकता था, जो १९४६-४७ के दौरान बंगाल के मुख्यमन्त्री रहे थे।

जब गाँधी ने १९४७ में बंगाल के नोआखाली ज़िले की अकेले सुलह-यात्रा की थी, तब मुख्यमन्त्री सुहरावर्दी ने उनसे कहीं और चले जाने के लिए कहा था। सुहरावर्दी अल्पसंख्यक हिन्दुओं

के ख़िलाफ़ मुसलमानों की हिंसा को कम करके आँक रहे थे, जबकि इन हिन्दुओं के उत्पीड़न को गाँधी ने प्रत्यक्ष देखा था। अगस्त १९४६ में कलकत्ता में हुए विराट जनसंहार में सुहरावर्दी अपनी सरकार की मिलीभगत के लिए हिन्दुओं के बीच कुख्यात थे। इस हत्याकाण्ड में, मुस्लिम लीग की 'सीधी कार्रवाई' और हिन्दुओं के प्रतिशोध के चार भयावह दिनों के दौरान ४,००० लोग मारे गये थे और ११,००० लोग घायल हुए थे।[१०८] हिन्दू शहीद सुहरावर्दी को अपना परम शत्रु मानते थे,[१०९] जिनके बारे में माना जाता था कि वही कलकत्ता के इस विराट जनसंहार के लिए सबसे ज़्यादा ज़िम्मेदार थे।[११०] लेकिन गाँधी दोनों पक्षों की ज़िम्मेदारी और प्रायश्चित पर बल देते थे और इस मामले में वे किसी को बख़्शने को तैयार नहीं थे। उन्होंने सुहरावर्दी से सम्पर्क किया था, उनको चुनौती देने के लिए, लेकिन उनकी निन्दा करने के लिए नहीं।

कलकत्ता के उत्पात के बाद हुई पहली मुलाक़ात में गाँधी ने व्यंग्यात्मक मुस्कराहट के साथ सुहरावर्दी से पूछा था, 'ये क्या है, शहीद साहब, आपको हर कोई गुण्डों का मुखिया कहकर पुकारता है? ऐसा कोई व्यक्ति नहीं दीखता जो आपके बारे में कोई अच्छी राय रखता हो!'

सुहरावर्दी ने तपाक-से जवाब दिया : 'महात्माजी, क्या लोग आपकी पीठ-पीछे आपके बारे में भी भला-बुरा नहीं कहते?'

'हो सकता है,' गाँधी ने हँसते हुए कहा। 'तब भी कुछ लोग तो हैं ही जो मुझे महात्मा कहते हैं। लेकिन, शहीद सुहरावर्दी, मैंने एक भी आदमी को आपको महात्मा कहते नहीं सुना!'

सुहरावर्दी ने कहा, 'महात्माजी, लोग आपके मूँ पर जो कहते हैं उसपर विश्वास मत कीजिए!'[१११]

यद्यपि सुहरावर्दी गाँधी के साथ चुहल कर सकते थे, लेकिन वे कलकत्ता में हुई हत्याओं के लिए कोई ज़िम्मेदारी लेने को तैयार नहीं थे। उन्होंने गाँधी के उन दोटूक ख़तों को भी ख़ारिज़ कर दिया था जिनमें कहा गया था कि मुख्यमन्त्री की पुलिस नोआखाली में हिन्दुओं के ख़िलाफ़ दंगा करते मुसलमानों को जानबूझकर अनदेखा कर रही थी। सुहरावर्दी ने पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा था कि 'मेरी पुलिस मेरी आँखें और कान है।' अपने निजी अनुभव के आधार पर गाँधी ने कहा था कि 'आँख और कान के रूप में यह पुलिस अन्धी और बहरी है।'[११२]

जहाँ सुहरावर्दी के ख़त झगड़ालू होते गये, वहीं गाँधी ने अपने एक जवाब में उनको 'माइ डियर शहीद' कहकर सम्बोधित किया, इसके बाद उन्होंने उनको उस मुलाक़ात की याद दिलायी जब वे बहुत जवान हुआ करते थे - चरखा कातते एक महत्त्वाकांक्षी सत्याग्रही हुआ करते थे। गाँधी ने याद दिलाया कि किस तरह उन्होंने उनको उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते हुए देखा था, 'हालाँकि आप एक सीधा और महीन धागा भी नहीं खींच पा रहे थे। और फिर, अगर मुझे ठीक-ठीक याद है तो, जब मैंने आपके लिए स्नेह के किसी दूर के रिश्ते के विशेषण का इस्तेमाल किया था, तो आपने मेरी बात में सुधार

करते हुए कहा था कि आप मेरे बेटे की तरह महसूस करते हैं। मैं अभी भी उसी तरह सोचना चाहूँगा कि आप वही शहीद हैं और मुझे गर्व है कि मेरा बेटा बंगाल का मुख्यमन्त्री है।'[१९३]

मई १९४७ में जब सुहरावर्दी काफ़ी बुझ चुके थे और अपनी सत्ता खो रहे थे, तो वे स्वाधीन बंगाल के एकीकरण की मुख्यमन्त्री की योजना पर गाँधी का समर्थन हासिल करने, उनसे मिलने आये। गाँधी ने कहा, 'अतीत की निरी अवहेलना के भीतर से एक नया बंगाल जन्म नहीं ले सकता। अगर अतीत भूलों से भरा हुआ हो, तो जब तक अतीत की उन भूलों को सुधारा नहीं जाता, तब तक लोग नये प्रस्ताव की ईमानदारी पर भरोसा नहीं कर सकते।'[१९४]

गाँधी के सहयोगी निर्मल बोस ने एक हत्या की जाँच-पड़ताल के काम में राजनैतिक विफलता का मुद्दा उठाया। जब सुहरावर्दी ने एक बार फिर किसी तरह की निजी ज़िम्मेदारी लेने से इन्कार कर दिया, तो गाँधी फट पड़े और उन्होंने कहा, 'हाँ, आप सिर्फ़ उसी हत्या के लिए नहीं बल्कि बंगाल में गयी एक-एक जान के लिए ज़िम्मेदार हैं, वह चाहे हिन्दू की जान हो या मुसलमान की।'

सुहरावर्दी ने पलटकर जवाब देते हुए कहा, 'नहीं, ज़िम्मेदार तो आप हैं, क्योंकि आपने मुसलमानों के साथ अन्याय किया है।'

गाँधी ने कहा, 'बेवकूफ़ी की बात मत करिए।'[१९५]

सुहरावर्दी अगले दिन फिर से संयुक्त सम्प्रभु बंगाल के अपने प्रकरण को सामने रखने के लिए वापस लौटे। उन्होंने स्वीकार किया कि 'इसमें सबसे बड़ी रुकावट यह है कि आज कोई भी हिन्दू मेरी बात नहीं सुनेगा।'

गाँधी ने अपनी पूरी ईमानदारी के साथ मदद की एक अनूठी पेशकश की। उन्होंने कहा, 'मैं आपके सचिव की भूमिका निभाऊँगा। मैं आपके साथ एक ही छप्पर तले रहूँगा। मैं इस बात को सुनिश्चित करूँगा कि हिन्दू कम-से-कम इतना करें कि धीरज के साथ आपकी बात सुनें। क्या आप इस प्रस्ताव को स्वीकार करने को तैयार हैं?'

पहली बार, सुहरावर्दी इस क़दर हक्काबक्का रह गये कि उनसे कोई जवाब देते नहीं बना। वे फुर्ती-से चले गये। बोस उनको उनकी कार तक छोड़ने गये, तो वे बुदबुदाये, 'क्या पागलपन-भरा प्रस्ताव है! इसके अभिप्रायों की थाह लेने के लिए मुझे दस बार सोचना पड़ेगा।'[१९६]

तीन महीने बाद, जब गाँधी कलकत्ता में रुके, तो एक बार फिर उनकी मुलाक़ात हुई। सुहरावर्दी की बंगाल-योजना हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों पक्षों की ओर से अमान्य कर दी गयी थी। मुख्यमन्त्री का उनका कार्यकाल समाप्त होने को था। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच दंगे कलकत्ता में स्थायी हो चुके थे। यह ११ अगस्त १९४७ का दिन था, उससे चार दिन पहले, जब ब्रिटेन हिन्दुस्तान और

पाकिस्तान का बँटवारा कर उनको स्वाधीनता प्रदान करने वाला था। जैसे ही मुसलमान हिन्दुस्तान छोड़कर पाकिस्तान भागे, कलकत्ता के बचे हुए मुसलमानों को पिछले वर्ष कलकत्ता में हुए विराट जनसंहार का हिन्दुओं का पलटवार झेलना पड़ा।

सुहरावर्दी ने गाँधी से कलकत्ता में बने रहने का अनुरोध किया। वह एक जलते हुए नगर में तब्दील हो चुका था। क्या वे शान्ति बहाल होने तक अपने कलकत्ता-प्रवास को लम्बा खींच पाएँगे?[११७]

गाँधी ने कहा, 'अगर मैं और आप साथ रहने को तैयार हों, तो मैं यहाँ बना रहूँगा। ये मेरा आपके सामने दूसरा प्रस्ताव है। हमें तब तक काम करते रहना होगा जब तक कि हर हिन्दू और मुसलमान सुरक्षित ढंग से उस जगह वापस नहीं लौट आता जहाँ पर वह पहले रहता था। हमें आख़िरी साँस तक अपने इस प्रयत्न को जारी रखना होगा।'[११८]

सुहरावर्दी जानते थे कि गाँधी गम्भीर ढंग से बात कर रहे थे। मुसलमान नेता को अहिंसा की आग में आमन्त्रित किया जा रहा था। उनके 'हाँ' कहने के नतीजे जीवन को बदल डालने वाले होते।

गाँधी ने उनको सोच-विचार के लिए वक़्त दिया। 'घर जाइए और अपनी बेटी से सलाह करिए,' उन्होंने कहा, साथ में उन्होंने वह बात भी कह दी जिसके बारे में उनका यह सम्भावित शिष्य पहले से ही जानता था और जिसका उसको डर था कि 'पुराने सुहरावर्दी को मर जाना होगा।'[११९]

अगले दिन सुहरावर्दी ने अपने फ़ैसले की ख़बर गाँधी को भिजवा दी। उन्होंने 'हाँ' कहा।[१२०]

१३ अगस्त को गाँधी और सुहरावर्दी कलकत्ता की बेलियाघाटा झुग्गी बस्ती में एक पुरानी परित्यक्त मुस्लिम कोठी में रहने चले गये। उस पहली ही रात ग़ुस्साये हुए हिन्दू नौजवान मकान के दरवाज़े और खिड़कियाँ तोड़कर अन्दर घुस आये और उनने गाँधी को घेर लिया। उनने कहा कि वे अब अहिंसा का उनका कोई उपदेश नहीं सुनना चाहते। उनने उनसे वहाँ से चले जाने को कहा। गाँधी ने उनको बातचीत में मुब्तिला किया।

उन्होंने पूछा, 'मैं जोकि जन्मजात हिन्दू हूँ, धार्मिक तौर पर हिन्दू हूँ, अपनी जीवन-शैली में हिन्दुओं का हिन्दू हूँ, मैं भला हिन्दुओं का 'दुश्मन' कैसे हो सकता हूँ?'[१२१]

अगले दिन ये नौजवान गाँधी के साथ लम्बी बातचीत करने को वापस आये। सुहरावर्दी उस दौरान गाँधी की बग़ल में बैठे थे। जाते-जाते इन नौजवानों ने वादा किया कि वे अपने दोस्तों को मुसलमानों के साथ सुलह के लिए तैयार कर लेंगे।

सत्य के साथ अपने कलकत्ता-प्रयोग के लिए गाँधी ने एकदम सही साथी का चुनाव किया था। हिन्दुओं के लिए शैतानियत के प्रतीक बन चुके सुहरावर्दी कलकत्ता की चेतना के केन्द्र में थे। जैसा कि गाँधीवादी अध्येता डेनिस डेल्टॅन ने कहा है, 'कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति नहीं हो सकता था जो इतने

अच्छे ढंग से मुसलमानों को सन्देह से निहत्था कर और साथ ही हिन्दुओं के विद्वेष को आकर्षित कर उनको उस 'प्रयोग' की ओर खींच लाता जहाँ उनको अहिंसक ढंग से तटस्थ बनाया जा सकता।'[१२२]

१४ अगस्त को, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की स्वाधीनता की पूर्वसन्ध्या पर दस हज़ार से ज़्यादा लोग गाँधी की प्रार्थना-सभा के अहाते में जमा हो गये। वे चिल्ला रहे थे, 'सुहरावर्दी कहाँ है?' गाँधी ने कहा कि उनकी मौजूदगी से आप भड़क सकते थे और इस स्थिति को टालने के लिए वे घर के अन्दर ही रुके हुए हैं, लेकिन वे अगले दिन की प्रार्थना-सभा में यहाँ होंगे।

जब गाँधी अन्दर चले गये, तो लोगों ने सुहरावर्दी को पुकारते हुए इमारत पर पथराव किया। गाँधी ने एक खिड़की का दरवाज़ा खोला। उन्होंने भीड़ को शान्त किया, सुहरावर्दी को खिड़की पर लाये, और अपने उस दोस्त के कन्धे पर हाथ रखा।

जैसे ही सुहरावर्दी ने बोलने की कोशिश की, भीड़ में से किसी ने चिल्लाकर कहा : 'क्या आप कलकत्ता के विराट हत्याकाण्ड के लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं?'

सुहरावर्दी ने कहा, 'हाँ, हम सभी हैं।'

'क्या आप मेहरबानी करके मेरे सवाल का जवाब देंगे?'

'हाँ, वह मेरी ज़िम्मेदारी थी।'

सुहरावर्दी की आत्मस्वीकृति का यह क्षण विनय और शिष्टाचार का क्षण था। बाद में गाँधी ने कहा था कि 'यह एक निर्णायक अवसर था। इसने लोगों के हृदय के शुद्धीकरण का काम किया। मैं इसे महसूस कर पा रहा था।'[१२३]

१५ अगस्त को, स्वाधीनता दिवस पर, हिन्दुओं और मुसलमानों के जुलूस एक साथ कलकत्ता की सड़कों से होकर गुज़रे। अपने पारस्परिक जश्न के दौरान वे इस तरह व्यवहार कर रहे थे जैसे वे आपसी लड़ाइयाँ भूल चुके थे। गाँधी को इसपर सन्देह था। वे बुलबुले के फूट पड़ने का इन्तज़ार करते रहे, और जिसे हिन्दुस्तान 'कलकत्ता का चमत्कार' कह रहा था, वह चमत्कार ढाई हफ़्ते तक जारी रहा।

३१ अगस्त की रात को कलकत्ता की शान्ति ठीक उसी जगह भंग हुई जहाँ पर उसकी शुरुआत हुई थी - गाँधी की मौजूदगी में ही। दंगाइयों की एक भीड़ बेलियाघाट के घर में घुस पड़ी और उसने गाँधी को जगा दिया। क्रोधावेश से भरे हुए हिन्दू एक घायल आदमी को लिये हुए थे जिसके सारे शरीर पर पट्टियाँ बँधी हुई थीं और जिसके बारे में उनका कहना था कि वह मुसलमानों की हिंसा का शिकार हुआ था। वे अपने उस साथी हिन्दू का बदला लेने के लिए सुहरावर्दी (जो बाहर थे) को पकड़ना चाहते थे। गाँधी सोने की अपनी चटाई पर से उठ खड़े हुए। उन्होंने अपने उद्विग्न सहकर्मियों के बन्धन से

छूटकर उस उग्र भीड़ के बीच जाने की कोशिश की, जो सुहरावर्दी से बदला लेने की माँग कर रही थी।

गाँधी ज़ोर से चिल्लाये, 'ये सब क्या है? मार डालो मुझे! मैं कहता हूँ, मार डालो मुझे! क्यों नहीं मार डालते मुझे?'[१२४] उन्होंने लगभग वही किया। किसी ने उनपर लाठी फेंकी। वह उनके सिर से टकराने से बाल-बाल बची, और दीवार से जा टकरायी। उनको निशाना बनाकर फेंकी गयी एक ईंट उनके दोस्त को लगी जिससे उसे चोट पहुँची। बाद में गाँधी ने कहा था, 'वह भीड़ के क़ानून के मुताबिक़ मौत की सज़ा की असंवेदनशील नक़ल करने कोशिश थी।'[१२५]

अन्त में गाँधी ने भारी स्वर में, जितना भीड़ को सम्बोधित करते हुए उतना ही खुद को सम्बोधित करते हुए, कहा, 'मेरा ईश्वर मुझसे पूछता है, 'तुम कहाँ खड़े हो?' ('माई गॉड आस्क्स मी, 'ह्वेयर डू यू स्टेण्ड?'...) मैं अन्दर से बहुत दुखी हूँ। क्या यही उस शान्ति की वास्तविकता है जो १५ अगस्त को स्थापित हुई थी?'[१२६]

अगले दिन ठीक उस घर के सामने हत्या हुई। जिस वक़्त दो मुसलमानों को ट्रक के पीछे बिठाकर किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाया जा रहा था, तभी उनकी हत्या कर दी गयी थी। पास की किसी छत से उनपर हथगोले फेंके गये थे। गाँधी बाहर आये और उन्होंने उन शवों के क़रीब खड़े होकर प्रार्थना की। वे शहर में फैल रही हिंसा से हिल उठे थे। रात होते-होते पचास लोग मारे जा चुके थे और तीन सौ लोग घायल हो चुके थे। गाँधी ने तबाही के शिकार हुए इलाक़ों का दौरा किया।[१२७] उन्होंने उसी रात उपवास शुरू करते हुए प्रेस में उसकी घोषणा कर दी।[१२८] उन्होंने कहा, ''ये 'करो या मरो' की स्थिति होगी। या तो शान्ति स्थापित होगी या मैं मर जाऊँगा।'[१२९]

उनके उपवास के पहले दिन दंगे जारी रहे। दो सत्याग्रही, जिनने हिंसा को रोकने की कोशिश की थी, मारे गये। गाँधी ने उनके जीवन का जश्न मनाया और अपना उपवास जारी रखा। शहर भर में शान्तिपूर्ण जुलूस निकाले गये।

चौथे दिन हत्यारे गिरोहों के नेता गाँधी से मिलने पहुँचे। उन्होंने उनसे उपवास तोड़ने की विनती करते हुए अपने हथियार समर्पित कर दिये। वे गाँधी द्वारा मुकर्रर की गयी कोई भी सज़ा भोगने को ख़ुशी-ख़ुशी तैयार थे।[१३०]

गाँधी ने कहा, 'आपके लिए मेरी ओर से यह सज़ा है कि आपको तुरन्त मुसलमानों के बीच जाकर उनको पूरी हिफ़ाज़त का आश्वासन देना होगा। जिस क्षण मुझे इस बात का पक्का यक़ीन हो जाएगा कि सच्चा हृदय-परिवर्तन हो चुका है, उसी क्षण मैं उपवास छोड़ दूँगा।'[१३१]

४ सितम्बर की रात सुहरावर्दी कलकत्ता के सारे सम्प्रदायों का एक प्रतिनिधिमण्डल लेकर

पहुँचे।[१३२] गाँधी ने उनसे कहा कि वे सिर्फ़ तभी अपना उपवास तोड़ेंगे जब वे लोग हिंसा की वापसी को रोकने के लिए अपना जीवन देने को तैयार हों। प्रतिनिधिमण्डल के नेता दूसरे कमरे में चले गये। आधा घण्टे बाद वे एक हस्ताक्षरित वचन-पत्र लेकर वापस आये जिसमें गाँधी से वादा किया गया था: 'अब जबकि कलकत्ता में एक बार फिर से अमन-चैन बहाल हो गया है, अब हम शहर में कभी भी साम्प्रदायिक कलह की छूट नहीं देंगे और इसे रोकने के लिए मरते दम तक कोशिश करेंगे।'[१३३]

गाँधी को यह प्रतिज्ञा-पत्र प्राप्त हुआ, तो उनके जीवन को बचाने की कोशिश में लगे कई और गिरोहों के नेता ट्रक में भरकर वहाँ आ पहुँचे। यह ट्रक उन हथगोलों और हथियारों से भरा हुआ था जो वे गाँधी के सामने समर्पित करना चाहते थे। गाँधी इस निश्चय पर पहुँचे कि शान्ति की ओर कलकत्ता की वापसी वास्तविक थी। सुहरावर्दी ने उनको एक गिलास में एक औंस नींबू का मीठा रस दिया, और उनने अपना उपवास तोड़ दिया।[१३४]

दो दिन बाद, एक प्रार्थना-सभा में सुहरावर्दी ने ऐलान किया कि वे शान्ति की अगली मुहिम में गाँधी के साथ होंगे। उन्होंने कहा कि वे उनके साथ पंजाब जाएँगे - लेकिन पंजाब जाने की बजाय वे दिल्ली गये। उन्होंने कहा, 'मैंने पूरी निष्कपटता के साथ स्वयं को महात्माजी के आदेशों के अधीन कर दिया है। अब के बाद से मैं उनके आदेशों पर अमल करूँगा।'[१३५]

सुहरावर्दी ने गाँधी की हत्या के लिए बाक़ी बचे पाँच महीनों तक उनके साथ काम किया। उस पतझर के मौसम में सुहरावर्दी आपसी सहयोग के लिए गाँधी द्वारा जिन्ना से की जा रही निस्सार अपीलों के सिलसिले में गाँधी के पक्ष से मध्यस्थ की भूमिका निभाते हुए हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच निरन्तर आवाजाही करते रहे।

अक्टूबर में गाँधी ने सुहरावर्दी का एक और मँहगा आह्वान करते हुए उनको सन्देश भेजा : 'हिन्दुओं और मुसलमानों को दोस्तों और भाइयों की तरह, जोकि वे हैं, रहने को तैयार करने की कोशिश में मुझे और आपको मरना होगा।'[१३६]

शहीद सुहरावर्दी गाँधी की हत्या के बाद के वर्षों में पाकिस्तान में लोकतन्त्र की पक्षधरता करने वाले आन्दोलन के नेता बनने वाले थे। १९५६ में नेशनल असेम्बली के विपक्षी नेता के तौर पर उन्होंने पाकिस्तान का संविधान तैयार करने में मदद की।[१३७] इसके बाद वे सितम्बर १९५६ से अक्टूबर १९५७ तक पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री रहे।

जब वे प्रधानमन्त्री के पद से हटे, तो अगली सरकार ने संविधान को स्थगित कर मार्शल लॉ की घोषणा कर दी। १९५८ में सुहरावर्दी ने अय्यूब खाँ की तानाशाही का समर्थन करने से इन्कार कर दिया। १९५९ में सरकार ने उनकी राजनैतिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। चूँकि उन्होंने असहमति के अपने स्वर को बुलन्द करना जारी रखा, इसलिए १९६२ में उनपर 'राष्ट्रविरोधी

गतिविधियों' का आरोप लगा दिया गया।[१३८] उनको छह महीने तक एकान्त कारावास में क़ैद करके रखा गया।

अगस्त १९६२ में जेल से रिहा होने पर सुहरावर्दी ने अय्यूब खाँ की सैन्य तानाशाही के विरोध में साहसपूर्वक एक प्रतिरोध आन्दोलन की शुरुआत की। उनका लक्ष्य था १९५६ के संविधान और संसदीय लोकतन्त्र को बहाल करना।

जिस दौरान लोकतन्त्र-समर्थक आन्दोलन विकसित हो रहा था, तभी इसके नेता सुहरावर्दी अचानक ५ दिसम्बर १९६३ को बेरुत, लेबनॉन के एक होटल के कमरे में मर गये। 'असमान्य रूप से रहस्यमय परिस्थितियों में'[१३९] मृत सुहरावर्दी को सम्भवतः उनके शयन-कक्ष में 'ज़हर दे दिया गया था या कोई ज़हरीली गैस देकर मार दिया गया था।'[१४०]

शहीद सुहरावर्दी के संस्मरणों के सम्पादक मोहम्मद तालुकदार ने सुहरावर्दी की मौत से कुछ ही समय पहले पाकिस्तान के शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा दिये गये दो अनिष्टसूचक वक्तव्य नोट किये हैं। पहला वक्तव्य पाकिस्तान के तत्कालीन विदेश-मन्त्री ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो द्वारा दिया गया था, जिन्होंने एक आपसी दोस्त की मार्फ़त सुहरावर्दी को चेतावनी दी थी : 'सुहरावर्दी से कहो कि वे पाकिस्तान लौटने की कोशिश न करें। अन्यथा मैं इस बात को सुनिश्चत करूँगा कि वे कभी इस मुल्क की ज़मीन पर क़दम न रख पाएँ।'[१४१] भुट्टो की इस धमकी के बाद पाकिस्तान के सेण्ट्रल इंटेलिजेंस ब्यूरो के एक अधिकारी की ओर से सुहरावर्दी के बेटे को सचेत किया गया : 'अपने पिता से कहो कि वे अपना पूरा ख़याल रखें। अफ़वाह है कि वे उनपर हाथ डालने की कोशिश में हैं।' तीन दिन बाद उनके पिता मर चुके थे।[१४२]

आन्तरिक संघर्षों का शिकार रहा यह मुसलमान नेता, जिसने गाँधी के साथ मिलकर कलकत्ता को एक और नरसंहार से बचाने की ख़ातिर अपना जीवन दाँव पर लगा दिया था, पाकिस्तान में लोकतन्त्र की रक्षा करते हुए मारा गया।

जिस लक्ष्य ने गाँधी को अपने 'बेटे' के प्रति गर्व से भर दिया होता, उस लक्ष्य के रास्ते पर चलते हुए शहीद सुहरावर्दी अपने आध्यात्मिक पिता के साथ दिल्ली में हत्या के निशाने पर था।

प्रधानमन्त्री नेहरू के साथ-साथ गाँधी और सुहरावार्दी को मारने के हत्यारों के इरादे की पुष्टि बाद में नाथूराम गोडसे द्वारा होने वाली थी। गाँधी की हत्या के जुर्म में गिरफ़्तारी के बाद गोडसे ने नेहरू के सुरक्षा प्रमुख जी.के. हाण्डू के सामने क़बूल किया था कि उनके अगले निशाने पर नेहरू थे। जैसा कि बाद में गाँधी की हत्या की भारत सरकार द्वारा नये सिरे से करायी गयी जाँच-पड़ताल में हाण्डू ने गवाही दी थी, 'गोडसे ने मेरे सामने यह क़बूल किया था कि उनका अगला निशाना प्रधानमन्त्री नेहरू होते।'[१४३]

सावरकर और उनके सह-षडयन्त्रकारियों ने गाँधी - और अगर हत्यारों की मण्डली सावरकर के इस आदेश को कि 'उनको भी ख़त्म कर दो' को क्रियान्वित करने में कामयाब हो जाती तो, गाँधी के सहकर्मियों, नेहरू और सुहरावर्दी - की हत्याओं के औचित्य-प्रतिपादन के लिए भी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों की पीड़ा को भुनाने की योजना बनायी हुई थी।[१४४] इस तरह हत्यारे उस लोकतन्त्र के लिए एक सांघातक आघात पहुँचा सकते थे जो उस नवजात परिन्दे की तरह था जिसने अभी पंख फड़फड़ाना भी नहीं सीखा था। अगर हत्यारे गाँधी और नेहरू की हत्या करने में कामयाब हो जाते, तो उन्होंने अभी-अभी स्वाधीन हुए देश के दो महानतम नेताओं का सफाया कर दिया होता। हिन्दू-मुस्लिम समझौते के मुख्य स्रोत सुहरावर्दी की हत्या एक बोनस होती। इन हत्याओं से पैदा हुए संकट का फ़ायदा उठाकर सावरकर की मुसलमान-विरोधी हिन्दू महासभा और आरएसएस सत्ता पर क़ाबिज़ हो सकते थे। जो हिन्दू और सिख पाकिस्तान के अपने घरों से विस्थापित हुए थे, वे हिन्दुस्तान में घिरकर रह गये मुसलमान अल्पसंख्यकों के प्रति नेहरू-समर्थित गाँधी के सहयोग को लेकर असन्तुष्ट थे। गाँधी की, और मुमकिन हो पाता तो नेहरू और सुहरावर्दी की हत्या कर सावरकर हिन्दुओं और सिखों के शरणार्थी शिविरों में गाँधी-विरोधी आग को भड़काने की उम्मीद लगाये हुए थे।

मानो षडयन्त्रकारियों की योजनाओं की पुष्टि करते हुए उसी रात दिल्ली में मुसलमानों की हिंसा के शिकार सिखों का एक समूह बिड़ला हाउस के बाहर एकत्र हुआ। वे नारे लगा रहा थे : 'ख़ून के बदले ख़ून!' 'हम इन्तकाम चाहते हैं!' 'गाँधी को मर जाना चाहिए!'

प्रधान मन्त्री नेहरू गाँधी से मुलाक़ात करने के बाद अपनी कार से रवाना होने को थे। ये नारे सुनकर वे कार से बाहर आये, प्रदर्शनकारियों की ओर दौड़े, और चिल्लाये, 'कौन है जो 'गाँधी को मर जाना चाहिए' चिल्लाने की हिमाकत कर रहा है? अगर उसमें दम है, तो मेरे सामने आकर उन शब्दों को दोहराये! उसे पहले मुझको मारना होगा!' नारेबाज़ तितर-बितर हो गये।

अपने बिस्तर पर लेटे गाँधी ने बाहर के इस शोर को सुना। उन्होंने पूछा, 'वे लोग क्या चिल्ला रहे हैं?'

'वे चिल्ला रहे हैं, 'गाँधी को मर जाना चाहिए'।'

'वे कितने लोग हैं?'

'बहुत ज़्यादा नहीं हैं।'

गाँधी ने आह भरते हुए प्रार्थना की, 'राम, राम, राम।'[१४५]

उपवास के तीसरे दिन, १५ जनवरी को, गाँधी के डॉक्टरों ने उनकी किडनी के निष्क्रिय होने की चेतावनी दी। गाँधी इतने कमज़ोर हो चुके थे कि वे प्रार्थना के लिए सभा-मण्डप तक चलकर नहीं

जा सकते थे, इसलिए वे अपने बिस्तर पर से ही माइक्रोफ़ोन के माध्यम से बोले।

उन्होंने हिन्दुस्तान के मुसलमानों की दुर्दशा के अपने उपवास के केन्द्रीय मुद्दे को दोहराया, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि उनका उपवास पाकिस्तान के हिन्दू और सिख अल्पसंख्यकों के पक्ष में भी है। ये 'सभी की ख़ातिर आत्म-शुद्धीकरण की प्रक्रिया' थी।[१४६]

उस दिन भारत सरकार ने पाकिस्तान के लिए तत्काल पाँच करोड़ पचास लाख रुपयों के भुगतान की घोषणा की थी। सरकार के मन्त्रियों ने कहा था कि वे 'राष्ट्रपिता के उपवास को लेकर सारी दुनिया में व्याप्त बेचैनी में साझा करते हैं। उन्हीं की तरह हम लोगों ने भी उस वैमनस्य, पूर्वग्रह और सन्देह को दफ़नाने के उपायों और रास्तों की बेचैनी के साथ तलाश की है जिनने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रिश्तों में ज़हर घोला हुआ है।'[१४७]

सरकार के इस फ़ैसले को एक 'अनूठी कार्रवाई' के रूप में सराहते हुए गाँधी ने कहा, 'इससे न सिर्फ़ कश्मीर के मुद्दे का बल्कि दोनों देशों के बीच के सारे मतभेदों का सम्मानजनक हल निकल सकना चाहिए। मौजूदा दुश्मनी की जगह दोस्ती को ले लेना चाहिए।'[१४८]

लेकिन वे उपवास तोड़ने को तैयार नहीं थे, जिससे उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि इस उपवास की शुरुआत उन्होंने महज़ सरकार पर उस ज़िम्मेदारी को पूरा करने का दबाव डालने के लिए नहीं की थी जिसे सरकार अब पूरा कर चुकी थी। वे इस बात एक ज़्यादा मज़बूत प्रमाण चाहते थे कि दिल्ली के हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों ने दिलों का ऐसा मिलाप हासिल कर लिया है जिसको 'हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के तमाम दूसरे हिस्सों में उनके चारों ओर व्याप्त आगजनी भी तोड़ने में सक्षम नहीं होगी।'[१४९]

उपवास के चौथे दिन, १६ जनवरी को गाँधी का जीवन मुरझाने लगा था। वे 'पानी नहीं पी रहे थे और पेशाब नहीं कर रहे थे। चिकित्सकों ने उनको चेतावनी दी कि अगर वे इस उपवास से किसी तरह जीवित बच भी निकलते हैं, तो भी उनको स्थायी और गम्भीर शारीरिक क्षति पहुँचेगी।'[१५०]

चूँकि गाँधी उनमें से किसी की भी बात नहीं सुन रहे थे जो उनसे उपवास ख़त्म करने की याचना कर रहे थे, इसलिए उन लोगों ने उनपर यह बताने का दबाव डाला कि वे किस तरह की परीक्षा दिये जाने से सन्तुष्ट होंगे। तब जाकर, जैसा कि प्यारेलाल बताते हैं, 'कराची से एक तार आया। जिन मुसलमान शरणार्थियों को दिल्ली से खदेड़ दिया गया था, उनने पूछा था कि क्या वे अब दिल्ली के अपने घरों में वापस लौट सकते हैं। तार को पढ़ते ही गाँधी ने टिप्पणी की, 'ये है परीक्षा'।'

प्यारेलाल तुरन्त उस तार को लेकर 'शहर के सारे हिन्दुओं और सिखों के सारे शरणार्थी शिविरों में गये जहाँ उन्होंने उन शरणार्थियों को समझाया कि उनको क्या करना होगा जिससे कि गाँधी

अपना उपवास समाप्त कर दें। रात होते-होते १,००० शरणार्थी इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कर चुके थे कि अगर मुसलमान वापस लौटकर अपने मूल घरों में रहना चाहेंगे, तो वे उनका स्वागत करेंगे।' मुसलमानों की हिंसा के शिकार इन शरणार्थियों ने कहा कि वे लोग मुसलमानों के ख़ाली घरों पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश नहीं करेंगे। जो शरणार्थी पहले ही मुसलमानों के घरों में जम गये थे, वे उन घरों को छोड़कर उनके मालिकों की वापसी का रास्ता साफ़ करने को तैयार थे।[१५१]

बदले में नेहरू और सरकार के दूसरे मन्त्रियों ने बेघर शरणार्थियों को अपने सरकारी निवासों में रहने के लिए आमन्त्रित किया। गाँधी के उपवास से द्रवित होकर दिल्ली के लोग अपने पुराने शत्रुओं की ओर करुणा का भाव अपना रहे थे।

अगले दिन बम्बई में बड़गे एक बार फिर से आप्टे और गोडसे के साथ सावरकर के दरवाज़े तक साथ गया। वे दोनों हत्यारे इस बार वहाँ इसलिए गये थे ताकि वे 'उनका अन्तिम आशीर्वाद प्राप्त' कर सकते, जैसा कि गोडसे ने कहा था।[१५२] गाँधी की हत्या के मुकदमे के दौरान बड़गे ने गवाही दी थी कि इस बार, मुलाक़ात के बाद, सावरकर गोडसे की बग़ल में चलते हुए बाहर तक आये थे। विदा करते समय सावरकर ने अपने इन चेलों से कहा था, 'कामयाबी हासिल करने के बाद ही वापस आना।'[१५३] कुछ मिनिट बाद टैक्सी में गोडसे ने बड़गे से कहा, 'सावरकर भविष्यवाणी कर चुके हैं कि गाँधी के सौ साल (वह उम्र जिस तक गाँधी ज़िन्दा रहने की उम्मीद करते थे; वास्तव में १२५ साल) पूरे हो चुके हैं। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है कि हमें अपने काम में सफलता मिलेगी।'[१५४]

गाँधी की हत्या के इस षडयन्त्र में एक प्यादा मदनलाल पाहवा था, जो पाकिस्तान से आया एक नौजवान हिन्दू शरणार्थी था। विभाजन के बाद अपनी मातृभूमि से भागकर आने के बाद मदनलाल पाहवा को सावरकर के एक अनुयायी और हिन्दू महासभा के संगठनकर्ता विष्णु करकरे ने एक शरणार्थी शिविर में भर्ती कर दिया था। करकरे ने मुसलमान-विरोधी हमलों में आप्टे और गोडसे के साथ बहुत क़रीबी सहयोग किया था। पाहवा उनके आदेशों का पालन करता था। जब करकरे गाँधी की हत्या के षडयन्त्र में शामिल हुआ, तो पाहवा भी अपने इस गुरु के साथ हो लिया। चूँकि मदनलाल पाहवा विस्फोटकों का इस्तेमाल करना जानता था, इसलिए वह उस गिरोह के लिए काफ़ी काम का आदमी था। और एक शरणार्थी के रूप में अपनी प्रतीकात्मक स्थिति के चलते वह हथियारों के विक्रेता बड़गे के साथ एक बलि के बकरे के रूप में काम कर सकता था।

१७ जनवरी को, उपवास के पाँचवें दिन, डॉक्टरों ने एक बुलेटिन में गाँधी को चेतावनी दी कि 'हमारी राय में उपवास को जारी रखना बहुत ही अनिष्टकारी होगा। इसलिए लोगों से यह कहना हमारा कर्तव्य बनता है कि वे अविलम्ब उपवास को समाप्त करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा करें।'[१५५]

इसकी प्रतिक्रिया में दिल्ली में मुसलमानों, हिन्दुओं और सिखों ने एकजुट होकर बिड़ला हाउस

की दिशा में जाते जुलूस निकाले। इनमें से एक जुलूस एक मील लम्बा था, जिसमें १००,००० लोग भागीदारी कर रहे थे।[१५६]

उस रात सारे समुदायों का प्रतिनिधित्व करने वाली केन्द्रीय शान्ति समिति ने बैठक कर एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया जिसका उद्देश्य गाँधी को इस बात का यक़ीन दिलाना था कि वे लोग वास्तव में शान्ति की ओर मुड़ गये हैं। उस समय तक गाँधी सन्निपात की अवस्था में पहुँच चुके थे। उन्होंने लोगों से कहा कि वे उनको बिस्तर में ले जाएँ जबकि वे बिस्तर में ही थे।[१५७]

१८ जनवरी की सुबह, छठवें दिन, जब शान्ति समिति के सदस्य गाँधी के लिए प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर रहे थे, तभी उनको ख़बर मिली कि उनकी हालत अचानक और भी ज़्यादा बिगड़ गयी है। वे बिड़ला हाउस की ओर भागे। गाँधी के कमरे में सौ से ज़्यादा लोगों की भीड़ जमा थी।[१५८] उनके बिस्तर के इर्दगिर्द जमा होकर उन्होंने होश में आ चुके गाँधी को बताया कि शान्ति-प्रतिज्ञा को क्रियान्वित करने के लिए हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों और दूसरे समुदायों द्वारा ठोस क़दम उठाये जा चुके हैं। उन लोगों ने उनसे उपवास त्याग देने की प्रार्थना करते हुए एक के बाद एक उस एकता की गवाही दी जिसके प्रति वे अब प्रतिबद्ध थे। यहाँ तक कि आरएसएस और सावरकर के संगठन हिन्दू महासभा तक के प्रतिनिधियों ने उस प्रतिज्ञा में भागीदारी करते हुए गाँधी के जीवन को बचाने की पैरवी की।

अपने चारों ओर बेचैन चेहरों का घेरा देखते हुए गाँधी ने कहा कि उन लोगों ने उनको वह 'सब कुछ दे दिया है जिसकी माँग मैंने की थी।'[१५९] तब उन्होंने शंकालु ढंग से उनसे सवाल-जवाब किये। क्या वे अपनी प्रतिज्ञा के निहितार्थों को समझ रहे थे?

उन्होंने सीधा इशारा करते हुए कहा, 'मेरा ख़याल है कि आरएसएस और महासभा भी इस समझौते में शामिल हैं। अगर वे इस समझौते में सिर्फ़ दिल्ली की ख़ातिर शामिल हैं और दूसरी जगहों की ख़ातिर शामिल नहीं हैं, तो यह समझौता बहुत बड़ा छल है। मुझे मालूम है कि इस तरह के छल आज हिन्दुस्तान में बहुतायत से जारी हैं।'[१६०]

अगर यह पता चलता कि उन्होंने उन सारे लोगों को गम्भीरता से लेते हुए खुद के साथ धोखा किया था, तो वे उपवास को नये सिरे से शुरू करने को तैयार थे। लेकिन फ़िलहाल वे सबसे पहले एकता की स्थापना की ख़ातिर पाकिस्तान जाना चाहते थे।[१६१]

१८ जनवरी को दोपहर १२:२५ बजे गाँधी ने अपने मुसलमान सहयोगी अब्दुल आज़ाद के हाथों सन्तरे का रस लिया और उसके घूँट लेने लगे, और इस तरह उन्होंने अपना उपवास तोड़ दिया।[१६२]

उस रात अपनी प्रार्थना-सभा में उन्होंने कहा था :

मैंने इस उपवास की शुरुआत सत्य के नाम पर की थी जिसका पहचाना हुआ नाम ईश्वर है।

एक जीते-जागते सत्य के बिना ईश्वर कहीं नहीं है। ईश्वर के नाम पर हम झूठ बोलते रहे हैं और लोगों की सामूहिक हत्याएँ करते रहे हैं, इस बात की परवाह किये बिना कि वे लोग निर्दोष थे या गुनहगार थे, वे मर्द थे या औरतें थीं, बच्चे थे या नवजात शिशु थे। हम अपहरणों में, बलात् धर्मपरिवर्तन में लिप्त रहे और यह सब हमने बेशर्मी के साथ किया। मैं नहीं जानता कि किसी भी व्यक्ति ने ये सारे कृत्य सत्य के नाम पर किये हैं। अपने होठों पर उसी नाम के साथ मैंने उपवास तोड़ दिया है...।

...मेरी प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन दिल्ली के सारे नागरिकों, जिनमें हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता शामिल हैं, की महान सद्भावना द्वारा किया गया है...। पाकिस्तान से कई सन्देश आये हैं जिनमें से किसी भी सन्देश में असन्तोष का इज़हार नहीं किया गया है। मैं ईश्वर से, जो कि सत्य है, प्रार्थना करता हूँ कि वह हमें रास्ता दिखाये जैसे वह छह दिनों के दौरान दिखाता रहा है।[१६३]

२० जनवरी की सुबह आप्टे, बड़गे, और बड़गे का नौकर शंकर उस दिन देर शाम हत्या का प्रयत्न करने के सिलसिले में स्थिति का जायज़ा लेने बिड़ला हाउस पहुँचे। सहसा आप्टे ने इशारा कर अहाते में 'काला सूट पहने एक तगड़े भद्रपुरुष' की ओर बड़गे का ध्यान खींचा जो इमारत से बाहर निकल रहा था। अपने एक लक्ष्य को पहचानते हुए आप्टे ने फुसफुसाते हुए कहा, 'यह है वो सुहरावर्दी।'[१६४] जैसा कि बड़गे ने हत्या के मुकदमे के दौरान गवाही दी थी, 'आप्टे ने (सावरकर की बात को दोहराते हुए) कहा था कि जहाँ तक मुमकिन हो सके गाँधी और सुहरावर्दी, दोनों को 'ख़त्म' कर दिया जाना चाहिए। आगे उसने यह भी कहा कि अगर दोनों को 'ख़त्म' करना मुमकिन न हो, तो कम-से-कम दोनों में से एक को तो 'ख़त्म' कर ही दिया जाए।'[१६५]

तीनों आदमियों ने प्रार्थना-सभा के स्थल का और नौकरों के कमरों तक जाने वाले पीछे के रास्ते का निरीक्षण किया[१६६] (जहाँ से खिड़की की सलाखों के रास्ते एक अदृश्य हत्यारा गाँधी पर उनके चार या पाँच क़दम पीछे से गोली चला सकता था, जबकि एक दूसरा हत्यारा हथगोला फेंककर गाँधी और उनके पास मौजूद किसी भी व्यक्ति को उड़ा दे सकता था)।[१६७]

दोपहर बाद सात षडयन्त्रकारियों ने दिल्ली के मेरीना होटल के एक कमरे में बैठक की। बड़गे और करकरे के सुझावों को मंज़ूर करने के बाद,[१६८] आप्टे ने प्रार्थना-सभा में गाँधी और उनके साथियों की हत्या करने के सिलसिले में उनके निर्देशों को अन्तिम रूप दिया। योजना के अनुसार मदनलाल पाहवा भीड़ को दहशत में डालने के लिए पीछे की दीवार पर एक गनकॉटन बम का विस्फोट करने वाला था। जैसे ही बम फटता और गड़बड़ी फैलती, बड़गे और शंकर नौकरों के कमरों की खिड़कियों से गाँधी पर गोली चलाते। वे दोनों ही गाँधी पर एक-एक हथगोला भी फेंकते।[१६९]

आप्टे ने नाथूराम के छोटे भाई गोपाल गोडसे से, साथ ही पाहवा और करकरे से भी कहा था

कि वे लोग भी बचे हुए हथगोले गाँधी पर फेकें। इस तरह अगर गोलियाँ चलाने वाले दोनों लोग गाँधी को मारने में नाकामयाब रहते, तो पाँच अन्य हत्यारे उनपर (और मुमकिन है, उनकी बग़ल में मौजूद सुहरावर्दी पर) हथगोले फेंक रहे होते।

आप्टे ने कहा था कि वह और नाथूराम गोडसे अन्य पाँच हत्यारों को सही समय पर इशारा कर उनको सौंपी गयी ज़िम्मेदारियों को पूरा करने को कहेंगे।[१७०]

जब बड़गे बिड़ला हाउस पहुँचा, तो प्रार्थना-सभा की शुरुआत हो चुकी थी। नौकरों के कमरों के पिछले दरवाज़े पर जमा लोगों को देखने के बाद, उसको अहसास हुआ कि गाँधी पर गोली चलाने के बाद वहाँ से भाग पाना असम्भव होगा। जैसा कि उसने अपनी गवाही में कहा था, उसने फ़ौरन आप्टे और गोडसे को इस बात के लिए राज़ी किया कि 'मैं सामने से गोली चलाना पसन्द करूँगा। मैं ठीक उसके सामने की खुली जगह से गोली चलाऊँगा जहाँ महात्माजी बैठे हुए हैं।'[१७१] उसने कहा कि शंकर, जो उसके आदेश का पालन करता था, भी गाँधी पर सामने से हमला करेगा। आप्टे और गोडसे इस संशोधित योजना से सहमत हुए, जो शायद यह सोचते थे कि इससे बडगे और भी सामने आ जाएगा जिससे पाहवा के साथ-साथ उसकी भी बलि का बकरा बनने की सम्भावना बन जाएगी।

लेकिन इस बीच बड़गे के हाथ-पैर फूल चुके थे। वह एक तरफ़ गया और उसने दो हथगोलों के साथ-साथ अपना और शंकर का रिवाल्वर एक तौलिये में लपेट लिया। उसने अपराधसूचक चीज़ों से युक्त उस तौलिये को अपने थैले में रख लिया। उस थैले को उसने एक प्रतीक्षारत टैक्सी की पिछली सीट के नीचे रख दिया। इसके बाद वह आप्टे और गोडसे के साथ फिर से जा मिला और सभा में पहुँच गया, जिस दौरान उसने अपने हाथ अपनी बग़ल की जेबों में यूँ डाल रखे थे जैसे वह अभी भी अपने हथियार छिपाये हुए हो।[१७२]

गाँधी अपने उपवास की वजह से अभी भी इतने कमज़ोर थे कि उनको एक कुर्सी पर बिठाकर प्रार्थना-सभा में लाया गया था।[१७३] जब वे वहाँ एकत्र लोगों को सम्बोधित कर रहे थे, तो उनकी आवाज़ बहुत क्षीण थी। माइक्रोफ़ोन काम नहीं कर रहा था, इसलिए जब गाँधी बोल चुके, तो उनकी सहकर्मी डॉ. सुशीला नय्यर ने अपने नोट्स के आधार पर गाँधी के वक्तव्य का सार-संक्षेप श्रोताओं के सामने दोहराया।[१७४]

गाँधी ने फुसुसाती आवाज़ में कहा था, 'मुझे उम्मीद है कि जिन लोगों ने शान्ति के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये हैं, उन लोगों ने सत्य के रूप में ईश्वर को साक्षी मानकर ऐसा किया होगा।' उन्होंने फिर यह भी कहा कि 'मैंने सुना है कि हिन्दू महासभा के एक अधिकारी के पक्ष से इस प्रतिज्ञा-पत्र का खण्डन किया गया है। मुझे इस बात का दुख है।'[१७५]

वे अपने शिष्यों और सरकार के मन्त्रिमण्डल के प्रमुख पदों पर आसीन नेहरू और पटेल के

बारे में भी बोले थे। उनको लगता था कि यह बात हर किसी को मालूम होनी चाहिए कि मुसलमानों के प्रति आदर-भावना के मामले में वे दोनों एकमत हैं। गाँधी ने कहा था, 'आपको याद रखना चाहिए कि जो आदमी मुसलमानों का दुश्मन है, वह हिन्दुस्तान का दुश्मन है।'[१७६]

तभी श्रोताओं के बीच से आप्टे ने हत्या के कार्यक्रम को अंजाम देने की शुरुआत करते हुए पाहवा को इशारा किया। उस नौजवान ने आज्ञाकारी ढंग से पिछली दीवार पर गनकॉटन चार्ज के फ़्यूज़ को सुलगा दिया।

जिस वक़्त फ़्यूज़ की आग चार्ज तक पहुँची, उस वक़्त गाँधी अल्पसंख्यकों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के मामले में अमेरिका और हिन्दुस्तान के बीच तुलना कर रहे थे : 'अमेरिका में नीग्रो लोगों के साथ अभी भी वैसा ही क्रूरतापूर्ण बरताव किया जाता है जैसे कि वे ग़ुलाम हों, और तब भी अमेरिकी लोग सामाजिक बराबरी के बारे में बढ़चढ़कर बातें करते हैं। उनको अपने कृत्यों के अन्याय का अहसास नहीं होता...। हमारा ख़याल है कि हम बेहतर लोग हैं और हम इस तरह के काम नहीं कर सकते। और तब भी, ज़रा सोचिए कि यहाँ क्या होता है।'[१७७]

तभी कान फोड़ देने वाले एक धमाके ने सभा-स्थल को हिला दिया। पिछली दीवार का एक बहुत बड़ा हिस्सा धराशायी हो गया। हवा में धुआँ और धूल के बादल छा गये।[१७८] दोनों गोडसे, आप्टे और करकरे, बड़गे और शंकर द्वारा गाँधी पर हमला किये जाने की बेचैनी के साथ प्रतीक्षा कर रहे थे।

गाँधी ने अपना हाथ उठाया। उन्होंने भीड़ को शान्त होने का इशारा किया। लोग अपनी-अपनी जगहों पर लौट आये। अपने को गुपचुप ढंग से निहत्था कर चुके बड़गे और शंकर ने कुछ नहीं किया। चश्मदीद गवाहों ने पाहवा की तरफ़ इशारा कर पुलिस को सचेत किया। जिस दौरान पाहवा को गिरफ़्तार किया जा रहा था, उसके छहों साथी षडयन्त्रकारी भीड़ में घुल-मिल गये और वहाँ से भाग गये।

मदनलाल पाहवा से बिड़ला हाउस में ही शुरुआती पूछताछ की गयी। पुलिस के सवालों के जवाब में उसने केवल एक ही बात कही - मैंने इसलिए बम विस्फोट किया 'क्योंकि मुझे शान्ति और मैत्री क़ायम रखने की गाँधी की नीति पसन्द नहीं है।'[१७९]

गाँधी के मृत्यु से बच निकलने पर उस रात बिड़ला हाउस में बधाइयों का ताँता लगा रहा। अँग्रेज़ वायसराय की पत्नी लेडी माउंटबेटन गाँधी की बहादुरी की सराहना करने के लिए भागी आयीं।

गाँधी ने कहा कि वे अनजान थे, न कि बहादुर। उस वक़्त उनको यह अहसास नहीं हुआ था कि वह उनकी जान लेने की कोशिश थी। उनने सोचा था कि वे कोई सैनिक होंगे जो पास में कहीं युद्धाभ्यास कर रहे होंगे।

उन्होंने कहा, 'इस बार मैंने कोई बहादुरी नहीं दिखायी। अगर किसी ने मुझपर सामने से एकदम क़रीब से गोली चलायी होती और मैंने मुस्कराते हुए और अपने मन में राम का नाम जपते हुए उसकी गोली का सामना किया होता, तो निश्चय ही मैं बधाइयों का पात्र होता।'[१८०]

उन्होंने कहा कि उस नौजवान के लिए किसी को भी दोष नहीं देना चाहिए जिसको गिरफ़्तार किया गया है : 'उन्होंने बिना किसी सबूत के यह मान लिया है कि मैं हिन्दुत्व का दुश्मन हूँ। जब वह कहता है कि वह ईश्वर के आदेश का पालन कर रहा है, तो वह सिर्फ़ ईश्वर को अपने दुष्कर्म में एक सहभागी बना रहा है। लेकिन ऐसा मुमकिन नहीं है। इसलिए जो लोग उसके पीछे हैं या वह जिनके हाथों का औज़ार है, उनको यह समझ लेना चाहिए कि इस तरह की चीज़ हिन्दू धर्म को नहीं बचा पाएगी।'[१८१]

जैसा कि १९०९ में धींगड़ द्वारा की गयी कर्जन विली की हत्या के मामले में हुआ था, वैसे ही इस मामले में भी गाँधी जानते थे कि अपराध की वास्तविक ज़िम्मेदारी परदे के पीछे किसी चीज़ में है - जैसे कि वह थी, उस षडयन्त्र में जो दोनों ही मामलों में एक ही व्यक्ति, विनायक सावरकर द्वारा प्रेरित था।

गाँधी को इस बारे में कोई भ्रम नहीं था कि पाहवा की गिरफ़्तारी का यह मतलब था कि ख़तरा समाप्त हो गया था। जब उनको बताया गया कि उनके एक सहकर्मी का कहना था कि मुमकिन है कि पता चले कि प्रार्थना-सभा का वह विस्फोट एक हानि-रहित मज़ाक़ से ज़्यादा कुछ नहीं था, तो इस विचार पर गाँधी हँस पड़े थे। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया था, 'मूर्ख! तुमको दिखायी नहीं देता? इसके पीछे एक भयानक और व्यापक षडयन्त्र है।'[१८२]

जहाँ उनके सहकर्मी अपने-अपने कामों में लग गये, वहीं गाँधी अपनी मृत्यु के लिए तैयार हो गये।

नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे बम्बई भाग गये, जहाँ वे अपने गिरोह के सबसे क़रीबी साथी करकरे से एक बार फिर से मिलने में कामयाब रहे। इस बीच, जिन लोगों को गोडसे और आप्टे अपने अख़बार *हिन्दू राष्ट्र* की ज़िम्मेदारी सौंप गये थे, उन लोगों ने हत्या के इस प्रयत्न को गाँधीवादी शरणार्थियों के कृत्य के रूप में रिपोर्ट किया। हिन्दू राष्ट्र की सुर्खियों में दावा किया गया : 'गाँधी की तुष्टीकरण की नीति के ख़िलाफ़ क्रुद्ध हिन्दू शरणार्थियों की द्योतक प्रतिक्रिया का प्रदर्शन'[१८३] हत्या की कोशिश का दोष - या गाँधी के शत्रुओं की दृष्टि से इसका श्रेय - शरणार्थियों को देना आसान था। जो एकमात्र षडयन्त्रकारी पुलिस द्वारा पकड़ा गया था, वह शरणार्थी मदनलाल पाहवा ही था।

दिल्ली के एक पुलिस थाने में पाहवा ने जल्दी ही पूछताछ करने वालों के सामने समूचे षडयन्त्र को क़बूल कर लिया।[१८४] उसने पुलिस को एक षडयन्त्रकारी का नाम 'किक्री (उसका रहनुमा किरकिरे)

बताया।[१८५] अपने छह में से प्रत्येक साथी के बारे में बताते हुए उसने कहा कि उनमें से एक पूना के अख़बार *हिन्दू राष्ट्र* या *अग्रणी* का सम्पादक था - जो नाथूराम गोडसे की एक निश्चित पहचान थी, जिसको वह 'देशपाण्डे' के छद्मनाम से जानता था।[१८६] पाहवा पुलिस को मेरीना होटल के उस कमरे में ले गया जहाँ पर गोडसे और आप्टे, जिनका नाम होटल के रजिस्टर में 'एस. और एम. देशपाण्डे' दर्ज़ था, ने अन्य लोगों के साथ योजना के बारे में अन्तिम बैठक की थी। जब पुलिस ने उस कमरे की तलाशी ली, तो उनको एक ड्रॉर में हिन्दू महासभा के एक नेता आशुतोष लाहिरी का एक प्रेस समाचार मिला, जिसमें 'गाँधीजी द्वारा वांछित नौ-सूत्रीय वचन-पत्र पर उसकी संस्था द्वारा हस्ताक्षर किये जाने का' खण्डन किया गया था।[१८७] उस प्रेस समाचार में कहा गया था कि हिन्दू महासभा 'हिन्दुस्तान में मुसलमान अल्पसंख्यकों के साथ किये गये बरताव के सन्दर्भ में महात्मा गाँधी और उनके अनुयायियों की बुनियादी नीति के ख़िलाफ़ थी।'[१८८] यहाँ यह एक महत्त्वपूर्ण सुराग़ था कि पाहवा के सह-षडयन्त्रकारी हिन्दू महासभा से जुड़े हुए थे। उस कमरे के मुसाफ़िरों ने धुलाई के लिए जो कपड़े दिये थे उनमें तीन कपड़े ऐसे थे जिनपर नाम के आद्याक्षर के रूप में 'एनवीजी' (जो 'नाथूराम विनायक गोडसे' का सूचक था) लिखा हुआ था। गाँधी के सम्भावित हत्यारे की पहचान बताने वाले इन सारे साक्ष्यों का महत्त्व मदनलाल पाहवा द्वारा पुलिस को दिये गये इस कँपकँपा देने वाले बयान से रेखांकित होता है : 'वे फिर से आएँगे।'[१८९] आप्टे और करकरे के साथ मिलकर नाथूराम गोडसे ३० जनवरी को गोली मारकर गाँधी की हत्या करके पाहवा की इस भविष्यवाणी को सच साबित करने वाला था।

यह कैसे हुआ?

अभियोगात्मक और सन्दिग्ध अपराधी की पहचान कराने वाली सारी जानकारी पुलिस के पास थी। पाहवा उनको चेतावनी दे रहा था कि हत्यारे वापस आएँगे।

इसके अलावा, षडयन्त्रकारी अपनी योजना पर अमल कर पाते, इसके हफ़्ते भर पहले ही मदनलाल पाहवा ने पूरी योजना का खुलासा कर दिया था। बम्बई में जिस प्रोफ़ेसर जे.सी. जैन के यहाँ वह काम करता था, उसको उसने गाँधी की प्रार्थना-सभा में 'बम फेंकने' की अपनी आगामी भूमिका के बारे में बता दिया था कि इसका उद्देश्य उस सभा को फैलाना था ताकि उसके सहयोगी गाँधी की हत्या कर सकते।[१९०] जब तक जैन २१ जनवरी के अख़बार में उस बम काण्ड की ख़बर पढ़कर सदमे की हालत में नहीं पहुँचा था तब तक उसको यही लगता रहा था कि पाहवा व्यर्थ के क़िस्से गढ़ रहा था। इसके बाद जैन ने किसी तरह बम्बई प्रान्त के प्रेमिअर बी.जी. खेर और बम्बई प्रान्त के गृह मन्त्री मोरारजी देसाई से मुलाक़ात की। वह गाँधी के सिर पर मँडराते हत्या के ख़तरे के बेहद महत्त्वपूर्ण मसले पर बम्बई के इन दो सबसे महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों का ध्यान आकर्षित करने में सफल हुआ। जैन ने इन सरकारी नेताओं को सूचित किया कि उसको पाहवा से यह जानकारी मिली है कि वह बम

विस्फोट एक ऐसी चीज़ का हिस्सा है जो गाँधी की हत्या का 'एक बड़ा षडयन्त्र' प्रतीत होती है : 'मदनलाल ने मुझसे कहा था कि षडयन्त्रकारियों, ने एक गिरोह तैयार कर रखा था जिसके लिए अहमदनगर के किसी करकरे से धन मिल रहा था,' और यह करकरे पाहवा के साथ उससे मिला था।[१६१] अगला सूत्र सावरकर थे जो, जैसा कि पाहवा ने बताया था, उससे दो घण्टे पहले मिले थे, और उन्होंने ने इस नौजवान हिन्दू शरणार्थी की इस बात के लिए सराहना की थी कि उसने एक मुसलमान के मकान को डायनामाइट से उड़ा देने के प्रयत्न जैसा पराक्रम किया था।

जैन का क़िस्सा सुनने के बाद, गृह मन्त्री ने कहा था कि उनके मन में 'यह तगड़ा अहसास जागा था कि इस षडयन्त्र के पीछे सावरकर था।'[१६२] देसाई ने कहा कि उन्होंने जैन से मिली जानकारी उसी रात अपने डिप्टी पुलिस कमिश्नर, जे.डी. नागरवाला के पास पहुँचा दी थी, और उनको पहले तो 'करकरे को गिरफ़्तार करने' का (करकरे को एक अन्य मामले में गिरफ़्तार किये जाने का वॉरण्ट जारी था लेकिन वह अभी तक हाथ नहीं लग सका था)[१६३], दूसरे, 'सावरकर के मकान और उनकी गतिविधियों पर सख़्त निगरानी रखने का,' और तीसरे, 'यह पता लगाने का कि इस षडयन्त्र में और कौन-कौन लोग शामिल थे' के आदेश जारी किये थे।[१६४] देसाई ने कहा था कि उन्होंने इस षडयन्त्र के बारे में जैन द्वारा दी गयी जानकारी की सूचना २२ जनवरी १६४८ को अहमदाबाद में भारत के केन्द्र सरकार के गृहमन्त्री वल्लभभाई पटेल को भी दी थी, जो राष्ट्रीय सरकार के सुरक्षा-तन्त्र के प्रभारी थे।[१६५]

बम काण्ड और पाहवा की गिरफ़्तारी के बाद पटेल गाँधी की सुरक्षा में इज़ाफ़ा करना चाहते थे। उन्होंने गाँधी से कहा था : मैं 'चाहता हूँ कि पुलिस आपकी प्रार्थना-सभा में आने वाले हर व्यक्ति की तलाशी ले।'[१६६] जैसा कि पटेल निश्चित तौर पर जानते होंगे कि गाँधी क्या कहेंगे, महात्मा ने पुलिस को इस बात की इजाज़त देने से पूरी तरह से इन्कार कर दिया कि वह तलाशी को प्रार्थना-सभा में किसी व्यक्ति के प्रवेश की शर्त के रूप में इस्तेमाल करे। उन्होंने कहा कि 'मेरी आस्था मुझे इस बात की छूट नहीं देती कि प्रार्थना के वक़्त, जब मैं खुद को पूरी तरह से ईश्वर के संरक्षण में सौंप चुका होता हूँ, तब मैं खुद को किसी भी क़िस्म की मानवीय सुरक्षा के अधीन रखूँ।'[१६७] प्यारेलाल के मुताबिक़, पटेल ने गाँधी की इस ज़िद के सामने 'अपने हथियार डालते हुए सब कुछ को दैव के अधीन छोड़ दिया।'[१६८]

एक ऐसे वक़्त में जो गाँधी के हत्यारों के एक बार फिर से एकजुट होने का वक़्त साबित होने वाला था, दैव के अधीन गृहमन्त्री का यह आत्मसमर्पण हत्या के बाद विवाद का विषय बनने से नहीं बच सका। ६ फ़रवरी १६४८ को हिन्दुस्तान की संसद के गाँधी की हत्या पर केन्द्रित एक विशेष सत्र में सांसद रोहिणी कुमार ने पटेल के सामने एक मुश्किल में डालने वाला सवाल खड़ा कर दिया थाः

'क्या मैं जान सकता हूँ कि पुलिस को जिस व्यक्ति की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी होती है, क्या वह उसकी सुविधा-असुविधा का अनुसरण करती है? सचाई ये है कि सुरक्षा के मामले में गवर्नर या गवर्नर जनरल, किसी से भी उसकी सुविधा-असुविधा के बारे में नहीं पूछा जाता।'

पटेल ने जवाब दिया : 'जहाँ तक मौजूदा मसले से ताल्लुक रखने वाले मुद्दे का सवाल है, सम्बन्धित व्यक्ति एक अलग कोटि का था, और उसके मामले में पुलिस के लिए उसकी सहमति प्राप्त किये बिना कोई भी कार्रवाई कर पाना असम्भव था।'[१९९]

पटेल का यह कहना सही था कि शारीरिक तलाशी जैसे हस्तक्षेपकारी मामले में गाँधी की सहमति प्राप्त करना अनिवार्य था। लेकिन, गाँधी की सुरक्षा के सिलसिले में पटेल की ज़िम्मेदारी तलाशी को लेकर महात्मा के पूर्वानुमेय इन्कार के साथ समाप्त नहीं हो जाती थी। सच तो यह है कि पटेल ने २० तारीख़ के बम विस्फोट के बाद बिड़ला हाउस की सुरक्षा में इज़ाफा करते हुए, वहाँ तैनात पुलिस अधिकारियों की संख्या बढ़ा दी थी।[२००] ऐसा उन्होंने गाँधी की मंज़ूरी लेकर ही किया था।

जब गाँधी से उनके एक सहकर्मी ने उनसे सुरक्षा में हुई इस बढ़ोत्तरी के बारे में पूछा था, तो गाँधी ने कहा था, 'मैं तुम लोगों की तरह चिन्तित नहीं हूँ। अगर मैंने सुरक्षाकर्मियों की तैनाती की छूट न दी होती, तो मैंने सरदार पटेल, और जवाहर नेहरू की चिन्ताओं में अपनी सुरक्षा की एक चिन्ता और जोड़ दी होती। उनकी ज़िम्मेदारियाँ पहले से ही बहुत भारी हैं।'[२०१]

गाँधी इस बात पर ज़ोर देते रहे कि राम अभी भी उनके वास्तविक रक्षक हैं, लेकिन तब भी उन्होंने (लोगों की तलाशी को छोड़) उन मुनासिब सुरक्षा उपायों की स्पष्ट मंज़ूरी दे दी थी जो पटेल और नेहरू को उनकी सुरक्षा के सन्दर्भ में ज़रूरी लगती रही हो सकती थी। उनका कहना था कि यह उनपर है : उनका सिर्फ़ यही विश्वास है कि ये पुलिस के सुरक्षाकर्मी ही मेरे जीवन की रक्षा करेंगे। इसलिए उनको वही करने दो जो उनकी मर्ज़ी है।'[२०२]

प्यारेलाल ने कपूर आयोग से कहा था कि इन अतिरिक्त अधिकारियों की तैनाती के अलावा मैं 'यह नहीं कह सकता कि बम फेंके जाने के बाद पुलिस सम्बन्धी कोई विशेष सावधानियाँ बरती गयी थीं या नहीं।' लेकिन एक बात उनको पक्के तौर पर लगती थी : 'मदनलाल के बयान में जिन लोगों की ओर संकेत किया गया था, उन लोगों को अगर पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया होता, तो गाँधी सुरक्षित बने रहे होते।'[२०३]

पुलिस ने इतनी ज़ाहिर-सी गिरफ़्तारियाँ क्यों नहीं कीं?

२१ जनवरी तक दिल्ली पुलिस और बम्बई पुलिस, दोनों के पास गाँधी की हत्या के लिए जारी षडयन्त्र में शामिल प्रमुख लोगों की शिनाख़्त करने वाले बयान मौजूद थे। इसके अतिरिक्त, वे एक-दूसरे

के सम्पर्क में थे।[२०४] तब भी नौ दिनों तक ये हत्यारे उस समय तक आज़ाद घूमते रहे जब तक कि उनमें से तीन, आप्टे, गोडसे, और करकरे ३० तारीख़ को वापस दिल्ली की उस प्रार्थना-सभा नहीं पहुँच गये, जहाँ गोडसे ने गाँधी की हत्या कर दी।

इस घटना को मुमकिन बनाने के लिए, बीच के समय में हत्यारों को रोक सकने वाली किन्हीं गिरफ़्तारियों के बिना, अजीबो-ग़रीब घटनाएँ घटित होनी थीं। और वे घटित हुईं।

२१ जनवरी को दिल्ली के पुलिस महानिदेशक टी.जी. संजेवी ने बम्बई के डिप्टी पुलिस कमिश्नर जे.डी. नागरवाला को पाहवा के इक़बालिया बयान की सूचना देने के लिए अपने दो अधिकारियों को बम्बई भेजा। दिल्ली के इन अधिकारियों का दावा था कि जब उन्होंने अगले दो दिनों तक बम्बई के कमिश्नर नागरवाला से मुलाक़ात की, तो वे बहुत लापरवाही के साथ मिले। बदले में उनने उनको महज़ अँग्रेज़ी में लिखा हुआ एक नोट दिया (जिसको नागरवाला ने लेने से इन्कार कर दिया)। उन्होंने 'नागरवाला को मौखिक रूप से वह कुछ नहीं बताया जो उनकी जानकारी में था', जिसमें पाहवा द्वारा सह-षडयन्त्रकारी के रूप में करकरे का नाम लिया जाना भी शामिल था। न ही उन्होंने पूना के अख़बार हिन्दू राष्ट्र या अग्रणी के सम्पादक की एक अन्य सह-षडयन्त्रकारी के रूप में पाहवा द्वारा की गयी शिनाख़्त के बारे में उन्हें बताया। इन अधिकारियों ने कमिश्नर को वह कुछ भी नहीं बताया जो उनकी जानकारी में था और जिससे हत्यारों की शिनाख़्त हो पाती।[२०५] न ही नागरवाला ने उनको उस बयान के विवरणों की जानकारी दी जो उनको प्रोफ़ेसर जैन दे चुके थे, जिसमें भी पाहवा और करकरे की शिनाख़्त के साथ-साथ सावरकर के साथ उनके ताल्लुक़ात की जानकारी थी - 'वे सब जो सावरकर के अनुयायियों द्वारा की गयी राजनैतिक हत्या की कोशिश की ओर संकेत करते थे।'[२०६] पुलिस के प्रत्येक दस्ते ने इस तरह आचरण किया जैसे वे सार्थक ढंग से बात न करने के लिए मजबूर रहे हों, और बाद में गाँधी की मृत्यु के लिए उनमें से प्रत्येक ने दूसरे के असहयोगपूर्ण रवैये को दोषी ठहराया। नागरवाला ने उनसे मिलने आये उन दो अधिकारियों से कहा कि उनकी जाँच-पड़ताल नियन्त्रण में है और उन अधिकारियों को दिल्ली वापस जाने का आदेश दे दिया।[२०७]

इस बीच, नागरवाला की बम्बई पुलिस मोरारजी देसाई के आदेशों का पालन करती हुई सावरकर के मकान पर एक ऐसी निगरानी रखे हुए थी जो निष्प्रभावी साबित हुई। नागरवाला ने 'अपनी क्राइम रिपोर्ट नम्बर १ में कहा था कि सावरकर षडयन्त्र के पीछे थे और यह कि वे बीमार होने का स्वांग भर रहे थे और लोगों को यह ग़लत जानकारी दे रहे थे कि वे राजनीति से बाहर थे।'[२०८]

इस मुकाम पर गाँधी के मात्र सात दिन बचे थे जब उनके हत्यारे वापस आने वाले थे।

जब दिल्ली पुलिस के अधिकारी बिना कुछ हासिल किये बम्बई से लौटे, तो कपूर रिपोर्ट ने इस बात को दर्ज़ किया है कि उनको 'तुरन्त पूना पुलिस को फ़ोन करके या तार भेजकर *अग्रणी* के

सम्पादक के बारे में सूचना देनी चाहिए थी और यह पूछताछ करनी चाहिए थी कि वह कौन था, उसके साथी कौन लोग थे, उसकी गतिविधियाँ क्या थीं और उनके अड्डे कौन-से थे। इसी के साथ-साथ उनको उनकी गिरफ़्तारी की माँग भी करनी चाहिए थी।[२०६] लेकिन उनने कुछ मिलाकर इतना ही किया कि बम्बई के अपने नाकामयाब दौरे की रिपोर्ट भर सौंप दी।

गाँधी के पास जीवित रहने के लिए पाँच दिन बचे थे।

यह भी कि २५ जनवरी को दिल्ली के पुलिस महानिदेशक संजेवी की मुलाक़ात बम्बई के उप महानिदेशक यू.एच. राणा से हुई थी जो संयोग से उस समय दिल्ली में ही थे। संजेवी ने राणा को पाहवा द्वारा दिल्ली पुलिस को दिये गये सबसे ताज़ा, २४ जनवरी के बयान की प्रतिलिपि सौंपते हुए उनसे वह बयान व्यक्तिगत तौर पर बम्बई पुलिस को सौंपने का आग्रह किया। अपने इस बयान में पाहवा अब तक अपने सह-षडयन्त्रकारी के रूप में न सिर्फ़ हिन्दू राष्ट्र के सम्पादक (गोडसे) का उल्लेख कर चुका था, बल्कि अख़बार के 'मालिक' (आप्टे) का भी उल्लेख कर चुका था।[२१०]

राणा उस एक मुहिम पर बम्बई के लिए रवाना हुए जिसके लिए हालाँकि देर हो चुकी थी लेकिन वह तब भी गाँधी की जान बचा सकती थी। हालाँकि, उन्होंने हवाई जहाज़ से जाने की बजाय ट्रेन से जाने का फ़ैसला किया। बाद में उन्होंने कहा था कि ऐसा उन्होंने इसलिए किया 'क्योंकि उनको हवाई जहाज़ से जाना अच्छा नहीं लगता था।'[२११] उन्होंने बम्बई के लिए एक बहुत लम्बा रास्ता भी चुना जिसने उनको छत्तीस घण्टे की ट्रेन-यात्रा कराते हुए आधा हिन्दुस्तान घुमा दिया।[२१२] इस दौरान गोडसे और आप्टे वास्तव में बम्बई में ही थे, जो सावरकर के साथ परामर्श करते हुए गाँधी की हत्या की योजना को नयी शक्ल दे रहे थे।[२१३]

जब राणा अन्ततः २७ जनवरी को बम्बई पहुँचे, तभी गोडसे और आप्टे हवाई जहाज़ से दिल्ली के लिए रवाना हुए थे। गाँधी के पास तीन दिन बचे थे। राणा तब कमिश्नर नागरवाला से मिले। राणा ने बताया कि उन्होंने 'मदनलाल का पूरा बयान मिस्टर नागरवाला को दिखाया था, लेकिन उनने वह बयान उनसे वापस ले लिया और नागरवाला ने उसको पूरा नहीं पढ़ा था।'[२१४] कपूर रिपोर्ट ने इस बात को लक्ष्य किया था कि नागरवाला ने 'मिस्टर राणा से मदनलाल के बयान के पूरे ब्यौरे के बारे में जानकारी नहीं माँगी क्योंकि वे (नागरवाला) जो भी कार्रवाई पहले कर चुके थे, उससे वे सन्तुष्ट प्रतीत होते थे। ये किंचित विचित्र-सा कथन है क्योंकि मिस्टर नागरवाला प्राफ़ेसर जैन द्वारा दी गयी उस जानकारी पर काम कर रहे थे, जो उन तक मोरारजी देसाई ने पहुँचायी थी, और दिल्ली में दिया गया मदनलाल का बयान इस जानकारी पर काम करने में मदद कर सकता था।'[२१५]

क्या वजह थी कि राणा ने नागरवाला को वह बयान नहीं सौंपा, जो गाँधी की हत्या की योजना में शरीक पाहवा के सह-षडयन्त्रकारियों के बारे में अतिरिक्त जानकारी मुहैया कराने वाला था?

और क्या वजह थी कि नागरवाला ने उस बयान को अपने पास नहीं रखा या उसकी प्रतिलिपि तैयार नहीं की, या उसको आमूल-चूल नहीं पढ़ा क्योंकि कम-से-कम इतना तो वे कर ही सकते थे?

जब हिन्दू राष्ट्र के सम्पादक और मालिक की शिनाख़्त का सवाल उठा, तो विभिन्न पुलिस अधिकारियों की अनभिज्ञता और उदासीनता और भी उलझन में डालने वाली थी। कपूर आयोग ने पाया कि भारत सरकार के पास यह जानकारी उसकी फ़ायलों में पूरे समय मौजूद थी। 'अख़बारों के सालाना वक्तव्य' की प्रतियाँ भारत सरकार के गृह विभाग और सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, दोनों को भेजी जा चुकी थीं। अख़बार की सूची में हिन्दू राष्ट्र के सम्पादक के तौर पर एन.वी. गोडसे और मालिक के तौर पर एन.डी. आप्टे का नाम अंकित था, और दस्तावेज़ में इस अख़बार को 'सावरकर समूह के एक अख़बार' के रूप में दर्शाया गया था।[२१६]

पुलिस महानिदेशक टी. जी. संजेवी उस इंटेलीजेंस ब्यूरो के निदेशक भी थे, जो हिन्दुस्तान का पुलिस का सर्वोच्च पद है।[२१७] पाहवा के पकड़े जाने से लेकर गाँधी की हत्या तक के दस दिनों के दौरान गोडसे और आप्टे का हिन्दू राष्ट्र से रिश्ता बताने वाली सूची संजेवी की अपनी फ़ायलों में मात्र कुछ ही क़दम की दूरी पर थी। उन्होंने ये क़दम कभी नहीं उठाये। न किसी दूसरे पुलिस अधिकारी ने उठाये।

कपूर रिपोर्ट ने टिप्पणी की थी : 'जिन परिस्थितियों में वह घटना घटित हुई उनमें उसका घटित न होना अविश्वसनीय होता। मिस्टर यू.एच. राणा को मिस्टर संजेवी के साथ मिलकर मदनलाल के बयान को आमूल-चूल पढ़ना चाहिए था, जो उन्होंने नहीं किया, जैसा कि मिस्टर संजेवी का नोट दर्शाता है, और यह कि दोनों में से एक ने भी २५ जनवरी को इंटेलीजेंस ब्यूरो या प्रेस इन्फ़ॉर्मेशन ब्यूरो से यह पता लगाने का थोड़ा भी कष्ट नहीं उठाया' कि हिन्दू राष्ट्र का मालिक (या सम्पादक) कौन था।[२१८]

और इस तरह जो लोग गाँधी का पीछा कर रहे थे, उनका पता लगाने और उनको गिरफ़्तार करने के मामले में आलस्य, विलम्ब और सरकारी उदासीनता से ग्रस्त पुलिस की जाँच-पड़ताल का यह सिलसिला चलता रहा। पाहवा ने कहा था कि वे लोग वापस आएँगे, और वे वापस आये। पुलिस ने अपनी अकर्मण्यता से हत्यारों के लिए एक और मौक़ा उपलब्ध करा दिया।

क्यों?

परदा पल भर के लिए उस वक़्त उठा था जब नागरवाला से यह पूछा गया था कि उन्होंने सावरकर को गिरफ़्तार या नज़रबन्द क्यों नहीं किया था। 'उनका जवाब था कि हत्या के पहले उन्होंने ऐसा इसलिए नहीं किया था क्योंकि इससे महाराष्ट्र क्षेत्र में न सिर्फ़ उत्तेजना फैल जाती बल्कि उथल-पुथल मच जाती।'[२१९]

नागरवाला इस बात को स्वीकार कर रहे थे कि गाँधी की हत्या के पहले उनको सावरकर और

उनके अनुयायी इतने शक्तिशाली दीखते थे कि उनको रोकना असम्भव था। पुलिस के नज़रिये से गाँधी के हत्यारों को हत्या करने के पहले छुट्टा घूमने देना शक्ति के लिए रियायत देना था।

२७ जनवरी की शाम गाँधी एक अमेरिकी पत्रकार विन्सेण्ट शिएन से मिले जो गाँधी से मिलने की तीव्र इच्छा से भरकर वर्माण्ट स्थित अपने फ़ॉर्म हाउस से वहाँ आये थे। शिएन को निरन्तर यह भय सता रहा था कि जल्दी ही गाँधी की हत्या हो सकती थी। शिएन चाहते थे कि वे दूसरे विश्व युद्ध और अणु बम के बाद उनके सामने उभरे मुश्किल सवालों को गाँधी के सामने रखते, लेकिन वे इस भयावह अहसास से प्रेरित थे कि इसके पहले ही गाँधी की हत्या हो जाएगी।[२२०] वे जो सवाल गाँधी से पूछना चाहते थे, वे यह थे कि हिटलर के ख़िलाफ़ लड़े जाने के लिए जिस युद्ध की ज़रूरत पड़ी थी वह विश्व का संहार कर देने वाले हथियारों के आविष्कार का कारण कैसे बन गया? मानव जाति अपने ही द्वारा गढ़े गये इन हथियारों से कैसे बच पाएगी?

जब प्यारेलाल प्रार्थना-सभा के बाद उनको अभी तक जीवित बचे गाँधी से मिलने ले गये, तो शिएन को गहरी राहत मिली। वह लम्बा रिपोर्टर और ठिगना सत्याग्रही कमरे में बिछी चटाई पर एक-दूसरे की बग़ल में चलते रहे, जिस दौरान शिएन महात्मा के सामने अपने सवाल दागते रहे। उन्होंने शुरुआत तो फ़लसफ़ाना अन्दाज़ में की लेकिन गाँधी उनको जल्दी ही ज़मीन पर ले आये।

शिएन ने कहा, 'मैं कर्म और कर्म के फलों के साथ बातचीत शुरू करने का प्रस्ताव करता हूँ।'

गाँधी चलते-चलते ठहर गये। वे अपनी बात कहना चाहते थे। उन्होंने किसी चिड़िया की तरह गरदन हिलाते हुए शिएन की ओर देखा।

'पहले मैं एक बात साफ़ कर दूँ,' उन्होंने कहा। 'मुझे मोतीझिरा का बुखार है। डॉक्टर भेजे जाते हैं और वे सल्फ़ा ड्रग के इंजैक्शन या उसी तरह की कोई चीज़ें देकर मेरी जान बचा लेते हैं। लेकिन इससे कुछ भी साबित नहीं होता। मुमकिन है कि मेरा मर जाना मनुष्यता के लिए ज़्यादा मूल्यवान होता।'

गाँधी ने गर्दन उठाकर शिएन की ओर देखा। वे इन्तज़ार करते रहे थे कि यह बात शिएन के मन में ठीक से बैठ जाए कि मुमकिन है उनका मर जाना मनुष्यता के लिए ज़्यादा मूल्यवान हो।

'क्या यह बात ठीक-से समझ में आ गयी?' उन्होंने पूछा। 'अगर न आयी हो, तो मैं इसको दोहराऊँ?'

'नहीं, सर,' शिएन ने कहा। 'मेरा ख़याल है मैं इसे समझ गया हूँ।''दोनों आदमी फिर से चहलक़दमी करने लगे।

'एक न्यायसंगत लड़ाई विध्वंसकारी नतीजे कैसे पैदा कर सकती है?' शिएन ने पूछा। वे ख़ास

तौर से दूसरे विश्व युद्ध के बारे में सोच रहे थे।

'उन साधनों की वजह से जिनका इस्तेमाल किया गया,' गाँधी ने कहा। साधनों को साध्य से अलग नहीं किया जा सकता।' यह वही अन्तर्दृष्टि थी जिसको लेकर गाँधी को सावरकर द्वारा लन्दन में उन हत्याओं के इस्तेमाल के प्रश्न को लेकर चुनौती दी गयी थी, जिनका इस्तेमाल राष्ट्रीय मुक्ति को हासिल करने के लिए सावरकर की मण्डली कर रही थी। असम्भव, गाँधी ने सावरकर और उनके छात्र उग्रवादियों से कहा था। इस समय गाँधी शिएन के सामने, जब वे तीन दिन बाद सावरकर के और भी नये अनुयायियों के हाथों मारे जाने वाले थे, साधनों और साध्यों के बीच के सामंजस्य की एक बार फिर नये सिरे से व्याख्या कर रहे थे। गाँधी ने कहा, 'अगर हिंसक साधनों का इस्तेमाल किया गया, तो उसके नतीजे बुरे होंगे।'

'क्या ये बात हर समय और स्थान के सन्दर्भ में सही है?' शिएन ने पूछा।

'मैं तो यही कहता हूँ,' गाँधी ने कहा। 'ये पद परिवर्तनीय हैं। कोई भी अच्छा कर्म बुरे नतीजे को पैदा नहीं कर सकता। बुरे साधन, अच्छे साध्य के लिए इस्तेमाल किये जाने पर भी, बुरे परिणाम पैदा करते हैं।'[२२१]

शिएन इतनी आसानी-से मानने वाले नहीं थे : 'मैं हिटलर के ख़िलाफ़ हमारे युद्ध के बारे में सोच रहा था, जो मेरी निगाह में एक न्यायसंगत युद्ध था। मैं उनमें से कुछ नेताओं को जानता था जो हमारे पक्ष के थे।'

गाँधी ने सिर हिलाया, जिसका मतलब शिएन ने यह समझा कि रूज़वेल्ट और चर्चिल, दोनों के ही इरादे नेक थे।

शिएन ने अपनी बात जारी रखी : 'यह कैसे मुमकिन हुआ कि फ़ासीवाद की बुराई के ख़िलाफ़ हमारी लड़ाई जैसे एक सच्चे अर्थों में न्यायसंगत युद्ध ने उन नतीजों को पैदा किया जिनका सामना हम कर रहे हैं?'

गाँधी शिएन की ओर झुके। उन्होंने गहरी उदासी के साथ विनम्रतापूर्वक कहा, 'आपके साध्य शुभ रहे हो सकते हैं, लेकिन आपके साधन अशुभ थे। ये सत्य की ओर ले जाना वाला मार्ग नहीं है।'

शिएन ने कहा, 'जो लोग हम पर हुकूमत करते हैं, ज़ाहिर है उनका सरोकार कर्म के सत्य की बजाय कर्म के फलों से होता है। तब फिर हम पर अच्छे ढंग से शासन कैसे किया जा सकता है?'

'आपको अपनी दौलत की उपासना करना बन्द कर देना चाहिए,' गाँधी ने कहा। शिएन जानते थे कि गाँधी यह कहना चाह रहे थे कि अमेरिकियों को दौलत की उपासना बन्द कर देनी चाहिए। गाँधी ने शिएन के समक्ष एक प्रतिनिधित्वशाली लोकतन्त्र की रूपरेखा रखी, जिसमें भ्रष्ट लोगों को उन लोगों

द्वारा पदच्युत कर दिया जाना चाहिए जो भ्रष्ट नहीं हैं। वे पल भर को रुके, और फिर बोले, 'उन लोगों द्वारा जिनका सत्ता से कोई लेना-देना नहीं है।'

'आपका मतलब है, सत्ता भ्रष्ट करती है?' शिएन ने पूछा।

'हाँ,' गाँधी ने कहा, 'मुझे अफ़सोस है कि मैं यही कह रहा हूँ कि सत्ता भ्रष्ट करती है।' तब भी, जैसा कि गाँधी जानते थे, वे सत्ता के हाथों भ्रष्ट हुए लोगों, जिनमें भारत सरकार में मौजूद स्वयं उनके शिष्य शामिल थे, को परामर्श देना बन्द करने वाले नहीं थे। उनका स्पष्ट उद्देश्य स्वयं कभी सत्ता प्राप्त करने का नहीं था। न ही वे यह चाहते थे कि अहिंसा के रास्ते सत्य के परम बल के लिए प्रयोग कर रहा कोई भी व्यक्ति राजनैतिक सत्ता की आकांक्षा करे। गाँधी एक कहीं ज़्यादा गहरे क़िस्म के बल को सिद्ध करने के लिए प्रतिबद्ध थे - सत्य के बल के लिए, अपने सामने पड़ने वाले सबसे निर्बल मनुष्य में ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए, और इन निर्बलों के माध्यम से शक्ति बटोरने के लिए प्रतिबद्ध। एक अगला क़दम यह था कि उन लोगों तक में ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना जिनने उनकी हत्या की योजना बनायी थी (सावरकर) और जिसने उनकी हत्या की थी (गोडसे), और तब भी उनके भीतर प्रेम उत्पन्न करना, जैसा कि उन्होंने अपनी मृत्यु के क्षण में किया था, जब वे और उनका हत्यारा एक-दूसरे के सामने प्रणति की मुद्रा में झुके थे।[२२२]

गाँधी ने कहा था कि 'एक शुभ परिणाम हासिल करने के लिए अहिंसा परमावश्यक है।'[२२३]

उस मुलाक़ात के अन्त में गाँधी ने शिएन से कहा था कि उनसे दोबारा मुलाक़ात का वे स्वागत करेंगे : 'और इसे एक स्थायी निमन्त्रण की तरह लें!'[२२४] इसके बाद, जैसा कि शिएन लिखते हैं, गाँधी ने 'बहुत विनम्रता के साथ, एक ऐसे स्वर में जिसे सुनकर किसी दुश्मन का दिल भी पिघल जाता (और मैं कोई दुश्मन नहीं था) यह भी कहा : 'अगर समय नहीं बचा, तो क्या आप समझेंगे?''[२२५]

इस रिपोर्टर ने गाँधी की हत्या के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका लौटने पर लिखा था : 'उनको मालूम था कि मैं हताशा की ओर बढ़ती अवस्था में यह जानने के लिए कि सत्य क्या है, आधी दुनिया पार करके उनके पास आया था - इतना तो वे कुछ ही मिनिटों में सहज ही समझ गये थे - और उन्होंने नतीजों की परवाह किये बिना मुझे तुरन्त यह समझाया। मेरी उम्मीदों या सम्भावना के एकदम परे जिस चीज़ से मेरा सामना हुआ, वह दैवीय करुणा की अभिव्यक्ति थी।'[२२६]

२६ जनवरी को विनसेण्ट शिएन जवाहरलाल नेहरू के साथ एक आम सभा के लिए पाकिस्तान से लगी हिन्दुस्तान की उत्तर-पश्चिमी सरहद पर स्थित अमृतसर गये। अपने देश के प्रधान मन्त्री को सुनने चार लाख लोग एक पार्क में जमा थे। नेहरू के क़रीब बैठे शिएन मनुष्यों के उस उमड़ते समुद्र को देखकर विस्मित थे। 'राजनैतिक दृष्टि से बेहद महत्त्वपूर्ण उस भाषण' में नेहरू ने जो कुछ कहा, उसे सुनकर भी शिएन चकित थे। यह पहली बार था जब हिन्दुस्तान की सरकार के किसी सदस्य ने

हिन्दू प्रतिक्रियावादी या आद्य-फ़ासीवादी संगठनों पर, उनका नाम लेते हुए खुला हमला किया था - उन संगठनों पर जो, अगले चौबीस घण्टों के भीतर, महात्मा गाँधी की जान लेने जा रहे थे।'[२२७]

सरहद पर बसा नगर होने के नाते, अमृतसर पाकिस्तान से आये हिन्दू और सिख शरणार्थियों से भरा हुआ था। नेहरू के श्रोताओं में बड़ी तादाद में ऐसे लोग शामिल थे जो उन मुसलमानों के ख़िलाफ़ इन्तकाम के जज़्बे से उबल रहे थे, जिनको वे अपनी बदहाली के लिए ज़िम्मेदार मानते थे। वे हिन्दू महासभा और आरएसएस द्वारा भड़काये जा रहे थे जिनकी ओर नेहरू ने गाँधी की हत्या की पूर्व-संध्या पर अँगुली उठाते हुए हमला किया था।

इतिहास के एक नाज़ुक मोड़ पर दिया गया नेहरू का वह भाषण बहुत साहसपूर्ण था। बदक़िस्मती से, उस विशाल जन-समुदाय में से किसी ने भी उसको सुना नहीं। जैसाकि शिएन ने देखा था, परिस्थितियाँ कुछ ऐसी निर्मित हुईं कि 'लाउडस्पीकर ख़राब हो गये और नेहरू के भाषण का एक भी शब्द सुनायी नहीं दे सका।'[२२८]

उसी दिन, एक दोस्त को लिखे गये अपने ख़त में गाँधी ने लिखा था कि उनकी मुहिम अभी पूरी नहीं हुई थी : 'अगर यह कहा जा सकता हो कि दिल्ली में मेरा 'काम पूरा हो चुका है', तो मुमकिन है कि अपनी प्रतिज्ञा ('करो या मरो') की ख़ातिर मेरा यहाँ बने रहना ज़रूरी न रह गया हो। हो सकता है कि इस मसले पर कल फ़ैसला लिया जाए।'[२२९]

उस आख़िरी रात बिस्तर पर सोने जाने से ठीक पहले, उनकी देखभाल में लगे एक सहयोगी से बात करते हुए गाँधी ने एक बार फिर कहा था कि अगर मैं 'एक पुरोहित हूँ, जो होने का मैं दावा करता हूँ', तो मुझे अपनी एक-एक श्वास में ईश्वर का नाम जाप करते हुए अपने हत्यारे को जवाब देना होगा : 'अगर कोई व्यक्ति मेरे आरपार गोली भेदता हुआ मेरे जीवन का अन्त करता है - जैसेकि उस दिन किसी ने बम के माध्यम से करने की कोशिश की थी - और मैं उसकी गोली को बिना किसी कराह के सह लेता हूँ, और ईश्वर का नाम लेते हुए अपनी आख़िरी साँस लेता हूँ, तभी मैं अपने दावे पर खरा उतरा माना जाऊँगा।'[२३०]

शुक्रवार, ३० जनवरी को, धरती पर गाँधी के आख़िरी दिन, प्यारेलाल ने उनको उनके द्वारा व्यक्त की गयी चिन्ता पर हिन्दू महासभा के अध्यक्ष डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की प्रतिक्रिया की सूचना दी। सावरकर के संगठन के औपचारिक मुखिया डॉ. मुखर्जी नेहरू के मन्त्रीमण्डल में एक मन्त्री थे -यह उस सत्ता का एक संकेत था जो नेहरू की अपनी सरकार में उन शक्तियों ने हासिल कर रखी थी जिनका प्रत्याख्यान नेहरू ने उस दिन अपने उस न सुने गये भाषण में किया था। गाँधी ने मुखर्जी से पूछा था कि क्या मेहरबानी करके वे महासभा के नेता के रूप में अपनी शक्ति का उपयोग महासभा के उन कार्यकर्ताओं की गतिविधियों पर नियन्त्रण लगाने के लिए करेंगे, 'जो कॉंग्रेस के कुछ नेताओं

की हत्या को उकसाने वाले बेहद भड़काऊ भाषण देते आ रहे थे।'[२३१]

प्यारेलाल ने गाँधी को डॉ. मुखर्जी के 'हिचकिचाहट-भरे और असन्तोषजनक जवाब' की जानकारी दी। उन्होंने कहा कि 'लगता है कि उन्होंने इस तरह ग़ैरज़िम्मेदाराना बयानों और गतिविधियों और बहुत जल्द ही सामने आने जा रहे इनके दुष्प्रभावों को बहुत कम करके आँका है।'

प्यारेलाल अपनी जीवनी में कहते हैं : 'जब मैंने गाँधीजी को डॉ. मुखर्जी के इस जवाब की सूचना दी तो उनकी भँवें तन गयीं।'[२३२]

अपनी आख़िरी सुबह के दौरान गाँधी ने नोआखाली क्षेत्र, जो अभी भी विक्षोभ से पीड़ित था, में प्यारेलाल को रचनात्मक अहिंसा के अपने प्रयोगों को जारी रखने के लिए प्रोत्साहित किया। गाँधी ने कहा, 'मैं किस क़दर चाहता था कि ये सारे काम मैं खुद करता! जिन लोगों के लिए हम काम कर रहे हैं, उनके मन से हमें मृत्यु के डर को हटाने की और उनके दिलों और प्यार को जीतने की ज़रूरत है...। अगर दिलों में प्रेम के अलावा और कुछ नहीं होगा, तो तुम्हारे शब्द उन दिलों में बैठ जाएँगे।'

शाम ४:०० बजे गाँधी पटेल के साथ गहन चर्चा में व्यस्त रहे। नेहरू के साथ अपने गहराते हुए झगड़ों की वजह से गृहमन्त्री अपने पद से इस्तीफ़ा देने की कगार पर थे। गाँधी इन दोनों आदमियों को सरकार के लिए अपरिहार्य मानते थे। उन्होंने समझौते का परामर्श दिया था। उनकी मृत्यु यह काम पूरा करने वाली थी। उस शाम, गाँधी की हत्या के बाद, नेहरू अपने गुरु के शव के क़रीब पटेल की गोद में सिर रखकर सुबक रहे थे। भटककर घर वापस लौटे हुए गाँधी के ये दोनों ख़र्चीले बेटे, जिन्होंने विभाजन को स्वीकार कर उनको धोखा दिया था, यह बात अच्छी तरह से जानते थे कि गाँधी ने उनको कभी भी प्रेम करना बन्द नहीं किया था। गाँधी की शहादत के नतीजे में सामंजस्य की स्थिति में पहुँचे ये दोनों नेता दिसम्बर १९५० में पटेल की मृत्य के समय तक हिन्दुस्तान पर शासन करना जारी रखने वाले थे।[२३३]

जब अन्ततः गाँधी ने शाम ५:१० बजे पटेल को समझा-बुझाकर फ़ुरसत पायी, तो उनको बताया गया कि काठियावाड़ के भारतीय प्रायद्वीप से आये कुछ नेता उनसे मिलने का अनुरोध कर रहे थे।

'उनसे प्रार्थना के बाद आने को कहो,' उन्होंने कहा। 'अगर मैं ज़िन्दा रहा तो मैं उनसे मिलूँगा।'[२३४]

प्रार्थना-सभा के रास्ते की घास पर चलते हुए गाँधी ख़ामोश बने रहे। अपनी पोतियों, आभा और मनु के कन्धों पर हाथ रखे वे छह सीढ़ियाँ चढ़कर उस चबूतरे पर पहुँचे जो उनका प्रार्थना-स्थल हुआ करता था। बाद के क्षणों का वर्णन मनु ने किया है।

'फिर, उन्होंने कन्धों से अपने हाथ हटाकर वहाँ एकत्र लोगों को नमस्कार करने के लिए दोनों हाथ जोड़े, और आगे चल पड़े। मैं उनके दाँयीं तरफ़ चल रही थी। उसी दिशा से खाकी वर्दी में एक तगड़ा नौजवान हाथ जोड़े भीड़ को धकियाता हुआ हमारे क़रीब आ गया।'[२३५]

यह खाकीवर्दीधारी आदमी नाथूराम गोडसे था। जब मनु ने उसको हल्के-से परे हटाने की कोशिश करते हुए कहा कि 'बापू को पहले ही दस मिनिट की देर हो चुकी है,' तो गोडसे ने उनको धक्का देकर अपने रास्ते से हटा दिया। मनु उस जपमाला को उठाने के लिए झुकीं जो उनके हाथ से छिटककर नीचे गिर गयी थी।[२३६] गोडसे सिर झुका, हाथ जोड़कर गाँधीजी को प्रणाम कर रहा था। अपना सिर उठाकर उसने एक ऑटोमैटिक पिस्तौल निकाली और तेज़ी-से तीन गोलियाँ दाग दीं, एक गाँधी के पेट में, और दो उनकी छाती में। जैसे ही गाँधी हत्यारे को आशीर्वाद देते हुए ज़मीन पर गिरे, उनके आख़िरी शब्द थे 'राम! राम!'[२३७]

विनसेण्ट शिएन दस क़दम की दूरी पर थे। उनको गाँधी का एक और साक्षात्कार लेने के लिए प्रार्थना के बाद उसी शाम का समय दिया गया था। शिएन गाँधी को घास पर चलकर प्रार्थना-मण्डप की ओर जाते देखते रहे थे। जैसे ही उनकी छोटी-सी काया सीढ़ियाँ चढ़ने लगी थी, तो वे भीड़ की ओट में हो जाने की वजह से इस रिपोर्टर को दिखना बन्द हो गये थे।

जब शिएन ने उन तीन हल्के धमाकों की आवाज़ें सुनी, तो उन्होंने पास में खड़े एक दोस्त से दहशत में भरकर कहा, 'यह क्या है?' उनके उस दोस्त का चेहरा पीला पड़ गया, तो शिएन समझ गये कि गाँधी की हत्या का उनका पूर्वाभास सही साबित हो चुका है। वे ईंटों की एक दीवार से टिक गये और उन्होंने अपने सिर में 'एक तेज़ लहरों जैसा विक्षोभ महसूस किया जैसे समुद्र में तूफ़ान उठने से पैदा होता है - लगा जैसे लहरें तेज़ हवाओं के साथ तेज़ी-से उठ और गिर रही हों...। ऐसी चीज़ें कैसे मुमकिन हो सकती हैं?'[२३८] यह सवाल कई दिनों तक मेरे दिमाग़ में घूमता रहा।

गाँधी का वह कथन और वह सवाल उनके दिमाग़ से उड़ चुका था : 'मुमकिन है कि मेरा मर जाना मनुष्यता के लिए ज़्यादा मूल्यवान हो। क्या यह बात ठीक-से समझ में आ गयी? अगर न आयी हो, तो मैं इसको दोहराऊँ?'

शिएन ने कहा था, 'नहीं, सर। मेरा ख़याल है, मैं इसे समझ गया हूँ।' लेकिन वे समझे नहीं थे। अपने गुरु गाँधी के प्रति अपने अनुराग, और उनके सम्मुख बैठकर उनसे और अधिक सीखने की अपनी आकांक्षा के चलते, अब उनकी हत्या के बाद शिएन उनके बीच हुए संवाद में गाँधी द्वारा कही गयी इस सबसे पहली बात को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे कि मुमकिन था कि उनका मर जाना मनुष्यता के लिए ज़्यादा मूल्यवान होता।

गाँधी की मृत्यु के प्रभाव का वर्णन डेनिस डैल्टॅन द्वारा इन शब्दों में किया गया है :

गाँधी की हत्या ने विभाजन के इर्दगिर्द व्याप्त साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने में जो भूमिका निभायी वैसी भूमिका किसी भी दूसरी अकेली घटना ने नहीं निभायी थी। उसने इसे ठीक उसी तरह हासिल किया था जिस तरह उनके उपवासों ने हासिल किया था - लोगों को उनके भय, क्रोध और शत्रुता के बीच ठहरकर सोचने के लिए मजबूर करते हुए : खुद से यह पूछने के लिए विवश करते हुए कि इसके लिए जो क़ीमत उन्होंने चुकायी थी, क्या वह वाजिब थी। शायद कई प्रयोजन - करुणामय, तर्कपूर्ण और साथ ही शोक-सन्तप्त या अपराधबोध से ग्रस्त कई प्रयोजन - एक साथ काम कर रहे थे। लेकिन हत्याएँ रोक देने का एक दृढ़ निश्चय जिस किसी तरह पैदा हुआ...। उनकी मृत्यु के इस असर से बड़ा उनके जीवन का दूसरा कोई असर नहीं था, यह स्वराज के पक्ष में उनका अन्तिम वक्तव्य था।[२३६]

गाँधी की हत्या के मुक़दमे के पीठासीन न्यायाधीश आत्माचरण ने इस हत्या को उकसाने में पुलिस की भूमिका को लेकर तीखी निन्दा से भरा फ़ैसला सुनाया था। मुक़दमे का समापन करते हुए उन्होंने कहा था :

पुलिस ने २० जनवरी १९४८ और ३० जनवरी १९४८ के बीच के समय में मामले की जाँच-पड़ताल में जो ढिलाई बरती, उसकी ओर मैं केन्द्र सरकार का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। २० जनवरी १९४८ को मदनलाल के. पाहवा की गिरफ़्तारी के तुरन्त बाद पुलिस ने उसका बयान ले लिया था। बम्बई पुलिस को भी डॉ. जे.सी. जैन के उस बयान से सूचित किया जा चुका था जो उन्होंने २१ जनवरी १९४८ को माननीय श्री मोरारजी देसाई को दिया था। इन दोनों बयानों के तुरन्त बाद दिल्ली पुलिस और बम्बई पुलिस ने एक-दूसरे से सम्पर्क किया था। तब भी पुलिस इन दोनों बयानों का कोई लाभ उठा पाने में दुखद ढंग से नाकामयाब रही। अगर उस प्रकरण में, उस मुकाम पर थोड़ा भी चौकन्नापन बरता गया होता तो यह त्रासदी शायद टाली जा सकती थी।[२४०]

गाँधी के प्रपौत्र तुषार गाँधी ने इस हत्या में पुलिस की सहभागिता के बारे में लिखा है :

गृहमन्त्री सरदार पटेल को सौंपी गयी एक खुफ़िया रिपोर्ट के मुताबिक़ पुलिस बल और नौकरशाही में शामिल बहुत सारे लोग आरएसएस और हिन्दू महासभा के गुप्त सदस्य थे, और वे लोग सक्रिय रूप से इन उग्रवादी हिन्दू संगठनों की विचारधारा का समर्थन और प्रोत्साहन कर रहे थे..। २० और ३० जनवरी १९४८ के बीच पुलिस ने जो भी कार्रवाइयाँ कीं, वे गाँधी की, हत्या को रोकने की बजाय हत्याओं के सिलसिले को निर्बाध ढंग से आगे बढ़ाने के लिए ज़्यादा थीं...

पीछे मुड़कर देखने पर सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि पुलिस अपनी लापरवाही और अकर्मण्यता के चलते गाँधी की हत्या के लिए उतनी ही अपराधी थी, जितने स्वयं हत्यारे थे।[२४१]

सरकार में बैठे नेता गाँधी की हत्या के लिए किस हद तक ज़िम्मेदार थे?

प्रधानमन्त्री नेहरू के सरकारी सुरक्षा-प्रभारी जी.के. हण्डू ने गाँधी की हत्या की जाँच के लिए बिठाये गये कपूर आयोग के सामने स्पष्ट किया था कि गाँधी को हत्या से बचाने के लिए क्या किया जाना चाहिए था। हण्डू ने कहा था कि सरकार के पास सुरक्षा की एक रूपरेखा उपलब्ध थी जिसका इस तरह के मामलों में पालन किया जाता था।[२४२]

बम विस्फोट के बाद पाहवा और जैन द्वारा उपलब्ध करायी गयी जानकारी के मद्देनज़र, हण्डू का कहना था कि बम्बई और पूना पुलिस के अधिकारियों को (गोडस, आप्टे और अन्य सह-षडयन्त्रकारियों के साथ उनकी ख़ासी जान-पहचान के चलते) गुप्तचरी के काम में लगाया जाना चाहिए था। उनको दिल्ली के हवाई अड्डे, रेल्वे स्टेशनों, होटलों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थलों पर, विशेष रूप से प्रार्थना-सभाओं के दौरान बिड़ला हाउस में हत्यारों पर निगरानी रखने के लिए तैनात किया जाना चाहिए था। गाँधी के बचाव के लिए सादी वर्दी में पुलिसकर्मियों के दो घेरे तैयार किये जाने चाहिए थे, जिनमें से पहला घेरा उनसे तीन गज की दूरी पर होता, और दूसरा घेरा पच्चीस गज की दूरी पर होता।[२४३]

ये सरकार के वे मानक सुरक्षा-उपाय थे जो प्रधानमन्त्री और अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के सन्दर्भ में अपनाये जाते थे, ख़ास तौर से तब जब ख़तरे को पहचान लिया गया होता था। 'राष्ट्रपिता' माने जाने वाले गाँधी २०-३० जनवरी, १९४८ की अवधि के दौरान इस तरह की सुरक्षा-व्यवस्था की सर्वाधिक अर्हता रखते थे, तब तो और भी जबकि हिरासत में लिया जा चुका एक सह-षडयन्त्रकारी बारबार यह दोहरा चुका था कि गाँधी के हत्यारे वापस आएँगे। जैसाकि प्रश्नकर्ता सांसद रोहिणी चतुर्वेदी ने पटेल को ध्यान दिलाया था, सुरक्षा के मामले में (शारीरिक तलाशी के अलावा) गाँधी की सहमति की ज़रूरत नहीं थी। न ही गाँधी पुलिस की मौजूदगी के विरोध के मामले में ज़िद पर अड़े थे। नेहरू और पटेल की ज़िम्मेदारियों का लिहाज़ करते हुए गाँधी (शारीरिक तलाशी को छोड़कर) उन सभी सुरक्षा उपायों को अपनाने की मंज़ूरी दे चुके थे जो ये लोग आवश्यक समझते थे। 'उनको वही करने दो जो उनकी मरज़ी है,' उन्होंने कहा था।[२४४]

तब भी बम विस्फोट और गाँधी की हत्या के बीच के दस दिनों में उनकी रक्षा के लिए इनमें से कोई भी सुरक्षा-उपाय नहीं अपनाये गये। नेहरू और पटेल ने अपनी सुरक्षा-पुलिस को तैनात नहीं किया, जैसा कि उनको इस तरह की परिस्थिति में सामान्यतः करना चाहिए था - जैसा कि दरअसल गाँधी की हत्या के बाद, अपने जीवन की चिन्ताओं के चलते, उन्होंने तत्काल किया था। एक बेहद नाज़ुक मौक़े पर, ख़तरे की स्पष्ट चेतावनी के बावजूद, वे उस इन्सान के जीवन को बचाने में नाकामयाब रहे जिसके प्रति वे, उनका मुल्क, और सारी दुनिया सबसे ज़्यादा श्रद्धा रखते थे।

गाँधी की हत्या के आरोपियों में सावरकर भी शामिल थे। दिगम्बर बड़गे, जो सरकारी गवाह

बन गया था, ने अदालत में गवाही देते हुए सावरकर के साथ गोडसे और आप्टे की मुलाक़ातों की पुष्टि की थी। लेकिन पुष्टिकारी साक्ष्य के अभाव में सावरकर को निर्दोष पाया गया। गोडसे और आप्टे ने फाँसी पर लटकने के क्षण तक सावरकर का बचाव किया। वे इस षडयन्त्र में सावरकर के तार जुड़े होने का ज़ोरदार ढंग से खण्डन करते रहे।

सावरकर ने अपने बचाव में सत्तावन पृष्ठ का एक वक्तव्य पढ़ा। इस वक्तव्य में उन्होंने अपने जीवन की कथा सुनाते हुए स्वयं को एक आत्मबलिदानी देशभक्त के रूप में चित्रित किया। उन्होंने अपने ऊपर लगाये गये आरोपों से स्पष्ट इन्कार कर दिया। अपने वक्तव्य का समापन करते हुए उन्होंने अपने उन वक्तव्यों को उद्धृत किया जिनके बारे में उनका दावा था कि वे गाँधी के प्रति सराहना और स्नेह को दर्शाने वाले थे।

सावरकर ने अपने बचाव का जो प्रदर्शन किया था, उसे देखकर बचाव पक्ष के एक वकील पी. एल. इनामदार, जो सावरकर के प्रति अत्यन्त सराहना का खुलेआम इज़हार करते थे, हक्काबक्का रह गये थे : 'सावरकर ने, अदालत में अपना वक्तव्य पढ़ते हुए एक कुशल वक्ता के सारे हथकण्डों का इस्तेमाल किया और इस बात को लेकर अपने भाग्य पर विलाप किया कि स्वाधीन भारत सरकार द्वारा उनपर महात्माजी की हत्या का आरोप लगाया जा रहा है, जबकि वे बेहद ईमानदारी के साथ और अक्सर महात्माजी के व्यक्तित्व की सराहना और प्रशंसा करते रहे हैं। सावरकर ने वास्तव में अदालत में अपने भाषण का यह अंश पढ़ते हुए अपने गाल पोंछे थे।'[२४५]

हालाँकि, सावरकर बचाव-पक्ष के कटघरे में गोडसे की बग़ल में बैठे थे, लेकिन वे गोडसे और दूसरे बचावकर्ताओं की पूरी तरह से उपेक्षा करते रहे। सावरकर जानते थे कि यह बात उनके क़ानूनी हित में ही थी कि वे इस तरह का बरताव करते जैसे अपना बचाव कर रहे उनके इन साथियों से उनका कोई नाता नहीं था, ख़ास तौर से उस व्यक्ति के साथ जो गाँधी पर गोली चलाने की बात क़बूल कर चुका था। गोडसे ने अपने दोस्तों से कहा था कि किस तरह वह 'सावरकर के हाथ के एक स्पर्श, सहानुभूति के एक शब्द, या कम-से-कम करुणा से भरी निगाह के लिए तरसता रहा था।'[२४६] इस गोली दागने वाले गोडसे ने फाँसी के फन्दे तक सावरकर के प्रति अपनी वफ़ादारी निभायी, और आख़िर तक अपने गुरु की निर्दोषिता की घोषणा करता रहा। जिस दौरान गोडसे अपने बचाव में दिये गये बयान में अभियोजन पक्ष के वकील का मज़ाक़ उड़ा रहा था, क्योंकि उसने 'मुझे वीर सावरकर के हाथ के महज़ एक हथियार के रूप में चित्रित किया था,'[२४७] वहीं, बचाव पक्ष के वकील इनामदार के मुताबिक़, उसका गुरु 'पत्थर से तराशे गये स्फिंक्स के बुत' की तरह स्थिर बैठा रहा।[२४८]

तब भी आलोचकों का मानना था कि ये सावरकर ही थे जिन्होंने, गोडसे के प्रति अपनी आत्मरक्षात्मक और सार्वजनिक उदासीनता के बावजूद, वास्तव में गोडसे का वह लिखित बयान तैयार

किया था जो आश्चर्यजनक रूप से वाग्मितापूर्ण था। गोडसे को अपना वह अदालती वक्तव्य देने में नौ घण्टे लगे थे।[२४६] तुषार गाँधी ने कहा था :

इस वक्तव्य की भाषा हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि इसका ज़्यादातर हिस्सा या तो सीधे-सीधे वक्तृता के उस्ताद और शब्दों की कारीगरी में माहिर वी.डी. सावरकर की क़लम से निकला है, या निश्चित तौर पर उनके द्वारा सँवारा गया है। वाचिक और लिखित ज़ुबान पर सावरकर का जादुई नियन्त्रण था। अगर वह पूरी तरह से सावरकर द्वारा नहीं भी लिखा गया था, तो उसके अन्तिम प्रारूप को तो निश्चय ही उन्होंने ही सँवारकर तैयार किया था और उसको जज़्बाती तौर पर एक अत्यन्त रोमांचक दस्तावेज़ में बदल दिया था...। यह बात विदित थी कि आरोपियों को जेल में एक-दूसरे के साथ बातचीत करने की आज़ादी मिली हुई थी, और कई मौक़ों पर सुरक्षाकर्मियों को आरोपी के सन्देश चोरी छिपे लाते-ले जाते पकड़ा गया था। यह मानने की कोई वजह नहीं है कि नाथूराम उस चीज़ को परिमार्जित कराने में अपने रहनुमा और गुरु वी.डी. सावरकर की मदद हासिल नहीं कर सका होगा जिसे आज नाथूराम की विचारधारात्मक सन्तानें उसकी अन्तिम इच्छा और वसीयतनामे की संज्ञा देते हैं।[२५०]

न्यायाधीश आत्माचरण द्वारा गाँधी की हत्या के जुर्म को क़बूल कर चुके नाथूराम गोडसे को गाँधी पर विचारधारात्मक हमला करते हुए और सावरकर का न्यायिक बचाव करते हुए नौ घण्टे तक बोलने की छूट दिये जाने का तथ्य यह दर्शाता है कि अदालत किस क़दर गाँधी के हत्यारों की राजनैतिक शक्ति के सामने झुकी हुई थी। गोडसे के वक्तव्य में उसकी हत्या के शिकार व्यक्ति की 'मुसलमानों के प्रहारों के समक्ष घुटने टेक देने' के लिए भर्त्सना की गयी थी।[२५१] गोडसे ने दावा किया था कि उसको गाँधी की हत्या इसलिए करनी पड़ी थी क्योंकि वे भारत को मुसलमानों के प्रति समर्पित कर रहे थे, अन्यथा वे 'राष्ट्र को बरबादी की ओर ले जाते और पाकिस्तान के लिए बचे-खुचे हिन्दुस्तान पर क़ब्ज़ा करना आसान बना देते।'[२५२] गोडसे ने कहा था कि 'निरपेक्ष अहिंसा की गाँधी की शिक्षा का परिणाम अन्ततः हिन्दू समाज को बल-वीर्य-विहीन कर देने और इस समाज को दूसरे समुदायों, विशेष रूप से मुसलमानों की आक्रामकता को प्रतिरोध दे पाने में अक्षम बना देता।'[२५३] गोडसे ने गाँधी की अहिंसा की शिक्षा को 'हिन्दुओं के कल्याण के सर्वाधिक निष्ठावान समर्थक' 'वीर' सावरकर की उग्रवादी हिन्दू विचारधारा के बरक्स रखा था।[२५४] हालाँकि, गोडसे ने इस बात पर बारबार ज़ोर दिया था कि गाँधी की हत्या से सावरकर का कोई लेना-देना नहीं था।

क्या वजह थी कि न्यायाधीश ने गोडसे को अदालत का वह मंच उपलब्ध कराया जहाँ से वह उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर विस्तार से हमला कर सका जिसको पहले ही गोली मारकर ख़त्म कर दिया गया था? जिस वक़्त गोडसे को, और वस्तुतः सावरकर को, अदालती आक्षेप के तहत नौ घण्टे तक

गाँधी पर हमला करने की छूट दी गयी, तो बचावकर्ता अभियोजन पक्ष में बदल गये। यह न्यायाधीश द्वारा सावरकर को निर्दोष घोषित करने की एक स्पष्ट भूमिका थी।[२५५]

यह तो १९६६ में सावरकर की मृत्यु के बाद ही मुमकिन हुआ जब गाँधी की हत्या के पुनर्परीक्षण के लिए बिठाये गये एक सरकारी आयोग ने इस बात को उजागर किया कि सावरकर को दोषी ठहराये जा सकने योग्य प्रामाणिक साक्ष्य पूरे वक़्त सरकार के पास मौजूद थे। ४ मार्च १९४८ को, गाँधी की हत्या का मुक़दमा शुरू होने के तीन महीने पहले, सावरकर के अंगरक्षक अप्पा रामचन्द्र कासार, और उनके सचिव गजानन विष्णु दामले ने बम्बई पुलिस के सामने अभिलिखित बयान दिये थे, जो इस बात की पुष्टि करते थे कि वस्तुतः हत्या के पहले सावरकर, गोडसे और आप्टे के बीच कई मुलाक़ातें हुई थीं। कासार और दामले ने यह भी खुलासा किया था कि इनके अतिरिक्त सावरकर ने अन्य अभियुक्तों, करकरे, पाहवा, बड़गे और परचुरे के साथ भी जनवरी में ही मुलाक़ातें की थीं।[२५६]

गाँधी की हत्या की जाँच के लिए बिठाये गये इस आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति जे.एल. कपूर ने १९७० की अपनी रिपोर्ट में कहा था :

यह सारा कुछ इस बात को दर्शाता है कि जो लोग महात्मा गाँधी की हत्या में अनन्तर शामिल थे, वे सब कभी-न-कभी सावरकर सदन में एकत्र होते रहे थे और कभी-कभी इन लोगों ने सावरकर के साथ लम्बी-लम्बी चर्चाएँ की थीं। यह महत्त्वपूर्ण है कि करकरे और मदनलाल पाहवा दिल्ली रवाना होने से पहले सावरकर से मिलने गये थे और आप्टे तथा गोडसे बम फेंके जाने के पहले तथा हत्या किये जाने के पहले, दोनों बार उनसे मिलने गये थे और दोनों ही बार उनके बीच लम्बी चर्चाएँ हुई थीं।[२५७]

बम्बई के पुलिस कमिश्नर नागरवाला, जिन्होंने गाँधी के जीवित रहते बहुत कम तत्परता से काम लिया था, ने ३१ जनवरी १९४८ के एक ख़त में कहा था कि गाँधी की हत्या के परिणामस्वरूप उन्होंने सावरकर के अंगरक्षक कासार और उनके सचिव दामले को गिरफ़्तार किया था। नागरवाला को उनसे पता चला था कि गोडसे और आप्टे ने 'अपने दिल्ली रवाना होने की पूर्वसन्ध्या पर' सावरकर के साथ चालीस मिनिट की मुलाक़ात की थी[२५८] - यह, उन मुलाक़ातों के अलावा, जिनकी शिनाख़्त बड़गे ने की थी, एक निर्णायक मुलाक़ात थी। कासार और दामले ने 'इस बात को क़बूल किया था कि सावरकर के मकान में इन दोनों व्यक्तियों गोडसे और आप्टे को बेरोक-टोक आवाजाही की छूट थी।'[२५९]

सावरकर को षडयन्त्र से जोड़ने वाले साक्ष्यों का सारांश प्रस्तुत करते हुए न्यायमूर्ति कपूर ने अपनी रिपोर्ट में कहा था : 'एक साथ रखने पर ये सारे तथ्य सावरकर और उनकी मण्डली द्वारा गाँधी की हत्या के षडयन्त्र के अलावा और किसी भी अनुमान के सन्दर्भ में विनाशकारी थे।'[२६०]

गृहमन्त्री पटेल और प्रधानमन्त्री को जल्दी ही समझ में आ गया था कि गाँधी की हत्या के पीछे सावरकर का हाथ था। हत्या के एक महीने से भी कम समय के बाद पटेल ने नेहरू को लिखा था : 'ये सीधे-सीधे सावरकर के मातहत काम कर रही हिन्दू महासभा का एक गुट है जिसने यह षडयन्त्र रचा था और इसको अंजाम तक पहुँचाया था।'[२६१]

लेकिन सरकारी वकीलों ने कभी भी सावरकर के अंगरक्षक कासार को या उनके सचिव दामले को हत्या के मुक़दमे के दौरान गवाही के कटघरे में नहीं बुलाया। उनके बयानों ने गोडसे और आप्टे के साथ सावरकर की मुलाक़ातों के सन्दर्भ में दी गयी बड़गे की गवाही की पुष्टि की होती। न ही अभियोजन पक्ष ने सावरकर-गोडसे-आप्टे मुलाक़ातों के बारे में कासार और दामले द्वारा पुलिस को दिये गये साक्षात्कारों से ही कोई हवाले दिये। अभियोजन पक्ष ने इन दो निर्णायक महत्त्व के गवाहों और उनकी अभिलिखित सूचनाओं की उपेक्षा की। उनकी गवाही सरकार के षडयन्त्र प्रकरण को सावरकर के क़रीब ले गयी होती।[२६२]

तब फिर सरकार ने उन निर्णायक महत्त्व के साक्ष्यों को गुप्त क्यों रखा जिनने सावरकर को दोषी साबित किया होता?

गाँधी की हत्या के मुक़दमे के दौरान उस वक़्त एक अर्थपूर्ण बहस हुई थी जब बम्बई के गृहमन्त्री मोरारजी देसाई की गवाही के दौरान सावरकर का वकील उनसे ज़िरह कर रहा था। अपनी इस गवाही के दौरान देसाई प्रोफ़ेसर जैन की उस बात की पुष्टि कर रहे थे जो २० जनवरी को गाँधी की हत्या की कोशिश के लिए पाहवा की गिरफ़्तारी के बाद जैन ने उनसे कही थी : पाहवा ने पहले जैन से कहा था कि सावरकर उस षडयन्त्र में शामिल थे। देसाई ने कहा कि तब उन्होंने पुलिस को सावरकर के निवास पर निगरानी रखने का आदेश दिया था।[२६३]

सावरकर के एटॉर्नी ने देसाई से पूछा : 'क्या सावरकर के सन्दर्भ में क़दम उठाने के निर्देश देने के लिए आपके पास प्रोफ़ेसर जैन के वक्तव्य के आलावा सावरकर के बारे में कोई और सूचना थी?'

देसाई ने जवाब दिया : 'क्या मैं सारे तथ्य सामने रखूँ? मैं जवाब देने को तैयार हूँ। बेहतर होगा कि इसका फ़ैसला वे सावरकर ही करें।'[२६४]

सावरकर के बचावकर्ता ने सवाल वापस ले लिया। उसने न्यायाधीश से इस ज़िरह को अभिलेख से हटाने का, साथ ही हटाने के निवेदन को भी अभिलेख से हटाने का अनुरोध किया। न्यायाधीश ने ये अनुरोध स्वीकार कर लिये। अभिलेख से अप्रिय और अवांछित तत्त्वों को हटाकर, उसको स्वच्छ बना दिया गया।[२६५]

क्या कारण था कि मोरारजी देसाई जैसे एक प्रमुख पदाधिकारी, जो बाद में हिन्दुस्तान के प्रधानमन्त्री बने, के पास सावरकर से सम्बन्धित अतिरिक्त साक्ष्य के तौर पर जो भी तथ्य थे उन 'सारे तथ्यों को' महज़ सीधे-सीधे 'बताने' की बजाय उन्होंने इसका फ़ैसला बचावकर्ता सावरकर पर छोड़ दिया?

जिस चीज़ की पुष्टि के लिए सरकार के प्रभारी अधिकारी देसाई तैयार किन्तु अनिच्छुक थे, उसका 'फ़ैसला उन पर बचावकर्ता सावरकर पर क्यों छोड़ दिया गया?

यह अदालती ज़िरह, जिसको मुक़दमे के अभिलेख से हटा दिया गया था लेकिन जिसको वहाँ मौजूद टाइम्स ऑफ़ इण्डिया के एक पत्रकार ने रिपोर्ट किया था,[२६६] उस अकथनीय शक्ति की ओर संकेत करती है जो उस वक़्त भी सावरकर के पास मौजूद थी, जब वे गाँधी की हत्या के एक आरोपी थे। सावरकर पर मुक़दमा चला रही सरकार सिर पर मँडराती इस सम्भावना से घबरायी हुई थी कि साक्ष्य के आधार पर सावरकर दोषी ठहराये जा सकते थे। इस बात का फ़ैसला सावरकर पर छोड़ दिया गया था कि गवाह के कटघरे में खड़े देसाई क्या कहते।

पटेल का हवाला देते हुए तुषार गाँधी ने यह निष्कर्ष निकाला था कि सावरकर को एक अकथनीय राजनैतिक अनिवार्यता की वजह से निर्दोष ठहरा दिया गया था : 'पटेल ने यह स्वीकार किया था कि सरकार ने 'मुसलमानों को परेशान कर दिया था और हम हिन्दुओं को भी नाराज़ करने का ख़तरा मोल नहीं ले सकते थे।' अगर सावरकर दोषी पाये जाते और उनको सज़ा सुना दी जाती, तो यह स्थिति हिन्दू उग्रवादियों की भीषण प्रतिक्रिया को जन्म दे सकती थी, जिसका सामना करने को लेकर काँग्रेस भयभीत थी।'[२६७]

सावरकर ने १९६० में अपनी आख़िरी पुस्तक, जैसा कि उनके प्रकाशक ने लिखा है, 'अपनी बीमारी और बुढ़ापे के दिनों में'[२६८] लिखी थी। भारतीय इतिहास के छह तेजस्वी युग (सिक्स ग्लोरियॅस इपॉक्स ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री) नामक सरसरे ढंग से लिखी गयी उस कृति में सावरकर ने गाँधी की हत्या को परोक्ष ढंग से उचित ठहराने की कोशिश की थी। भारतीय इतिहास के उनके युगीन पठन के मुताबिक़ समय-समय पर भारत के कमज़ोर नेताओं की हत्या करना इसलिए ज़रूरी रहा था ताकि उन राष्ट्रीय शक्तियों को तैयार किया जा सकता जो विदेशी आक्रान्ताओं को मारकर भगा सकतीं।

राष्ट्रीय मुक्ति के अपने 'तेजस्वी युगों में से पहले युग में सावरकर ने वर्णन किया था कि किस तरह ईसापूर्व ३२१ में विद्रोही राजकुमार चन्द्रगुप्त, और उसके मन्त्री चाणक्य को सम्राट महापद्म नन्द का 'एक अपरिहार्य राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में वध करना पड़ा था, जो' सिकन्दर महान के नेतृत्व में यूनानी आक्रमण को 'रोक पाने में पूरी तरह असफल रहा था।'[२६९] इस दुर्बल सम्राट का वध एक राष्ट्रीय जनादेश था।

सावरकर के दूसरे 'तेजस्वी युग' के तहत ईसापूर्व १८४ में एक विश्वासघाती सेनापति पुष्यमित्र को 'महज़ एक राष्ट्रीय कर्तव्य के तौर पर' बौद्ध सम्राट 'वृहदरथ का शीष काटना पड़ा था'।[२७०] सावरकर का आग्रह था कि इस प्रकरण में एक ऐसे सम्राट का वध एक राष्ट्रीय अनिवार्यता थी जिसकी शान्तिवादी, बौद्ध आस्थाओं ने उसको 'ढुलमुल और दुर्बल' बना दिया था।[२७१]

जिस चीज़ को सावरकर प्राचीन भारतीय इतिहास की सचाई होने के दावे के रूप में पेश करते हैं, वह अपने में यह अन्तर्निहित तर्क लिये हुए है कि गाँधी की हत्या करना उनके लिए और उनके अनुयायियों के लिए एक राष्ट्रीय कर्तव्य था। चूँकि गाँधी एक सैन्यीकृत और पूर्णतः हिन्दू राष्ट्र की सावरकर की कल्पना के सामने सबसे बड़ी बाधा थे, इसलिए गाँधी की हत्या भी अनिवार्य थी।[२७२] सावरकर स्पष्ट ढंग से इस तरह का दुस्साहसिक दावा करने को लेकर सावधानी बरतते हैं, क्योंकि वैसा करने से हत्या में उनका हाथ होने का सन्देह एक बार फिर ताज़ा हो जाता। उन दो सम्राटों के साथ गाँधी की तुलना में एक अव्याप्ति दोष भी है। गाँधी कोई सम्राट नहीं थे, और सत्याग्रह के उनके विशालकाय अभियान किसी तरह कमज़ोरी का उदाहरण नहीं थे। इन सत्याग्रहों ने हिन्दुस्तान को आज़ाद किया था और अँग्रेज़ी साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया था।

लॉर्ड विली की हत्या को लेकर लन्दन में हुई तकरार के समय से ही रामायण की व्याख्या को लेकर गाँधी और सावरकर के बीच तीखे मतभेद थे। सावरकर के अनुसार, शिवत्व के अवतार राम को अशुभ के साक्षात रूप रावण का वध करना अनिवार्य था। चूँकि गाँधी का सत्याग्रह आन्दोलन, सावरकर के अनुसार, हिन्दुस्तान को कमज़ोर बनाने का एक और ख़तरा था, इसलिए वे उसको एक पापपूर्ण शक्ति मानकर उसकी भर्त्सना करते थे। सत्याग्रह आन्दोलन को गाँधी जिस अहिंसा और सत्य पर आधारित कहते थे, उसके बारे में सावरकर ने १९२१ में जेल के अपने साथियों से कहा था कि वह आन्दोलन, 'अहिंसा और सत्य के भ्रष्ट सिद्धान्तों' पर आधारित था।[२७३] अपने खण्डनात्मक विश्लेषण के तहत सावरकर का सोचना था कि अहिंसा और सत्य का गाँधीवादी भ्रम जनता पर अपनी इस क़दर मज़बूत पकड़ बना रहा था कि 'वह निश्चित तौर पर देश की शक्ति को नष्ट कर देता।' सावरकर ने अहिंसा आन्दोलन को एक पाप के रूप में देखते हुए उसकी असन्दिग्ध ढंग से निन्दा की थी : 'यह एक मरीचिका है, एक विभ्रम है, जो उस समुद्री तूफ़ान से भिन्न नहीं है जो जिस ज़मीन से होकर गुज़रता है, उसको सिर्फ़ उजाड़ता ही है। यह विक्षिप्तता की बीमारी है, एक महामारी और अहंकार का उन्माद।'[२७४]

इस तरह हुआ यह कि जेल से अपनी रिहाई के बाद सावरकर ने अपने साथी क़ैदियों के सामने रावण को मारकर पाप पर राम की विजय के नाटक को अपने द्वारा दोहराये जाने की भविष्यवाणी करते हुए कहा, 'किसी दिन, किसी समय,' जो 'निश्चय ही आपको तीखी पीड़ा पहुँचाएगा।'[२७५] सावरकर

का विश्वास था कि अहिंसा के पाप को नष्ट करने का एक ही कारगर तरीक़ा था जो अन्यथा भारत को दुर्बल बना देता और नष्ट कर देता। राम के लिए रावण को ख़त्म करना और युद्ध को जीतना आवश्यक था। सावरकर और उनके अनुयायियों के हाथों रूपायित होते राम द्वारा उस रावण का वध अनिवार्य था, जो गाँधी में रूपायित था।

गाँधी ने इस प्रतीकात्मक कथा से अहिंसा की एक सीख ली थी। एक शुभ शक्ति के रूप में राम के लिए हिंसा के पाप को अहिंसक ढंग से प्रतिरोध देना अनिवार्य था ताकि वे उस पाप पर विजय पा सकते। अन्तिम रूप से रावण की मृत्यु व्यक्ति के स्वत्व में होने वाली आन्तरिक मृत्यु का प्रतीक थी। मुक्ति का साधन था अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति प्रेम की ख़ातिर हिंसा को सहना, न कि उसकी हत्या करना।

इसके अतिरिक्त, राम या ईश्वर को सत्याग्रह आन्दोलन के समरूप मानकर नहीं देखा जा सकता, उसी तरह जैसे रावण या अशुभ को अँग्रेज़ी हुकूमत या हिन्दू महासभा के साथ एकात्म करके नहीं देखा जा सकता। गाँधी का ध्यान अपने प्रतिपक्षियों की मानवीयता पर केन्द्रित था, जिनको वे ईश्वर की उपस्थिति की तरह देखते थे। सत्य ईश्वर था और प्रतिपक्षी हमेशा सत्य के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता था। अपने प्रतिपक्षी के सत्य को जानना – उसको वास्तव में पहली बार देखना – पाप-मुक्ति की अहिंसक प्रक्रिया थी। यह ईश्वर के प्रति अपनी पक्षपातपूर्ण दृष्टि से मुक्त होकर उसके अनुग्रह का पात्र होने की प्रक्रिया थी। एक शुभ शक्ति के रूप में राम, और एक अशुभ शक्ति के रूप में रावण हर व्यक्ति में मौजूद हैं। इसका मतलब था कि अहिंसा अपने प्रतिपक्षी के सत्य को चरितार्थ करने का ढंग था – सत्य को अपने शत्रु की आँखों से देखने, और इस तरह एक अधिक सम्पूर्ण ढंग से स्वयं अपनी आँखों से देखने की अद्भुत प्रक्रिया। राम को ईश्वर का अद्वैत सत्य अनुभव करने के लिए मृत्यु और रूपान्तरण की हद तक रावण की हिंसक चुनौती झेलनी पड़ी थी।

गाँधी का मानना था कि सत्य की मुक्तिदायी शक्ति और हमारा कायाकल्प कर देने वाले प्रेम की ख़ातिर हमें अपनी हिंसा के हाथों मर जाना चाहिए, उसको किसी अन्य में ग़लत ढंग से मारने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उनकी निरन्तर प्रार्थना यही थी कि प्रेम करने की राम की यह शक्ति मृत्युपर्यन्त उनके साथ बनी रहती।

दूसरी ओर, सावरकर का ध्येय अपने अनुयायियों के माध्यम से महज़ गाँधी की हत्या करना नहीं था। उनका ध्येय, सबसे पहले, गाँधी के स्वप्न की हत्या करना था। बुद्ध की ही तरह गाँधी का सपना हिन्दू आक्रामकता का एक शक्तिशाली, अहिंसक विकल्प पैदा करना था। एक सच्चे अर्थों में सफल हत्या के लिए उस स्वप्न का नष्ट किया जाना ज़रूरी था जो सावरकर के स्वप्न के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा प्रेरक था। हिन्दुस्तान को दुनिया के एक अहिंसक स्रोत में बदल सकने की सामर्थ्य रखने

वाली सत्याग्रह की इस शक्ति-मात्र की वजह से सावरकर और उनके अनुयायियों ने सोचा कि इस शक्ति को नष्ट कर दिया जाए।

लेकिन सावरकर इतने चतुर तो थे ही कि वे जानते थे कि उनके लिए गाँधी के सपने पर सीधा हमला करना उतना आसान नहीं था जितना सीधा हमला वे स्वयं गाँधी पर कर सकते थे। सावरकर में गाँधी जैसी लोकप्रियता की सामर्थ्य नहीं थी। यह बात लन्दन में हुई उनकी मुठभेड़ के दिनों से ही ज़ाहिर हो गयी थी जिसके बाद गाँधी की शक्ति निरन्तर बढ़ती गयी थी और सावरकर की शक्ति निरन्तर क्षीण होती गयी थी। सावरकर जानते थे कि हिन्दुस्तान की जनता की पीड़ा को रूपायित करने के मामले में गाँधी के सामने उनकी हैसियत उससे ज़्यादा नहीं थी जितनी सत्याग्रह के सामने हिन्दुत्व की हैसियत थी। इसलिए वे गाँधी के स्वप्न की शक्ति पर सीधा हमला नहीं कर सकते थे। वे सिर्फ़ उसपर परदा डालने की उम्मीद सकते थे, ठीक उसी तरह जैसे उन्होंने गाँधी की हत्या में अपनी भूमिका पर परदा डालने की कोशिश की थी। इसके लिए अपने मत का प्रचार ज़रूरी था।

सावरकर एक उस्ताद हत्यारे और प्रचारक थे, जैसा कि उन्होंने दशकों पहले लन्दन में साबित किया था। जब उनका अनुयायी मदनलाल धींगड़ा कर्ज़न विली की हत्या कर चुका था, तो सावरकर ने 'धींगड़ा का' उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित वक्तव्य लिखा था। इस वक्तव्य ने जहाँ अँग्रेज़-विरोधी भावनाओं को उत्प्रेरित किया, वहीं विली की हत्या के आरोप से सावरकर का बचाव किया।

इसी तरह का करतब उन्होंने गाँधी की हत्या और षडयन्त्रकारियों के मुक़दमे में दिखाया। परदे के पीछे से गाँधी की हत्या को उकसाने और उसके लिए जोड़-तोड़ करने के बाद, सावरकर ने अदालत में अपने अनुयायियों को अकेला छोड़कर स्वयं को गाँधी का प्रशंसक बताकर अपना बचाव किया, और उनको उनके ख़िलाफ़ लगे सारे आरोप हटाकर निर्दोष ठहरा दिया गया। नाथूराम गोडसे ने अदालत में हत्या के शिकार गाँधी के ख़िलाफ़ एक वाग्मितापूर्ण बयान दिया, जो सावरकर द्वारा उत्प्रेरित और सम्भवतः उन्हीं के द्वारा लिखा गया था। इसके बाद गोडसे और आप्टे ने, षडयन्त्र में अपने उस्ताद की भागीदारी से इन्कार करते हुए, पूरी वफ़ादारी के साथ मौत को गले लगाया। सावरकर बम्बई में अपने घर लौट आये और अगले सोलह सालों तक जीवित रहे।

जहाँ पटेल और नेहरू को गाँधी के इस आग्रह से सीख लेनी चाहिए थी कि सत्य हमेशा सर्वोपरि होता है, वहीं गाँधी की मृत्यु के सत्य को तलाशने की उनकी सरकार की अनिच्छा ने देश के लिए ठोस बुनियाद तैयार नहीं की। गाँधी की हत्या के लिए सावरकर को सज़ा दिला पाने में इस नव-स्वाधीन सरकार की सुविचारित नाकमायाबी ने सावरकर के अनुयायियों को उनकी छवि माँजने की खुली छूट दे दी। १९६६ में हुई उनकी अपनी मृत्यु के बाद से उनकी विचरधारा से एक व्यापक आन्दोलन जन्म ले चुका है।

जिस आरएसएस ने गुलाम की तरह सावरकर का अनुसरण किया और जिसके सदस्य नाथूराम गोडसे ने गाँधी को गोली मारकर उनकी हत्या की थी, वह चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बाद दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा आन्दोलन बन चुका है।[२७६] सावरकर की हिन्दुत्व की विचारधारा का इस्तेमाल करते हुए आरएसएस ने हिन्दू राष्ट्रवादियों के अनेक समूह तैयार किये। आरएसएस 'परिवार' में भारतीय जनता पार्टी (बीजेपी) भी शामिल है, जो १९९८ से २००४ तक हिन्दुस्तान की गठबन्धन सरकार की प्रेरक शक्ति बनी।[२७७]

जैसे ही बीजेपी ने एक क्रूर, मुसलमान-विरोधी रणनीति की मार्फ़त सत्ता हथियायी, उसने इतिहास को नये सिरे से लिखना शुरू कर दिया। भाजपा के लेखकों ने हिन्दुस्तान के इतिहास में हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए पाठ्यपुस्तकों का पुनर्लेखन किया।[२७८] कुछ चीज़ों को अनकहा छोड़ देना बेहतर समझा गया। इतिहास की नयी पुस्तकों ने आरएसएस के सदस्य गोडसे द्वारा की गयी गाँधी की हत्या के तथ्य को आसानी-से हटा दिया।[२७९]

भाजपा ने अपनी सत्ता का इस्तेमाल दिल्ली में अपने विचारधारात्मक स्रोत के काले इतिहास के पुनरीक्षण के लिए भी किया, और सावरकर की एक बहादुर देशभक्त के रूप में नयी छवि गढ़ी। ४ मई २००२ को भाजपा नेता लालकृष्ण अडवाणी, जो भारत सरकार के गृहमन्त्री बन चुके थे, ने अण्डमान द्वीप समूह के पोर्ट ब्लेयर हवाई अड्डे का अधिकृत तौर पर नाम बदलकर 'वीर सावरकर एयरपोर्ट' कर दिया।[२८०] इसके बाद सरकार ने पोर्ट ब्लेयर की जेल की सावरकर की कोठरी के स्थल पर, उनके सम्मान में स्थापित किये गये फलक का अनावरण किया।[२८१] २००३ में सरकार ने नई दिल्ली स्थित संसद भवन के सेण्ट्रल हॉल में सावरकर का पोर्ट्रेट स्थापित किया।[२८२] भाजपा जनता के दिमाग़ में बनी सावरकर की गाँधी की हत्या के मुख्य षडयन्त्रकारी की छवि को रूपान्तरित कर, उसको देश के एक मिथकीय मुक्तिदाता की छवि देने की कोशिश कर रही थी।

गाँधी की विरासत का नेहरू का तिरस्कार उस दिन पूरा हुआ जब उन्होंने हिन्दुस्तान के लिए गुपचुप ढंग से परमाणु हथियार विकसित करने के लिए समर्थन दिया। जल्दी ही प्रधानमन्त्री बनने जा रहे नेहरू ने १९४६ में बम्बई में एक अल्प-ज्ञात भाषण दिया था जिसमें उन्होंने परमाणु हथियारों से लैस हिन्दुस्तान की कल्पना की शुरुआत की थी :

जब तक दुनिया अपने मौजूदा स्वरूप में निर्मित है, तब तक हर मुल्क को अपनी हिफ़ाज़त की ख़ातिर ताज़ातरीन वैज्ञानिक उपकरणों को ईजाद करना होगा और उनका इस्तेमाल करना होगा... मुझे उम्मीद है कि हिन्दुस्तान के वैज्ञानिक रचनात्मक उद्देश्यों के लिए परमाणुविक शक्ति का इस्तेमाल करेंगे। लेकिन अगर हिन्दुस्तान को धमकाया गया तो वह अपने उपलब्ध संसाधनों के सहारे अपरिहार्य रूप से अपना बचाव करने की कोशिश करेगा।[२८३]

जहाँ प्रधानमन्त्री नेहरू हिन्दुस्तान के लिए परमाणु हथियारों के साधन जुटाने के लिए चुपचाप काम करते रहे, वहीं वे तमाम मुल्कों में ऐसे हथियारों का विरोध करते हुए सार्वजनिक रूप से वक्तव्य देते रहे। उनकी सरकार ने १० अगस्त १९४८ को इण्डियन एटॉमिक एनर्जी कमीशन (एईसी) की स्थापना की,[२८४] और इस तरह, गाँधी की हत्या के छह महीने बाद, हिन्दुस्तान को परमाणु आयुधों से सज्जित देश बनाने की बुनियाद रखी।

नेहरू ने अपनी निर्वाचित संसद (कॉन्स्टिट्यूएण्ट असेम्बली) के माध्यम से जिस परमाणुविक ऊर्जा अधिनियम को पारित कराया था वह, जैसा कि एक विश्लेषणकर्ता ने लक्ष्य किया है, 'अनुसन्धान और विकास कार्यक्रमों पर ब्रिटेन या अमेरिका के परमाणु ऊर्जा क़ानूनों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा गोपनीयता थोपने वाला था।'[२८५] एक ओर परमाणु शक्ति को लेकर हिन्दुस्तान के उद्यम के बारे में नेहरू का यह दावा था कि इसका उपयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए होगा, वहीं उन्होंने यह भी कहा था कि 'निश्चय ही, अगर हमें एक राष्ट्र के रूप में दूसरे उद्देश्यों के लिए इसका इस्तेमाल करने के लिए मजबूर किया गया, तो हममें से किसी की भी पवित्र भावनाएँ शायद राष्ट्र को इस तरह के इस्तेमाल से नहीं रोक सकेंगी।'[२८६]

जैसा कि नेहरू जानते थे, गाँधी ने परमाणु हथियारों के ख़िलाफ़ 'पवित्र भावनाओं' का इज़हार नहीं किया था। उन्होंने इन हथियारों को यथार्थवादी ढंग से मानव जाति के विनाश के ख़तरे के रूप में देखा था। मनुष्यता एक निर्णायक दोराहे पर थी। परमाणु हथियारों के लिए हिन्दुस्तान के उद्यम का अर्थ विनाश के रास्ते पर चलना होता। अहिंसा ही विकल्प था। गाँधी ने कहा था, 'अहिंसा वह एकमात्र चीज़ है जिसको परमाणु बम नष्ट नहीं कर सकता।'[२८७] लेकिन वह रास्ता दिखाने के लिए गाँधी अब वहाँ नहीं थे।

नेहरू गाँधी की विरासत को बरक़रार रखते प्रतीत होते थे। १९५० के दशक में उनको परमाणुविक निःशस्त्रकरण के समर्थक के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्धि मिली थी। १९५४ में वे पहले ऐसे राष्ट्र-प्रमुख बने जिन्होंने परमाणु परीक्षण रोकने का प्रस्ताव किया था।[२८८] लेकिन हिन्दुस्तान द्वारा परमाणु हथियार जमा करने को लेकर उनका रवैया काफ़ी सूक्ष्म भेदों से युक्त था। इस सम्भावना के जवाब में कि अगर उनको परमाणु हथियारों से लैस सरहदी मुल्क का सामना करना पड़ा तो वे क्या करेंगे, नेहरू ने कहा था, 'हमारे पास परमाणु बम निर्मित करने की तकनीकी जानकारी उपलब्ध है। अगर हम पर्याप्त संसाधनों को उस दिशा में मोड़ दें, तो हम तीन-चार साल में इनका निर्माण कर सकते हैं। लेकिन, हमने दुनिया को यह पक्का आश्वासन दिया हुआ है कि हम कभी भी ऐसा नहीं करेंगे।'[२८९] बम बनाने की अपने देश की अन्तर्निहित क्षमता की ओर उनके इस स्पष्ट संकेत को, जैसा कि विश्लेषणकर्ता जॉर्ज पर्कोविच ने लिखा है, 'हिन्दुस्तान द्वारा परमाणुविक धमकी के प्रारम्भिक संकेत

की तरह व्याख्यायित किया जा सकता है।'[२६०]

पर्कोविच ने इस बात के दस्तावेज़ी प्रमाण एकत्र किये हैं कि किस तरह नेहरू ने परमाणु बम तैयार करने की हिन्दुस्तान की क्षमता के अनुसन्धान और विकास के लिए एईसी के दीर्घकालीन अध्यक्ष होमी भाभा के साथ मिलकर गुपचुप ढंग से काम किया था।[२६१] जब हिन्दुस्तान ने, नेहरू की मृत्यु के एक दशक बाद, उनके जितनी ही परमाणु-पक्षधर उनकी बेटी प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी के आदेश पर, १८ मई १९७४ को वास्तव में परमाणु बम का विस्फोट किया, तो हिन्दुस्तान के विश्व-शान्ति के साधक होने की गाँधी की अहिंसक उम्मीद पर नेहरू की परमाणुविक विरासत की दुखान्त विजय हुई।[२६२]

गाँधी की हत्या उनके नेतृत्व के माध्यम से हिन्दुस्तान द्वारा आज़ादी हासिल करने के छह महीने बाद हुई थी। जिस राष्ट्रपिता ने हिन्दुस्तान का एक मूलगामी रूप से भिन्न भविष्य गढ़ना चाहा था, वह राष्ट्रपिता जा चुका था। देश के समक्ष गाँधी ने अहिंसा का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, वह उस शक्ति पर आधारित था जिसको उनके भूतपूर्व शिष्य और हिन्दुस्तान के नये शासक तब तक स्वीकार नहीं कर सकते थे जब तक कि वे उस क़िस्म के राष्ट्र-राज्य को अस्वीकार करने को तैयार न होते जो अँग्रेज़ उनको सौंपकर गये थे।[२६३] इसकी बजाय उन्होंने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया जो, गाँधी की हत्या के सन्दर्भ में अकथनीय थी और है। स्वराज के गाँधी के जिस अहिंसक दृष्टिकोण ने उनको स्वाधीनता दिलायी थी उसकी इन नये शासकों के अपने नेशनल सिक्युरिटी स्टेट ऐसा राज्य जिसमें राजनैतिक, आर्थिक तथा सैन्य मामलों पर सैन्य बल का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है, के साथ संगति नहीं बैठती थी।

उनका अन्तर्विरोध हमारा अपना अन्तर्विरोध है। गाँधी की निर्बलों की अहिंसक क्रान्ति, और एक नये भविष्य की समूची यात्रा के दौरान शत्रु को स्नेह और आशीर्वाद से नवाज़ते रहना, एक ऐसी सचाई है जिसे हम अब तक हृदयंगम नहीं कर सके हैं। न ही इस सचाई को हम तब तक हृदयंगम कर पाएँगे जब तक कि हम इसके विलोम को, यानी उस नेशनल सिक्युरिटी स्टेट को स्वीकार करना जारी रखेंगे जो परमाणु हथियारों के माध्यम से हमारी समृद्धि और वर्चस्व की रक्षा करता है।

सत्य के साथ अपने प्रयोग करते हुए गाँधी ने पाया था कि राज्यपरक आतंकवाद और क्रान्तिपरक आतंकवाद के अलावा एक तीसरा विकल्प भी था। सत्याग्रह साधनों और साध्यों के बीच सामंजस्य पर आधारित था। गाँधी ने समझा था कि 'साधनों और साध्य के बीच ठीक वैसा ही अटूट रिश्ता है जैसा बीज और वृक्ष के बीच होता है। हम जैसा बोते हैं वैसा ही काटते हैं।'[२६४]

जिन्होंने आतंक को बोया होता है वे आतंकवाद की फ़सल ही काटते हैं। गाँधी ने देखा कि सावरकर जिस साधन का इस्तेमाल करते हुए स्वाधीनता की लड़ाई लड़ रहे थे, वह एक भयावह भूल थी। अँग्रेज़ सत्ताधारियों की हिन्दुस्तानियों द्वारा की जाने वाली हत्याएँ, अँग्रेज़ी साम्राज्य के सुनियोजित

आतंकवाद को बल ही प्रदान करने वाली थीं। और साम्राज्य के हिंसक साधनों को प्रतिबिम्बित करती उनकी हिंसा, गाँधी की हत्या के माध्यम से हिन्दुस्तान की नव-स्वाधीन सरकार में स्थानान्तरित हो जाने वाली थी।

गाँधी और सावरकर ने परमाणु युग में राज्य सत्ता के विरोध के दो परस्पर विरोधी विकल्प पेश किये थे : सत्याग्रह या आतंकवाद, सत्य की रूपान्तरणकारी शक्ति के साथ प्रयोग या हर सम्भव उपलब्ध साधनों के सहारे अन्यों को नियन्त्रित करने की कोशिश। दोनों ही दशाओं में, इस प्रक्रिया में, साधनों का अन्ततः साध्यों में बदल जाना तय था।

गाँधी की मृत्यु ने उस अहिंसक जीवन-दृष्टि के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को रोमांचक और महत्त्वपूर्ण रूप दिया था जो हिन्दुस्तान को शामिल करने के बावजूद उसका अतिक्रमण करती थी। उनकी हत्या के साथ समाप्त हुई उनकी लम्बी जीवन-यात्रा में उन्होंने अपने शत्रुओं, जिनमें उनकी हत्या करना चाहने वाले भी शामिल थे, के दिलों में ईश्वर को तलाशने की कोशिश की। उन्होंने अपने हत्यारों को दोस्तों के रूप में देखना पसन्द किया। वे सबसे पहले ईश्वर के पुत्र थे। जिन लोगों ने इसके पहले उनकी जान लेने की कोशिश की थी, उन हत्यारों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा था कि वे इस ग़लत आस्था से परिचालित थे कि वे ईश्वर की इच्छा को पूरा कर रहे थे। यहाँ तक कि जिन लोगों ने उनको भड़काया था, या उनको हत्या करने के आदेश दिये थे, वे भी गाँधी की मुख्य चिन्ता का विषय नहीं थे। गाँधी जानते थे कि उनके वास्तविक दुश्मन गोलियाँ चलाने वाले, षडयन्त्र रचने वाले, या हिंसा की विचारधारा से परिचालित लोग नहीं थे, बल्कि वे अकथनीय राजनैतिक और सांस्कृतिक शक्तियाँ थीं जिनको वे सारे लोग देवता मानकर उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

गाँधी का विश्वास था कि हम सब - निरपवाद रूप से - सत्य और प्रेम की सार्वभौम शक्ति के साथ प्रयोग करते हुए, स्वयं अपनी हिंसा की क़ैद से मुक्ति पा सकते हैं।

अपने हत्यारों का प्रेमपूर्वक मुक़ाबला करने की उनकी निरन्तर गहराती गयी तत्परता अहिंसा के अर्थ को लेकर उनकी वह आख़िरी वसीयत थी जो उन्होंने हमें सौंपी थी। उनकी मृत्यु सत्य के साथ उनका अन्तिम प्रयोग था।

टिप्पणियाँ

१. हिन्दुस्तान में धींगड़ा के पिता साहिब दित्ता मल, और उसका परिवार इन ख़बरों से भयभीत हो उठे थे कि मदनलाल लन्दन में उस इण्डिया हाउस में रह रहा था, जो उग्रवादी छात्र गतिविधियों के लिए जाना जाता था। तब मदनलाल के सबसे बड़े भाई ने इंग्लैंड की अपनी यात्रा के दौरान अपने परिवार के एक उच्च पदस्थ दोस्त सर विलियम कर्जन विली को ख़त लिखकर, उनसे मदनलाल को कुछ मार्गदर्शन देने का अनुरोध किया था। १३ अप्रैल १९०९ को विली ने स्वयं मदनलाल को एक पत्र लिखकर कहा कि उनको उसके भाई का एक ख़त मिला था जिसमें उन्होंने 'मुझसे पूछा है कि क्या मैं आपकी कोई सहायता कर सकता हूँ।' मदनलाल,

जो उग्र रूप से अँग्रेज़-विरोधी सावरकर का परम भक्त अनुयायी बन चुका था, ने उस विली के पत्र की उपेक्षा की जिसको वह अब एक शत्रु की तरह देखने लगा था। उसको सन्देह हुआ कि उसका यह पारिवारिक दोस्त उसपर गुपचुप ढंग से निगरानी रखने लगा है। ढाई महीने बाद, सावरकर के आदेश पर, मदनलाल ने विली का पीछा किया और उनकी गोली मारकर हत्या कर दी। वी.एन. दत्त, Madanlal Dhingra and the Revolutionary Movement (नयी दिल्ली : विकास, १९७८), पृष्ठ ४६. हरीन्द्र श्रीवास्तव, Five Stormy Years: Savarkar in London; June 1906- June 1911 (नयी दिल्ली : अलाइड पब्लिशर्स, १९८३), पृष्ठ १४८.

२. दत्त, Madanlal Dhingra, पृष्ठ ३४-३५. श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ १४७.

३. वही, पृष्ठ १५१. विली की हत्या के लिए सावरकर द्वारा दिये गये सीधे आदेश के बारे में हम जानते हैं क्योंकि 'अपने जीवनीकार धनंजय कीर, जिन्होंने सावरकर और उनके वक़्त के बारे में ब्यौरा देते हुए लिखा है, के सामने सावरकर ने इस हत्या की पूरी ज़िम्मेदारी का दावा किया था।' राबर्ट पेयन, The Life and Death of Mahatma Gandhi (न्यू यॉर्क : ई.पी. डटन, १९६९), पृष्ठ ६१७; देखें : धनंजय कीर, Veer Savarkar (बम्बईः पापुलर प्रकाशन, १९६६), पृष्ठ ५३.

४. श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ १४७.

५. वही, पृष्ठ १६८.

६. जेम्स डी. ह.ट, Gandhi in London (नयी दिल्ली : प्रोमिल्ला, १९७८), पृष्ठ १३४; राजमोहन गाँधी, Gandhi: The Man, His People, and the Empire, (बर्कले : यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफ़ोर्निया प्रेस, २००७), पृष्ठ १३९; धनंजय कीर, Mahatma Gandhi: Political Saint and Unarmed Prophet (बम्बई : पापुलर प्रकाशन, १९७३), पृष्ठ १५३.

७. ४ जुलाई १९०९ को, विली की हत्या के तीन दिन बाद, सावरकर के क्रान्तिकारी गुट के बारह सदस्यों ने इण्डिया हाउस में बैठक की। स्कॉटलैंड यार्ड के एक गुप्तचर ने खुफ़िया तरीक़े से उस बैठक में घुसपैठ की और उसके बारे में सूचना दी।

बैठक में मौजूद हर व्यक्ति जानता था कि उनके नेता सावरकर ने स्वयं को जानबूझकर धींगड़ा द्वारा की गयी विली की हत्या के दृश्य से अनुपस्थित रखा था, और इस तरह खुद को कम गुनहगार बनाकर रखा था। सावरकर का एक प्रतिनिधि कोरेगाँवकर उपयुक्त समय पर विली को गोली मारने के लिए धींगड़ा को प्रोत्साहित करने, उसके साथ रिसेप्शन तक गया था।

४ जुलाई की उस बैठक में मौजूद व्यक्तियों ने एक-एक कर उस हत्या के वास्तविक कर्ताधर्ता के रूप में सावरकर की सराहना की। एक ने कहा, 'धींगड़ा सावरकर की मज़बूत शिक्षा का नतीजा था।' स्वयं सावरकर ने सन्तोष के भाव से कहा था कि 'धींगड़ा अपने देश के शत्रु, विली की धराशायी देह पर गोली चलाते समय अनुत्तेजित और शान्त बना रहा।'

हालाँकि, स्कॉटलैंड यार्ड की रिपोर्ट इस निष्कर्ष पर पहुँची थी कि धींगड़ा द्वारा की गयी विली की हत्या की 'योजना', तीन सहयोगियों की मदद से स्पष्ट रूप से 'सावरकर ने बनायी थी', लेकिन अँग्रेज़ सरकार ने इस अपराध के लिए सिर्फ़ धींगड़ा को आरोपी बनाया। हिन्दुस्तान के सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट लॉर्ड मोर्ले ने अन्य लोगों को 'लन्दन के अत्यन्त संवेदनशील और राजनैतिक रूप से सचेत वातावारण से' देशनिकाला देते हुए उनको वहाँ से हटा देना बेहतर समझा, ताकि उनसे अन्यत्र ज़्यादा दण्डात्मक ढंग से निपटा जा सकता। सावरकर के मामले में यही हुआ, जिनको

हिन्दुस्तान में एक सह-षडयन्त्रकारी द्वारा की गयी हत्या के लिए ब्रिटेन से हिन्दुस्तान में प्रत्यावर्तित कर दिया गया था, जिसके नतीजे में उनपर वहाँ मुकदमा चला और सज़ा दी गयी। भारत सरकार, गृह मन्त्रालय, Proceedings, political B, August 1909, Nos. 120-129. Madanlal Dhingra, पृष्ठ ५६-५७, ७६.

८. श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ १६६.

६. The Collected Works of Mahatma Gandhi [आगे से CWMG के रूप में उद्धृत] IX (अहमदाबाद : नवजीवन ट्रस्ट, १६६८), पृष्ठ ३०२. भाँग के बारे में गाँधी का हवाला इस बात की ओर संकेत करता है कि उनको सम्भवतः इस बात की जानकारी थी कि किस तरह षडयन्त्रकारियों द्वारा धीगड़ा को, उसके इम्पीरियल इन्स्टिट्यूट जाने पहले, एक रेस्तराँ में ले जाकर इस कुकृत्य के लिए तैयार किया गया था। स्कॉटलैंड यार्ड की खुफ़िया रिपोर्ट में कहा गया था कि धींगड़ा को 'इस कुकृत्य पर निकलने से पहले उसके कुछ सहयोगियों द्वारा कथित रूप से बड़ी मात्रा में भाँग पिलायी गयी थी।' भारत सरकार, गृह मन्त्रालय, Proceedings, political A, September 1909, Nos. ६६-६८. दत्त, Madanlal Dhingra, पृष्ठ ५४.

१०. CWMG, IX, पृष्ठ, ३०३.

११. वही, पृष्ठ ३०२; श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ १७५-७६.

१२. Five Stormy Years पृष्ठ २५. ह.ट, Gandhi in London, पृष्ठ २३३.

१३. ''अन्याय को जड़ से उखाड़ फेंकने और न्याय के युग को आरम्भ करने के लिए विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध प्रायः प्रकृति द्वारा रचे गये साधन रहे हैं... सच तो ये है कि अगर मनुष्य के स्वभाव में भयानक अन्याय के प्रचण्ड प्रतिशोध के प्रति सहज प्रवृत्ति न होती, तो मानवीय व्यवहार पर आज भी मनुष्य के अन्दर बैठी क्रूरता का वर्चस्व होता। विनायक दामोदर सावरकर, The First Indian War of Indipendence, १८५७, पृष्ठ २१७-१६; -जी. नूरानी द्वारा Savarkar and Hindutva: The Godse Connection (नयी दिल्ली : लेफ़्ट वॅर्ड बुक्स, २००२), पृष्ठ ४४ में उद्धृत।

१४. CWMG, IX, पृष्ठ, ३०२.

१५. श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ १८०.

१६. इस रात्रि-भोज का वर्णन गाँधी ने २६ अक्टूबर १६०६ को अपने मित्र और पत्रकार हैनरी पोलाक को लिखे गये एक पत्र में किया था। CWMG, IX, पृष्ठ, ५०४.

१७. श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ १८०.

१८. २६ अक्टूबर १६०६ को पोलाक को लिखे गये अपने ख़त में गाँधी। CWMG, IX, पृष्ठ, ५०४.

१६. श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ १८०.

२०. CWMG, IX, पृष्ठ, ४६८.

२१. वही, पृष्ठ, ४६६. ज़ोर मेरा।

२२. वही।

२३. ३० अक्टूबर, १६०६ को लॉर्ड एम्पथिल को लिखे गये पत्र में गाँधी। CWMG, IX, पृष्ठ, ५०६.

२४. राजमोहन गाँधी ने गाँधी के पाठक को 'सावरकर और लन्दन के उग्रवादी छात्रों (और साथ ही [गाँधी के पुराने दोस्त प्राणजीवन] मेहता) की तर्ज पर तर्क करने वाले' के रूप में चित्रित किया है। आर. गाँधी, Gandhi:

The Man, His People, and the Empire, पृष्ठ १४३. १९४० में गाँधी ने कहा था कि उन्होंने हिन्द स्वराज का लेखन 'मेरे प्रिय दोस्त डॉ. प्राणजीवन मेहता के लिए किया था। पुस्तक में प्रस्तुत किये गये सारे तर्क लगभग वैसे ही हैं जैसे वे उनके साथ हुए थे'; Indian Home Rue (Hind Swaraj) (नयी दिल्लीः प्रोमिला पब्लिशर्स, शताब्दी महोत्सव संस्करण, २०१०), पृष्ठ ९ पर "Introduction" में उद्धृत। गाँधी १९०९ में दक्षिण अफ़्रीका से लन्दन की अपनी यात्रा के दौरान प्राणजीवन मेहता के साथ लन्दन के एक होटल में महीना भर रहे थे, जब हिंसा के पक्ष में सावरकर और इण्डिया हाउस के छात्रों के साथ ठीक ऐसे ही तर्कों से उनका सामना हुआ था। जहाँ मेहता गाँधी की गाँधी अहिंसा के एक निष्ठावान समर्थक बन गये थे, वहीं सावरकर ने हिंसा के पक्षधर अपने तर्कों को हिन्दुत्व के रूप में नये सिरे से विन्यस्त करते हुए गाँधी को इन तर्कों का अन्तिम रूप से मौखिक और शारीरिक निशाना बना लिया था।

२५. The Selected Works of Mahatme Gandhi: IV, The Basic Works, Hind Swaraj, सम्पादक श्रीमन नारायण (अहमदाबाद : नवजीवन, १९६८), पृष्ठ १५५-५६, १५९-६३.

२६. श्रीवास्तव, Five Stormy Years पृष्ठ २०४.

२७. भारत सरकार के होम मेम्बर के नाम वी.डी. सावरकर (अपराधी नम्बर ३२७७८) की १४ नवम्बर १९१३ की याचिका; Penal Settlement in Andmans (नयी दिल्ली : गजेटियर्स यूनिट, संस्कृति विभाग, शिक्षा और समाज कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार, १९७५) पृष्ठ २१३, में आर.सी. मजूमदार द्वारा उद्धृत। साथ ही ए.जी. नूरानी, "A National Hero?" Frontline 21, no. २२ (२००४) : १०. जब काला पानी के राजनैतिक क़ैदियों ने सविनय अवज्ञा के तहत सामूहिक हड़ताल की, तो विनायक सावरकर और उनके भाई बारबरा राव उस हड़ताल में शामिल नहीं हुए। त्रिलोक्य नाथ चक्रवर्ती नामक एक साथी क़ैदी, जो उस हड़ताल में शामिल हुआ था, ने उस संघर्ष के बारे में दिये गये अपने ब्यौरे में लिखा है, '[सावरकर बन्धुओं] जो हमसे पहले वहाँ आये थे और जिन्होंने हमारी ही तरह तकलीफ़ें भोगी थीं, ने पिछली हड़ताल में एक कठोर झगड़े के बाद कुछ रियायतें और सुविधाएँ निचोड़ ली थीं, और अब वे सुपरिन्टेंडेण्ट के ख़ास आदमी बन चुके थे; इसलिए वे उन लोगों को त्यागकर संघर्ष में हमारा साथ देने को तैयार नहीं थे।' त्रिलोक्य नाथ चक्रवर्ती, जेले त्रिश बाँचर ('जेल में तीन साल'), Penal Settlement में मजूमदार द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २३८.

विनायक सावरकर ने, स्वयं अपने वृत्तान्त में, दावा किया था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी नेतृत्वपरक हैसियत इस बात की माँग करती थी कि वे उस हड़ताल में शामिल न होते : 'इस तरह के क्षुद्र उद्देश्य के लिए अपनी जान जोख़िम में डालना स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन की हत्या करना था...। इसलिए यह हमारे बीच उपस्थित नौजवान और ऊर्जावान लोगों का काम था कि वे यह उत्तरदायित्व सँभालते, और ये सौ व्यक्ति एक-एक-कर आन्दोलन और उससे जुड़ी दूसरी गतिविधियों को चालू रखते।' सावरकर ने आगे यह भी कहा कि '[हड़ताल से] मेरे दूर रहने का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि अगर मैं उसमें शामिल होता, तो मैं [वर्ष में एक बार] वह पत्र भारत भेजने का अधिकार खो देता,' जिसके बारे में उनका सोचना था कि उसका प्रभाव दूसरे क़ैदियों के लिए उससे ज़्यादा लाभप्रद होता जितना वह उनके साथ हड़ताल में शामिल होने का होता। विनायक दामोदर सावरकर, The Story of My Tranportation for life: A Biography of Black Days of Andman; सावरकर की १९४७ की मराठी भाषा की पुस्तक माझी जन्मठेप का प्रोफ़ेसर वी.एन. नाइक द्वारा किया गया अँग्रेज़ी अनुवाद (बम्बई : सद्भक्ति पब्लिकेशन्स, १९५०), पृष्ठ ३९०.

२८. CWMG, XIV, पृष्ठ, ३९६. आर. गाँधी, Gandhi: The Man, His People, and the Empire, पृष्ठ १८२.

२६. लुई फ़िशर, The Life of Mahatma Gandhi (न्यू यॉर्क : कोलियर बुक्स, १६६२), पृष्ठ १५४-५५, १५६.

३०. वही, पृष्ठ १५६.

३१. मोहनदास गाँधी, "The Cult of the Bomb," Young India, २ जनवरी, १६३०; CWMG, XLII, पृष्ठ, ३६३. नारायण देसाई द्वारा My Life is My Message: II, Satyagrah (1915-1930) (नयी दिल्ली : ओरिएण्ट ब्लैकस्वान, २००६), में उद्धृत, पृष्ठ ५६०.

३२. जोसेफ़ लेलीवेल्ड, Great Soul: Mahatma Gandhi and His Struggle with India (न्यू यॉर्क : अल्फ़्रेड ए. नॉफ़, २०११), पृष्ठ २१६, ३२०.

३३. देसाई, My Life is My Message: II, पृष्ठ ६२२.

३४. वही, पृष्ठ ६२४.

३५. वही, पृष्ठ ६३८.

३६. इस रिपोर्ट के कुछ अंश Chicago Daily News के २२ मई १६३० के अंक में, और वेब मिलर की पुस्तक। Found No peace: The Journal of a Foreign Correspondent (न्यू यॉर्क : सिमोन ए.ड सुश्टर, १६३६) पृष्ठ १६३-६५ में प्रकाशित हुए थे; जेने शार्प द्वारा Gandhi Wields the Weapon of Moral Power: Three Case Histories (अहमदाबाद : नवजीवन, १६६०), पृष्ठ १३८-४२ में उद्धृत।

३७. Young India के २६ मई, १६३० के अंक में प्रकाशित विवरण से शार्प द्वारा Gandhi Wields the Weapon of Moral Power: Three Case Histories, पृष्ठ १४५ में उद्धृत।

३८. एम. के. गाँधी, What Jesus Means to me आर.के. प्रभु द्वारा संकलित (अहमदाबाद : नवजीवन, १६५६), पृष्ठ ३६.

३६. नारायण देसाई, My Life is My Message: IV, Svarpan (१६४०-१६४८) (नयी दिल्ली : ओरिएण्ट ब्लैकस्वान, २००६), पृष्ठ ३३.

४०. वही, पृष्ठ ४६.

४१. वही, पृष्ठ ५७.

४२. वही, पृष्ठ ५६.

४३. नारायण देसाई, The Fire and the Rose (अहमदाबाद : नवजीवन, १६६५), पृष्ठ ६८५, ६८८.

४४. उपवास के निर्णय पर पुनर्विचार करने के बारे में लिखे गये पाँचों पत्रों को पढ़ने के बाद गाँधी ने २६ जुलाई १६४२ को जो टिप्पणी की थी उसको नारायण देसाई ने दर्ज़ किया है : ''संक्षिप्त और फुर्तीला' का वह मतलब क़तई नहीं है जिसको लेकर महादेव विवाद कर रहे हैं। शुरू में मसला सिर्फ़ उपवास का था। वह आज भी अपनी जगह बरक़रार है। लेकिन वह तभी हो सकता है जब उपवास अपरिहार्य हो, ईश्वर की उस दख़लन्दाज़ी से उत्प्रेरित हो जहाँ बुद्धि के लिए कोई जगह नहीं होती। लेकिन आज वह विचार पूरी तरह से अप्रासंगिक है। मैं दूसरे सन्देहों का निवारण भी कर सकता हूँ। मैं फ़िलहाल उनमें नहीं जा रहा हूँ। सारे सन्देहों का निवारण यथासमय खुद-ब-खुद हो जाएगा। वही, पृष्ठ ६८६.

४५. वही, पृष्ठ ६६०.

४६. देसाई, My Life is My Message: IV, पृष्ठ ५३.

४७. वही, पृष्ठ ६०.

४८. वही, पृष्ठ ६३.

४९. वही, पृष्ठ ६२.

५०. वही।

५१. देसाई, The Fire and the Rose, पृष्ठ ७.

५२. वही।

५३. तुषार ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi!": A Chronical of His Last Days, the Conspiracy, Murder, Investigation and Trial (नयी दिल्ली : रूपा, २००७), पृष्ठ १७२.

५४. वही, पृष्ठ १७१.

५५. जे. एल. कपूर, Report of Commission of Inquiry into Conspiracy to Murder Mahatma Gandhi, part I vol. I (नयी दिल्ली : गृह मन्त्रालय, १९७०), पृष्ठ ११९, पैराग्राफ़ ९.१८; पृष्ठ १२०, पैराग्राफ़ ९.२१.

५६. १४ नवम्बर १९१३ की सावरकर की याचिका; मजूमदार, Penal Settlement in Andmans, पृष्ठ २१३.

५७. सावरकर, Story of My Tranportation for life, पृष्ठ ३४०.

५८. वही।

५९. वही, पृष्ठ ५२१.

६०. वही, पृष्ठ ५५६.

६१. कीर, Veer Savarkar, पृष्ठ १६३-१६४.

६२. सावरकर, Story of My Tranportation for life, पृष्ठ ५६१.

६३. वही, पृष्ठ ५६९.

६४. सावरकर के प्रकाशक ने लिखा था कि Story of My Tranportation for life का १९५० का अँग्रेज़ी संस्करण १९४७ में प्रकाशित इस पुस्तक के मराठी संस्करण पर आधारित था। अनुवादक वी.एन. नाइक ने इसके बाद आगे कहा था कि 'मूल आख्यान के रोमांच और प्रभाव को...मैंने (१९५०) के अँग्रेज़ी अनुवाद में ऐसे जोड़-घटानों के साथ बरक़रार रखने की कोशिश की है जिनका सुझाव स्वयं लेखक ने अनुवाद के आधार के तौर पर दिया था।' वही, पृष्ठ ।.

६५. कीर, Veer Savarkar, पृष्ठ १७०-७१.

६६. एडवर्ड ल्यूस, In Spite of the Gods: The Strange Rise of Modern India (न्यू यॉर्क : डबलडे, २००७), पृष्ठ १५१.

६७. कीर, Veer Savarkar, पृष्ठ १७७.

६८. गोपाल गोडसे, Gandhiji's Murder and After (दिल्ली : सूर्यप्रकाशन, १९८९), पृष्ठ १०९.

६९. टी.ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ १६.

७०. गोडसे, Gandhiji's Murder and After, पृष्ठ ११४.

७१. कीर, Veer Savarkar, पृष्ठ २९०.

७२. वही, पृष्ठ ३१९.

७३. Kapoor Report, part I vol- I, पृष्ठ १२६, पैराग्राफ़ १०.५.

७४. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, I, Book One (अहमदाबाद : नवजीवन, १९५६), पृष्ठ ८२.

७५. वही। सावरकर के जीवनीकार धनंजय कीर ने इस बात से इन्कार किया है कि गोडसे मौजूद थे। कीर, Veer Savarkar, पृष्ठ ३५४.

७६. CWMG, XC, पृष्ठ, ४०८.

७७. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ६८६.

७८. वही, I, Book Two, पृष्ठ १.

७९. ज्यॉफ़्री एश, Gandhi (न्यू यॉर्क : स्टेन एण्ड डे, १९८०), पृष्ठ ३६६.

८०. आर. गाँधी, Gandhi: The Man, His People, and the Empire, पृष्ठ ५४३.

८१. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, I, Book Two, पृष्ठ २३, ३१.

८२. वही, पृष्ठ ३२-३३.

८३. वही, पृष्ठ ३४.

८४. वही, पृष्ठ ३४, ७३-९९.

८५. वही, पृष्ठ ३५.

८६. डेनिस डेल्टॅन, Mahatma Gandhi: Nonviolent Power in Action (न्यू यॉर्क : कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, १९९३), पृष्ठ १६१.

८७. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, I, Book Two, पृष्ठ ५२४.

८८. वही, पृष्ठ ७४.

८९. पेयन, The Life and Death of Mahatma Gandhi, पृष्ठ ५२६.

९०. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, I, Book Two, पृष्ठ ७७.

९१. डेनिस डेल्टॅन ने उस एक निर्णायक 'युक्ति' की ओर संकेत किया है 'जिसका परीक्षण नोआखाली और बिहार में किया गया था और जिसे कलकत्ता में और भी विकसित किया गया था : प्रार्थना-सभा। (गाँधी के जीवन के) इस आख़िरी दौर में गाँधी की लगभग सारी महत्त्वपूर्ण कार्रवाइयों और निर्णयों की घोषणाएँ, जो अक्सर राजनैतिक महत्त्व की होती थीं, पहली बार किसी प्रेस कान्फ्रेंस में, किसी पार्टी सम्मेलन में, या किसी राजनैतिक सभा में नहीं की जाती थीं, बल्कि प्रार्थना-सभाओं में की जाती थीं।' गाँधी के नज़रिये से यह महज़ इस तथ्य की अभिव्यक्ति थी कि प्रार्थना अहिंसा का मर्म होती है। Mahatma Gandhi: Nonviolent Power, पृष्ठ १६२.६३.

९२. Mahatma Gandhi; An Interpretation (नेशविले : एबिंग्डॅन प्रेस, १९४८), पृष्ठ १०२ में ई. स्टेनले जॉन्स द्वारा उद्धृत।

९३. गोपाल दास खोसला, Stern Reckonig; A survey of the Events Leading up to and Following the Partition of India (दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९८९), पृष्ठ ७६.

९४. डेल्टॅन, Mahatma Gandhi: Nonviolent Power, पृष्ठ १६२.

९५. मैथ्यू, २५:४०.

९६. '[हिन्दू उग्र राष्ट्रीयता की] सबसे गम्भीर अभिव्यक्ति थी हिन्दू मध्यवर्ग में और सरकारी सेवाओं तक में राष्ट्रीय

स्वयं सेवक संघ (आरएसएस) की घुसपैठ। इसने हिन्दू काँग्रेसियों तक के एक वर्ग की गुप्त सहानुभूति को हथियाना शुरू कर दिया था।' प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ६८७. हिन्दू महासभा के अध्यक्ष डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी नेहरू के मन्त्रिमण्डल में एक मन्त्री बन गये थे; वही, पृष्ठ ७६८.

९७. विडम्बना यह है कि ये आस्थावान गाँधी थे जो एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक राज्य के आदर्श के पक्षधर थे – उन मुस्लिम और हिन्दू दृष्टियों के बरक्स जिनका जिन्ना और सावरकर ढिंढोरा पीटते थे, जिनकी अपनी आस्थाएँ धर्मनिरपेक्ष थीं।

९८. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ६८५.

९९. राजमोहन गाँधी, Patel: A Life (अहमदाबाद : नवजीवन, १९९१), पृष्ठ ३५७.९०.

१००. जब १४ जून, १९४७ को विभाजन के प्रस्ताव की अभिपुष्टि के लिए काँग्रेस पार्टी की कार्य समिति की बैठक हुई, तो समाजवादी पार्टी से आमन्त्रित के रूप में शामिल राम मनोहर लोहिया ने लक्ष्य किया कि गाँधी 'ने मिस्टर नेहरू और सरदार पटेल की ओर इस हल्की-सी शिकायत के भाव से मुड़कर देखा कि उन लोगों ने विभाजन की योजना स्वीकार करने से पहले उनको इस बारे में सूचित क्यों नहीं किया था। इसके पहले कि गाँधी अपनी बात पूरी तरह से रख पाते, मिस्टर नेहरू ने किंचित आवेशपूर्वक यह कहते हुए हस्तक्षेप किया कि उन्होंने इस बारे में उनको पूरी तरह से सूचित किया हुआ था। महात्मा गाँधी के यह दोहराने पर कि उनको विभाजन की योजना की जानकारी नहीं थी, मिस्टर नेहरू ने अपनी पिछली बात में हल्का-सा संशोधन किया। उन्होंने कहा कि नोआखाली [जहाँ गाँधी एक गाँव से दूसरे गाँव की पैदल यात्रा कर रहे थे] इतनी दूर था कि भले ही वे इस योजना के ब्यौरों की जानकारी न दे सके हों, लेकिन उन्होंने गाँधीजी को विभाजन के बारे में लिखकर मोटे तौर पर जानकारी दे दी थी।'

लोहिया आगे कहते हैं : 'मैं इस प्रकरण पर महात्मा गाँधी की बात को स्वीकार करूँगा, न कि मिस्टर नेहरू की, और कौन होगा जो इसे स्वीकार नहीं करेगा? मैं नेहरू को एक झूठा कहकर ख़ारिज़ नहीं करता। मुद्दा यहाँ कुल मिलाकर यह है कि विभाजन की योजना को स्वयं मिस्टर नेहरू और सरदार पटेल द्वारा स्वीकार किये जाने से पहले गाँधी को उसकी जानकारी थी या नहीं थी...। मिस्टर नेहरू और सरदार पटेल ने ज़ाहिर है आपस में यह तय कर लिया होगा कि जब तक उस मसले पर पक्के तौर पर निर्णय नहीं ले लिया जाता तब तक सबसे अच्छा यही होगा कि उतनी दूर बैठे गाँधी को यह ख़बर देकर चौंकाया न जाये...।

इस बैठक में श्रीमान नेहरू और पटेल का रवैया गाँधी के प्रति आपत्तिजनक रूप से आक्रामक था...। जो बात उस समय विस्मय में डालती लगती थी, और जिसको आज मैं किसी हद तक बेहतर ढंग से समझ सकता हूँ, वह इन दो सर्वश्रेष्ठ शिष्यों का अपने गुरु के प्रति अत्यन्त अशिष्ट रवैया था। वह एक तरह का मनोविकारयुक्त रवैया था। उन्होंने किसी चीज़ को लेकर अपना पक्का मन बना लिया था और, जब भी उनको सन्देह होता कि गाँधी उसमें बाधा डालने की तैयारी कर रहे हैं, तो वे उनपर उग्र ढंग से चिल्लाने लगते थे'; राम मनोहर लोहिया, Guilty Men of India's Partition (नई दिल्ली : रूपा, २००८), पृष्ठ २३-२५.

१०१. गोडसे, Gandhiji's Murder and After, पृष्ठ १७२.

१०२. नगर में दिये नारायण आप्टे के भाषण के नोट्स उसके निजी दस्तावेज़ों के बीच पाये गये थे; The Assassination of Mahatma Gandhi (बम्बई : जयको, १९६९), पृष्ठ ८० में के.एल. गउबा द्वारा उद्धृत।

१०३. Printed Record of Mahatma Gandhi Murder (यू.एस. लायब्रेरी ऑफ़ काँग्रेस लॉ लायब्रेरी), I, पृष्ठ ८२ में इक़बाली गवाह (approver) दिगम्बर आर. बड़गे का साक्ष्य। गाँधी की हत्या पर दिल्ली के लाल

क़िले में आयोजित मुक़दमे में हथियार विक्रेता दिगम्बर बड़गे ने 'इक़बालिया गवाह' के रूप में गवाही दी थी, जिसमें उसने उसके ऊपर लगाये गये आरोप को ख़ारिज़ किये जाने के बदले अपने सह-षडयन्त्रकारियों के ख़िलाफ़ राजकीय साक्ष्य उपलब्ध कराया था। अपने फ़ैसले में न्यायाधीश आत्माचरण ने बड़गे को, पुष्टिकारक साक्ष्य की मानक वैधानिक ज़रूरत के अधीन, एक विश्वसनीय साक्षी पाया था। न्यायाधीश ने कहा था कि 'इक़बालिया गवाह की तहक़ीक़ात और उससे की गयी जिरह २० जुलाई १९४८ से ३० जुलाई १९४८ तक जारी रही थी। उससे लगभग सात दिन तक जिरह की गयी। इस तरह उसके व्यवहार और गवाही देने के उसके ढंग को समझने का भरपूर अवसर उपलब्ध रहा है। उसने तथ्यों का अपना विवरण सीधे-सीधे और ईमानदार ढंग से दिया है। उसने न तो जिरह को लेकर टालमटोल की न ही किसी सवाल को टालने या उसके मामले में चालाकी बरतने की कोई कोशिश की। यह किसी भी व्यक्ति के लिए मुमकिन नहीं होता कि वह इस क़दर बिना विचलित हुए इतने लम्बे समय तक और इस क़दर तफ़सील के साथ ऐसे तथ्यों के बारे में गवाही देता जिनका कभी वजूद ही न रहा होता। इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि कोई व्यक्ति किसी निराधार क़िस्से को इतने लम्बे समय तक और इस क़दर ब्यौरों के साथ याद रख सकता है।'' न्यायाधीश आत्माचरण ने फ़ैसला सुनाया कि बड़गे की गवाही में पुष्टिकारक साक्ष्य का अभाव सिर्फ़ प्रतिवादी विनायक डी. सावरकर के सन्दर्भ में ही है (विशेष न्यायाधीश का फ़ैसला, लाल क़िला दिल्ली, खण्ड III, वही, पृष्ठ ८९-९०)। याचिकाओं की सुनवाई करने वाले तीन न्यायाधीशों ने भी बड़गे के नौकर शंकर किस्तैया, और उस डॉ. दत्तात्रेय एस. परचुरे को मुक़दमे के न्यायाधीश द्वारा सुनायी गयी सज़ाओं को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया था, जिसपर उस पिस्तौल का इन्तज़ाम करने में मदद करने का आरोप था जिसका इस्तेमाल गोडसे ने किया था। (महात्मा गाँधी हत्या प्रकरण में पूर्ण न्यायपीठ का फ़ैसला, पृष्ठ १९६, ५५८-५९)। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने माना कि किस्तैया ने महज़ बड़गे के नौकर की भूमिका निभायी थी, न कि अपराध में सहयोग करने की, और परचुरे का इक़बालिया बयान स्वैच्छिक नहीं था (टी. ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi" पृष्ठ ७२७)। जैसा कि हम देखेंगे, कपूर आयोग, जिसने १९७० में गाँधी हत्या के प्रकरण की समीक्षा की थी, ने पाया था कि सरकार के पास सावरकर के ख़िलाफ़ प्रमाणित करने वाले साक्ष्य मौजूद थे लेकिन वह इन साक्ष्यों को मुक़दमे में पेश करने में नाकामयाब रही।

१०४. मनोहर मलगोनकर, The Man Who Killed Gandhi (नयी दिल्ली : ओरिएण्ट, १९८१), पृष्ठ २५, २७.

१०५. CWMG, XC, पृष्ठ, ४१७.

१०६. बड़गे की गवाही, पृष्ठ ८२.

१०७. वही, पृष्ठ ८४. गाँधी की स्नेहसिक्त अहिंसा ने उनके हत्यारों तक को किस हद तक प्रभावित किया हुआ था इसकी इन्तिहा इस बात में देखी जा सकती है कि ये हत्यारे जिस आदमी को मारना चाहते थे उसकी शिनाख़्त के लिए उन्होंने निरन्तर 'गाँधीजी' जैसे स्नेहिल और सम्मानजनक पद का प्रयोग किया था। चूँकि उनके ये हत्यारे उनके स्नेह को अनुभव करना जारी रखे हुए थे इसलिए वे निजी तौर पर उनको अपना शत्रु नहीं मान पा रहे थे। उन्होंने विचारधारात्मक वजहों से गाँधी की हत्या की थी, लेकिन तब भी वे गाँधी को उनका अहित चाहने वाले आदमी के रूप में देखने में असमर्थ बने रहे। सावरकर को प्रतिध्वनित करता गोडसे का दावा ग़लत था लेकिन अपने लक्ष्य की ओर उसके इंगितों में सम्मान का एक तत्त्व था : 'मेरी समझ से गाँधीजी स्वयं पाकिस्तान के सबसे बड़े समर्थक और पैरोकार थे और उनके इस रवैये पर किसी भी शक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं था। इन परिस्थितियों में हिन्दुओं को मुसलमानों के अत्याचारों से निज़ात दिलाने का एकमात्र उपाय, मेरी समझ से (ज़ोर मेरा) गाँधी को इस दुनिया से मिटा देना था।' नाथूराम गोडसे

का अदालती बयान, May It Please Your Honour (दिल्ली : सूर्य भारती प्रकाशन, १९८७), पृष्ठ १५२. जिन लोगों ने गाँधी की हत्या की थी, वे लोग तक चूँकि उनके प्रेम को महसूस करते थे, इसलिए वे अनुभव करते थे कि वे 'गाँधीजी' थे (और मरने पर भी बने रहने वाले थे)। इसलिए गाँधी को गोली मारते समय गोडसे का उनके सामने सिर नवाना महज़ एक पाखण्डपूर्ण चाल नहीं थी। यह मानते हुए भी कि उसके लिए उनकी हत्या करना अनिवार्य था, गोडसे यह जानता था कि 'गाँधीजी,' जो खुद भी उसी समय उसके सामने सिर नवा रहे थे, उसको प्रेम करते थे।

१०८. डेल्टॅन, Mahatma Gandhi: Nonviolent Power, पृष्ठ १४६.

१०९. पेयन, The Life and Death of Mahatma Gandhi, पृष्ठ ५३३.

११०. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, I, Book Two (अहमदाबाद : नवजीवन, १९६६), पृष्ठ ७. "Great Calcutta Killing" का एक सतर्क विश्लेषण करते हुए डेनिस डेल्टॅन ने लक्ष्य किया था : 'हिन्दुओं का, मुख्य अभियोग समुचित सुरक्षात्मक सावधानियाँ बरतने में सुहरावर्दी की नाकामयाबी को लेकर था।' डेल्टॅन, Mahatma Gandhi: Nonviolent Power, पृष्ठ १४६.

१११. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, I, Book Two, पृष्ठ ७.८.

११२. वही, पृष्ठ ३३६.

११३. वही, पृष्ठ १०४.

११४. निर्मल कुमार बोस, My Days With Gandhi (नयी दिल्ली, ओरिएण्ट लांगमेन, १९७४), पृष्ठ १९८.

११५. वही, पृष्ठ १९८-९९.

११६. वही, पृष्ठ २००.

११७. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ३६४.

११८. बोस, My Days With Gandhi, पृष्ठ २२४.

११९. राजमोहन गाँधी, The Good Boatman: A Portrait of Gandhi (नयी दिल्ली : पेंग्युइन बुक्स इण्डिया, १९९७), पृष्ठ ३५०.

१२०. वही, पृष्ठ ३५१.

१२१. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ३६७.

१२२. डेल्टॅन, Mahatma Gandhi: Nonviolent Power, पृष्ठ १५२.

१२३. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ३६९.

१२४. मनुबेन गाँधी, The Miracle of Calcutta, (अहमदाबाद : नवजीवन, १९५९) पृष्ठ ६६.

१२५. CWMG, LXXXIX, पृष्ठ, १३०.

१२६. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ४०४.

१२७. डेल्टॅन, Mahatma Gandhi: Nonviolent Power, पृष्ठ १५४.

१२८. CWMG, LXXXIX, पृष्ठ, १२९.३२.

१२९. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ४०९.

१३०. वही, पृष्ठ ४२१.

१३१. वही।

१३२. देसाई, My Life is My Message: IV, पृष्ठ ४३३.

१३३. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ४२३.

१३४. देसाई, My Life is My Message: IV, पृष्ठ ४३५.

१३५. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ४२४.

१३६. सुहरावर्दी के नाम गाँधी का २७ अक्टूबर, १९४७ का पत्र; CWMG, LXXXIX, पृष्ठ, ४१८.

१३७. एम. वहीदुज़्ज़मान मानिक, "Huseyn Shaheed Sugrawardy: Glimpses of His Political Struggle," The Daily Star: Internet Edition, ५ दिसम्बर, २००७.

१३८. वही।

१३९. वही।

१४०. "Huseyn Shaheed Sugrawardy," Wikipedia-

१४१. मुहम्मद एच.आर. तालुकदार, सम्पादक, Memoirs of Huseyn Shaheed Suharawardy with a Brief Account of His Life and Work (कराची : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, २००९), पृष्ठ ७१.

१४२. वही।

१४३. Kapoor Report, part I vol- II, पृष्ठ २२१, पैराग्राफ़ १२,.२०।.

१४४. बड़गे की गवाही, पृष्ठ ८४.

१४५. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७११.

१४६. CWMG, XC, पृष्ठ ४२८-२९.

१४७. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७१८.

१४८. वही, पृष्ठ ७१९.

१४९. वही, पृष्ठ ४२०.

१५०. फ़िशर, Life of Mahatma Gandhi, पृष्ठ ४९५.

१५१. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७२२.२३.

१५२. बड़गे की गवाही, पृष्ठ ८५. टी.ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ ९६०.

१५३. वही।

१५४. वही।

१५५. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७२६.

१५६. वही, पृष्ठ ७२७.

१५७ वही, पृष्ठ ७२८.

१५८. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses of Bapu (दिल्ली : शिवलाल अग्रवाल, १९६२), पृष्ठ १९०.

१५९. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७३०.

१६०. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ १९२.

१६१. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७३०.

१६२. वही, पृष्ठ ७३१. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ १९९.

१६३. CWMG, XC, पृष्ठ, ४५२.५३.

१६४. बड़गे की गवाही, पृष्ठ ८७.

१६५. वही।

१६६. वही।

१६७. वही।

१६८. वही।

१६९. Kapoor Report, part I, vol- I, पृष्ठ ५८, पैराग्राफ़ ५.१०.

१७०. वही।

१७१. बड़गे की गवाही, पृष्ठ ६०.

१७२. वही।

१७३. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ २१८.

१७४. एम.के. गाँधी, Delhi Diary: Prayer Speeches from September 10, 1947, to January 30, 1948 (अहमदाबाद : नवजीवन, १९४८), पृष्ठ ३५७.

१७५. वही।

१७६. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ २१६.

१७७. वही। CWMG, XC, पृष्ठ, ४६४.

१७८. टी.ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ ६४.

१७९. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ २२३.

१८०. वही, पृष्ठ २२२.

१८१. वही।

१८२. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७५०.

१८३. जी.डी खोसला, The Murder of Mahatma Gandhi and Other Cases from a Judge's Note-book (बम्बईः जयको, १९६८), पृष्ठ २४५. Prosecution Exhibit 127, "Daily Hidu Rashtra," Printed Record of Mahatma Gandhi Murder Case, VII, पृष्ठ २.

१८४. "Investigation at Delhi," Kapoor Report, part II, vol- V, पृष्ठ १८५.२३९.

१८५. वही, पृष्ठ १८९.

१८६. वही, पृष्ठ १८९, २१५, २३२.

१८७. वही, पृष्ठ २०५.

१८८. वही, पृष्ठ १९०.

१८९. वही, पृष्ठ १२५, १२६, २३६.

१९०. डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, I Could Not Save Bapu (कमाचा, बनारस : जागरण साहित्य मन्दिर, कोई तिथि नहीं), पृष्ठ १३, १६.

१९१. वही, पृष्ठ २१.

१६२. वही, पृष्ठ १२.

१६३. Kapoor Report, part II, vol- IV, पृष्ठ ७, पैराग्राफ़ १८-२६.

१६४. मोरारजी आर. देसाई की गवाही, Mahatma Gandhi Murder Case, I, पृष्ठ १६७.

१६५. मोरारजी देसाई ने कहा था कि उन्होंने 'पटेल को उस सिलसिले में सारी ज़रूरी जानकारी दे दी थी जो मुझे प्रोफ़ेसर जैन द्वारा दी गयी थी और उस पर जो कार्रवाई मैंने की थी।' वही। लेकिन कपूर आयोग के सामने प्रस्तुत हुए तीन गवाहों, जिनने पटेल जो तब दिवंगत हो चुके थे, के निकट रहकर काम किया था, जिनमें उनके सचिव वी. शंकर शामिल थे, का कहना था कि उनको तब जैन के क़िस्से की या इस क़िस्से में देसाई द्वारा अहमदाबाद में पटेल से साझा किये जाने की कोई जानकारी नहीं थी। Kapoor Report, part II, vol- V, पृष्ठ 124 Paragraph 21-7; 126, Paragraph 21-16-17; 127, Paragraph 21-25.

१६६. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७५६.

१६७. वही।

१६८. वही।

१६९. सम्माननीय सरदार वल्लभभाई पटेल से रोहिणी कुमार चौधुरी, ६ फ़रवरी, १९४८, टी.ए. गाँधी द्वारा उद्धृत और हिन्दी से अनूदित, "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ ५२६.

२००. कपूर आयोग के समक्ष पुलिस के साक्ष्य के मुताबिक़ २० जनवरी को हुई बम विस्फोट की घटना के पहले बिड़ला हाउस में 'प्रार्थना-स्थल पर एक हैड कॉन्स्टेबल, एक फुट कॉन्स्टेबल मौजूद थे। बिड़ला हाउस के मुख्य द्वार पर एक हैड कॉन्स्टेबल और चार कॉन्स्टेबल थे...। बम की घटना के बाद पुलिसकर्मियों की संख्या को तत्काल बढ़ाकर उसे एक असिस्टेण्ट सब इंस्पैक्टर, दो हैड कॉन्स्टेबल, और सोलह फुट कॉन्स्टेबल कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त वहाँ सादी वर्दीधारी पुलिसकर्मी भी थे, जिनमें एक सब इंस्पैक्टर, चार हैड कॉन्स्टेबल, और दो फुट कॉन्स्टेबल शामिल थे जिनमें से सभी के पास रिवॉल्वर थे।' Kapoor Report, part I, vol- II, पृष्ठ २०७, Paragraph 12-G-2-3.

२०१. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ २२४.

२०२. वही, पृष्ठ २२५.

२०३. Kapoor Report, Part II, vol- V, पृष्ठ १३६, Paragraph २१, ६०.

२०४. टी.ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ १३८.

२०५. Kapoor Report, Part II, vol- V, पृष्ठ २२३-२४, Paragraph २३.१७३.

२०६. वही, पृष्ठ २२४. Paragraph २३.१७३.

२०७. बम्बई के डिप्टी पुलिस कमिश्नर जे.डी. नागरवाला ने कहा था कि उन्होंने इस अनुमान के तहत जाँच-पड़ताल की थी कि कोई एक ऐसा गिरोह था जिसका लक्ष्य ''महात्मा गाँधी की हत्या करना नहीं बल्कि उनका अपहरण करना था।'' वही, Part II, vol- IV, पृष्ठ ३१, Paragraph १८.१२७. कपूर आयोग ने नागरवाला के अपहरण-अनुमान को साक्ष्य की इसकी ग़लत व्याख्या के सन्दर्भ में 'इस क़दर विस्मयकारी' पाया कि इसका श्रेय वह नागरवाला के सम्पर्क-सूत्रों और मुखबिरों की पंजाबी भाषा की ग़लती को ही दे सका। वही, पृष्ठ ४५, Paragraph १८.२०१.

२०८. वही, Part II, vol- VI, पृष्ठ ३०५, Paragraph २५.११३.

२०६. वही, Part II, vol- V, पृष्ठ २०६, Paragraph २३.१०६.

२१०. वही, Part I, vol- III, पृष्ठ २७८, Paragraph १५.११३.

२११. वही, Paragraph १५.११५.

२१२. यह बात कपूर आयोग को समझ से परे प्रतीत हुई कि यू.एच. राणा ने गाँधी की जान बचा सकने वाली मुहिम पर जाने के लिए हिन्दुस्तान के आर-पार फैला रेल का ऐसा घुमावदार रास्ता क्यों चुना। कपूर रिपोर्ट ने इस बात पर भी आश्चर्य व्यक्त किया कि पुलिस महानिदेशक संजीवी ने यह मुहिम आख़िरकार किसी ऐसे पुलिस अधिकारी को क्यों नहीं सौंपी जो हवाई मार्ग से बम्बई जाकर अपने गन्तव्य तक ज़्यादा जल्दी पहुँच सकता। राणा का कहना था कि संजीवी ने ऐसा इसलिए नहीं किया क्योंकि उनको 'ऐसा नहीं लगा कि षडयन्त्रकारी इतनी फुर्ती से काम लेंगे।' वही। ऐसा लगता है कि गाँधी के ख़िलाफ़ सक्रिय षडयन्त्रकारियों का पीछा करने की फ़ौरी कार्रवाई की ज़रूरत के अहसास का उन सारे के सारे पुलिस अधिकारियों में विचित्र क़िस्म का अभाव था जिनसे इस मामले में निर्णायक भूमिका की अपेक्षा थी। Kapoor Report, Part I, vol- I, पृष्ठ २८, Paragraph ३४१.४२.

२१३. वही, Part II, vol- V, पृष्ठ १८५, Paragraph २३.२, Paragraph २५.१७३.

२१४. वही, Part I, vol- III, पृष्ठ २८४, Paragraph १५.१४४.

२१५. वही, Part II, vol- IV, पृष्ठ ३०, Paragraph १८.१२५.

२१६. वही, Part II, vol- V, पृष्ठ २१६, Paragraph २३.२४१.

२१७. वही, पृष्ठ ३१४, Paragraph २३.१३५.

२१८. वही, पृष्ठ २२१, Paragraph २३.१६४.

२१९. वही, Part II, vol- VI, पृष्ठ ३०५, Paragraph २३.११३. 'नागरवाला का कहना था कि, सावरकर के मकान की निगरानी करने का उद्देश्य यह देखना था कि उनसे मिलने कौन लोग आते थे। उन्होंने आगे यह भी कहा कि उन्होंने हत्या के पहले सावरकर मण्डली के सदस्यों को इसलिए गिरफ़्तार नहीं किया था क्योंकि ऐसा करने से महाराष्ट्र क्षेत्र में न सिर्फ़ हंगामा मच जाता बल्कि विद्रोह भड़क उठता।' वही, Part II, vol- IV, पृष्ठ ३७, Paragraph १८.१५५. स्वयं सावरकर से लेकर उनसे मिलने आने वाले लोगों तक को अपने विस्तार में समेटती नागरवाला की यह टिप्पणी इस बात का एक परोक्ष स्वीकार है कि बम्बई पुलिस को इन लोगों के आने-जाने के बारे में जानकारी थी; उनने सवारकर के अनुयायियों के प्रति भी वैसा ही सम्मान बरता जैसा उनके नेता के प्रति बरता था।

२२०. विनसेण्ट शिएन, Lead Kindly Light (न्यू यॉर्क : रेण्डॅम हाउस, १९४९), पृष्ठ १६८.

२२१. वही, पृष्ठ १८३-८५. ज़ोर मूल में।

२२२. यह पैराग्राफ़ रोजर लुडविग और बर्ट सेक्स की समीक्षाओं की मदद से पूरा किया गया था। रोजर ने गाँधी द्वारा उनसे मिलने वाले सबसे ज़्यादा अशक्त लोगों के भीतर से शक्ति हासिल करने के विरोधाभास को रेखांकित किया था। बर्ट ने इस विचार का योगदान किया था : 'आप इसमें उन लोगों को शामिल कर हासिल करना चाह सकते हैं जो हिंसक क्रूरता से युक्त कृत्य करते हैं। मुझे लगता है कि दक्षिण अफ़्रिका के जनरल स्मट्स से लेकर गोडसे और सावरकर तक से गाँधी का रिश्ता उनकी अहिंसा और सत्याग्रह का महत्त्वपूर्ण अंग है। (और हममें से ज़्यादातर के लिए सबसे कठिन चुनौती!)'

जैसा कि बर्ट का कहना है कि गाँधी ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन न सिर्फ़ सबसे अशक्त व्यक्ति में करते थे, बल्कि विशेष रूप से उन लोगों में भी करते थे जो 'हिंसक क्रूरता से युक्त कृत्यों के माध्यम से' उनकी संकल्प-शक्ति को कुण्ठित करने के लिए सबसे ज़्यादा प्रतिबद्ध थे। स्मट्स, गोडसे और सावरकर के अलावा हम इनमें उन दो राजनैतिक नेताओं को भी शामिल कर सकते हैं जो, अपनी शक्ति और समर्पण के सन्दर्भ में, गाँधी के अहिंसक स्वप्न के साकार होने में सबसे बड़ी बाधाएँ साबित हुए थे : विन्स्टॅन चर्चिल और मोहम्मद अली जिन्ना। गाँधी ने कभी भी इनको प्रेम करना बन्द नहीं किया। इसका अर्थ इन दो आदमियों के प्रति अपना मैत्री और सहयोग का भाव बनाये रखना था जो, नितान्त अविचारित ढंग से, गाँधी के उस अहिंसक दुनिया के स्वप्न की राह में बाधा बनकर खड़े हुए थे, जिस स्वप्न को साकार करने के लिए वे हिन्दुस्तान को अहिंसक कायाकल्प के एक स्रोत के रूप में देखते थे।

चर्चिल तो गाँधी के साथ सुलह-वार्ता करने के ख़याल तक से अपमानित महसूस करते थे, जैसा कि उन्होंने अपनी इस प्रसिद्ध टिप्पणी में कहा था : 'ऐसे मिस्टर गाँधी के साथ सम्राट के एक प्रतिनिधि के रूप में बराबरी के दर्ज़े पर बैठकर वार्ता के लिए मुलाक़ात करना भयानक और उबकाई पैदा करने वाला है, जो कभी एक उपद्रवी मिडिल टेम्पल वकील हुआ करता था और जो अब उस क़िस्म के एक फ़कीर होने का स्वांग रचे हुए है जो पूरब में ख़ासे प्रसिद्ध हैं, जो एक तरफ़, अधनंगा होकर राष्ट्रपति निवास की सीढ़ियाँ चढ़ रहा होता है, और दूसरी तरफ़ इसी के साथ-साथ सविनय अवज्ञा की मुहिम का आयोजन और संचालन कर रहा होता है। इस तरह का तमाशा हिन्दुस्तान में अशान्ति को और वहाँ मौजूद गोरों के सामने उपस्थित ख़तरे को ही बढ़ावा दे सकता है।' ऑर्थर हर्मन, Gandhi & Churchill (न्यू यॉर्क : बेण्टम बुक्स, २००८), पृष्ठ ३५६.

बावजूद इसके कि गाँधी चर्चिल की द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर की सरकार द्वारा जेल में डाले गये थे, उन्होंने उनको नष्ट करने की आकांक्षा रखने वाले इस आदमी की ओर मदद का हाथ बढ़ाते हुए, उसको चार-वाक्य-लम्बा एक नेकदिली से भरा ख़त लिखा था (वही, पृष्ठ ५३८) :

डियर प्राइम मिनिस्टर,

आपके बारे में ख़बर मिली है कि आप एक साधारण 'नंगे फकीर,' जैसा कि बताया जाता है कि आपने मेरा वर्णन किया है, को कुचल देने की आकांक्षा रखते हैं। मैं लम्बे समय से एक फकीर होने की कोशिश में लगा हुआ हूँ, और वह भी नंगा - जोकि एक मुश्किल काम है। इसलिए आपकी इस उक्ति को मैं एक प्रशंसा की तरह देखता हूँ, भले ही आपका इरादा ऐसा नहीं रहा है। तब मैं इसी रूप में आपसे सम्पर्क करता हूँ और आपसे आग्रह करता हूँ कि आप मुझ पर भरोसा करें और अपने लोगों की ख़ातिर और मेरे लोगों की ख़ातिर और उनकी मार्फ़त दुनिया के लोगों की ख़ातिर मेरा इस्तेमाल करें।

आपका सच्चा दोस्त

एम.के. गाँधी

जब रिहा होने के बाद गाँधी को पता चला कि उनको बन्दी बनाने वाले लोगों ने उनका ख़त चर्चिल को भेजा ही नहीं था, तो उन्होंने उस ख़त को सार्वजनिक कर दिया। लेकिन चर्चिल की गाँधी की इस पेशकश में कोई दिलचस्पी नहीं थी कि वे ब्रिटेन, हिन्दुस्तान और दुनिया की ख़ातिर गाँधी का उपयोग करते। बावजूद इसके कि जिन्ना पाकिस्तान बनाने की ख़ातिर हिन्दुस्तान के विभाजन के प्रति पूरी तरह समर्पित थे, गाँधी, अपने स्वयं के स्वप्न से कोई समझौता किये बग़ैर, अँग्रेज़ों से सुलह-वार्ता करने के लिए जिन्ना के पैरोकार बन गये। वाइसराय लॉर्ड लुई माउण्टबेटन को विस्मय में डालते हुए गाँधी ने अप्रैल १९४७ में उनके सामने प्रस्ताव रखा कि जिन्ना से स्वाधीन भारत का प्रधानमन्त्री बनने की पेशकश की जाए। इस अनूठी पहल के माध्यम से गाँधी - जिन्ना को समूचे हिन्दुस्तान का नेतृत्व प्रदान कर - हिन्दू और मुसलमानों की उन माँगों से उत्पन्न गतिरोध पर विजय पाने की कामना करते थे जो

हिन्दुस्तान के दो टुकड़े करने का ख़तरा पैदा कर रही थीं।

गाँधी ने सुझाया कि 'मन्त्री मण्डल का चुनाव पूरी तरह से जिन्ना पर छोड़ दिया जाना चाहिए,' जिनको इस मन्त्री मण्डल के सदस्यों की ओर से इस बात की गारण्टी देनी होती कि 'वे समूचे हिन्दुस्तान में अमन क़ायम करने की भरसक कोशिश करेंगे।'

गाँधी ने कहा कि 'अगर जिन्ना इस पेशकश को मंज़ूर कर लेते हैं, तो काँग्रेस मुक्त मन से और ईमानदारी के साथ तब तक सहयोग करने की गारण्टी देगी जब तक कि जिन्ना के मन्त्री मण्डल के द्वारा उठाये गये क़दम हिन्दुस्तान की समूची जनता के हित में होंगे। लॉर्ड माउण्ट बेटन, अपनी निजी हैसियत में इस बात का निर्णय करेंगे कि क्या चीज़ पूरे हिन्दुस्तान के हित में है और क्या नहीं है' (CWMG, LXXXVII, पृष्ठ, १६६)।

माउण्ट बेटन ने एक रिपोर्ट में लिखा था कि गाँधी की काँग्रेस पार्टी और जिन्ना की मुस्लिम लीग के बीच के गतिरोध को तोड़ने की महात्मा की चतुराईपूर्ण योजना ने 'मुझे हक्काबक्का कर दिया था। मैंने पूछा था कि 'इस तरह की पेशकश के बारे में जिन्ना क्या कहेंगे?' जवाब था, 'अगर आप उनसे कहेंगे कि यह पेशकश मेरी है, तो वे जवाब देंगे, 'धूर्त गाँधी।'' तब मैंने यानी माउण्टबेटन ने, टिप्पणी की, 'और मेरा ख़याल है कि जिन्ना का कहना सही होगा?' जिसपर गाँधी ने ज़बरदस्त उत्साह के साथ जवाब दिया, 'मैं अपने सुझाव को लेकर पूरी तरह से संजीदा हूँ'' (Jinnah of Pakistan [न्यू यॉर्क : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६८४, पृष्ठ ३१६ में स्टेनले वोल्पर्ट द्वारा उद्धृत)।

जब माउण्ट बेटन ने गाँधी की इस पेशकश की जानकारी नेहरू को दी, तो उनको हिन्दू-मुस्लिम संकट के अपने गुरु के इस समाधान से गहरा धक्का लगा, क्योंकि इसका मतलब सत्ता में नेहरू के अपने उत्थान को नाकामयाब करना था। गाँधी की इस पेशकश से नेहरू के साथ-साथ काँग्रेस के जिन दूसरे नेताओं की सत्ता पर ख़तरा मँडरा रहा था, उनने माउण्ट बेटन को इस पेशकश की अव्यावहारिकता का यक़ीन दिलाने की कोशिश की और वे इसमें सफ़ल हुए। माउण्ट बेटन ने यह पेशकश जिन्ना के सामने कभी नहीं रखी, हालाँकि वाइसराय का ख़याल था कि यह क़तई मुमकिन था कि जिन्ना इसको स्वीकार कर लेते। (वही, पृष्ठ ३१६)।

गाँधी ने अपने सबसे कटु प्रतिपक्षियों की उनकी अपनी सच्चाइयों पर उन्मोचक ढंग से आचरण कर सकने की क़ाबिलियत पर विश्वास करना कभी बन्द नहीं किया।

२२३. शिएन, Lead Kindly Light, पृष्ठ १८५.८७, १८६.

२२४. वही, पृष्ठ १६१.

२२५. वही।

२२६. वही, पृष्ठ १६३.

२२७. वही, पृष्ठ १७.

२२८. वही, पृष्ठ १६.

२२६. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७६७.

२३०. वही, पृष्ठ ७६६.

२३१. वही, पृष्ठ ७६८.

२३२. वही।

२३३. वही, पृष्ठ ७६६.

२३४. वही, पृष्ठ ७७२. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ ३०६.

२३५. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ ३०८.

२३६. वही, पृष्ठ ३०६.

२३७. प्यारेलाल, Mahatma Gandhi: The last Phase, II, पृष्ठ ७७३. प्यारेलाल अपनी एक टीप में यह भी जोड़ते हैं: 'उस वक़्त घटना-स्थल पर मौजूद पहले चश्मदीद गवाह से बेहद सावधानीपूर्वक की गयी, सम्पूर्ण पूछताछ के बाद मुझे इस बात का पक्का यक़ीन है कि जिस वक़्त गाँधी अपनी चेतना खो रहे थे, उस वक़्त उनके मुँह से निकले आख़िरी शब्द 'हे राम!' नहीं बल्कि 'राम, राम' थे - कोई याचना नहीं, बल्कि महज़ नाम का जाप। (वही, पृष्ठ ८६१ n-५)।

२३८. शिएन, Lead Kindly Light, पृष्ठ २०३.४.

२३९. डेल्टॅन, Mahatma Gandhi: Nonviolent Power, पृष्ठ १६७.

२४०. टी.ए. गाँधी द्वारा उद्धृत। "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ १३८-३९.

२४१ वही, पृष्ठ xviii, १३९.

२४२. कपूर आयोग के समक्ष जी.के. हाण्डू, Kapoor Report, Part I, vol- II, पृष्ठ २२१, Paragraph 12H-19; पृष्ठ २२२, Paragraph 12H-23.

२४३. वही, पृष्ठ २२१, Paragraph १२H.२०; पृष्ठ २२२, Paragraph 12H-23.

२४४. मनुबेन गाँधी, Last Glimpses, पृष्ठ २२५.

२४५. पी.एल. इनामदार, The Story of the Red Fort Trial १९४८.४९ (बम्बई : पॉपुलर प्रकाशन, १९७९), पृष्ठ १४२.

२४६. वही, पृष्ठ १४१.

२४७. गोडसे, May It Please Your Honour, पृष्ठ ६०.

२४८. इनामदार, The Story of the Red Fort Trial १९४८-४९, पृष्ठ १४२.

२४९. वही, पृष्ठ १४१.

२५०. टी.ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ ६०७.

२५१. गोडसे, May It Please Your Honour, पृष्ठ १५४.

२५२. वही।

२५३. वही, पृष्ठ ४२.

२५४. वही, पृष्ठ ५१.

२५५. न्यायाधीश ने गोडसे को नौ घण्टे लम्बा भाषण देने की छूट देते हुए जो कुछ दिया, वह सरकार ने उसका प्रकाशन बन्द करके वापस ले लिया। सरकार को अहसास हो गया था कि न्यायाधीश गोडसे के प्रति रियायत बरतने के मामले में कुछ ज़्यादा ही आगे निकल गये थे, और इस तरह उन्होंने इस प्रकरण की राजनीति को हत्यारों के पक्ष में बहुत ज़्यादा झुका दिया था। इस भाषण के प्रकाशन पर लगे प्रतिबन्ध को तीन दशक बाद उलट दिया गया था (May It Please Your Honour, में गोपाल गोडसे की भूमिका, पृष्ठ १५४)। इस बीच इस भाषण पर लगाये गये सरकार के प्रतिबन्ध ने इसको सावरकर के उन विचारधारात्मक वारिसों के बीच किंवदन्तीय हैसियत बनाने में मदद की, जो नाथूराम गोडसे को शहीद का और सावरकर को महान गुरु का दर्ज़ा देते हुए इनका जश्न मनाया करते थे।

२५६. Kapoor Report, Part II, vol- VI, पृष्ठ ३१७, Paragraph २५.१६१ और २५.१६६; पृष्ठ ३१८, Paragraph २५.१६८, २५.१७० और २५.१७३.

२५७. वही, पृष्ठ ३१८, Paragraph २५.१७३.

२५८. वही। Part I, vol- I, पृष्ठ ३६, Paragraph ३.५८.

२५९. वही।

२६०. वही। Part II, vol- VI, पृष्ठ ३०३, Paragraph २५.१०६.

२६१. नेहरू के नाम पटेल का पत्र, २७ फ़रवरी, १९४८. Sardar Patel's Correspondence १९४५.५०, VI, सम्पादकः दुर्गादास (अहमदाबाद : नवजीवन, १९७३), पृष्ठ ५६.

२६२. सरकार ने सावरकर के कर्मचारियों, अप्पा रामचन्द्र कासार और गजानन विष्णु दामले को गाँधी की हत्या के मुक़दमे और याचिकाओं के दौरान दो साल से ज़्यादा समय तक जेल में रखा था। उनको गवाही देने कभी नहीं बुलाया गया। जब अन्ततः वे रिहा हो गये, तो सावरकर ने उनको वापस काम पर नहीं रखा। सावरकर के जीवनीकार लिखते हैं कि कासार और दामले 'से रूखे ढंग से अपना इन्तज़ाम खुद देखने को कह दिया गया था।' कीर, Veer Savarkar, पृष्ठ ४७८.

२६३. लॉरेन्को डि सल्वाडोर, Who Killed Gandhi? (लिस्बॅन, पुर्तगाल : निजी स्तर पर मुद्रित, कोई तिथि नहीं), पृष्ठ १४९.

२६४. नूरानी, Savarkar and Hindutva, पृष्ठ १३०.

२६५. वही।

२६६. मोरारजी देसाई की गवाही का नूरानी का उद्धरण The Times of India के १ सितम्बर, १९४८ के अंक से लिया गया है, जिसमें 'न्यायाधीश आत्माचरण के नाम चीफ़ प्रॉसीक्यूटिव काउंसल सी.के. दफ़्तरी के पिछले दिन के आवेदन का मज़मून प्रकाशित है' (वही, पृष्ठ १३०.१३१)। देसाई ने १९७९ की अपनी आत्मकथा में अदालत में हुए वार्तालाप को धुँधले ढंग से याद किया है : 'श्री सावरकर के वकील ने मेरे सामने एक सवाल पेश किया, जिसका विवरण मैं भूल गया हूँ, लेकिन मेरे मन पर कुछ ऐसा प्रभाव है कि उस सवाल का सम्बन्ध उस मामले में मेरे निजी विश्वास से था। न्यायाधीश ने मुझसे कहा था कि मैं उस सवाल का जवाब देने के लिए बाध्य नहीं हूँ। लेकिन मैंने न्यायाधीश से कहा था कि मुझे उस सवाल का जवाब देने में कोई आपत्ति नहीं है और मैंने उनसे अनुरोध किया था कि वे आरोपी से पूछें कि क्या वह वाक़ई उस सवाल का ठीक-ठीक जवाब चाहता है। अगर वह वैसा चाहता, तो मैं जवाब देने के लिए तैयार था। जब मैंने यह कहा, तो वकील ने अपना सवाल वापस ले लिया और उसके आगे मुझसे कोई ज़िरह नहीं की।' मोरारजी देसाई, The Story of My Life, I (ऑक्सफ़ोर्ड : पर्गमॉन प्रेस, १९७९), पृष्ठ २६९-७०. हालाँकि, सावरकर द्वारा वापस लिया गया वह सवाल देसाई के 'उस मामले में निजी विश्वास' से ताल्लुक नहीं रखता था, जैसा कि उन्होंने याद किया था, बल्कि वह (जैसा कि सावरकर के वकील को देसाई के चेतावनी भरे जवाब से लगभग काफ़ी देर बाद समझ में आया था) उन 'पूर्ण तथ्यों' से ताल्लुक रखता था जो गाँधी की हत्या के एक षडयन्त्रकारी के रूप में सावरकर के बारे में सरकार के पास थे।

२६७. टी.ए. गाँधी, "Let's Kill Gandhi!" पृष्ठ ७३२.३३.

२६८. विनायक दामोदर सावरकर, Six Glorious Epochs of Indian History (नयी दिल्ली : राजधानी ग्रन्थागार, १९७१) के पहले पृष्ठ पर "Publisher's Note".

२६९. वही, पृष्ठ ७८.

२७०. वही।

२७१. वही, पृष्ठ ७६.

२७२. डेविड हार्डीमेन, Gandhi in His Time and Ours: The Global Legacy of His Ideas में (न्यू यॉर्कः कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, २००३), पृष्ठ १७४.७५.

२७३. सावरकर, Story of My Tranportation for life, पृष्ठ ५२१.

२७४. वही।

२७५. वही, पृष्ठ ५६९.

२७६. ल्यूस, In Spite of Gods, पृष्ठ १४३-४४. यहाँ तक कि आरएसएस का बीस लाख सदस्यों का चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी के मुक़ाबले दूसरे नम्बर का आकार एक हल्के आकलन पर आधारित है। कुछ पर्यवेक्षक इसकी सदस्य-संख्या को साठ लाख के आसपास मानते हैं। आरएसएस अपने आपको विशाल और रहस्यात्मक, दोनों बनाये रख सका है। यह अपनी सदस्यता पंजियों को गोपनीय रखता है (वही, पृष्ठ १४३)।

२७७. वही, पृष्ठ १४३-४४.

२७८. अरुन्धति राय ने बताया है कि किस तरह भाजपा सत्ता हासिल करने की कोशिश में सावरकर की हिन्दुत्व की विचारधारा को अमली जामा पहनाती है : '१९९० में भाजपा नेता लालकृष्ण अडवाणी ने सारे देश की यात्रा कर अयोध्या के विवादास्पद स्थल पर खड़ी सोलहवीं सदी की एक प्राचीन मस्जिद को गिराने और उसकी जगह पर राम मन्दिर बनाने की माँग करते हुए मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत को भड़काया था। १९९२ में अडवाणी द्वारा भड़कायी गयी उपद्रवियों की भीड़ ने उस मस्जिद को धराशायी कर दिया। १९९३ के शुरुआती दिनों में दंगाइयों की भीड़ ने मुम्बई में मुसलमानों पर हमले कर लगभग एक हज़ार लोगों को मार डाला। इस तरह भड़काये गये साम्प्रदायिक उन्माद से शक्ति हासिल कर भाजपा ने, जिसकी १९८४ में संसद में मात्र दो सीटें थीं, १९९८ में काँग्रेस को हराकर केन्द्र की सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया।' अरुन्धति रॉय, Field Notes on Democracy: Listening to Grasshoppers (शिकागो : हेमार्केट बुक्स, २००९), पृष्ठ ९.

२७९. ल्यूस, In Spite of Gods, पृष्ठ १४८.

२८०. नूरानी, Savarkar and Hindutva, पृष्ठ १.

२८१. वही, पृष्ठ ६.

२८२. आर. गाँधी, The Man, His People, and the Empire, पृष्ठ ६२२.

२८३. India's Nuclear Bomb: The Impact on Global Proliferation (बर्कले : यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफ़ोर्निया प्रेस, १९९९), में जॉर्ज पर्कोविच द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १४.

२८४. वही, पृष्ठ २०.

२८५. वही, पृष्ठ १८.

२८६. India's Nuclear Bomb में जॉर्ज पर्कोविच द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २०.

२८७. Mohandas Gandhi: Essential Writings (मेरीनॉल, न्यू यॉर्क : ऑर्बिस बुक्स, २००२), में जॉन डियर द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १४३.

२८८. '२ अप्रैल १९५४ को प्रधानमन्त्री नेहरू ने पेशकश की कि 'कम-से-कम इन वास्तविक परमाणु विस्फोटों को

एक क़िस्म के...गतिरोध की स्थिति में बनाये रखने का समझौता तो किया ही जा सकता है, भले ही उत्पादन में विराम और भण्डारण सम्बन्धी व्यवस्थाओं को लेकर सम्बन्धित प्रमुख पक्षों के बीच ज़्यादा ठोस समझौते का इन्तज़ार किया जा सकता है।'' विलियम एप्सटाइन, The Last Chance: Nuclear Proliferation and Arms Control (न्यू यॉर्क : फ्री प्रेस, १९७६), पृष्ठ ४८-४९, २२५.

२८९. पर्कोविच, India's Nuclear Bomb, पृष्ठ ३५. 'संयुक्त राज्य अमेरिका के परमाणु निज़ाम से जुड़े आला फ़ौजी अधिकारी' के साथ १९६० में हुई एक बातचीत में (सेवानिवृत्त) मेजर जनरल, कैनेथ डी. निकोल्स, प्रधानमन्त्री नेहरू, और उनके एईसी चेयरमेन होमी भाभा ने हिन्दुस्तान की शस्त्र सामर्थ्य के सन्दर्भ में एक 'बहुत स्पष्ट दुविधा' ज़ाहिर की थी। जनरल निकोल्स ने सूचित किया था कि उनकी उस बातचीत के दौरान नेहरू ने सहसा भाभा से पूछा था,

'क्या आप परमाणु बम बना सकते हैं?' भाभा ने उनको आश्वस्त किया कि वे बना सकते हैं और समय को लेकर नेहरू के अगले सवाल के जवाब में उन्होंने हिसाब लगाकर बताया कि इस काम को करने में उनको क़रीब एक साल का समय लगेगा। मैं एक ऐसे व्यक्ति के मुँह से जिसको मैं दुनिया के सबसे ज़्यादा अमन-पसन्द नेताओं में गिनता था, इस तरह के सवाल सुनकर सचमुच हक्काबक्का रह गया था।

इसके बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मैं भाभा की बात से सहमत हूँ, और मैंने जवाब दिया कि मैं ऐसी कोई वजह नहीं देखता कि भाभा यह काम न कर सकते हों। उनके पास ऐसे आदमी थे जो पन्द्रह साल पहले के हमारे नौजवान वैज्ञानिकों जितने या उनसे भी ज़्यादा क़ाबिल थे। नेहरू ने, भाभा से यह कहते हुए अपनी बात समाप्त की कि, 'ख़ैर, जब तक मैं आपसे न कहूँ, यह काम मत करिए।' वही, पृष्ठ ३६.

२९०. वही।

२९१. वही, पृष्ठ १३.४०.

२९२. स्टेनले वोल्पर्ट, Gandhi's Passion: The Life and legacy of Mahatma Gandhi (न्यू यॉर्क : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, २००१), पृष्ठ २६१.

२९३. कनाडा के परमाणु अप्रसार विशेषज्ञ विलियम एप्सटाइन का विचार था कि १८ मई १९७४ को राजस्थान के रेगिस्तान में किये गये परमाणु विस्फोट ने परमाणु अप्रसार के नियमों को बदल दिया। एप्सटाइन ने लिखा था : 'राजस्थान परीक्षण ने यह बात साबित कर दी कि एक अपेक्षाकृत ग़रीब विकासशील देश भूमिगत विस्फोट के लिए (जोकि वातावरण में किये जाने वाले विस्फ़ोट के मुक़ाबले किसी क़दर ज़्यादा जटिल प्रक्रिया है) ऐसे परमाणुविक विखण्डन का इस्तेमाल कर सकता था जिसमें युद्धपरक उद्देश्यों की निश्चित सम्भावनाएँ विद्यमान थीं...। शान्तिपूर्ण उपयोगों के उद्देश्य से किये जाने वाले परमाणु विस्फ़ोट की प्रौद्योगिकी और परमाणु युद्ध के उद्देश्य से किये जाने वाले परमाणु विस्फोट की प्रौद्योगिकी के बीच कोई तात्त्विक भेद नहीं है...। जिन बमों ने हिरोशिमा और नागासाकी को तबाह कर दिया था, वे लगभग उसी आकार के थे जिस आकार का यह हिन्दुस्तानी उपकरण था - १५ से २० किलोटन ऊर्जा उत्सर्जित करने वाला।' एप्सटाइन, The Last Chance, पृष्ठ २२१.

२९४. हिन्द स्वराज, पृष्ठ १६३.

-जेम्स डब्ल्यू. डॅगलॅस की पुस्तक
गाँधी एण्ड द अनस्पीकेबल : हिज़ फ़ायनल एक्सपेरीमेण्ट विद ट्रुथ से साभार।

कैच-२२ एक कालजयी रचना

विकास कपूर

११ नवम्बर २०१८ को प्रथम विश्व युद्ध के समापन के सौ साल पूरे होने पर विश्व भर में श्रद्धांजलि सभाओं का आयोजन किया गया। इसी बहाने मीडिया और बुद्धिजीवियों का ध्यान फिर एक बार इस भीषण मानव-निर्मित त्रासदी की तरफ गया जिसे वर्तमान परिदृश्य में लगभग भुला दिया गया है। मानव जाति यह भूल चुकी थी कि प्रथम विश्व युद्ध एक ऐसी महाविनाशक घटना थी जिसमें दुनिया के तीस से अधिक राष्ट्रों ने हिस्सा लिया था और लगभग ६० लाख लोगों ने अपने प्राण गवाएँ थे। १६१४ से १६१८ तक चले इस महायुद्ध के परिणाम बेहद गम्भीर रहे। एक तरफ हथियारों और रसद के अन्धाधुन्ध उत्पादन ने वैश्विक अर्थव्यवस्था चौपट कर दी, वहीं दूसरी तरफ जान-माल की सार्वत्रिक हानि ने भय और असुरक्षा का माहौल पैदा किया। नतीजतन सम्पूर्ण विश्व एक लम्बी महामन्दी की चपेट में आ गया। उसी निर्णायक युद्ध में इटली के बेनिटो मुसोलिनी और जर्मनी के एडोल्फ हिटलर ने साधारण सैनिक की हैसियत से भाग लिया था और दोनों ही तत्कालीन परिदृश्य से असन्तुष्ट थे। युद्धोत्तर दौर में किस प्रकार मुसोलिनी ने फ़ासीवाद और हिटलर ने नात्ज़ीवाद के ज़रिये क्रमशः इटली और जर्मनी में वर्चस्व स्थापित किया और फिर कैसे द्वितीय विश्व युद्ध जैसा नरसंहार इतिहास में दर्ज़ हुआ, इस बारे में बहुत लिखा जा चुका है। अफ़सोस इस बात का है कि हिंसा का ताण्डव यहाँ थमा नहीं, वरन बीसवीं शताब्दी में ही रूस, कम्बोडिया, यूगोस्लाविया आदि में नरसंहार होते रहे। एरिक वाइटज़ ने अपनी पुस्तक A Century of Genocide में सभी नरसंहारों का आकलन किया है और बीसवीं शताब्दी को नरसंहार की शताब्दी कहा है।

बीसवीं शताब्दी ने मानव जाति को जितना प्रभावित किया है उतना इतिहास में शायद ही किसी अन्य शताब्दी ने किया होगा। इस सदी के उत्तरार्ध में जहाँ एक के बाद दूसरे विश्व युद्ध ने मानव संवेदनाओं को झकझोर दिया, वहीं विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुए अभूतपूर्व विकास ने मानव को उत्पादों के मोह-जाल में फँसाकर महज़ उपभोक्ता बना कर रख दिया। वह तमाम चीज़ें जो इस दौर के मनुष्य को सभ्य और आधुनिक बनाती हैं- जैसे रेडियो, टीवी, कार, जीप, वायुयान, पनडुब्बी, रॉकेट, एयर कंडीशनर, एंटीबायोटिक दवाएँ, कलाई घड़ी, प्लास्टिक से बने उपकरण आदि, यह सभी बीसवीं शताब्दी की देन हैं। इनमें से अधिकांश का आविष्कार मानव जाति के जीवन स्तर को उठाने के लिए नहीं बल्कि सैनिकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया था। सैनिटरी पैड्स, सेफ़्टी रेज़र, टी बैग्स

जैसे अनेक उत्पाद फ़ौज की सुविधा को देखते हुए विकसित किये गए थे और-तो-और जिस प्रोग्रामेबल कम्प्यूटर को लेकर आज हम गर्व से भर उठते हैं, उसका विकास ख़ुफ़िया सैन्य संदेशों को डीकोड करने के लिए किया गया था। आज भी समाजशास्त्री इस पशोपेश में हैं कि बीसवीं सदी को विकास की गौरव गाथा के रूप में याद रखें या विनाश के दुःस्वप्न के रूप में।

इस विस्फोटक और अराजक दौर ने मनुष्य के लिए भय, आशंका और स्वार्थजनित स्पर्धा का एक विचित्र माहौल पैदा किया, जिसके परिणाम स्वरूप अवसाद, आत्मघाती प्रवृत्तियाँ और अन्य मनोविकार मनुष्य जीवन का अभिन्न अंग बन गये। ज़ाहिर है, ऐसी परिस्थितियों में संवेदनशील मनुष्यों के सोचने-समझने और प्रतिक्रिया देने के अन्दाज़ को ठेस पहुँची। नतीजतन अभिव्यक्ति के तौर-तरीक़े पूरी तरह बदल गए, लेकिन यह बदलाव आसान नहीं था और मानव जाति को इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। उस दौर के अनेक प्रतिभाशाली लेखकों, कलाकारों को Bi-Polar अव्यवस्था, व्याकुलता और गहन अवसाद ने जकड़ लिया जिससे लड़ते-लड़ते वे असामयिक मृत्यु का शिकार हुए। चन्द नाम पेश हैं: वर्जिनिया वुल्फ़ (आत्महत्या-१९४१), तादियुस बोरोफ़्स्की (आत्महत्या-१९५१), सआदत हसन मण्टो (बलानोशी-१९५५), अर्नेस्ट हेमिंग्वे (स्वयं को गोली मार कर आत्महत्या-१९६१), सिल्विया प्लाथ (१९५३ में असफल आत्मघाती प्रयास के उपरान्त सुनियोजित आत्महत्या-१९६३) आदि। इन नामों से लम्बी सूची उन नामों की है जो ताउम्र अवसाद से जूझते रहे और सृजन करने का हर सम्भव प्रयास करते रहे मगर समाज से कटकर भी उन्होंने कभी कोई आत्मघाती क़दम नहीं उठाया। उस दौर के आलोचक इसे अस्तित्ववादी संघर्ष कहते हैं।

इन साहित्यकारों के अलावा कुछ नाम ऐसे भी हैं जो उन अनुभवों से आहत-आलोड़ित हुए लेकिन उसका असर व्यक्तिगत जीवन से अधिक, उनके लेखन में दिखायी दिया। ऐसा ही एक नाम जोसेफ़ हेलर है जिन्हें द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका को निकट से देखने का अवसर मिला और वही युद्ध अनेक वर्षों बाद उनके लिखे एक उपन्यास का केन्द्रीय बिन्दु बनकर उभरा। वह उपन्यास कैच २२ था जो अमरीका से निकला एक ऐसा युद्ध-केन्द्रित दस्तावेज़ बन गया जिसे आज विश्व साहित्य में कालजयी माना जाता है।

जोसेफ़ हेलर ने कैच २२ को १९५३-५४ में लिखना प्रारम्भ किया और यह कई वर्ष बाद १९६१ में प्रकाशित हो सका। पहले-पहल अमरीका में इसे सजिल्द छापा गया लेकिन वहाँ उसे उतनी लोकप्रियता नहीं मिली जितनी यूरोप के पेपरबैक संस्करण को नसीब हुई। १९६३ के बाद से इसका निरन्तर पुनर्मुद्रण होता रहा और इसके संस्करण-दर-संस्करण निकलते रहे। आज तक इस विलक्षण उपन्यास की कुल सवा करोड़ प्रतियाँ बिक चुकीं हैं। अकेले कोर्गी पब्लिशिंग हाउस ने इसके चालीस से अधिक संस्करण निकाले और २५ लाख से अधिक प्रतियाँ बेची हैं। अपनी तरह के निराले इस उपन्यास से जुड़ी कई बातें आलोचकों एवं शोधकर्ताओं को आकर्षित करती हैं। जैसे कि इसका

एकरैखिक आख्यान न होना, किसी एक नायक (या अनायक) पर कथ्य केन्द्रित न होना, एक ही प्रसंग को कई बार, अलग अध्यायों में, नयी जानकारी के साथ फिर लिख देना, इतने सारे क़िरदार रच देना कि पाठक को उलझन-सी होने लगे, मृत्यु को व्यंग्य और कटाक्ष का वाहन बनाना आदि। द गार्डियन में छपे एक लेख के अनुसार प्रसिद्ध समालोचक एवेलिन वॉ ने इस उपन्यास की पाण्डुलिपि पढ़ने के बाद प्रकाशक से कहा था कि उस पाण्डुलिपि को नॉवेल कहना एक भूल होगी क्योंकि 'वह महज़ एक शब्द स्केच का संग्रह है - जिसमें कई दुहराव हैं और जो पूरी तरह से किसी संरचनात्मक बनावट से महरूम है।'

कैच २२ एक ऐसा नॉवेल है जिसमें पहले ही पृष्ठ से पाठक को तर्क और परिपाटीगत समझदारी को ताक पर रखना पड़ता है। शायद इसलिए की इस दुनिया का आत्मघाती निज़ाम और उसमें लड़े जाने वाले युद्ध, दोनों ही पागलों के नियन्त्रण में रहे हैं। औघड़ दुनिया के तौर तरीक़े औंधी सोच वालों को ही समझ आ सकते हैं। प्रथम अध्याय से लिए कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं:

> योस्सारियन अमरीकी एयर फ़ोर्स का एक बमवर्षक सैनिक है जो अनेक सामरिक उड़ानों में शामिल होकर युद्ध से थक चुका है और सैन्य-अस्पताल में इसलिए भर्ती हुआ है कि भविष्य में होने वाली सामरिक उड़ानों से उसे मुक्ति मिल सके। योस्सारियन के यकृत (लिवर) में दर्द है जो पीलिया में होने वाले दर्द से कुछ कम है। डॉक्टर हैरान-परेशान हैं और समझ नहीं पा रहे कि क्या किया जाये। यदि यह दर्द पीलिया होने के कारण है तो उसका उपचार किया जा सकता है। यदि यह पीलिया के कारण नहीं हैं तो उसे खुद ही ठीक हो जाना चाहिए और योस्सारियन को छुट्टी दे दी जानी चाहिए। परन्तु दर्द पीलिया से कुछ कम होने पर उलझन पैदा हो रही है।

परस्पर विरोधाभासी स्थितियों के बीच अनिश्चय और उससे उपजी विभ्रान्ति इस पूरे उपन्यास का सार है। जिसे देखिये, वही इस अस्पष्ट और संदिग्ध परिस्थिति की आड़ में अपना उल्लू सिद्ध कर रहा है। लेखकीय प्रतिभा तब स्पष्ट हो उठती है जब पाठक को एहसास होता है कि ऐसा हास्यास्पद सन्देह तो हर दूसरी घटना या हर तीसरे प्रसंग में घटित हो रहा है और यह पाठकों में केवल गुदगुदाहट ही पैदा नहीं करता, जुगुप्सा भी जगाता है।

एक और बानगी देखिये:

> उसी अस्पताल में एक सफ़ेदपोश सैनिक भर्ती है। वह सिर से पैर तक गॉज़-पट्टी और प्लास्टर से ढँका है। उसके दोनों पैर और दोनों हाथ बेकार हैं जो हिल नहीं सकते हैं। सैनिक के प्लास्टर से ढँके हाथों-पैरों को तारों और वज़न से तनाव देकर टाँग रखा है। उस सैनिक का चेहरा भी दिखायी नहीं देता है और मुँह के स्थान पर बस एक स्याह गड्ढा दिखायी पड़ रहा है। कहते हैं, एक रात उस रहस्यमय मरीज़ को चुपके-से उस वॉर्ड में लाकर लिटा दिया गया था। शेष मरीज़ नहीं जानते वो कैसे, कहाँ से और कब लाया गया था। उसकी कुहनी के पास

एक ट्यूब लगी है जिससे उस सैनिक को एक पारदर्शी काँच के मर्तबान में भरा कोई तरल पदार्थ चढ़ाया जा रहा है। सफ़ेद ममी-सा वह सैनिक पीठ के बल सीधे लेटा रहता है। उसके निचले हिस्से से एक जस्ते का पाइप निकल रहा है जिसे एक रबर की नलकी से जोड़ा गया है। वह नलकी उस सैनिक के गुर्दों की गन्दगी बूँद-बूँद कर एक पारदर्शी काँच के मर्तबान में पहुँचा रही है। जब फर्श पर रखा मर्तबान भर जाता है तब कुहनी से जुड़ा मर्तबान खाली हो जाता है और तब बड़ी तत्परता से उन्हें आपस में बदल दिया जाता है ताकि यह चक्र दोहराया जा सके...

अचरज की बात यह है कि यह बेज़ुबान मरीज़ कई बार उपन्यास के कथ्य में स्थान पाता है और अन्ततः ऐसे ही एक सुबह मरा पाया जाता है। उसका स्थान रिक्त होने के बाद भी उसकी मौजूदगी अन्य सैनिकों के संवादों में बनी रहती है। कोई कहता कि क्या यह बात दावे से कही जा सकती है कि वह पहले (वॉर्ड में जब भर्ती के समय लाया गया था) जीवित था, दूसरा कहता कि दावा तो इस बात का भी नहीं किया जा सकता कि उस सफ़ेद खोल में कोई मानव देह थी। जोसेफ़ हेलर अपने इस किरदार को The Soldier in White यानी सफ़ेद कपड़ों में लिपटा एक सैनिक कहते हैं। गोया कि एक अनाम, अनचीन्हा, विस्मृत-सा सैनिक मर गया और पीछे रह गये कुछ वाचाल लोग जो इस बहस से ऊपर नहीं उठ पा रहे कि वह शख़्स कभी था भी... या नहीं! मेरी समझ में युद्ध पर इससे बेहतर टिप्पणी दूसरी नहीं हो सकती।

कहने को तो इस उपन्यास में कोई एक नायक नहीं है, लेकिन चन्द पात्र एकाधिक बार, एक-सी अथवा कुछ भिन्न परिस्थितियों में कुछ नया करते दिखाए गये हैं। कथानक उनके इर्द-गिर्द मण्डराता-सा लगता है। ऐसे कुछ अविस्मरणीय पात्र हैं - कर्नल कैथकार्ट, जनरल पेकहैम, बन्दूकची स्नोडेन, क्लेवेन्जर, मेजर मेजर मेजर मेजर (जी हाँ, यही नाम है), नेटली, नेटली की प्रेमिका (जो एक वेश्या है), पायलट मड्ड, Hungry Joe (भूखा जो), डॉक् डानिका और माइलो माइंडर बाइंडर। इन पात्रों के साथ योस्सारियन, मैकवाट, डनबार और अन्य वायुसैनिक दो-चार होते रहते हैं।

कर्नल कैथकार्ट एक लम्पट क़िस्म का अफ़सर है जो अपनी टुकड़ी के सैनिकों को जोख़िम भरे मिशन पर भेजकर स्वयं अख़बारों में छाया रहता है। कर्नल को अपने वायुसैनिकों को लगातार प्राणघातक मिशनों पर भेजने में लेश मात्र का संकोच नहीं होता - उलटे वह समय-समय पर उनकी ड्यूटी के घण्टों और मिशन की संख्या में मनमर्ज़ी से बढ़ोतरी करता रहता है। यहाँ तक कि निर्धारित चालीस हवाई मिशन पूरे करने के बाद भी उन्हें छुट्टी पर नहीं जाने दिया जाता है। नॉवेल के छठे अध्याय में वर्णित एक घटना में वायुसैनिक इस बारे में शिकायत लेकर सैन्य मुख्यालय जा पहुँचते हैं। वे जानना चाहते हैं कि कर्नल कैथकार्ट द्वारा उड़ानों की संख्या पर लगाये गये मनमाने प्रतिबन्ध कितने वैधानिक हैं। मुख्यालय के उच्चाधिकारी की पायलटों के साथ हुई बातचीत का ब्यौरा पेश है:

पायलट - हमे समझ नहीं आ रहा... क्या डॉक् डानिका सही कह रहे हैं?

उच्चाधिकारी - उन्होंने कितने मिशन बताए हैं?

पायलट - चालीस

उच्चाधिकारी - डॉक् डानिका ठीक कह रहे हैं। जहाँ तक सत्ताईसवीं स्क्वाड्रन के पायलटों का सवाल है, उन्हें चालीस मिशन पर ही जाना निर्धारित किया गया है।

योस्सारियन - तब मैं घर जा सकता हूँ, है ना? मैंने चवालीस मिशन पूरे कर लिए हैं...

उच्चाधिकारी - तुम पागल तो नहीं हो गए...? तुम घर नहीं जा सकते।

योस्सारियन - क्यों नहीं?

उच्चाधिकारी - कैच २२

योस्सारियन - कैच २२? उससे इसका क्या लेना देना?

उच्चाधिकारी - नियम कहते हैं की आपको हर सूरत में अपने अफ़सर का आदेश मानना होगा। और यह कहाँ लिखा है कि घर जाना आवश्यक है? यदि आपका अफ़सर किसी नियम का उल्लंघन करता है तब भी आप आदेश मानने से इन्कार नहीं कर सकते। अन्यथा आप हुक्मउदूली के दोषी पाए जायेंगे। यही कैच २२ है।

इस आधिकारिक वार्ता के बाद डॉक् डानिका पायलटों को बताता है कि कर्नल कैथकार्ट ने अब उनके मिशन की नयी सीमा निर्धारित की है।

योस्सारियन - मतलब अब मुझे पचास मिशन पूरे करने होंगे...?

डॉक् डानिका - नहीं, पचपन...!

योस्सारियन और अन्य पायलट मन मसोसकर रह जाते हैं।

इन्हीं कारणों से उस टुकड़ी के पायलट (योस्सारियन, डनबार, क्लेवेन्जर आदि) कर्नल कैथकार्ट से चिढ़ते हैं। उनमें से कुछ वायुसैनिक नौकरशाही के एक अन्य पेंच-दार नियम के तहत ड्यूटी से मुक्त होने का प्रयास भी करते हैं। नियम है कि यदि किसी सैनिक के दिमाग पर कुछ पागलपन का असर दिखे और चिकित्सक उसकी तस्दीक कर दे, तो उस सैनिक को मिशन पर जाने से छुट्टी मिल सकती है। योस्सारियन इस नियम के तहत डॉक् डानिका के सम्मुख निरीक्षण के लिए प्रस्तुत होता है, डॉक् डानिका उसे यह कहकर वापस भेज देता है कि यदि उसे स्वयं अपने पागलपन के बारे में मालूम हो रहा है तो वह कतई पागल नहीं है। उलटे यह मिशन से बच निकलने के लिए किया गया एक बहाना है। यही कैच २२ है। ...गोया कि इस दुनिया में समझदारों को चाहे-अनचाहे तर्कहीनता को गले लगाना पड़ता है और यदि आप 'पागल' हैं तो आप सब कुछ स्पष्ट रूप से देख-समझ पाएँगे। लेकिन यदि आप सचमुच पागल हैं - तो आपकी बात सुनेगा कौन?

इस पहलू के अलावा उपन्यास में युद्ध सम्बन्धित कुछ और बातों का उल्लेख भी है। एक महत्वपूर्ण मुद्दा सेना में फैले भ्रष्टाचार का है। यह बात अचम्भित करती है कि जोसेफ़ हेलर ने आज

से लगभग पैंसठ वर्ष पूर्व इस बात का सही आकलन कर लिया था कि एक राष्ट्र और उसकी सेना किन लोगों के हाथों सर्वाधिक लुटते हैं। हेलर ने अफ़सरों, नेताओं और बिचौलियों की मिलीभगत से पूरी व्यवस्था के बिखरने का सत्य उजागर किया है। अपने स्वनामधन्य उपन्यास कैच २२ में हेलर ने महँगी शिक्षा में हुए ख़र्चे कि भरपाई करने हेतु एक मेडिकल चिकित्सक (डॉक् डानिका) के माध्यम से तनख़्वाह से अधिक आय अर्जित करने का एक रोचक प्रसंग लिखा है।

> डॉक् डानिका एक सैनिक के सामने अपना रोना रोते हुए कहते हैं: 'तुम्हें लगता है कि तुम्हारी समस्या सबसे बड़ी है। मेरे बारे में जानते हो? मैंने मेडिकल की पढ़ाई आठ साल तक मूँगफली खाकर पूरी की है। पढ़ाई समाप्त करके मुझे कई महीनों तक चूज़ों को खिलाने वाला दाना तक फाँकना पड़ा, तब जाकर मैंने अपना क्लीनिक खोला था। अब जब कि मेरी प्रैक्टिस चलने लगी और कुछ पैसा आना शुरू हुआ तो इन लोगों ने मुझे जबरन सेना में भर्ती कर दिया। मुझे समझ नहीं आता कि तुम किस बात की शिकायत कर रहे हो?'

येन केन प्रकारेण पैसा बनाने की हुड़क डॉक् डानिका को एक विचित्र परिस्थिति में ला खड़ा करती है। डॉक् डानिका उड़ान भरने से डरता है किन्तु उड़ने वाले दल को मिलने वाला अतिरिक्त भत्ता उसे ललचाता है। डॉक् डानिका अपने एक विश्वासपात्र पायलट मैकवाट से कहकर अपना नाम उड़न दस्ते की सूची में तो लिखवा देता है - लेकिन मिशन पर उनके साथ नहीं जाता है। संयोग से मैकवाट का विमान दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है और उसपर सवार लोगों के साथ डॉक् डानिका को भी मृत घोषित कर दिया जाता है। अब डॉक्टर साहब जिस-तिस को कहते फिरते हैं कि वे जीवित हैं - लेकिन कोई उनकी बात ही सुनने को तैयार नहीं होता। विडम्बना देखिये कि सेना की तरफ से डॉक् डानिका की पत्नी को उनकी कथित मौत का ख़ेदपूर्ण सन्देश तक भेज दिया जाता है।

जीवित इंसान के मृत माने जाने की इस अँधेरी घटना के ठीक उलट उपन्यास में एक और व्याकुल कर देने वाला प्रसंग है - पायलट मड्ड के बारे में। पायलट मड्ड किसी और स्टेशन पर तैनात एक वायुसैनिक है जिसे योस्सारियन की टुकड़ी में प्रतिस्थापित करके भेजा जाना निर्धारित किया गया है। उस पायलट को पिछले स्टेशन से कार्य-मुक्त कर दिया जाता है। वह अपने नये स्टेशन पर आ पहुँचता है लेकिन कार्य-भार ग्रहण करने से पहले, एक सैन्य हमले में मारा जाता है। मृतक का सामान योस्सारियन के तम्बू में रखा है - और यूनिट में किसी को समझ नहीं आ रहा कि उसका क्या किया जाए। क्यूँकि पायलट मड्ड ने अभी ड्यूटी ज्वाइन नहीं की है इसलिए उसे आधिकारिक तौर पर शहीद नहीं माना जा सकता, और न ही उसे वापस भेजा जा सकता है क्योंकि वह मर चुका है। हैडक्वार्टर्स के रिकॉर्ड में गफ़लत न हो इसलिए उन्हें सच्चाई नहीं बतायी जाती और पायलट मड्ड की मौजूदगी का ढोंग किया जाता है। योस्सारियन और उनके सार्जेंट इस प्रकरण में किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाते हैं। लिहाज़ा, कई महीनों तक योस्सारियन मृतक की उन लावारिस वस्तुओं/माल-असबाब के साथ तम्बू में रहने को मजबूर हो जाता है। पायलट मड्ड सशरीर तो वहाँ उपस्थित नहीं है लेकिन मुख्यालय

की फ़ाइलों में वह सकुशल है। इधर यूनिट के लोग उसकी (गैर)मौजूदगी से आतंकित हैं। टुकड़ी का हर सैनिक उस मृतक के सामान में स्वयं के जीवन की क्षण-भंगुरता देख रहा है। हर पायलट यह सोचकर आतंकित है कि अगला धमाका उसके अस्तित्व को एक बिस्तर और कुछ बर्तन की शिनाख़्त तक सीमित न कर दे। लालफीताशाही की स्तुत्य कार्यशैली देखिये कि जीवित होने पर भी डॉक् डानिका की मृत्यु का शोक सन्देश रवाना किया जा चुका है और पायलट मड्ड मर के भी नौकरी कर रहे हैं।

युद्ध में भ्रष्टाचार का दूसरा कारण वे बेईमान लोग हैं जो सेना को व्यावसायिक विनिमय का एक उपयुक्त मंच मानते हैं। ऐसे लोग मन-ही-मन यह चाहते हैं कि युद्ध अनवरत चलता रहे और वे चाँदी कूटते रहें। कैच २२ में इस बिन्दु को तफ़्सील से व्याख्यायित किया गया है। हेलर इस उपन्यास में माइलो माइंडर बाइंडर के नाम से एक ऐसा पात्र रचते हैं जो कहने को तो सेना के भोजनालय में एक अफ़सर है परन्तु वास्तव में एक पहुँचा हुआ मुनाफ़ाखोर है। माइलो माइंडर बाइंडर युद्ध के दौरान, सैन्य टुकड़ी का हिस्सा होते हुए भी एक ऐसी ट्रेडिंग कम्पनी खड़ी कर लेता है जिसमे 'सभी का हिस्सा है'। धीरे-धीरे वह कम्पनी अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप अपना लेती है और माइलो माइंडर बाइंडर प्रभावशाली होता जाता है। अपने सम्पर्कों का लाभ उठाकर वह दुनिया के कोने-कोने से विमानों की मदद से रसद मँगवा लेता है। स्विट्ज़रलैंड से मूँगफली और माल्टा से अण्डे लाना तो आम बात है, अचरज की बात तो यह है कि कभी-कभी माइलो ख़ास जनरल साहब के लिए पोलैंड के सॉसेज और सिसली से स्कॉच मँगवाकर देता है। इस तरह ऊँचे पदों पर बैठे लोग माइलो माइंडर बाइंडर में व्यक्तिगत रुचि लेने लगते हैं और उसे वाणिज्यिक रूप से महत्वपूर्ण अनेक समितियों का सदस्य बना देते हैं। इन्तहा तब हो जाती है जब माइलो अपनी कम्पनी के अंशधारी सदस्यों को लाभ पहुँचाने की आड़ में युद्ध के निर्णयों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर देता है। माइलो माइंडर बाइंडर की कम्पनी का नाम M&M है और वह मानता है कि उस प्रतिष्ठान का सिद्धान्त वाक्य है 'What's good for M&M Enterprises is good for the country'। अपनी इस नीति के चलते माइलो माइंडर बाइंडर दुश्मन देश से हथियारों की ख़रीद-फ़रोख़्त करने में भी कोई संकोच नहीं करता। यहाँ तक कि अपने ही द्वारा बेचे गए नक़्शे से वह जर्मन पायलटों से अपनी ही छावनी पर हमला करवा देता है। बाद में मीडिया और साथी सैनिकों के विरोध को यह कहकर शान्त करवा देता है कि इस सौदे से सबका फ़ायदा होगा। इस पूरे प्रकरण में यदि पाठकों को मौजूदा दौर के सामरिक सौदों से सम्बन्धित कोई संकेत मिलें तो उसे वे जोसफ़ हेलर कि प्रतिभा से जोड़कर देखें - इस लेख के लेखक की अति-सक्रिय कल्पना से नहीं।

इस महत्वपूर्ण पहलू के अलावा हेलर अपने इस लोभी पात्र का एक और पहलू प्रस्तुत करते हैं। वह है एक निर्मम निवेशक का जो अपने डूबते खाते के पैसे वापस लाने के लिए किसी भी हद तक गिर सकता है। भारी मुनाफे की सम्भावना देखते हुए माइलो मिस्र का सारा कपास ख़रीद लेता है। कुछ समय बाद उसे पता चलता है कि उस कपास का कोई खरीदार नहीं है। थोड़ा भुनभुनाने के

बाद माइलो एक तिकड़म लगाकर कपास की गोलियाँ बनाकर उसे चॉक्लेट में लपेटकर एक मिठाई बनाता है। उसकी मंशा है कि वह कपास की गोलियाँ मेस में सैनिकों को खाने में परोसी जाएँ। लेकिन ऐसा करने से पहले माइलो उन चॉकलेट में लिपटी गोलियों को किसी पर आज़माना चाहता है।

उधर एक हवाई मिशन में बमबारी के दौरान बन्दूकची स्नोडेन की दर्दनाक मौत हो जाती है और उसकी अंतड़ियाँ निकलकर पूरे चालक-दल को खून से भिगो देती हैं। योस्सारियन इस दहशतनाक घटना से सदमे में आ जाता है और अपनी रक्त-रंजित यूनिफ़ॉर्म पहनने से तौबा कर लेता है। कुछ अपनी दिमाग़ी हालत के चलते और कुछ विरोध प्रकट करने के मन्तव्य से योस्सारियन पूरी तरह निर्वस्त्र होकर रहने लगता है। यहाँ तक कि एक जलसे में उसे मैडल पहनाया जाने वाला है और वह मैदान में यूनिफ़ॉर्म-धारी पंक्तिबद्ध सैनिकों के बीच बिना कुछ पहने खड़ा है। अगले दिन स्नोडेन के क्षत-विक्षत शरीर को दफ़नाया जा रहा है और योस्सारियन वहाँ भी बिना कपड़ों के मौजूद है। कुछ देर में लोगों के सवालों से तंग आकर योस्सारियन एक पेड़ पर चढ़कर बैठ जाता है। वहीं माइलो अपनी जेब में कपास की गोलियाँ रखकर आ धमकता है। उन दोनों के बीच हुए संवाद की 'संजीदगी' देखिए:

- मैं तुम्हें कब से तलाश रहा हूँ। कहाँ थे तुम?

- तुमने मुझे यहाँ क्यों नहीं ढूँढ़ा? मैं सुबह से ही पेड़ पर बैठा हूँ।

- नीचे आओ और इसे (जेब से गोली निकालकर) चखकर बताओ, यह कैसी है।

योस्सारियन इन्कार कर देता है। माइलो पेड़ पर चढ़ जाता है और जेब से टिश्यू पेपर में लिपटी एक मुलायम-सी भूरी गोली निकालता है।

- इसे खा लो और मुझे बताओ कि यह कैसी है। मैं इसे सैनिकों को परोसना चाहता हूँ।

- (गोली मुँह में डालते हुए) मगर यह है क्या?

- चॉक्लेट में लिपटी कपास।

- (तुरन्त थूकते हुए) हे प्रभु, तुम्हारा दिमाग़ तो खराब नहीं हो गया है? वापस लो इसे... कम-से-कम इसके बीज तो निकाल देते।

- थोड़ा चबाकर तो देखो। यह इतनी भी ख़राब नहीं हो सकती...क्या वाक़ई बहुत बुरी है?

- उससे भी बदतर।

- पर मुझे इसको मेस में सैनिकों को खिलाना है।

- वह इसे निगल तक नहीं पाएँगे...

- उन्हें इसे निगलना ही होगा।

सघन मूर्खता और पागलपन में लिपटी इस गम्भीर विषयवस्तु पर जितनी बात की जाये, कम है। नॉवेल में ऐसे एक से बढ़कर एक प्रसंग हैं जिनकी पूरी व्याख्या इस लेख में नहीं की जा सकती।

लेकिन एक बाल-बुद्धि वाले पात्र का उल्लेख करना आवश्यक है। वह है मेजर मेजर मेजर मेजर।

मेजर मेजर एक दब्बू और औसत से कम काबिलियत वाला शख़्स है जिसके जीवन की कुल जमा एक उपलब्धि है - वह यह कि उसका चेहरा अमरीका के एक प्रसिद्ध अभिनेता हेनरी फोंडा से मिलता है। उसके विनोदप्रिय पिता ने किसी मज़ाकिया पल में उसका नाम मेजर मेजर मेजर रख दिया था। फ़ौज में भर्ती होने पर कम्प्यूटर की गलती से उसके नाम में एक अतिरिक्त 'मेजर' जुड़ जाता है और वह उम्र भर के लिए मेजर मेजर मेजर मेजर बन जाता है। सेना में दाख़िल होते ही ऐसा संयोग होता है कि टुकड़ी का वास्तविक मेजर युद्ध में मारा जाता है और कर्नल कैथकार्ट मेजर मेजर मेजर को स्क्वाड्रन की कमाण्ड सौंप देते हैं। वास्तव में मेजर बनते ही मेजर मेजर (जो केवल दिखने में हीरो जैसा है) घबरा जाता है। उसके बाल्य-जीवन के वे तमाम कड़वे अनुभव, जब उसके सहपाठी उसे 'मेजर' कहकर चिढ़ाते थे, उसे एक बुरे सपने की तरह डराने लगते हैं। सेना में भी उसके यूनिट के साथी उसकी गत बनाने का बहाना ढूँढते थे। कभी बास्केटबॉल खेलते हुए तो कभी किसी और बहाने से उसको टंगड़ी मारकर गिराने में, धक्का देने में या च्युँटियाँ भरने में उन सभी को विशेष आनन्द मिलता है। मेजर मेजर मेजर मेजर को लगता है कि वह इस तरह पदोन्नत होकर अपने मातहत सैनिकों का सामना नहीं कर पायेगा। अपने इस कुण्ठाग्रस्त स्वभाव की वजह से वह अपने सर्जेंट से कह देता है कि जब तक वह ऑफ़िस में बैठा है, किसी को अन्दर नहीं आने दिया जाये। सर्जेंट और मेजर मेजर मेजर मेजर के बीच यह दिलचस्प वार्तालाप देखियेः

- आज के बाद मैं नहीं चाहता कि जब मैं यहाँ बैठा हूँ तो कोई भी आकर मुझसे मिले।
- जी अच्छा सर। क्या 'कोई भी' में मैं भी शामिल हूँ?
- हाँ
- मगर जब आप अन्दर बैठे हैं तो मैं मिलने आने वालों से क्या बोलूँ?
- बोल देना कि मैं अन्दर हूँ और वे प्रतीक्षा करें...
- जी सर। कब तक प्रतीक्षा करने को बोलूँ?
- जब तक मैं चला न जाऊँ।
- और तब मैं उनसे क्या कहूँ?
- मुझे इस से कोई फ़र्क नहीं पड़ता।
- जब आप यहाँ से जा चुके हों, क्या तब मैं उन लोगों को अन्दर भेज सकता हूँ?
- हाँ।
- मगर तब आप यहाँ नहीं होंगे।
- नहीं।
- जी अच्छा सर।

मेजर मेजर मेजर मेजर से जब कोई मातहत मिलने आता तो वह ऐसे ही उससे मिलने से बच जाता और यदि कोई वरिष्ठ अफ़सर आ धमकता तो वह उसी क्षण खिड़की से कूदकर कहीं छुप जाता है। इसी तरह पूरी कर्तव्यनिष्ठा से वह अपनी नौकरी करता है। मेजर अकेले रहने का इतना आदी हो जाता है कि उसे किसी से भी मिलने-बात करने में कँपकँपी महसूस होने लगती है। नौबत यहां तक आ जाती है कि मेजर अपना भोजन मेस में न करके अपने ट्रेलर में मँगवा लेता है। वहाँ तक आने-जाने के लिए भी उसे अँधेरे का इन्तज़ार अथवा झाड़ियों की ओट की ज़रूरत महसूस होती है। इधर मेजर का ख़ब्त दिनोदिन बढ़ रहा है, उधर योस्सारियन हर उड़ान के साथ और व्याकुल हो रहा है। अब तक वह इक्यावन हवाई मिशन पूरे कर चुका है और उसके बर्दाश्त की हद हो गयी है। योस्सारियन मेजर से मिलकर सर्जेंट की शिकायत करना चाहता है और अपने थका देने वाले काम से अवकाश चाहता है। अनेक प्रयासों के बाद भी जब उसे स्क्वाड्रन कमाण्डर मेजर मेजर मेजर मेजर से नहीं मिलने दिया जाता तो योस्सारियन मामला अपने हाथ में लेने का निश्चय कर लेता है। एक दिन वह झाड़ियों में छुपकर मेजर के इन्तज़ार में घात लगाकर बैठ जाता है। जैसे ही मेजर दबे-पाँव निकलता है वह उस पर छलांग लगाकर पकड़ लेता है और गिरा देता है। इस अनूठे मंज़र की कल्पना कीजिये, मेजर गड्ढे में अस्त-व्यस्त पड़ा है और योस्सारिअन उसे दबोचे हुए ही सैल्यूट करके उससे प्रतिवेदन पेश करने की इजाज़त माँग रहा है। स्क्वाड्रन कमांडर मेजर मेजर मेजर मेजर छटपटा रहे हैं और घिघियाते हुए कहते हैं:

- देखो, मुझे उठने तो दो। मैं यहाँ पड़े-पड़े तुम्हारे सैल्यूट का जवाब कैसे दूँ? मेरी बाँह भी नीचे दबी हुई है...

योस्सारिअन उसे खड़ा होने देता है। मेजर कपडे झाड़ रहे हैं और उनका मातहत योस्सारिअन उन्हें दुबारा सैल्यूट कर अपनी विनती दोहरा रहा है। मेजर अपनी चोट पर दवाई लगाने के बहाने से उसे अपने ऑफिस में चल कर बात करने को कहता है। वहाँ योस्सारिअन को सार्जेंट के पास बैठा, कुछ देर में अन्दर आने देने का निर्देश दे कर मेजर अपनी दिखावटी प्रतिष्ठा को सँभाले अन्दर चला जाता है। अन्दर जाते ही वह दरवाजा बन्द करके लगभग दौड़ता हुआ पीछे वाली खिड़की से उतर कर भागने की चेष्टा करता है। खिड़की से निकलते ही जब मेजर पलटता है तो देखता है, योस्सारिअन वहाँ भी हाथ बाँधे मौजूद है। वह फिर से सैल्यूट ठोंक कर अपना अनुरोध दोहराता है। अन्ततोगत्वा मेजर साहब को उसकी बात सुनने की स्वीकृति देनी पड़ती है। वे दोनों खिड़की के रास्ते भीतर आकर बैठ जाते हैं। बातचीत का निष्कर्ष यह निकलता है की युद्ध के हालात में नीतिगत निर्णय बदलना सम्भव नहीं है। मतलब, कुल मिला के ढाक के वही तीन पात। अक्षम लोगों का महत्वपूर्ण पदों पर काबिज होना और अपने आकाओं का पिट्ठू बनकर किसी तरह दफ्तर में समय काटना, यह पिछली सदी में भी होता था और आज भी होता है। परेशानी इस बात की है कि ऐसे काहिल और नाकारा लोगों के कारण आम आदमी का जीवन नर्क बन जाता है।

इस कालजई उपन्यास का शीर्षक कालान्तर में इतनी प्रसिद्धि पा गया कि आज कैच २२ एक संज्ञा के रूप में उन तमाम विरोधाभासी परिस्थितियों को समझाने के लिए प्रयोग में लाया जाता है जिनसे किसी करवट पार पाना मुश्किल है। लुई हैस्ले (१९७४) कैच २२ की समीक्षा में लिखते हैं, हास्य और डर मिल कर इस कृति में एक नाटकीय तनाव पैदा करते हैं जो पुस्तक को हास्य और युद्ध दोनों के विरल संयोजन के क्लासिक के तौर पर स्थापित करती है। इस उपन्यास की बुनावट और शिल्प को समझने के लिए यह सर्वथा उपयुक्त टिपण्णी है।

लेकिन बीसवीं शताब्दी का यह विलक्षण उपन्यास केवल इसलिए याद नहीं रहेगा कि उसमें लेखन का एक अभिनव प्रयोग प्रस्तुत हुआ है वरन इसलिए भी की इसने आने वाली पीढ़ियों के लिए महायुद्ध के कारणों की सच्ची तस्वीर पेश की है। प्रथम विश्व युद्ध चार साल तक चलता रहा लेकिन अन्त तक अनसुलझे मसले छोड़ गया। उन्ही मसलों की आड़ में दूसरा विश्व युद्ध छेड़ा गया जो छह साल तक लड़ा जाता रहा। दूसरे विश्व युद्ध ने मानवता को जिस खौफनाक मंजर से गुजरने को मजबूर किया उसके बारे में सोचने पर भी आज इक्कीसवीं शताब्दी में रोंगटे खड़े हो जाते हैं। एक सिरफिरे तानाशाह की जिद के चलते यहूदियों की पूरी नस्ल को दुनिया से मिटा देने का अभियान चलाया गया। लाखों लोग सुनियोजित तरीके से मार डाले गये। और किसी ने उस पागलपन का विरोध करना ज़रूरी नहीं समझा - उलटे उस उन्माद का हिस्सा बन गये. हैरत की बात यह है की आज भी नात्जीवाद को कोसने वालों से बड़ी संख्या उस के अनुयायियों की है। ऐसे विनाशकारी बम बनाये गये जो पूरी मानव जाति को एक पल में राख कर दें। उन भयानक हथियारों का युद्ध के ऐन समापन पर ग़ैर-ज़रूरी प्रयोग भी किया गया - केवल यह जाँचने के लिए की इसका वास्तविक परिणाम क्या होगा। तब भी माइलो माइंडर बाइंडर नुमा अमरीकी उद्यमशीलता की भर्त्सना कम तारीफ ज़्यादा हुई। सट्टोरियों ने विश्व भर में ज़रूरी वस्तुओं का संचयन कर ग़रीब देशों में एक कृत्रिम अभाव पैदा किया जिसके परिणाम स्वरुप कई लोग भूख और बीमारी से चल बसे। लेकिन इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा क्योंकि आज भी हम वैश्विक व्यापार और पूँजीवाद पर भरोसा करते हैं और कामयाब सट्टोरियों का अनुसरण करते हैं। आज भी तमाम राष्ट्र नित नये हथियारों का परीक्षण संग्रहण कर रहे हैं और जन-साधारण को यह पाठ पढ़ाया जा रहा है कि यह विश्व में शान्ति बनाये रखने के लिए है। इस दौर में हेलर और भी प्रासंगिक हो गये हैं जब वे अपने इस उपन्यास में मानव जाति को कटघरे में खड़ा करते हैं और यह शाश्वत प्रश्न पूछते हैं, कि पागल कौन है?

कहानी

अलफतिया

ध्रुव शुक्ल

सबसे पहले अपना परिचय देना ठीक रहेगा- मैं एक अवांछित व्यक्ति हूँ, अनाधिकार चेष्टा मेरी आदत है। किसी के भी जीवन में ताक-झाँक किये बिना जी नहीं सकता। एक नम्बर का मुफ़्तखोर हूँ। ये गुण जिस व्यक्ति में कूट-कूटकर भरे हों, उसे ही अलफतिया कहा जाने लगता है। दुनिया में मेरे जैसे लोगों की कमी नहीं है। वे हर गाँव-शहर में मिल जायेंगे। जैसे लोगों के नाम होते हैं, मेरा भी एक नाम है जिसे आपको नहीं बताऊँगा। जो लोग मेरी विशेषताओं को जल्दी ही पहचान लेते हैं, वे मन-ही-मन मुझे अलफतिया मान लेते हैं। फिर कोई मुझे किसी भी नाम से पुकारे, उसके मन में मेरा नाम अलफतिया ही होता है।

मेरा घर कहीं नहीं है, जहाँ होता हूँ वहीं से निकल पड़ता हूँ। कॉफ़ी हाउस के बाहर खड़ा हो जाता हूँ। कोई तो ऐसा मिल ही जाता है जो कभी पहले भी मिला होगा। उसके साथ सुबह का नाश्ता और चाय का जुगाड़ बड़ी आसानी-से हो जाता है। अगर वही आदमी रोज़ मिले तो किसी खम्बे की ओट में छिप जाता हूँ, किसी दूसरे की राह देखता हूँ। चाय पीते हुए कोई ऐसी बात बढ़ा देता हूँ कि दूसरी बार मिलने पर कॉफ़ी हाउस का दरवाज़ा मेरे लिए फिर खुल सके। मुझे तो बस कॉफ़ी हाउस के बाहर खड़े होने भर की देर है, कोई-न-कोई मेरा हाथ पकड़कर भीतर खींच ले जाता है। बात फिर इतनी आगे बढ़ा देता हूँ कि कभी खत्म होने की नौबत ही न आये।

अपने अनुभव से कहता हूँ कि लोगों को बात बढ़ाने की आदत है। जब उन्हें कोई नहीं मिलता तो वे सड़क पर चलते हुए अपने आप से बतियाते रहते हैं। वे कहीं अकेले बैठे-बैठे अचानक ऐसे बोल पड़ते हैं जैसे किसी से कुछ कह रहे हों, जबकि उनके आसपास भी कोई नहीं होता। वे मन ही मन कुछ कहते रहते हैं और उनके हिलते हुए होठों को देखकर मैं अंदाज़ लगाया करता हूँ कि वे कौन-सा शब्द बोल रहे होंगे। वे कभी मन्द-मन्द मुस्कराने लगते हैं जैसे किसी ने उन्हें गुदगुदा दिया हो। कभी उन्हें अकेले बैठे-बैठे ज़ोर की हँसी आ जाती है तो मुँह को रूमाल से छिपाने की कोशिश करते हैं कि कहीं कोई देख न ले। वे अक्सर रोने भी लगते हैं और जल्दी मुँह नहीं छिपा पाते।

कोई पीछे आ रहा हो तो आगे चलने वाला मुड़कर देख लेता है, सतर्क होकर चलने लगता है। औरतों को यह दिव्य दृष्टि जन्मजात मिली हुई है। पर ज़्यादातर लोग अपने आप से बातें करते हुए कहीं नहीं देखते। मैं ऐसे लोगों का रोज़ पीछा करता हूँ, उनकी बातें सुनता हूँ। जिन बातों को वे मन में रख लेते हैं उन बातों का अंदाज़ उनकी सुनी हुई बातों से लगाता हूँ। कुछ लोगों की आँखों में उनकी बोली तैरती दिख जाती है तो उसमें डूबा साधकर उसे भी सुनने की कोशिश करता रहता हूँ। मैं लोगों की हरकतों, फुसफुसाहटों और कानाफूसी की थाह लेकर उनका पीछा करता हूँ। ये लोग मुझे पहचान नहीं पाते पर मैं तो इन्हें अच्छी तरह पहचान लेता हूँ। मेरी रोज़ी-रोटी इन्हीं से चलती है।

रात काटने के लिए मैंने एक बढ़िया तरीका खोज निकाला है- रेल्वे स्टेशन पर चला आता हूँ और रात की किसी भी गाड़ी के जनरल डिब्बे में बैठ जाता हूँ। जब टिकट चेकर आता है तो थोड़ी देर के लिए टॉयलेट में छिप जाता हूँ। रात के खाने की जुगाड़ करने के लिए बड़ी देर तक मुसाफ़िरों को ताड़ना पड़ता है- डिब्बे में बारी-बारी से भिखारी आते ही रहते हैं- अन्धे-लूले-लंगड़े। कई मुसाफ़िर तो उनकी तरफ देखते ही नहीं। भिखारी तेज़ चलती रेलगाड़ी में सबको दुआएँ देते हुए हौले-हौले कदम बढ़ाते हैं जैसे भीख देने के लिए सोचने का मौका दे रहे हों। पर आजकल लोग सोच-विचार में ज़्यादा रुचि नहीं लेते। कुछ सोचते भी हैं तो न जाने क्यों उन्हें सोचने में देर लग जाती है। फिर वे भिखारी को अपने पास बुलाते हैं। अगर वह लंगड़ा हुआ तो अपनी सीट से उठकर उसे कुछ दे आते हैं। लूला और अंधा भिखारी अपनी तरफ से हाथ फैलाने के लिए किसी छोटे बच्चे या औरत को अपने साथ रखता है। लंगड़ा भिखारी रेंगकर पास आता है।

कुछ मुसाफ़िर ऐसे होते हैं कि भिखारी को पास आता देख पहले से ही तैयार होने लगते हैं- कोई जेब टटोलने लगता है, कोई अपने रात के भोजन का डिब्बा खोलकर अपनी रोटियाँ गिनने लगता है और फिर न जाने क्या सोचकर उनमें-से एक रोटी निकालकर तुरन्त भिखारी के हाथ पर रख देता है और भिखारी के आगे बढ़ते ही मैं उन महानुभाव के पास खिसक आता हूँ। उनकी प्रशंसा में दो शब्द कहता हूँ- आजकल आप जैसे दयालु लोग कितने कम होते जा रहे हैं। यह सुनते ही वे मुझे अपने पास बिठाने की कोशिश करने लगते हैं। वे अपनी सीट पर इतना सिकुड़ते हैं कि मेरे लिए जगह निकल आती है और वे अपनी थाली में भी दो रोटी की जगह निकालकर मुझे दे देते हैं।

रोटी का जुगाड़ होता देख सुबह की चाय का इंतज़ाम भी लगे हाथ कर ही लेता हूँ- जब वे दयावान मुसाफ़िर अपने दाहिने हाथ से मेरी तरफ रोटियाँ बढ़ाते हैं तो रोटियाँ लेते ही उनका खाली हाथ पकड़ लेता हूँ और इससे पहले कि वे मुझसे कुछ पूछें, बस एक ही बात कहता हूँ कि आप दस दिन बाद मुझे ज़रूर याद करेंगे। तब वे पूछते हैं कि क्या आप भाग्य बाँचना जानते हैं, आपने मेरे हाथ की रेखाओं में ऐसा क्या देख लिया। और मैं कहता हूँ, अब आप चैन की नींद सो जाइए, सबेरे

चाय पीते हुए बात करेंगे, आपको ऐसी बात बतायेंगे जो आपका जीवन बदल देगी। वे मन्द मुस्कुराकर अपनी बर्थ पर लेट जाते हैं। मैं भी सुबह की चाय पक्की करके सो जाता हूँ।

रेलगाड़ी में सुबह का अलार्म नहीं लगाना पड़ता। भोर होते ही चाय वाले जगा देते हैं। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि अपने भाग्य की चिन्ता में यात्रा करते लोग चैन की नींद नहीं सो पाते। वे चाय वाले की आवाज़ से पहले उठकर मुझे जगा देते हैं और जैसे ही चाय वाला आता है, उससे चाय लेकर मेरी ओर बढ़ा देते हैं। खाने के लिए कुछ नमकीन-बिस्कुट भी मिल जाता है और मैं मौका मिलते ही टॉयलेट जाने के बहाने किसी स्टेशन पर उतर जाता हूँ।

मेरे जीवन में सबेरा अक्सर किसी-न-किसी रेल्वे स्टेशन पर ही होता है। फारिग होने और नहाने-धोने के लिए स्टेशन एक खुली धर्मशाला है। अगर बातें बनाना आता हो तो दुनिया का हर प्लेटफ़ॉर्म दया की भीख माँगने के लिए सबसे अच्छी जगह है। राह चलते लोग मदद करना तो दूर, किसी की नहीं सुनते। बेचारे खुद ही न जाने किससे मदद माँगने की जल्दी में भागे चले जाते हैं। स्टेशन ऐसी जगह है जहाँ भागते-भागते लोगों को कुछ देर ठहरना भी पड़ता है- कुछ देर ठहरकर ही दूसरों को गौर से देखा और सुना जा सकता है, उनके बारे में सोचा जा सकता है। अगर रेल्वे स्टेशन न होते तो मेरा जीना मुश्किल हो जाता।

मैं अक्सर अपने लिए छोटे और मँझोले स्टेशन चुनता हूँ- जहाँ रेलगाड़ियाँ कम आती हैं और जो आती हैं वे लेट भी हो जाती हैं। तभी तो मुझे प्लेटफ़ॉर्म पर प्रतीक्षा करते लोगों के क़रीब जाने का मौका मिलता है। मैं अच्छी तरह समझ चुका हूँ कि लोगों से दूर रहकर किसी का जीवन नहीं चलता। मुझे अपना जीवन चलाने के लिए तरह-तरह के अजनबी लोग चाहिए जिनसे छोटी-सी दोस्ती गाँठकर अपना गुज़ारा चला सकूँ।

आप पूछ सकते हैं कि भाई साब, कोई काम क्यों नहीं करते। सच मानिए, मैं जहाँ भी होता हूँ, काम की तलाश में ही भटकता हूँ पर दोपहर होते-होते भूख लग आती है तो रोटी का जुगाड़ करता हूँ। काम मिलने में देर लगती है पर भूख लगने में देर नहीं लगती और जब रात घिरने लगती है तो फिर किसी प्लेटफ़ॉर्म पर लोगों को खोजने लगता हूँ, रेलगाड़ी में बैठ जाता हूँ।

मुझे अपने बारे में सिर्फ़ इतना ही मालूम है कि मेरे माँ-बाप मुझे किसी स्टेशन पर छोड़कर न जाने कहाँ चले गये। मुझे एक कुली ने पाल-पोसकर बड़ा किया, कुछ पढ़ाया-लिखाया, फिर वह कुली भी भगवान को प्यारा हो गया। कभी-कभी सोचता हूँ कि भगवान का प्यारा होने के लिए ज़िन्दगी नहीं, मौत ज़रूरी है। मैंने किसी से जीवन माँगा नहीं और माँगने से मौत भी आती नहीं। क्या जीते-जी पल-पल होती मौत को कोई प्यार नहीं करता? उसे प्यार करने लिए पूरी मृत्यु ही क्यों चाहिए? क्या तिल-तिल मरते, रोते-बिलखते बेबस जीवन से किसी को प्यार नहीं? अभी तक यह तय कहाँ हुआ कि

भगवान है और उसे भूख लगती है कि नहीं। पर यह तो तय है कि जीवन है और उसे भूख लगती है।

जन्म लेते ही सबसे पहले भूख लगती है। शिशु माँ का स्तन खोजते हैं और उमर बढ़ते-बढ़ते माँ को छोड़कर रोटी की तलाश में घर से बाहर निकल पड़ते हैं। जीवन का सारा खेल अपनी जान बचाये रहने का है। जान बचाते-बचाते जान एक दिन चली जाती है पर भूख नहीं मिटती, अगले जन्म में पीछा करती है। जिसे जीवन की भूख मिटाने की कला आ जाये, वही ज्ञानी है और ज्ञानी को अपने जीवन से मुक्ति की भूख लगती है पर बिना रोटी के मुक्ति की बात करते हुए मैंने किसी को नहीं देखा। सब कहते हैं कि भूखे भजन नहीं होता और अकेले भजन से भूख नहीं बुझती। भूख बुझाने की ज़िम्मेदारी भगवान पर नहीं छोड़ी जा सकती, उसका उपाय खुद ही करना पड़ता है। भिखारी भगवान के नाम पर भीख माँगते हैं पर उन्हें अपना हाथ फैलाना पड़ता है। आवाज़ लगाना पड़ती है। मन मसोसकर भीख माँगते हुए कहना पड़ता है कि जो भीख दे रहा है भगवान उसका भला करे, भले ही हमें भिखारी बनाये रखे। भिखारियों ने भीख देने वालों को उनकी तिजोरी भरी रहने की दुआएँ देकर ही तो धनवान बनाया है। पता नहीं यह जीवन कबसे इतना असहाय है कि अपने ऊपर दया करने वालों की रचना करता रहता है। राजा और रईस इसी जीवन ने पैदा किये हैं। मैं भी इसी जीवन का हिस्सा हूँ, किस्सा गढ़कर रोटी का जुगाड़ करता हूँ।

जो जैसा किस्सा गढ़ लेता है, ये दुनिया उसके किस्से जैसी हो जाती है। आदमी ही क्या, किस्से के बिना भगवान को भी इस दुनिया में रहने की जगह नहीं मिलती, वे किस्सों में ही रहते हैं। किस्सा एक ऐसी जगह है जिसमें अवतार लेकर बेघर का घर बसाया जा सकता है। वरदान और शाप का खेल खेला जा सकता है। भाग्य की कल्पना करके सौभाग्य की कामना और दुर्भाग्य का भय रचा जा सकता है। ऐसा कोई नहीं जो इस किस्से के बाहर हो। आप उसे इस किस्से में बाँध लीजिए, वह आपका मुरीद हो जायेगा और आपकी हर मुराद पूरी करेगा। वह आपका पेट भरने के लिए खुद भूखा मरने को तैयार हो जायेगा। जो लोग दूसरों के भविष्य के किस्से गढ़ लेते हैं, उनकी रोज़ी-रोटी चल निकलती है।

मन्दिरों में जाओ तो वहाँ भविष्य के भगवान विराजे हैं। जब तक पिछले जन्म के कर्मों का इस जन्म में हिसाब-किताब नहीं हो जाता, तब तक भगवान का पता लगाना उस भूल-भुलैया जैसा है जिसमें घुसने के बाद बाहर निकलने की राह नहीं मिलती। उसमें भटकते-भटकते कई जन्म बीत जाते हैं पर कर्मों की रोकड़बही बन्द ही नहीं होती। लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी भविष्य के भगवान को भजते रहते हैं, मन्दिरों में चढ़ावा चढ़ा-चढ़ाकर जीवन बीतता रहता है। पण्डों की रोज़ी-रोटी चलती रहती है, भगवान के भक्त दर-दर भटकते हैं।

धर्म ने भगवान के भक्तों को चार टुकड़ों में बाँट रखा है। जो कुछ कर नहीं सकते, बस रोते और भजन गाते हैं, वे ही तो पिछड़े वर्ग के भक्त हैं। मन्दिरों में भीड़ उन्हीं से बढ़ती है। जो हाथ-पाँव

मारकर धनवान बन जाते हैं, वे अपने काले कर्मों का चैक काटकर मन्दिर की गुप्तदान पेटी में छिपा देते हैं। पता नहीं इस पेटी में भरे इन टेक्स-फ्री काले कर्मों का हिसाब कौन करता है। जो भगवान को खोजने निकलते हैं वे मन्दिर-मन्दिर जाकर भण्डारे के भोजन पर पलते हैं। जिनकी ज्ञान की भूख बुझ जाती है, वे भी रोटी खोजते फिरते हैं। भगवान किसको मिला, आज तक किसी ने सबूत ही नहीं दिया।

संसद में जाओ तो वहाँ भविष्य के पकवानों के लिए बहस चल रही है कि जनता उन्हें पाँच साल बाद कैसे खायेगी। बजट बन रहा है। वहाँ भी पुरानी देनदारियों का हिसाब हो रहा है। जब तक वे चुक नहीं जातीं, तब तक नेता जनता की कढ़ाही में तेल ही नहीं डालेंगे। लोग भविष्य के पकवानों की आशा लगाये हर पाँच साल में वोट डालते रहते हैं और नेता बड़े मज़े-से सत्ता का डोसा मसाला पका-पकाकर खाते रहते हैं। सत्ता के गठबंधन के साँभर में लौकी, भिण्डी, टमाटर और बैंगन की तरह तैरते रहते हैं।

धर्म ने जीवन के चार ही टुकड़े किये- रोने-धोने वाला, करने-धरने वाला, ज्ञान पिपासु और संन्यासी जीवन- पर राजनीति ने उसके चालीस टुकड़े कर दिए। साधुओं में चलन है कि वे किसी की जात नहीं पूछते पर राजनीति का काम जात पूछे बिना नहीं चलता। वहाँ भी पिछड़े वर्ग के वोटर हैं जो आम सभा में भीड़ बढ़ाते हैं और जो धनवान हैं, भावी नेता का मंच सजाकर अपनी दूकान बचाते हैं और जो भीड़ के बीच अकेले रह जाते हैं उनकी कोई नहीं सुनता। जो कहते हैं कि उनने माया-मोह त्याग दिया है, नेता उनके पाँव तो पूजते हैं पर उनसे ज्ञान नहीं बूझते। सब कहते हैं कि जनता का राज्य है पर आज तक इसका सबूत नहीं मिला।

मेरी समझ में अब तक यही आया है कि इस दुनिया में जो जहाँ अपना आसन जमाने में सफल हो जाये, उतनी जगह पर उसका राज्य हो जाता है और वहीं से वह अपने राज्य का विस्तार करने लगता है- कोई बाबाजी किसी पेड़ के नीचे अपना आसन जमाकर चिमटा गाड़ देते हैं और पिछड़े वर्ग के भक्तों की भीड़ उन्हें घेरकर बैठ जाती है, फ़िल्मी पैरोडी पर भजन गाने लगती है, देखते ही देखते वहाँ भव्य मन्दिर बनने लगता है, बाबाजी महन्त हो जाते हैं, धंधा चल निकलता है। फिर बाबाजी के चिमटे कोई सरकार भी नहीं उखाड़ पाती। सड़क किनारे की कोई गुमटी आसपास की जगह पर कब्ज़ा करके अचानक किसी बड़ी दूकान में बदलने लगती है और दूकानदार अपनी दूकान पर सत्तारूढ़ दल का झण्डा फहराकर अपना राज्य कायम किये रहता है। सरकार चली जाये पर धंधा कायम रहता है। कोई और सरकार आ जाये तो दूकानदार उसकी पार्टी का झण्डा फहरा लेता है। आये दिन किसी चौराहे पर कोई-न-कोई मदारी कुछ देर के लिए ही सही, अपनी सत्ता स्थापित कर लेता है और चार पैसे भी कमा लेता है।

मदारी मेरा गुरू है। राह चलते लोगों के बीच थोड़ी-सी जगह खोजकर अपना गुज़ारा कर लेता है। वह भी बातें ही बनाता है। ताल ठोककर हर रोग के इलाज का दावा करता है, पिंजरे में कैद तोते को भविष्यवक्ता बनाकर पेश करता है। मदारी का तमाशा देखकर लगता है कि हर आदमी एक पिंजरा है जिसमें एक तोता बैठा है। वह उड़ना भूलकर उड़ने के लिए अपने पंख फड़फड़ाता रहता है, ज़्यादातर जीवन इसी तोते जैसा है। आप उसे अपनी चटपटी बातों की एक मिर्च बार-बार दिखाकर अपनी तरफ आकर्षित कर सकते हैं। अपना गुज़ारा चलाने के लिए मैं भी इसी आज़मायी हुई विधि का इस्तेमाल करता हूँ।

मैं किसी आदमी को लूटता नहीं, बस अपनी ज़रूरत पूरी करके उसे छोड़ देता हूँ। जैसे अपने दाँत माँजने के लिए नीम के पेड़ से एक दातोन तोड़ ली हो। अगर वही आदमी मुझे दुबारा मिल जाये तो उसका मेरे ऊपर भरोसा बना रहता है और मैं उससे अपनी बात फिर बना लेता हूँ।

मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि सब अपने-अपने पेट के लिए जी रहे हैं। पेट न होता तो आदमी को किसी जीवन दर्शन की ज़रूरत ही न होती। दुनिया में जो बिरले लोग जीवन को समझने चले, उनने अपने दर्शन की शुरुआत पेट से की। पेट का सम्बन्ध प्राणों से है, प्राणों का मन से है और मन का बुद्धि से है। पेट खाली हो तो प्राण सूखने लगते हैं और मन मुरझाने से इंकार करते हुए बुद्धि को विचलित करता है और बिचारी बुद्धि बिना सोचे-समझे पेट भरने का उपाय करने के लिए पूरे शरीर को दाँव पर लगा देती है। फिर खाली पेट शरीर में किसी भी तरह भूख बुझाने का अहंकार जागता है और आदमी पेट भरने के उपाय करने के अलावा कुछ नहीं सोचता। मैं भी तो जीवन के इसी खेत की मूली हूँ। पेट भरने वालों के बीच बैठकर अपनी दाल-रोटी की जुगत बिठा लेता हूँ।

जो लोग अपना रोटी-पानी लेकर चलते हैं, वे दूसरे के साथ उसे बाँट लेने में कोई संकोच नहीं करते। उन्हें यह भरोसा रहता है कि कभी उनके आड़े वक्त में कोई दूसरा भी उनसे अपना रोटी-पानी बाँट लेगा। पर जो सबके रोटी-पानी पर गुड़ेरी मारकर बैठ जाते हैं उनसे अपनी रोटी छीनना पड़ती है। उनके खिलाफ़ जुलूस निकालकर धरने पर बैठना पड़ता है। मैं अकेला आदमी कैसे जुलूस निकालूँ और कहाँ धरने पर बैठूँ? मुझे उन लोगों की चिन्ता ज़रूर होती है जो मेरे जैसी बातें बनाकर दो रोटी नहीं जुटा पाते।

राह चलते अनुभव करता हूँ कि सब भिखारियों को भीख माँगना भी नहीं आता, भाषाहीन होकर दुनिया में गुज़ारा कितना कठिन है। वे जैसे ही किसी के आगे हाथ फैलाते हैं और कुछ कह नहीं पाते, वह उन्हें दुतकार देता है। जो भिखारी संतों के रचे भजन गाकर दाता का मन मोह लेते हैं उन्हें भीख मिल जाती है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि भीख तो उस भगवान के नाम पर ही मिल

सकती है जिसे भीख देने वाले ने देखा ही नहीं। वह तो फ़िल्मी गाना सुनकर इतना जानता है कि भगवान संसार का सबसे बड़ा अमीर है। जो आदमी भिखारी को एक पैसा देता है तो फिर उसके बदले भगवान उसको दस लाख लौटा देता है। इतना मुनाफ़ा तो शेयर बाज़ार में भी नहीं मिलेगा। लोग इस चमत्कार की आशा में भीख देते रहते हैं।

दुनिया में रईस बहुत हैं पर उनके नाम पर कोई भिखारी भीख नहीं माँगता। आजकल लोगों के शेयर का पैसा खाकर रईस भाग जाते हैं, अपने दिवालिया होने का ढिंढोरा पीट देते हैं। उनके नाम पर भीख देने से किसी को क्या मिलेगा। ऐसा भी हो सकता है कि भिखारी जिस रईस के नाम पर भीख माँगे, रईस उसी भीख देने वाले का पैसा उड़ाकर विदेश भाग गया हो। जो भीख देने से पहले ही लूट लिया गया, वह किसी को भीख कैसे देगा। चिंता की बात ये भी है कि अब तो भगवान के घर की तिजोरी को भी लूटकर खाली किया जा रहा है- वन-पर्वत और नदी-सरोवर, औषधियाँ-खनिज और पेड़-पौधे, खेत-खलिहान और सारा जहान-सब ही तो लूटे जा रहे हैं, तब एक पैसे के बदले दस लाख कौन चुकायेगा। पूरी दुनिया भिखारी होने की कगार पर खड़ी है। भगवान को कंगाल बनाकर लोग भीख देने के काबिल ही नहीं रहेंगे।

क्या कभी किसी ने देश के प्रधानमन्त्री के नाम पर किसी भिखारी को भीख माँगते देखा है? प्रधानमन्त्री के पास तो पूरे देश की तिजोरी की चाबी होती है पर उनके नाम पर कोई एक धेला न देगा क्योंकि भिखारी अच्छी तरह जानते हैं कि उनका जीवन प्रधानमन्त्री के भरोसे नहीं, भगवान भरोसे ही चल रहा है। प्रधानमन्त्री के नाम पर तो वोटों की भीख माँगी जाती है, जिससे उनकी सत्ता बची रहे, भले ही भगवान की सत्ता भाड़ में चली जाये। बड़े-बड़े रईस नेता भिखारियों की तरह वोट की भीख माँगकर अपनी सरकार बना लेते हैं और सरकार बनते ही भिखारियों की तादाद बढ़ने लगती है। उन्हें फिर भगवान भरोसे छोड़ दिया जाता है।

कभी कोई ऐसी रात भी आती है जब मैं अपनी बात बनाने में विफल हो जाता हूँ, हर दाँव लगाकर थक जाता हूँ और पूरी रात भूखे पेट रहकर काटना पड़ती है। मैं लोगों से बात बनाने का खेल अचानक बन्द कर देता हूँ, निढाल होकर लेट जाता हूँ और अनुभव करता हूँ कि मेरी भूख गहरी नींद में बदल रही है। भूख कब और कैसे बुझी, पता नहीं चलता। मुझे कभी कोई साधु मिले थे, वे कह रहे थे कि भगवान का घर गहरी नींद में है।

एक दिन इतनी गहरी नींद लग गयी कि सबेरा होते ही खुली नहीं। मैं रेल के जिस डिब्बे में सोया था, वह डिब्बा किसी और गाड़ी में जोड़ दिया गया और वह गाड़ी भी कहीं चल पड़ी। अचानक नींद टूटी तो देखा कि पूरे डिब्बे में बाबा-बैरागी विराजे हुए हैं। पूछने पर पता चला कि यह रेलगाड़ी सीधी प्रयागराज जा रही है, जहाँ गंगा किनारे कुम्भ का मेला लगा है, दुनिया भर के लोग गंगा में

डुबकी लगा रहे हैं और ये बाबा लोग भी अपना अखाड़ा लेकर वहीं जा रहे हैं। नंगे, अधनंगे, मौन और बड़बोले, कई तरह के बाबाओं के साथ मैं भी कुंभ नहाने निकल पड़ा।

बाबा लोग बड़े मज़े-से चाय और चिलम पी रहे थे। मैंने एक हट्टे-कट्टे बाबाजी को सादर प्रणाम किया और उनके चरणों में बैठकर उनसे चाय का प्रसाद माँगा। बाबाजी मुझे कुछ देर एकटक देखते रहे जैसे मन ही मन मेरे लिए एक कप चाय बना रहे हों। फिर उनने अपनी भगवा झोली से किसी वरदान की तरह बहुत बड़ा थर्मस निकाला और एक माटी के कुल्लड़ में चाय-प्रसाद प्रदान किया। मैं कड़कड़ाती ठण्ड में दोनों हाथों के बीच कुल्लड़ दबाकर चाय पीते हुए बाबाजी को मन ही मन संदेश देने लगा कि आप बड़े दयालु हैं और बाबाजी मुझे चाय पीता देख यह अनुभव करने लगे कि मैं अपने दोनों हाथ जोड़कर उनका कृपा प्रसाद ग्रहण कर रहा हूँ।

रेलगाड़ी गंगा का पुल पार करने लगी तो बाबा लोग अपना सामान समेटने लगे, लगता है प्रयागराज आ रहा है। मेरे पास कोई सामान नहीं था। मैंने बाबाजी का झोला उठा लिया और स्टेशन पर उतरते ही उनके पीछे हो लिया। गंगा किनारे साधुओं के तम्बू तने थे, उन पर झण्डे फहरा रहे थे। भभूत रमाये नागा साधुओं की जमातों में धूनी रमी थी। उनके भण्डारे देखकर मन खुशी से फूला नहीं समा रहा था। अब मुझे डेढ़ महीने तक रेलगाड़ी में नहीं घूमना पड़ेगा, खूब गंगा नहाऊँगा और दो वक्त की रोटी भी खा लूँगा।

बाबाजी का अखाड़ा आ गया। चेले उनके चरणों में गिर पड़े और मैं उनका झोला रखकर वहीं एक कोने में बैठ गया। बड़ी देर बाद बाबाजी की नज़र मुझ पर पड़ी तो वे बोले -- तू भी यहीं ठहर जा, गंगा नहा और ज्ञान चर्चा सुन। तेरा भी बेड़ा पार हो जायेगा। मैंने कहा -- बाबाजी, मेरे पास तो कपड़े-लत्ते भी नहीं हैं। तब उनकी आज्ञा पाकर उनके चेलों ने मुझे एक जोड़ी भगवा लुंगी और दो चुनरी पकड़ा दीं। जा गंगा नहा ले -- बाबाजी बोले। पर मुझे लगा जैसे बाबाजी कह रहे हों कि तू भी बहती गंगा में हाथ धो ले।

बहती गंगा में हाथ धोना -- एक कहावत है जो किसी ज्ञानी ने मेरे जैसे अलफतिया के लिए ही बनायी होगी। आजकल यह कहावत राजनीति में खूब चलती है क्योंकि वहाँ लोग अपना स्वार्थ साधने के अलावा करते ही क्या हैं। पता नहीं, इनके मन का मैल गंगा कैसे धोती होगी। इन लोगों ने अपने हाथ धो-धोकर ही प्रजातंत्र की गंगा मैली कर दी है। मैं जिस घाट पर पहुँचा वहाँ भाँति-भाँति के नेता गंगा में पूरी डुबकी मार रहे थे। आम चुनाव उनके सिर पर था। उन्हें डुबकी मारता देख मैं यह सोचने लगा कि कहीं चुनाव हार जाने के बाद वे गंगा में डूब मरने का अभ्यास तो नहीं कर रहे। वैसे मैंने किसी नेता की आज तक गंगा में डूबकर मरने की खबर नहीं सुनी। लोग उनकी बेशर्मी देखकर उन्हें गंगा में डूबने की नहीं, चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बद्दुआ ज़रूर दिया करते हैं।

नदी में स्नान करने के बाद बड़ी जोर की भूख लगी और मुझे बाबाजी का भण्डारा याद आने लगा -- जहाँ देसी घी से भरी कड़ाही में पूड़ियाँ डुबकी मार-मार कर तैर रही होंगी और तीर्थ यात्रियों की पत्तलों में गिरकर उनकी भड़कती हुई भूख बुझा रही होंगी। वे गर्म कड़ी-भात को सानते हुए अपनी अँगुलियाँ जला-जलाकर अपनी जीभ भी जला रहे होंगे।

भूख ऐसी चीज़ है कि उसे बुझाने के लिए आदमी आग से खेलने में भी कोताही नहीं करता। गंगा किनारे आग के गोलों के बीच कितने ही नागा साधु अपनी देह तपाते रहते हैं, चढ़ावा चढ़ाने के लिए सबका ध्यान अपनी ओर खींचते हैं। वे उन बच्चों की तरह लगते हैं जो खाने की चीज़ माँगने के लिए हठ किया करते हैं। साधुओं के बारे में कहा भी जाता है कि वे ज्ञानवान होकर बच्चों जैसे हो जाते हैं।

तन पर भभूत लपेटे, जटाजूट को रुद्राक्ष की मालाओं से सँवारे अपनी चिलम फूँकते नागा साधु ऐसे लगते हैं जैसे छुक-छुक गाड़ी के पुराने इंजन हों। उनके आसपास कतारों में लगे लोग इस इंजन से जुड़े हुए उन डिब्बों जैसे लगते हैं जिन्हें उम्मीद है कि यह इंजन उनके जीवन की रेलगाड़ी को आज भी खींचकर किसी मुक्तिधाम में ले जा सकता है। चारों तरफ आग की लपटों की तरह झण्डे फहरा रहे हैं जैसे ज़िन्दगी को चलाने के लिए आग पकायी जा रही हो। नागा साधु अपनी जीभ पर अंगार रखकर ऐसे फुँफकारते रहते हैं जैसे अब रेलगाड़ी चलने वाली है।

नये ज़माने की रेलगाड़ियों में बैठकर लाखों लोग कुम्भ के मेले में ऐसे आ रहे हैं जैसे उन्हें यहाँ आकर किसी सुदूर यात्रा की तैयारी करना हो पर जीवन तो मेले में आकर ठहरा हुआ-सा लग रहा है -- कोई किसी को कहीं नहीं ले जा रहा। जो जहाँ डुबकी मारता है वहीं खड़ा दिखायी देता है, गंगा बहती जाती है।

कुम्भ स्नान करते हुए लगता है कि यह विश्व एक बहुत बड़ा भण्डारा है जो न जाने कबसे नदियों के किनारे सबको पाल-पोस रहा है, पता नहीं, हमारे जीवन के लिए यह अन्न किसका दान है। नदी में स्नान करने से अतृप्ति कहीं बहकर नहीं जाती, वह तो कुछ देर के लिए शीतल होकर फिर नयी भूख-प्यास की आग लगाती है। इस आग को गंगा में रोज़ ठण्डा करके अपनी देह की ज़मीन को नयी भूख-प्यास के लिए तैयार करना पड़ता है।

यह जल न जाने किसका दान है जो हमारी प्यास बुझाने के लिए हमारे क़रीब से बह रहा है? यह सूरज किसका दान है जो गंगा के जल पर अपनी किरनें बिखेर रहा है? यह हवा किसका दान है जो गंगा की लहरों पर हमारी नौकाओं के पाल सँभाल रही है? यह आकाश किसका दान है जिसने गंगा के जल को अपने रंग में रंग लिया है? यह पृथ्वी किसका दान है जिस पर न जाने कबसे गंगा बह रही है और रोज़ सबकी नयी भूख-प्यास बुझा रही है।

हम दानी नहीं, हम तो कुछ देर गंगा किनारे ठहरे हुए यात्री भर हैं। हम इस जल को अपनी अस्थियों के अलावा और कुछ भी दान करने में समर्थ नहीं।

एक दिन बाबाजी कहने लगे कि संसार में जितना भी जीवन है उसे किसी ने किसी से माँगा नहीं। जीवन जहाँ आ गया, वहीं जीने लगा। उसने अपने आपको सुबह-शाम, दिन-रात और ऋतुओं में पलते हुए, बीतते हुए पाया और पता नहीं कब उसकी मौत आ गयी। यही संसार चक्र है -- बाबाजी बोले -- जानते हो, प्रकृति में जीवन के लाखों बीज क्यों होते हैं क्योंकि प्रकृति में जन्म के साथ मृत्यु बसी है। प्रकृति मृत्यु से पार नहीं पा सकती पर वही है जो हर जन्म में जन्म की संभावना को बनाये रख सकती है -- मृत्यु होती रहती है पर जीवन का कभी पूरी तरह नाश नहीं होता।

बाबाजी बोले कि कोई किसी को पाल-पोस नहीं रहा। सब अपने स्वभाव के अनुरूप जीवन में गतिमान होते रहते हैं और उन्हें उनकी प्रकृति ही पालती है। सब अपनी-अपनी प्रकृति के गुलाम हैं -- जिसकी जैसी गुलामी, वैसा उसका पालन-पोषण होने लगता है। राजा और रंक, दोनों अपनी प्रकृति की गुलामी करते हैं, यहाँ कोई किसी का तारणहार नहीं, गुलाम ही एक-दूसरे को गुलाम बनाये हुए हैं। गंगा भी किसी के जीवन को पार नहीं लगाती। वह भी अपनी गति से बह रही है। जीवन को स्वयं उसमें तैरने और डूबा साधने की कला खोजना पड़ती है। जीवन पाकर कोई क्या बनेगा, यह उसी के जीवन पर निर्भर है। हर तैराक अपनी-अपनी कला खोजता है और डूबा साधकर ऊपर आ जाता है पर जो डूब जाते हैं, बह जाते हैं उनकी कौन परवाह करता है।

किसी को लगता है कि हम जैसी बात बनायेंगे, यह दुनिया हमारी बातों जैसी हो जायेगी। किसी को लगता है कि हम कितनी भी बात बनायें, हमारी बात तो बनती ही नहीं -- बाबाजी बोले -- ये दो तरह के लोग ही दुनिया में रहते हैं -- पहले वे, जिनको भ्रम हो जाता है कि दुनिया उनकी बातों जैसी होकर उनकी बातों में आ गयी है और दूसरे वे, जिनको भ्रम हो जाता है कि हमने कितनी भी बात बनायी, हमारी बात तो बनी ही नहीं। जो इस भ्रम में जीने लगते हैं कि दुनिया उनकी बनायी बातों जैसी हो रही है तो वे उनके गले अपनी बात उतारने लगते हैं जिन्हें अपनी बात बनती नहीं दीखती।

मैं सोचने लगा कि बाबाजी तो मेरे जीवन-दर्शन की व्याख्या कर रहे हैं -- जिसने बात बना ली, उसने रोटी पा ली। जिसके शब्द गये हैं सूख, अपनी मिटा न पाया भूख। -- यही तो है मेरा जीवन-दर्शन है।

बाबाजी बोले कि यह संसार हर बनी-बनायी बात के बाहर है। जो लोग पुराने मठ और हठ, पुराने तट और रट, पुराने घट और पट आज भी पकड़े हुए हैं, वे रोज़ बदलते अपने जीवन की आहट नहीं सुन पाते हैं। ज़रा इस गंगा को देखो, जो सारे मठ और तट पीछे छोड़ती हुई बही चली जा रही

है।

गंगा स्नान के बाद भगवा लुंगी और दो गज की चुनरिया ओढ़कर जब दुनिया के इस मेले से गुज़रता हूँ तो आते-जाते लोग मुझे भी साधु मान बैठते हैं। मैंने बाबाजी की दी हुई खड़ाऊँ पहनकर राह चलना सीख लिया है। खड़ाऊँ पहनकर चलने से लोग मेरे कदमों की आहट दूर से ही जान लेते हैं और चरण-स्पर्श के लिए मेरे पास भागे चले आते हैं। मैं भी उनसे दूसरे बाबाओं की तरह कह देता हूँ, भगवान तुम्हारा भला करे। पूरे कुम्भ मेले में हर तरफ यही सुनायी देता है, भगवान तुम्हारा भला करे। कोई बाबा लोगों की भलाई का ज़िम्मा अपने ऊपर नहीं लेता, भगवान पर छोड़ देता है। कई राजनीतिक दलों के नेता बाबाओं के पाँव पखारते हैं तो बाबा उनसे भी यही कहते हैं कि भगवान तुम्हारा भला करे। उनसे यह नहीं कहते कि तुम सबका भला करो। बाबाजी अपने चेलों से भी सुबह-शाम यही कहते हैं। जब भगवान के अलावा कोई किसी का भला कर ही नहीं सकता तो दुनिया में भलाई करने का इतना कारोबार क्यों चल रहा है? बड़े-बड़े धर्म-ध्वजाधारी और समाज सेवक चढ़ावा और चंदा इकट्ठा करके आखिर किसकी भलाई कर रहे हैं?

एक रात मैंने बाबाजी के पैर दबाते हुए उनसे पूछा कि भगवान ही सबका भला कैसे करता है और हम क्यों भला करने से चूक जाते हैं। मेरी बात सुनते ही बाबाजी नींद में जाते-जाते लौट आये और मेरी तरफ करवट बदलते हुए बोले -- जगत की सत्ता हम सबसे निराली है। हम कई तरह के होते हैं पर वह एक ही तरह की है। हमारा कई तरह का होना ही हमारे बीच भेदभाव और विषमता पैदा करके हमें एक-दूसरे से अलग करता है। पर जगत की चेतना एक ही तरह की होने से हम सब में बिना किसी भेदभाव के समायी रहती है। हम भले ही अच्छे-बुरे होकर आपस में लड़-भिड़कर मर मिटें पर यह चेतना कभी नहीं मिटती, जगत के जीवन उद्योग में सदा अपनी भूमिका निभाती रहती है।

लम्बी जमुहाई लेते हुए बाबाजी फिर नींद से लौटते हुए बोले -- जो लोग सबके जीवन में बसी जगत की सत्ता के सहारे को पहचान लेते हैं, वे भलाई करने के काबिल बनते हैं। आदमी ही क्या, यह धरती, आकाश, हवा-पानी और सूरज भी जगत की इसी चेतन सत्ता के सहारे न जाने कबसे जीवन की भलाई के काम में लगे हुए हैं। वे किसी से कुछ नहीं कहते पर उनकी इस भलाई की खबर पूरी दुनिया को रोज़ मिलती है। गरमी के मौसम में सूरज सबकी भलाई के लिए धरती पर आग उगलता है और यह आग हवा के सहारे धरती के पानी को आकाश में उठा ले जाती है और बादलों की रचना करती है। बादलों में भरा पानी पूरे आकाश में छा जाता है और जब धरती पर झरता है तो यह भेद नहीं करता कि वह किसके घर पर बरस रहा है। बूँदें धरती में पानी बोकर उसे अन्न उपजाने के योग्य बनाती हैं। फिर जो जैसा बीज बो लेता है, वैसा ही काटता है। ऋतुएँ तो सबके बोये

हुए को पालना झुलाकर पोसती हैं। फिर बसन्त ऋतु सबके जीवन के लिए पोषण के अनेक उपहार लेकर आती है। भगवान ऐसे ही बिना किसी भेदभाव के न जाने कबसे सबका भला करता आ रहा है। उसकी भलाई का अंत ही नहीं आता।

इतना कहकर बाबाजी तो सो गये पर मैं जागता रहा और सोचने लगा कि जो लोग भगवान के भलाई करने के रास्ते में टाँग अड़ाते हैं वे ही दुनिया की भलाई करने से चूक जाते हैं। यह आकाश में भरता जाता धुआँ, हवाओं में भरती जाती घुटन, सागर की बदहवासी, गंदगी से भरी गंगा, उजड़ते वन और बाँझ होती जाती धरती भगवान के भलाई के रास्ते की बाधा है -- मैं यह सोचकर काँप उठा कि क्या आदमी भगवान को भी भलाई करने के काबिल न रहने देगा।

नींद उड़ गयी तो मन हुआ कि गंगा किनारे जाकर बैठूँ -- कड़कती ठण्ड में गंगा में प्रवाहित दियों की लौ काँप रही थी और तट से कुछ ही दूरी पर तीर्थ यात्री अलाव जलाकर बैठे थे। कुहरे की धुन्ध के बीच से आग ऐसे दीख रही थी जैसे किसी रजाई में दुबक रही हो। चाँद भी बादलों की कथरी में बार-बार अपना मुँह ढाँप रहा था और कोहरे की चादर ओढ़े गंगा चुपचाप बह रही थी।

सुनते हैं कि हमारा जीवन अनंत की गहरी धुंध से ही आया है। वह न जाने कब इस धुंध से झाँकने लगा -- गंगा पर पौ फट रही थी। भोर की उजास में किनारे पर बँधी खाली नौकाएँ यात्रियों से भरने लगीं। ठिठुरती स्तुतियाँ कानों में ऐसे गूँजने लगीं जैसे कोई स्मृति डूबा साधकर घाट की सीढ़ियाँ चढ़ रही हो। फीकी होती जाती धुंध की ओट में स्नान के बाद वस्त्र बदलते लोगों को देखो तो लगता है कि शायद वे अपने आपको बहुत क़रीब से देख पा रहे होंगे।

मुझे कभी अपने आपको क़रीब से देखने की कला नहीं आयी। अब तक अपने से दूर ही बना रहा। एक दिन बाबाजी किसी से कह रहे थे कि जो लोग अपने आपको देख लेते हैं, वे इस दुनिया में अकेले रह जाते हैं और यह दुनिया भी उनकी नहीं रह जाती। बाबाजी की बात सुनकर मैं घबरा गया कि अपने आपको देख लेना खतरे से खाली नहीं, फिर तो कोई दो रोटी भी न देगा। लगता है कि कुम्भ में अपना अखाड़ा जमाये कितने ही मठाधीशों ने अपने आपको नहीं देखा। अगर देखा होता तो उनके आसपास इतनी भीड़ न होती। वे किसी धुंध की ओट में छिप गये होते।

मेरी रेलगाड़ी गहरी धुंध के बीच से गुज़र रही है। बार-बार रुकती है फिर बड़ी देर में कुछ आगे बढ़कर ठिठक जाती है। जिस तरह अपने आपको देख पाना मुश्किल है उसी तरह कहीं पहुँच पाना भी कितना मुश्किल है और बाबाजी कहते हैं कि अपने आपको देख लेने के बाद कहीं पहुँचते की ज़रूरत ही नहीं रह जाती। इसका मतलब यही हुआ कि अपने आपको देखे-परखे बिना रेलगाड़ियों में बैठकर कोई कहीं नहीं पहुँच रहा है। मैं भी तो दो रोटी की जुगत भिड़ाने के लिए कबसे रेलगाड़ी में बैठता चला आ रहा हूँ, जैसे-तैसे रोटी मेरे पेट में जा रही है पर मैं कहीं नहीं जा रहा हूँ -- कोई

कहीं पहुँच नहीं रहा, सब बार-बार आ-जा रहे हैं। वह कौन-सा स्टेशन है जिस पर ठहर जाने के बाद कोई रेलगाड़ी नहीं पकड़ना पड़ती। वह तो बस सामने से गुज़रती है और उसमें बैठने का मन नहीं होता।

मैं स्टेशन की अकेली बैंच पर बैठ गया। कई रेलगाड़ियाँ निकलती रहीं पर किसी में नहीं बैठा। अचानक जय-जयकार करती भीड़ पूरे प्लेटफ़ॉर्म पर फैल गयी तो पता चला कि कोई नेता चुनाव जीत गया है और लोग उसे हार पहनाकर स्टेशन तक छोड़ने आये हैं। शायद ये लोग यह नहीं जानते कि यह नेता ही इन्हें छोड़कर जा रहा है। मज़े की बात यह है कि लोग कभी एक-दूसरे को न तो कहीं छोड़ पाये और न ही कोई कहीं पहुँच पाया। बस एक जीत का भ्रम है जो हार पहनकर न जाने कहाँ जा रहा है। ये तमाशा मैं कबसे देख रहा हूँ और यह रुकता नहीं। यही वो तमाशा है जो किसी को अपनी तरफ देखने नहीं देता। साधु और शैतान रोज़ इसी तरह अपने मन के स्टेशन पर आते हैं। वे खुद भी कहीं नहीं पहुँचते और न ही किसी को पहुँचाते हैं।

हर कोई अपनी बात बनाने के लिए बातें बनाने में लगा हुआ है। किसी से वह चुप्पी नहीं सधती, जिसके आगे कोई बात बनाने की ज़रूरत नहीं। -- एक रेलगाड़ी ने मेरी चुप्पी फिर तोड़ दी। उसमें मुसाफ़िर बहुत कम थे, वह शान्त स्टेशन पर खड़ी ऐसे लग रही थी जैसे अपने बारे में सोच रही हो। जैसे ही उसने ज़ोर की सीटी बजाकर अपनी चुप्पी तोड़ी, मैं भी दौड़कर एक खाली खिड़की के पास जाकर बैठ गया। सामने की सीट पर चुपचाप बैठा आदमी ऐसा लग रहा था कि वह आदमी नहीं, चलती-फिरती दूकान है। उसने मुसाफ़िरों के काम आने वाली चीज़ों से अपने आपको इस तरह सजाया था कि कोई चीज़ किसी दूसरी चीज़ को छिपा नहीं रही थी और माँगने पर वह हरेक चीज़ को आसानी-से निकालकर दे सकता था -- उसने सूटकेस में ताला डालने वाली चेनों को हार की तरह गले में पहन रखा था। उसी के साथ शेम्पू के छोटे पाउच की माला भी डाले था। अपने दोनों बाजुओं पर मोट-मोटे रबर-बैण्ड बाँधकर उनमें टूथपेस्ट के साथ टूथब्रश और जीभी बड़े ही करीने से फँसा रखे थे। कुहनियों के नीचे दोनों हाथों में कई तरह के कंघे फँसे हुए थे। उसके पेण्ट की कई गहरी जेबों से छोटी टॉर्च, पानी की खाली बोतलें और चाकू झाँक रहे थे। वह कमर में बँधे बेल्ट के सहारे मोटे तार के कुन्दों में नेलकटर, लिपिस्टिक, छोटे ताले और की-रिंग लटकाये था। उसकी पीठ पर एक बड़ा पारदर्शी बैग था जिसमें भरे -- अण्डर बीयर, मोजे, रूमाल, छोटे तौलिए साफ दिखायी दे रहे थे। बैग की दोनों तरफ प्लास्टिक के खाँचों के सहारे नहाने-धोने के साबुन लटक रहे थे। वह अपने सिर पर एक मोटी जाली पहनकर उसमें रंगबिरंगी टॉफ़ियाँ भरे था जिसे बच्चे आसानी-से देखकर बिरज जाते होंगे। उसके पास दो पारदर्शी हैण्डबैग भी थे जिनमें से एक में कई तरह के बिस्किट के पैकेट और दूसरे में खिलौने भरे थे।

वह अचानक उठा और डिब्बे में हौले-हौले चलने लगा -- रेलगाड़ी में चीज़ें बेचने के लिए शरीर को खुली दूकान बनाकर मुसाफ़िरों के सामने से गुज़रते हुए उतनी देर ठिठकना पड़ता है जितनी देर में वे पूरी दूकान का मुआयना करके मन-ही-मन अपने बैग की तलाशी ले सकें और याद कर सकें कि सफर पर निकलते वक्त वे टूथपेस्ट और कंघा घर पर ही भूल आये हैं। थोड़ी देर अपनी दूकान दिखाकर उन्हें इस चिंता से भरना पड़ता है कि कहीं रात को सोते वक्त उनका बैग चोरी न हो जाये और वे चैन से सोने की फ़िक्र में एक चेन और ताला तो खरीद ही लेते हैं। कई मुसाफ़िर तो अपने कपड़े के बैग में भी लोहे की चेन डालकर सो जाते हैं। वे मन-ही-मन मान लेते हैं कि चोर उनके कपड़े के बैग को लोहे की पेटी समझकर उसकी चेन नहीं काटेंगे। यह चलता-फिरता दूकानदार कम-से-कम आवाज़ लगाता है, ग्राहक ही उसे आड़े वक्त में सोप-पेपर के लिए पुकारते हैं।

रेलगाड़ी में चलती-फिरती दूकानों की कमी नहीं। जब भी कोई नया स्टेशन आता है, कोई-न-कोई दूकान रेल में चढ़ आती है। वह एक दरवाज़े से घुसती है और अपनी चीज़ें बेचकर रेल चलते ही दूसरे दरवाज़े से बाहर निकल जाती है जैसे ईद का चाँद देखते ही देखते ओझल हो गया हो। कभी ऐसे स्टेशन भी आते हैं जहाँ यह ईद का चाँद दिखायी ही नहीं देता और मुसाफ़िर मन मसोसकर अपनी खिड़कियों से खाली प्लेटफ़ॉर्म को देखते रहते हैं और रेल चल देती है। कभी चलती रेल में किसी मूँगफली वाले की आवाज़ किसी दूसरे डिब्बे से सुनायी देती है और हर मुसाफ़िर को लगता है कि वह आवाज़ उसके पास आ रही है। सुदूर यात्रा पर जाते हुए जिनके पास वक्त काटने का कोई उपाय नहीं होता, वे मूँगफली खाकर समय काटते हैं और मूँगफली वाला भी ऊबे हुए मुसाफ़िरों के चेहरे पहचानकर अपनी मूँगफली टाइमपास कहकर बेचता है।

आजकल चलती रेल में किताबें पढ़ते हुए लोग बहुत कम दिखते हैं। उनके हाथों में मोबाइल और कानों में ईयरफ़ोन ही ज़्यादा दिखायी देते हैं। वे किसी की तरफ नहीं देखते और पता नहीं मोबाइल में क्या देखते हैं और क्या सुनते रहते हैं। चलती फिरती दूकानें अपनी कमर में चार्जर भी लटकाकर घूमने लगी हैं। रेल पकड़ने की हड़बड़ी में जब चार्जर घर में छूट जाता है तो ये दूकानें चलती रेल में प्राण वायु के झौंके की तरह पास आकर जीवन की फ़ेसबुक स्क्रीन पर चमका देती हैं और मुसाफ़िर अपने लाइक-डिसलाइक के खेल में खो जाते हैं। उन्हें देखकर लगता है कि वे इस खेल से शायद ही कभी बाहर आ सकें। यह खेल ऐसा धंधा है कि दूकानदार अपने धंधे को बचाये रखने के लिए किसी खिलाड़ी को इस खेल के बाहर नहीं आने देता -- यह खेल का धंधा नये-नये रूप धरकर ललचाता है। कभी अचानक कोई मुसाफ़िर रेल की खिड़की पर चेहरा टिकाकर सेल्फी लेने लगता है और उसे फ़ेसबुक के मुखसरोवर में छोड़कर अपने प्रतिबिम्ब को बड़ी देर तक निहारता हुआ ऐसे मन्द मुस्कुराता है जैसे अपनी ही छबि पर रीझ गया हो। जो लोग अपनी ही छबि पर रीझे रहते हैं,

उन्हें दूसरों का जीवन दिखायी नहीं देता।

यह धीमी गति की रेलगाड़ी है, सबके स्टेशन पर रुकती है। जब आगे बढ़ती है तो खिड़कियों से धरती पर बिखरा कितना सारा जीवन दिखायी देता है -- बीहड़-वीरानों को पार करती वह हरे-भरे खेतों के बीच बसे छोटे-छोटे गाँवों से गुज़र रही है। ऊँचे-नीचे टीलों पर घास-पूस की टपरियों में बसे जीवन की हलचल साफ दीखती है। बबूल के पेड़ों की छाँव में किसान सुस्ता रहे हैं। किसी छोटी-सी तलैया के पास गायें चर रही हैं और खेत में गढ़ी मड़ैया की निगरानी में फसलें लहलहा रही हैं। अमराई में किसी आम की डाल पर पड़े झूले में कोई छोटा बच्चा सो रहा है और माँ माटी के चूल्हे पर रोटी सेक रही है। रेल धीरे-धीरे चली जा रही है -- खाई - खन्दक - झुरमुट - झाड़ियों के बीच से कहीं-कहीं जल झाँकता है और पीछे छूट जाता है। गाँवों में अब पनघट नहीं दीखते। किसी वीरान गाँव की छोटी-सी मढ़िया में विराजा कोई देवता अकेला छूट गया है। दूर किसी कारखाने की चिमनी से निकलता धुआँ आकाश में पताका की तरह फहराकर बिखर रहा है। सूखते वनों, सिकुड़ती नदियों और छोटे होते जाते पहाड़ों के बीच से गुज़रती रेल बार-बार सायरन बजा रही है और मुसाफ़िर अपनी फ़ेसबुक पर चेहरों में खोये हुए हैं, गाँव से दूर जाता दिन किसी वीरानी में डूब रहा है।

दिल्ली आ रही है -- किसी ने कहा। मैं भी दिल्ली आ रहा हूँ -- मैंने कहा।

प्लेटफ़ॉर्म पर उतरते ही दो गुटों के झगड़े के बीच फँस गया। ये गुट अपने-अपने नेताओं की अगवानी करने आये थे। झगड़े के बारे में पूछने पर पता चला कि ये दोनों गुट एक ही राजनीतिक दल के हैं और दोनों के नेताओं का नाम अजित सिंह है। झगड़ा इस बात पर हो रहा है कि किसका अजित सिंह असली और किसका नकली है। दोनों गुट अपने-अपने अजित सिंह को असली कहने के चक्कर में भिड़ गये। मेरे साथ चलते एक यात्री ने कहा कि ये दोनों ही असली अजित सिंह नहीं हैं। असली अजित सिंह को आज तक किसी ने नहीं देखा। मैंने पूछा कि वो दिल्ली में कहाँ रहता है। यात्री बोला, किसी को पता नहीं पर जो दिल्ली में असली अजित सिंह को खोज लेता है, दिल्ली उसकी हो जाती है क्योंकि यहाँ कदम-कदम पर नकली अजित सिंह ही मिलते हैं और असली अजित सिंह का पता किसी भाग्यशाली को ही मिलता है। यह पता नकली अजित सिंहों के सहारे ही खोजना पड़ता है। यात्री बोला, मैंने यह भी सुना है कि दिल्ली में नकली अजित सिंहों से दोस्ती गाँठकर कुछ चतुर लोग बड़ी जल्दी असली अजित सिंह तक पहुँच जाते हैं और वर्षों से घिसट रहे नकली अजित सिंह टापते रह जाते हैं। जाते-जाते वह यात्री यह कहते हुए आगे निकल गया कि भाई साब, दरअसल दिल्ली में असली अजित सिंह कोई नहीं है, बस जो भी अजित सिंह सरकार में आ जाता है उसे ही लोग असली मान लेते हैं। लगता है आप यहाँ पहली बार आये हैं। अगर आपको यहाँ कभी असली अजीत

सिंह मिल जाये तो मुझे ज़रूर खबर कीजिए।

उस यात्री का फ़ोन नम्बर लिये बिना ही मैं दिल्ली की गलियों में खो गया। दिल्ली के गुरुव्दारों के लंगर ने मुझे रोटी दी और रैन बसेरों ने रात का ठिकाना। जब कभी रैन बसेरों में जगह नहीं मिलती तो देर रात किसी प्लेटफ़ॉर्म पर आकर टिक जाता हूँ। दिल्ली में हरेक रास्ते का नाम है। बीते ज़मानों में जो आक्रान्ता और लुटेरे, व्यापारी और यात्री यहाँ आते रहे, उनके नाम इस शहर की सड़कों के किनारे पत्थरों पर टँके हुए हैं। उनमें कई ऐसे भी हैं जो खुद भटके हुए थे पर कई रास्ते तो उनके नाम पर भी हैं। कई रास्ते ऐसे भी हैं जो रास्ता दिखाने वालों के नाम पर हैं -- गांधी मार्ग है, जिस पर तेज़ दौड़ती गाड़ियाँ देखकर यह अनुभव ही नहीं होता कि वे गांधी मार्ग पर चल रही हैं। यहाँ एक तीस जनवरी मार्ग भी है जो उस जगह जाकर ठिठक जाता है, जहाँ गांधी जी के सीने पर गोलियाँ दागकर उन्हें दुनिया से विदा कर दिया गया। एक राजघाट मार्ग भी है जो गांधी जी की समाधि तक जाता है।

सड़कें मार्ग नहीं हैं। मार्ग तो उन पर चलने वालों से निकलता होगा। किसी जगह आकर सड़कें खत्म हो जाती हैं पर मार्ग समाप्त नहीं होता, पाँव अंतहीन पगडण्डी रचने लगते हैं। दिल्ली के सारे रास्ते छान मारे और उनका अंत किसी-न-किसी कब्रिस्तान और मकबरे पर आ ही जाता है पर गांधीजी की समाधि के पास बैठकर लगता है कि धरती तो पगडण्डियों के लिए ही बनी है जिस पर अपने पाँवों से निकलती राह दीखती है और किसी से रास्ता पूछना नहीं पड़ता।

जन पथ -- यह भी एक मार्ग का नाम है। आम तौर पर मार्गों का नाम उन्हीं के नाम से जोड़ा जाता है जो अब इस दुनिया में नहीं हैं। शायद यह पहला ऐसा मार्ग है जो जीती-जागती जनता के नाम पर है और इसे संसद मार्ग से जोड़ा गया है। इसी जन पथ से चुनाव जीतकर नेता संसद में जाते हैं और वहाँ पहुँचकर जनता को मरी हुई मान लेते हैं। शायद इसीलिए इस मार्ग का नाम जन पथ रखा गया होगा। चुनाव ही ऐसा समय है जब जनता को जीवित माना जाता है, उसके बाद उसके जीने की फ़िक्र कौन करता है। नेता जनता को आये दिन श्रध्दांजलि दिया करते हैं -- वह अकाल, आतंक, दंगे और रेल दुर्घटना में रोज़ मरती रहती है। श्रद्धांजलि देते हुए कोई नेता जनता को स्वर्गीय नहीं कहता। नेता ज़रूर मरने के बाद स्वर्गीय कहे जाते हैं, जनता तो नरक में ही रहती है।

रोज़ गुरुव्दारे के लंगर में दाल-रोटी खाते लोगों के चेहरों को पढ़कर अंदाज़ लगा लेता हूँ कि वे कई दिनों की भूख को सहकर नानक के दरबार में आये होंगे -- नानक नाम जहाज़ है। नेता नहीं, नानक पार लगाते हैं। इस दिल्ली शहर में कितने दिन बीत गये, रोज़ पंछी की तरह दिन भर उड़-फिरकर इसी जहाज़ पर लौट आता हूँ। कभी रैन बसेरे में जगह न मिले पर नानक की थाली

में मेरे जैसे मनमुखी के लिए रोटी कम नहीं पड़ती।

लगता है सबका जीवन मनमुखी है और सब अपने-अपने मन-सूबे बाँधते रहते हैं जो कभी पूरे नहीं होते। राह तो मन-सूबों के बाहर है, वह तो गुरूमुखी से निकलती है और करतारपुर तक जाती है -- जैसे दिन की ऊगन से उठती प्रभा अधखुली आँखों में बस गयी हो और किसी उजले बादल-सी रोम-रोम में समाती शीतल अमृतसर में डुबाये चली जा रही हो। जैसे कोई चाँदी-सी चमकती थाली सकल जगत की तृप्ति के लिए परोस दी गयी हो। जैसे कोई अपनापे की संगत हो जहाँ सब प्रेम की नर्म आँच में एक-दूसरे के क़रीब बैठे हों।

रैन बसेरे में जगह भले कम पड़ जाये पर दोस्ती वहाँ भी कम नहीं होती। कितनी भी देर से पहुँचो, कोई-न-कोई देख ही लेता है और अपने पास बुलाकर इतना सिकुड़ता है कि थोड़ी-सी जगह और निकल आये। फिर उस जगह में अपने आपको सिकोड़कर धीरे-धीरे इतना फैलाना पड़ता है कि कमर सीधी हो सके। दिन भर की थकान के बाद जिनके पास लौटने को घर नहीं, वे रैन बसेरे में आकर रात काटते हैं। पक्षियों को भी रैन बसेरे का पता मालूम है, वे शहर की जूठन और गंदी नालियों में अपना दाना-पानी खोज-खोजकर थक जाते होंगे। वे भी रैन बसेरे में आकर बिजली के मीटरों पर बैठ जाते हैं। कुछ देर सबको टुकुर-टुकुर ताकते रहते हैं, चोंच मिलाते हैं। फिर बैठे-बैठे आँखें मींच लेते हैं, अपने पंखों की रजाई में दुबक जाते हैं।

दीवाल पर ट्यूबलाइट की रोशनी में कोई छिपकली किसी कीड़े की ताक में हौले-हौले रेंगती है। बसेरे के कोनों में अपने ही बुने हुए जालों में मकड़ियाँ फँसी रहती हैं, वे कहीं नहीं जातीं। रंग-बिरंगे कीड़े भी दीवारों पर अपना बसेरा किये रहते हैं और कभी फर्श पर उतरकर हमारे ऊपर रेंगने लगते हैं। मच्छरों से बचने के लिए मूँ ढाँपो तो मैले-कुचैले चादरों और रजाइयों में इतना दम घुटता है कि प्राण ही निकल जायेंगे। हमारे पाँवों के पास सोये हुए कुत्ते बीच-बीच में आँखें खोलकर हमें देख लेते हैं और निश्चिन्त होकर फिर मूँद लेते हैं।

मैंने उसे बहुत समझाया पर वह मानी नहीं। कोई देख लेगा तो क्या कहेगा -- उसने मेरी बात नहीं सुनी। सब गहरी नींद सो रहे थे, बस वही अकेली जाग रही थी जैसे मेरी प्रतीक्षा कर रही हो। उसने एक ऐसा कोना खोज रखा था जहाँ वह मेरे लिये और मैं उसके लिये ज़रा सिकुड़कर एक-दूसरे में फैल सकें। कुछ कोने सचमुच ऐसे होते हैं जो दूसरों की नज़रों से बचाते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें सिमट जाने से यह भ्रम बना रहता है कि कोई हमें देख नहीं रहा।

रैन बसेरे में वह मुझे और मैं उसे अपनी-अपनी कनखियों के कोनों में कई दिनों से खींच रहे थे। एक दिन बड़े सबेरे जब मैं रैन बसेरे से बाहर निकला तो वह न जाने कब पीछे हो ली। इण्डिया गेट के सामने हरे-भरे मैदान पर धुंध छायी थी -- धुंध एक ऐसा खुला कोना है जिसमें दिन उगने

से पहले कुछ देर के लिए छिपा जा सकता है। वह मेरे पास आकर छिपते ही बोली -- क्या अलफतिया हो। क्या तुम भी हो -- मैंने पूछा। हाँ, मैं तो जन्म से अलफतिया हूँ। माँ किसी स्टेशन पर छोड़कर चली गयी थी। रेलगाड़ी के सिवा मैं अपना और कोई घर नहीं जानती -- वह बोली। हमारी कहानी कितनी मिलती-जुलती है -- मैंने कहा। हमारा प्रेम भी तो प्लेटफ़ॉर्म पर हौले-हौले सरकती आती रेलगाड़ी जैसा लग रहा है -- वह बोली और हँस पड़ी।

मैंने उसका नाम पूछा। वह बोली -- क्या तुम भूल गये, अलफतियों का कोई नाम नहीं होता। अगर होता भी हो, वे उसे किसी को बताते नहीं। मैंने तुम्हारा नाम नहीं पूछा और प्रेम हो गया। अब हम जहाँ भी जायेंगे, प्रेम हमारे साथ जायेगा। प्रेम तो हमारे छिपने की जगह है, हमारा घर है। हम अपने घर को साथ लेकर किसी भी रेलगाड़ी में बैठ सकते हैं। हम अपने प्रेम को किसी स्टेशन पर अकेला छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे।

भीड़-भाड़ से भरे इस शहर में कोनों की कमी न थी। मकबरों के एकान्त में हम छिप जाया करते। लालकिले के खालीपन में कई कोने हमारा इंतज़ार करते। कभी कुतुब मीनार की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए हम कई बार अपने छिपने की जगह खोज लेते। खण्डहरों के कोनों में दीवाल पर उग आयी हरी दूब और कोई हरी पत्ती देखकर लगता कि यहाँ हमसे पहले भी कोई छिपा होगा।

एक दिन रैन बसेरे के मैनेजर ने हमें अपने कोने से बेदखल कर दिया -- बहुत दिनों के बाद दिल्ली स्टेशन पर रात काटते हुए लग रहा है जैसे अपने घर लौट आया हूँ। कितने दिन बीत गये किसी रेलगाड़ी में नहीं बैठा -- मैंने कहा। वह बोली -- मैं भी तो नहीं। रेलगाड़ियाँ ही अलफतियों का गुज़ारा चलाती हैं। वे ही तो अलफतियों का घर हैं जो उन्हें बिन माँगे वरदान की तरह इस दुनिया में मिली हैं।

अचानक एक रेलगाड़ी तैयार होकर प्लेटफ़ॉर्म पर आ लगी। उसमें अभी मुसाफ़िर नहीं थे और कई खाली कोने थे, जहाँ हम कुछ देर छिपकर बाहर आ सकते थे। पर हम एक-दूसरे में इतनी गहरायी तक छिपते चले गये कि पता ही नहीं चला, रेल कब चल दी। अलफतिया रेलगाड़ी का टिकिट नहीं लेते। टिकिट चेकर के आने पर टॉयलेट में छिप जाते हैं। वे हर डिब्बे में दो होते हैं जैसे हम दोनों के लिए बने हों। जनरल डिब्बे में जगह अक्सर कम पड़ जाती है और उनमें लोग ठुँसे हुए-से जान पड़ते हैं पर सब मिलकर डिब्बे को जल्दी ही चलते-फिरते रैन बसेरे में बदल लेते हैं। कोई ऐसा नहीं जिसके लिए जगह न निकल आती हो।

अब हम एक से दो हो गये। जैसे-तैसे बैठने की जगह भी निकाल ली। भूख लग रही थी और हमें पास बैठे लोगों के दिल में जगह बनाकर पेट भरने का इंतज़ाम करना था। सामने की बर्थ पर एक बूढ़ी अम्मा और बूढ़ा बैठा था। वे दोनों चुप थे। उन्हें देखकर लग रहा था कि वे अब तक के जीवन

में बहुत कम ही बोले होंगे। उनकी चुप्पी ऐसी लग रही थी कि वे चुपचाप एक-दूसरे का भार उठाये हुए हैं। उनकी बगल में बैठा एक लड़का फ़ेसबुक के मुख सरोवर में डूबा साधकर सबसे बेखबर था।

भूख के बारे में सोचो तो भूख और भड़कती है। आसपास बैठे लोगों को भी इलहाम होने लगता है कि वे भूखे हैं। आखिरकार बूढ़ी अम्मा ने अपने कपड़े के झोले से डिब्बा निकाला और उसे खोलकर हमें दिखा दिया। डिब्बा अचार में लिथड़ी हुई रोटियों से भरा था और उनकी गंध हमें लुभा रही थी। बूढ़ी अम्मा ने दो रोटियों पर अचार की कुछ कलियाँ रखकर बूढ़े के हाथों पर जमा दीं। -- आदमी का शरीर इस तरह बना है कि उसे किसी बर्तन-भांडे की ज़रूरत नहीं। हाथ ही थाली बन जाते हैं और भोजन करने के बाद उनकी ओक बनाकर पानी भी पिया जा सकता है। खाना खाते ही बुढ़ढा हाथ का तकिया बनाकर बर्थ पर लेट गया और अम्मा उसके पाँवों की तरफ बैठकर रोटी खाने लगी।

रोटी की जुगाड़ होने का अवसर आता देख हम दोनों ने बिना किसी देर के अलफतिया संवाद प्रारंभ किया -- आज तो हमें भूखा ही सोना पड़ेगा --वह बोली। चिन्ता मत करो, भगवान किसी को भूखा नहीं सोने देता -- मैंने कहा। बूढ़ी अम्मा ने हमारी तरफ देखा और फिर अपनी रोटियों में खो गयी। वह धीरे-धीरे रोटी के कौर को ऐसे चूसने लगी जैसे हमें भी रोटी देने के बारे में सोच रही हो।

चलती रेलगाड़ी में भगवान कहाँ से आ जायेंगे- लेडी अलफतिया ने पूछा। मैंने कहा- मेरे पास तो कई बार चलती रेलगाड़ी में ही आये हैं। वे एक बार बूढ़ी अन्नपूर्णा बनकर आये थे। बिलकुल इस बूढ़ी अम्मा की तरह लगते थे और मुझे दो रोटी खिलाकर चले गये। यह सुनकर अम्मा जैसे ही हमारी तरफ देखने लगी, तभी मैंने कहा- भगवान सबकी माँ जैसे हैं, वे अपने बच्चों को कभी भूखा सोने नहीं देते। अम्मा ने अब हमारी तरफ दया-दृष्टि से देखा और रोटियों पर अचार की कलियाँ सजाकर तुरन्त हम दोनों के हाथों पर रखते हुए बोलीं- भूखे मत रहो बेटा, कुछ खा लो। जैसे ही हम बूढ़ी अन्नपूर्णा के आगे विनत हुए तो उनके चेहरे पर वह खुशी छलक आयी जो अपने बच्चों को अन्न खिलाती माँ के चेहरे से छलकती है। भगवान सब जगह है पर हम जहाँ होते हैं, वहाँ उससे मदद पाने के लिए किसी-न-किसी में उसकी स्थापना करना पड़ती है और वह उसमें हमारे लिए प्रकट हो जाता है।

मैं कुछ कहने लगा और वह सुनने लगी- उस दिन के बारे में सोचो जब पूरी रेलगाड़ी में रोबोट बैठे होंगे और जिनमें कोई संवेदना नहीं होगी। हम कितनी ही बात बनायें, वे हमारी सुनेंगे ही नहीं। रोबोट रोटी नहीं खाते। उन लोगों का क्या होगा जो मदद के लिए रोबोट के सामने हाथ फैलायेंगे और खाली हाथ रेलगाड़ी से उतर जायेंगे। दुनिया की किसी रेलगाड़ी में उन पर कोई नहीं पिघलेगा। रेलगाड़ियों को रोबोट ही चलायेंगे और वे छोटे-छोटे स्टेशनों के आसपास बसे हुए जीवन को पीछे छोड़ती हुई तेज़ रफ़्तार से निकल जायेंगी। किसी गाँव के छोटे-से स्टेशन पर ताज़े अमरूद लेकर खड़ी कोई

बूढ़ी अम्मा वहीं खड़ी रह जायेगी। फिर रेलगाड़ी में किसी मूँगफली वाले की आवाज़ नहीं गूँजेगी। समय इतना कम पड़ जायेगा कि मूँगफली खाते हुए समय काटने की फ़ुर्सत किसी के पास नहीं होगी, रोबोट मूँगफली नहीं खाते। उस आदमी का क्या होगा जो अपने शरीर पर चलती-फिरती दूकान सजाये रेलगाड़ी में घूमता है- मंजन, तौलिया, साबुन, कन्धी, टॉफ़ी और खिलौने बेचकर गुज़ारा करता है। रोबोट को तो सोप-पेपर भी नहीं चाहिए।

वह सुनती रही और में कहता रहा -- एक दिन ऐसा भी आयेगा जब बहुत-से रोबोटों के बीच आदमी को पहचानना कठिन हो जायेगा। रेल के डिब्बे में बैठे लोगों को जब गौर से देखता हूँ तो उनमें-से कई रोबोट जैसे लगते हैं। वे रोबोट की तरह ही किसी पर पसीजते नहीं। लगता है जैसे किसी कम्पनी से अपनी प्रोग्रामिंग करवाकर आये हों। वह बोली- तब तो हमें अपना नाम रख लेना चाहिए। हम बहुत-से रोबोटों के बीच नाम पुकारकर एक-दूसरे को पहचान लेंगे।

तिस्तापार का वृत्तान्त

देवेश राय

बांग्ला से रूपान्तर : रामशंकर द्विवेदी

क्या है तिस्तापार वृत्तान्तः

१९७० के दशक में ही किसी समय उत्तरबंग के जलपाईगुड़ी ज़िले के डुअर्स के तिस्ता से सटे हुए अंचल में सेटलमेंट का काम चल रहा था। डुअर्स की ज़मीन बड़ी-बड़ी जोतों, फ़ोरेस्ट डिपार्टमेंट के अधीन फ़ोरेस्टों, चाय-बागानों में हज़ार तरह की जटिल गाँठों से युक्त थी। गयानाथ जोतदार ऐसी ही एक ज़मीन का मालिक, 'गिरी' था। वह डुअर्स में यह सब ज़मीन अपने दखल रखे हुए है और आगे भी रखना चाहता है। नदी के नीचे की मिट्टी और बाढ़ में उखड़ गये शाल के वृक्षों को भी। प्रायः इसी के समान लोभी और गैर कानूनी दखलंदार चाय-बागान भी हैं।

इस विस्तृत अंचल में बसावट मुख्यरूप से राजवंशी जनसमुदाय के लोगों और संताल-कोल-मुण्डाओं की है जो मदेशिया नाम से जाने जाते हैं। तिस्ता के चर पर पूर्वबंग के किसानों ने बस्ती बनाकर यहाँ के कृषि कार्य में एकबार ही आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया है।

नाना तरह के स्वार्थों को लेकर अनेक तरह के जनसमुदाय का विरोध, उनकी राजनीति और संस्कृति में दिखायी देता है। राज्य सरकार तिस्ता पर बैराज तैयार कर विकास की प्रचलित धारा में इस अंचल को ले आना चाहती है।

इस विचित्र, विपुल, विस्तृत जनजीवन के इन सब बदलावों के भीतर से होकर तैयार हो उठता है बाघारू नाम का एक मनुष्य। जो यहाँ के आदिम लोगों में से एक है। उसका बाप कौन है, वह नहीं जानता है। उसकी माँ ने उसे सघन वन में जन्म दिया था। उसे अपने को बचाने के लिए बाघ के साथ हाथापाई करनी पड़ी थी। इस समय उसका परिचय उस गयानाथ जोतदार के आदमी के रूप में है।

अन्त में यह परिचयहीन बाघारू, अपने जन्म के भी पहले का परिचय लेकर इस विकास, समाज, चाय-बागान, जोत-ज़मीन छोड़कर चला जाता है- मदारी नामक बालक को साथ लेकर।

- अनुवादक

आदि पर्व

गयानाथ की जुताऊ ज़मीन

एक

हाट के मार्ग पर

एक हाट में एकसाथ दो साइन बोर्ड जा रहे हैं - एक बड़ा है, एक दिखायी नहीं दे रहा है।

एक बहुत लम्बा-चौड़ा, बड़ा और नया/हल्दिया रंग पर काला रंग - जैसे सरकारी साइनबोर्ड होते हैं, सील-मोहर लगे हुए 'कृत्रिम गाय-प्रजनन केन्द्र'। और भी बहुत कुछ। उसे ले जाने में व्यक्ति को बड़ा कष्ट हो रहा है, एकबार उसे लटका लेता है - किन्तु इससे वह रास्ते से टकराने लगता है। दो-एक बार उसने उसे बगल में भी लिया, इससे भी उसका घेरा पकड़ में नहीं आता है। अन्त में उसे सिर पर रख लिया। वही सबसे अधिक सुविधाजनक रहा। एक हाथ से सिर के ऊपर साइनबोर्ड को पकड़े रहना, और एक हाथ में नाइलॉन के जूतों को लटकाना - पीछे के झरने को पार करने के लिए जूते खोलने पड़े थे, सामने है पैदल और फेरी नाव से पार करने वाली और एक नदी, तीन-चार बार। नाइलॉन का पेंट भी घुटनों तक मुड़ा हुआ है, अच्छी तरह उसकी पर्तें सिकोड़कर, मानो नदियों की गहरायी का एक अन्दाज़ उसे पहले से है।

और एक साइनबोर्ड छोटा है। काले रंग पर सफेद रंग - पर यह बहुत पुराना लगता है। सील-मोहर लगी हुई है। बहुत बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है, हलका कैम्प, थैली के साथ बाँधकर पीठ से लटकाकर बीड़ी पीते-पीते ही जाया जा रहा है। बीड़ी अगर न पिये तो एक हाथ से करेगा क्या? धोती घुटने से भी है - नदी-नाला-कीचड़-बालू जिससे पारकर जाया जा सके। पैरों में नयी नीली पट्टी की हवाई सेंडिल की तली तो है सिर्फ़ अँगुलियों से थोड़ी अटकी रहने के लिए। इस तली को इतना घिस जाने दिया गया है कि कई बार उसमें नयी पट्टी बाँधनी पड़ी है। पैरों के साथ वह इतनी मिल गयी है कि अगर उसे खोलकर हाथों में लटकाया जाए तो वह ढीली होते ही टुकड़-टुकड़े होकर गिर जायेगी। पैरों से अगर उसे थोड़ा खिसकाया जाए तो पैरों का पंजा भी थोड़ा खिसक पड़ेगा। इसे अगर खोल दिया जाए तो चलने का शब्द भी थम जाएगा। तो फिर आगे चला ही नहीं जा सकेगा।

'कृत्रिम गाय-प्रजनन केन्द्र' इस समय अपने दोनों जूतों को साइनबोर्ड के ऊपर फेंक, दोनों हाथों से साइनबोर्ड को दो तरफ़ से पकड़, काफ-दुलकी चाल से वह जल्दी-जल्दी दौड़ने लगा है, इतनी देर बाद जैसे वह अपनी चाल में एक तेज़ी ला सका है। इतनी बड़ी टीन के साइनबोर्ड से धड़ाम-धड़ाम की आवाज़ निकल रही है। उसके ऊपर रखे हुए दोनों जूते भी उछल रहे हैं। उसके चलने का छन्द टीन की फड़-फड़ आवाज़ से चारों ओर फैल रहा है। चारों ओर इतना निर्जन है कि आवाज़ बड़ी

होने पर किसी तरह से उस निर्जनता में फैलकर अच्छी तरह विलीन हो जाती है।

चारों ओर निर्जन है, सिर्फ़ इसी रास्ते से कतार बाँधकर लोग चले जा रहे हैं। आज क्रान्ति की हाट है। हाईवे पर बस से उतरकर कोई-कोई रिक्शा भी पकड़ लेते हैं। उसके बाद रिक्शावाले के साथ छोटे-छोटे नाले ठेल ठाल कर रिक्शा से पार ही जाते हैं। जिनके पास भारी सामान होता है, उनको तो रिक्शा लगता ही है। कटा कपड़ा, गंजी, लुंगी, शर्ट-पेंट के दुकानदार साइकिल के सामने टाँगकर और पीछे बाँधकर अपना काम चला लेते हैं। किन्तु आलू अथवा एल्युमीनियम के बड़े दुकानदारों का अगर रिक्शा न हो तो उनका खर्चा बहुत हो जाता है। एक रिक्शा का माल कई लोगों को अपने सिर पर ढोना पड़ता है।

किन्तु, अधिकतर लोग पैदल ही चलते हैं, सिर पर अथवा बँहगी पर वज़न लादकर। बस से हाईवे पर उतरकर, बस के ऊपर से सामान उतारकर, रिक्शों पर कई मील दूर हाट तक जाने की सुविधा है। किन्तु, जो लोग दक्षिण में चौकमौलानी से अथवा उत्तर में उसी हायहाय पाथार से टाड़ी-बाड़ी जंगल के भीतर से होकर, नदी-नाला पार करते-करते, बँहगी अथवा सिर पर बोझ लिये, अथवा गाय-बकरी हाँकते-हाँकते अपना रास्ता और छोटा करते-करते आते हैं, उन्हें फिर इस पक्की सड़क पर रिक्शे की ज़रूरत क्या है। पगडण्डी पर मानो नदी का तेज़ बहाव आ जाता है, थोड़ा नीचे की तरफ़ पहाड़ी नदी का तेज़ प्रवाह, सहसा घण्टाभर के लिए बाढ़ जैसा तेज़ प्रवाह बह जाता है। रिक्शा भी खूब तेज़ी-से दौड़ने लगते हैं, हॉर्नटोर्न भी देते रहते हैं। पैरों तले पक्की सड़क मिलने से सिर पर बोझा अथवा कन्धे पर बँहगी रखे मनुष्यों के पैरों में भी तेज़ी आ जाती है। कोई किसी की तरफ़ताकता भी नहीं है, बात भी नहीं करता है। जल्दी-जल्दी चलने अथवा माल ढोने के कारण लोगों की जल्दी-जल्दी साँस लेने की आवाज़ सुनी जा सकती है। चारों ओर इतनी निर्जनता है कि मनुष्यों के श्वास लेने और छोड़ने जैसी प्रायः निःशब्द आवाज़ भी वातावरण में विलीन नहीं हो पाती है, वह अलग बनी रहती है।

किन्तु, हाट में पहुँचने की इस समय अन्तिम बेला हो अथवा पक्की सड़क होने की वजह से हो, भीड़ जल्दी-जल्दी दौड़ने पर भी कैसी घनी है। इतने लोग एक साथ एक ही दिशा में जा रहे हैं- इसीसे तो उनमें एक तरह की समानता आ गयी है। इसके ऊपर, एक व्यक्ति के सिर पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ साइनबोर्ड और एक व्यक्ति की पीठ पर बहुत पुराना एक छोटा-सा साइनबोर्ड मानो इस भीड़ को और अधिक एक कर देना चाहते हैं, जैसे पताका और बन्दनवार एक जुलूस का निर्माण कर देते हैं।

इस समय, इस सड़क की जिस भीड़ को इन लोगों के दो साइनबोर्ड बाँधे हुए हैं, उसके भीतर से हॉर्न और घण्टी बजाते-बजाते रिक्शे और साइकिलें टेढ़ी-मेढ़ी होती हुई निकल ज़रूर जाती हैं पर

उसके बाद ही भीड़ फिर से घनी हो जाती है। एक व्यक्ति एकमात्र छोटे बकरे को नयी रस्सी से बाँधकर खींचते-खींचते ले जा रहा है। ऐसा लगता है, बकरे को इतनी भीड़ का पहले से ही कुछ अनुभव था या वह डर रहा था इसलिए एक भी डग नहीं बढ़ा रहा था। वह व्यक्ति भी बड़े निश्चित मन से उसे खींच रहा है। मानो वह जानता है, इसी तरह वह यथा समय हाट में पहुँच ही जाएगा। बकरा बीच-बीच में रास्ते में ही बैठा जा रहा है। फिर वह व्यक्ति खड़ा हो जाता है। बकरे को खींच भी नहीं रहा है और उसे मना भी नहीं पा रहा है। बकरे के पीछे ही इस तरफ़ के छोटे-बड़े सभी हाट के ही लोग हैं, उन्हीं में वह चायवाला लड़का, अपने काठ के बक्से को सिर पर रखे हुए है। उसी के भीतर चूल्हा, कोयला और चाय बनाने का सारा सामान है। बकरे के बैठ जाने पर वह बकरे के ठीक पीछे छोटे हाथों से लाठी मार रहा था और बकरा फिर कुछ कदम दौड़ पड़ता है। लड़के ने कब हाथ बढ़ाकर बाँस की एक लकड़ी खींच ली है। अब और लाठी मारनी नहीं पड़ रही है, बाँस की लम्बी लकड़ी को चुभाते ही बकरा थोड़ा दौड़ने लगता है। तीन छोटी-छोटी मुर्गियों को उल्टा लटकाये लुंगी पहने हुए एक व्यक्ति लिये जा रहा है। बीच में एक बच्चे के सिर पर बड़े साइज़ का एक कुम्हड़ा रखा है। खूब छोटा, टाइट हाफ़ पेंट, पतली नेट की गंजी, मोज़ा-केडस पहने एक व्यक्ति खाली हाथ चला जा रहा है। जितनी बार नदी-नाला पार कर रहा है, उतनी बार ही जूता-मोज़ा खोलकर फिर पहन लेता है। इस तरफ़ के नेवड़ा नदी के पूरब के बागान के मज़दूर कान्तिहाट में बहुत अधिक नहीं जाते हैं। कान्तिहाट के पश्चिम में केवल चाय के बागान हैं। हाट में उनकी खूब भीड़ होती है। यह लोग शायद कहीं गये थे, अब लौट रहे हैं। अथवा हाट में किसी से भेंट करने की बात है। तेल से चिकने काले घुँघराले बाल। पतली नाइलॉन की गंजी के भीतर से उसके शरीर का रंग चमक रहा है। उसका अत्यधिक किसी कैप्टन जैसा मिजाज़ है, उसके चलने की मुद्रा से ऐसा आभास हो रहा है। एक झुण्ड हंस एक पिंजड़े में हैं। एक बँहगी के एक तरफ़ एक लौकी और दूसरी तरफ़ एक बड़ा बोरा छोटे रूप में बँधा हुआ है। एक व्यक्ति के सिर पर दस सेर के लगभग पटसन है। छींट की हाफ़ शर्ट, चेक की लुंगी, रबर के पम्प शू, कन्धे पर गमछा, कन्धे, गर्दन, पीठ, कमर में अच्छी तरह सुडौल, तराशा हुआ माँस है। जोतदार तो है ही, खरीद-बेच करने वाला व्यापारी भी हो सकता है। सम्भवतः लोगों से बैलगाड़ी में माल भरवाकर बेचने के लिए पहले ही इसने भेज दिया है। नहीं तो, कुछ बेचने को नहीं है, खरीदने को जा रहा है। अथवा हो सकता है हाट की वजह से जा रहा हो, चीज़ों की दर-मान जानने, वैसे कोई खास काम नहीं है। पहनावे से बाबू जैसे एक लड़के के सिर पर केले की खोल से बने पात्र में मछलियाँ, पूरे दिन पोखर पर मछलियाँ पकड़ने के बाद अब बेचने जा रहा है। मध्यम आकार के बछड़े काफ़ी देर से पकड़े हुए आ रहा है, उसके गले में नयी रस्सी है। इसका अर्थ है हाट। लेकिन पशुओं की हाट तो सबेरे से ही लग जाती है। जो बेचते हैं और जो खरीदते हैं, वे प्रायः पूरे दिन घूम-फिर कर देखते हैं और दाम तय कर इस बात पर नज़र रखते हैं कि उनकी पसन्द

की हुई वस्तु कोई और न खरीद ले। हाट के अन्त में आते हैं चोरी किये हुए पशु। उनकी कीमत भी कम होती है। कई बार तो उन्हें हाट तक जाना ही नहीं पड़ता है। रास्ते में ही खरीद-बेच हो जाती है। क्रान्ति की हाट अवश्य उस दृष्टि से चुराए गये पशुओं को बेचने की एक बहुत अच्छी जगह हो सकती थी। पूरब में हाईवे से दस मील भीतर, बीच में एक खेया (नदी पार करने के लिए) और चार नाले। पश्चिम में विशाल आपलचाँद फ़ोरेस्ट और चाय बागान और पहाड़ी चढ़ाई, वही बागराकोट कोयले की खान और शेबोक ब्रिज पर्यन्त - किसी बॉर्डर को पार कर मयनागुडी से लाकर इसी सड़क से पशुओं को घुसा देने पर काम हो जाता। किन्तु उसके बाद? ये चार नाले, एक खेया पार कैसे होंगे? 'गरू बेचते राखाल फक्का' अर्थात् पशु बेचने में ग्वाला नाकाम। इसलिए बॉर्डर का चुराया हुआ माल इस हाट में बेचने नहीं आता है। इधर-उधर से एक-दो चुराए हुए पशु फ़ोरेस्ट के भीतर बाँध-बूँधकर समय-सुयोग होने पर हाट के रास्ते से लाकर बेच दिये जाते हैं। इस समय इस रास्ते भर में वही शेष हाट के यात्री चले जा रहे हैं-

पयला हाटात दोकानिया बेचे
माझा हाटात देउनिया बेचे
हाटात घरुआ शेषो बेचे।

हाट के शुरू में ही व्यापारियों की बड़ी-बड़ी खरीद-बेच समाप्त हो जाती है। उसी समय पूरे दिन के भाव ठीक हो जाते हैं, रेशम और तमाखू किस भाव में जाएँगे। आजकल धान और चावलों की तो बड़ी खरीद-बिक्री नहीं होती है, फिर उनके दाम भी इन सब हाटों में ऊपर नीचे अधिक नहीं होते हैं। बैलगाड़ी में बड़ी-बड़ी खरीद-बेच हो जाने के बाद आजकल तो वैसे समय ट्रक भी आ जाते हैं, पूरे दिन माल लादकर जाते रहते हैं।

हाट की माझवेला में आते हैं जोतदार-देउनिया लोग। घर-गृहस्थी का सामान और खेती-किसानी का सामान भी खरीदते हैं। फिर बेचते भी हैं घर-गृहस्थी की कई चीज़ें और खेती-किसानी के बहुत से सामान। और हाट के एकदम अन्त में आते हैं घर-गृहस्थी वाले लोग सामान बेचने - एक कुम्हड़ा, एक बतख, चार अण्डे, एक बकरा - यही सब चीज़ें।

इस समय इस सड़क से होकर वही अन्तिम हाट वाले लोग जा रहे हैं। चलते-चलते ही कतार बन जाती है। और कतारबद्ध हो जाने के कारण ही आकाश की ओर घुमाया हुआ 'कृत्रिम गो प्रजनन केन्द्र' और पीठ पर लटका हुआ 'हलका कैम्प' मानो इस पूरी कतार का परिचय हो उठना चाहता है। मानो यह पूरी कतार ही प्रवेश कर जाएगी गो-प्रजनन की कृत्रिम व्यवस्था अथवा सेटलमेंट के हलके इलाके के कैम्प में।

दो

नेउड़ा नदी का खेया

वृक्ष वनस्पति झुरमुट, वन बीहड़ के भीतर से होता हुआ यह पक्का रास्ता खत्म हो जाता है नदी की पाड़ पर। नेउड़ा नदी। खेया नाव छोड़ चुकी है। खेया नाव पर अगर चढ़ना हो तो बीच में घुटनों पर पानी को पार करना पड़ता है। सभी लोग साइनबोर्ड टाँगने वाली कतार को तोड़कर धड़-धड़ करते हुए ढलान से नीचे उतरकर 'होई हेई' करते-करते खेया नाव की तरफ़ दौड़ने लगे। बकरे को क्षण भर में ही उस व्यक्ति ने अपने कन्धे पर उठा लिया और कन्धे पर उठाते ही उस बकरे ने पूँछ हिलाते-हिलाते लीद करनी शुरू कर दी, जैसे वह इसकी प्रतीक्षा ही कर रहा हो। वह व्यक्ति भी इसे जानता था। कन्धे पर बकरे के चारों पैर उसने इस तरह समेट रखे थे जिससे सारी लीद बाहर गिरे, उसके शरीर पर न गिरे। व्यक्ति के शरीर पर लीद न फेंक पाने के कारण बकरा तार स्वर में चीखने लगा और अपनी देह इस तरह फड़फड़ाने लगा जिससे वह कन्धे से उतरकर नीचे आ जाए। किन्तु वह व्यक्ति कन्धे के ऊपर दोनों हाथों से बकरे के चारों पैर इस तरह जकड़े रहा कि वह उछल कर खेया नाव पर चढ़ सके। साइनबोर्ड दोनों लेकर ये दोनों व्यक्ति भी, इस तरह दौड़ने कि उस क्षण ऐसा लगा जैसे ये दोनों साइनबोर्ड बेचने जा रहे हैं। हाट में जैसे साइनबोर्ड बेचने का यही 'सीज़न' है। लेकिन बड़े साइनबोर्ड को नाव पर खड़ा करने और छोटे साइनबोर्ड को पीठ पर लटकाने के कारण ऐसा लगने लगा जैसे पूरी नाव ही सचमुच में 'कृत्रिम प्रजनन केन्द्र' और 'हलका कैम्प' है।

माझी ने नाव को घाट से पहले ही छोड़ दिया था। इन लोगों की चिल्लाहट से नाव लग्घी से फिर उसने और ठेली नहीं। ये लोग किनारे के कीचड़-पानी को किसी तरह पारकर नाव पर चढ़ जाते हैं। नाव के पट्टे पहले से ही भीगे हुए थे। इन लोगों ने उन्हें और भी गीला कर दिया। सभी लोग चढ़ भी नहीं सके। किन्तु लोगों की भीड़ अधिक देखकर माझी ने लग्घी से नाव ठेलकर आगे बढ़ा ली है। लग्घी के दो-एक और ठेलों से नाव उस पार पहुँच जाएगी - यह इतनी छोटी नदी है। शायद कहीं-कहीं पैदल भी पार की जा सकती है। किन्तु सब जगह एक-सा पानी तो सदा रहता नहीं है। फिर ऊपर से छोटी-मोटी बाढ़ भी आती रहती है। इसी वजह से नाव से पार होना पड़ता है।

नाव पर सभी लोग खड़े हुए हैं। उन्हीं लोगों में इस तरफ़ का सबसे बड़ा जोतदार नाउछार आलम है। वाकोफ जागीर का मालिक। हज़ार-हज़ार बीघे का राजस्व चुकाने वाला। डूयर्स में जब पहला बन्दोबस्त हुआ तभी से नाउछार आलम यहाँ की सारी ज़मीन का मालिक है। खास ज़मीन का जब से कानून पास हुआ तब से पिछले पच्चीस-तीस वर्ष से नाउछार आलम का सरकार के साथ मामला चल रहा है। सुप्रीम कोर्ट तक कई मामले गये, उनमें से कई मामलों में आलम की जीत हुई है, सरकार हट गयी है। इसके अलावा अनगिनत ज़मीनों पर निषेधाज्ञा लागू हुई, दस बार पन्द्रह-बीस वर्ष के लिए।

निषेधाज्ञा का निपटारा न होने तक उन सब ज़मीनों की फसल आलम की बखार में ही भरी जाती रही है। सरकार आलम की ज़मीन की घास भी नहीं छील सकी - सभी की ऐसी ही धारणा है। आलम की ज़मीन के किसी-किसी भाग पर कब्ज़ा करने वालों से बीच-बीच में कोई अंशदान तो किया नहीं, किन्तु सरकार से उस ज़मीन का पट्टा चाहा। कभी-कभी मिल भी गया। किन्तु सामान्य रूप से वैसी घटनाएँ अधिक नहीं हुई हैं। नाउछार आलम नाटे कद का आदमी है। सफ़ेद हाफ़ शर्ट और छोटे नाप का एक पाजामा, यही उसकी पोशाक है। हाथ में छाता लिये हुए है। सभी लोग उसे सलाम कर रहे हैं। नाउछार भी उन्हें जवाब में सलाम कर रहा है। नाम ले-ले कर सभी के हाल-चाल पूछ रहा है। इधर की बड़ी-बड़ी सभी हाटों में जाकर नाउछार थोड़ी देर के लिए ज़रूर बैठता है। सभी के साथ मिलना-जुलना और उनका हाल-चाल का पता चल जाता है।

नाउछार के पास ही पर थोड़ी दूरी बनाकर खड़ा हुआ है योगानन्द मन्त्री। प्रफुल्ल घोष जब तीन मास के लिए मुख्यमन्त्री बने थे, पहले संयुक्त मोर्चे के बाद - तब योगानन्द भी मन्त्री थे, सम्भवतः दो मास के लिए। उसके बाद से उनका नाम ही हो गया है योगानन्द मन्त्री। धोती और खद्दर का कुर्ता पहने योगानन्द भी छाता हाथ में लिए खड़े हुए हैं। नाउछार आलम ने योगानन्द को बुलाकर उनसे पूछा, 'मन्त्री महोदय, इस बड़े साइनबोर्ड में क्या लिखा हुआ है ?' योगानन्द ने साइनबोर्ड पहले ही देख लिया था। 'यह हरियाणा के साँडों के....'

'ओ अच्छा', नाउछार इतने में ही समझ जाता है। इस इलाके में उसी ने पहली बार 'कृत्रिम गो-प्रजनन' केन्द्र शुरू किया था। वह भी कई बरस पहले। इस समय तो उसके बागान में हरियाणा की गाय के अलावा और कोई गाय है ही नहीं, ऐसा कहा जा सकता है। बस से जाते-जाते भी फ़ोरेस्ट के पास की ज़मीन में भैंस की साइज़ की गायें चरते देखकर बहुत-से लोग कहने लगते हैं, 'नाउछार की गायें'। नाउछार पुनः पूछता है, 'और ई में क्या लिखा है मन्त्री मोशाई, ए जे मनई की पीठ पर है?'

योगानन्द बताने लगता है, 'काल से एई जगह हलका कैम्प लगेगा...'

'ओ'... नाउछार समझ जाता है। थोड़ी देर चुप बना रहता है। उसके बाद जैसे मन-ही-मन कहने लगता है, 'हलका कैम्प में ज़मीन देगा और पशु अस्पताल बैल देगा, तभी तो मेरे यहाँ सोने का संसार ज़रूर होगा।' यह बात किसी-किसी ने सुन ली, कोई-कोई थोड़ा हँसने भी लगा। नाउछार के दिमाग में इन दोनों साइनबोर्डों का मामला खुलने लगता है इसलिए उसने यह बात कही है। उसकी बात में कोई प्रखरता नहीं थी। दूर से एक व्यक्ति थोड़ा प्रयास करते ही नाउछार की नज़र में पड़ जाता है, फिर दूर से ही उसे सलाम करता है। नाउछार आलम पूछता है, 'क्यों, क्या तुम्हारी बीवी अस्पताल से लौट आयी हैं?' वह व्यक्ति हँसकर 'हाँ' में सिर हिला देता है। 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा', कहते हुए नाउछार उसके पास के व्यक्ति से कुछ कहने के लिए सिर घुमा लेता है।

नाव पाड़ पर लग गयी है। नाउछार के पास पाड़ की तरफ़ जो लोग खड़े हुए थे, वे आहिस्ता-से उतर जाते हैं। नौका डगमगाने लगे इसलिए कूद कर नहीं उतरते हैं। उसके पीछे जो खड़े थे वे हड़बड़ी कर नहीं उतरते हैं। नाउछार आलम आहिस्ते-आहिस्ते नाव से धरती पर उतर जाता है। उतरकर नाव की ओर देखकर हँसते हुए मानो उसे धन्यवाद देता है। 'यूउढ़ा मनई लप्पझप्प नहीं कर पाते हैं, आते हैं, उतरते हैं और चले जाते हैं सब।' तब तक जिसकी जो गठरी थी, वह उसे उठा लेता है। सभी एक-एक कर उतरना शुरू करते हैं।

योगानन्द पीछे की तरफ़ था। वह धीरे-धीरे उतरता है। बाज़ार में उसका कोई खरीद-बेच का काम नहीं है। बीच-बीच में हाट में आने से सभी के साथ मेल-मिलाप हो जाता है, बातचीत हो जाती है, देश-गाँव के भाव-ताव का पता चल जाता है। तो वह बातचीत खेया नाव पर भी हो सकती है, उतरने के बाद भी हो सकती है।

इसके अलावा भी योगानन्द को ज़रूर एक भय भी था। अगर नाउछार आलम उसके साथ चलना शुरू कर दे तो वह और कुछ कर ही नहीं पाएगा। किन्तु हाटभर के लोग यह देखेंगे कि इस समय योगानन्द नाउछार आलम के साथ बाज़ार आता है। यह वह नहीं चाहता है। वह नाउछार आलम को आगे निकल जाने का समय देता है।

किन्तु पाड़ पर चढ़ते ही उसने देखा कि पक्की सड़क पर रिक्शे पर बैठा नाउछार इसी ओर देख रहा है। नज़र घुमाने का भी कोई उपाय नहीं था। पास पहुँचते ही नाउछार कहने लगा, 'क्यों, मन्त्री मोशाई, और तो रिक्शा नहीं है यहाँ पर, आप क्या मेरे पास आएँगे, अथवा इधर और कोई काम-काज है आपको...?'

नाउछार आलम भी क्या उसके साथ जाना नहीं चाहता है? 'नहीं, आप जाइए, मुझे थोड़ी देर हो जाएगी। नाले पहाड़ पर एक व्यक्ति के आने की बात है।'

'अच्छा, अच्छा', नाउछार के ऐसा जवाब देते ही रिक्शा वाला रिक्शा चलाना शुरू कर देता है। नाउछार आलम मानो सदा कानून मानकर चलता हो।

अगर और एक रिक्शा होता तो वह योगानन्द के लिए खड़ा नहीं होता। किन्तु, इसी वजह से योगानन्द को वह ज़ोर-ज़बरदस्ती पकड़कर अपने रिक्शे पर बैठाएगा नहीं। उसके साथ रिक्शे पर जाने में मन्त्री को जो असुविधा है, उसे भी नाउछार समझता है। पर अगर वह बुलाये तो योगानन्द न नहीं कर पाएगा। इसीलिए वह अपनी बात में थोड़ी फाँक भी रख देता है - यदि इच्छा करे तो भी योगानन्द नहीं आ सकता है। किन्तु मात्र एक रिक्शा है, यह देखकर भी नाउछार आलम जा नहीं पाता है, उसे खड़ा रहना पड़ता है, कितने समय पहले के तीसरे महीने की एक सरकार के मास-दो-एक के मन्त्री के लिए। इस घाट से बाज़ार थोड़े-से पैदल रास्ते पर है। किन्तु इस पार के लोगों की चलाने वाली

भीड़ जमघट पैदा नहीं करती है। इस तरफ़ के टाडी गाँव के अनेक लोग हाट की तरफ़ जा रहे हैं। माठ घाट से होकर अनेक लोगों को चलते हुए देखा जा सकता है। नाना रास्तों, अनेक माठघाट होकर, सभी दिशाओं से सभी को जैसे इस समय जल्दी-जल्दी पहुँचने की घबराहट है, जो जैसा है अपनी तरह से जल्दी पहुँचना चाहता है। गो-प्रजनन और 'हलका कैम्प' साइनबोर्ड लिये लोग भी किसी समय उसी सड़क की भीड़ के भीतर से होकर हाट की तरफ़ ही भागे जा रहे थे।

तीन

'सत्यमेव जयते'

पीठ पर हलका कैम्प का साइनबोर्ड लटकाये प्रियनाथ ने थोड़ा आगे बढ़कर देखा कि उनकी जीप आ गयी है या नहीं। जीप अभी आयी नहीं है। शाम से पहले आने की उम्मीद भी नहीं है। सुतराम साइनबोर्ड के साथ अपने झोले को पास में रखकर चाय-मिष्ठान्न की दुकान की सड़क के पास की बेंच पर बैठ गया। उसके पीछे चीता-साइज़ के दो बड़े चूल्हों में, मनुष्य भी भूना जा सके, ऐसे दो बड़े कढ़ाहों में नमकीन भूनकर पास की झल्ली में डाली जा रही है। वह डलिया इतनी बड़ी है कि यदि उसे उल्टा कर रख दिया जाए तो उसके भीतर एक व्यक्ति अपने हाथ-पैर सिकोड़कर बड़े आराम-से बैठ सकता है। वह डलिया एक बड़े साइज़ के ढब पर रखी हुई है, जिसमें नमकीन का तेल निचुड़कर गिरता रहता है। भुनी हुई नमकीन की महक उसकी नाक में आकर लग रही है। उसके पीछे एक चूल्हे के सामने लम्बी टेबिल पर एक चौदह वर्ष का लड़का नंगे बदन चाय बनाता जा रहा है। प्रियनाथ उसकी तरफ़ इशारा कर कहता है, 'दादा, दो नमकीन, एक चाय।'

अगले दिन से प्रियनाथ अपने पैसे से चाय-नमकीन नहीं खाएगा। आगामी कल से क्यों, आज ही थोड़ी देर बाद बाज़ार में ढोल पीटकर मुनादी करने के बाद उसे अपने पैसे से चाय, नमकीन, सिगरेट नहीं पीनी पड़ेगी। शायद यह दुकानदार ही उसे बुला-बुलाकर खिलाएगा। आजकल तो घोष लोग ही अधिक ज़मीन खरीदते हैं। इस समय जाकर अगर यह साइनबोर्ड दिखाऊँ तो यह नमकीन और चाय बिना पैसे की हो सकती है। किन्तु वह ऐसा करने जाएगा क्यों? वह तो सरकारी कर्मचारी है। सेटलमेंट विभाग का चपरासी है। उसे दो-तीन दुकानदार पटाएँगे, दो-तीन लोग उसके पीछे-पीछे घूमेंगे, तब वह किसी एक व्यक्ति से चाय अगर पीना चाहे तो पी सकता है।

कल से यहाँ हलका कैम्प लग जाएगा। यह खबर यहाँ के सभी लोग जानते हैं।

फ़ॉर्म 'ए' यहाँ पहले ही बाँटा जा चुका है। धारा पूछ का नोटिस भी जारी किया जा चुका है। अपनी-अपनी मालगुजारी की रसीद अगर हो तो उसे लेकर उल्लिखित मौजे में आकर उपस्थित हों। खानापूर्ति करने के लिए नोटिस भी दिया जा चुका है। आज के बाज़ार में थोड़ी डिमडिमी पीटनी होगी। इसी वजह से प्रियनाथ थोड़ा पहले चला आया है। साहब ने उससे कहा था, 'हमारे साथ जीप में ही

चलिए, हम लोग थोड़ा पहले निकलेंगे।' किन्तु, साहब के साथ प्रियनाथ यदि जीप पर आता तो उसे बस से आने का यात्रा-भत्ता नहीं मिलता। साइनबोर्ड लाया है इसलिए उसे एक रुपया रिक्शा भाड़ा मिलना चाहिए। वह भी उसे नहीं मिलता। और बाज़ार में डिमडिमी पीटने के कारण तीन रुपया - कुल मिलाकर पाँच रुपये का उसको नुकसान हो जाता। सुतराम इस सड़क पर बस से उतरकर पैदल आया, साहब लोग उसी सड़क से सीधे जाकर बाँये घूमकर माल गोदाम होकर जाने के रास्ते पर बाँये घूमकर कुल मिलाकर बीस मील के चक्कर से यहाँ आएँगे।

नमकीन के तेल से उसका हाथ और अँगुलियाँ भीग गयीं। प्रियनाथ ने अपने सिर में उन्हें पौंछ लिया। उसके बाद उसने दोनों हाथ रगड़ लिये। वह एकदम रास्ते के पास ही बैठा हुआ है, वही लोग इस जगह बैठते हैं या खड़े रहते हैं। जो चाय पीकर ही चले जाते हैं, बहुत हुआ तो नमकीन खाते हैं, इससे हटकर बीच वाली पंक्ति में जो बैठते हैं, वे चाय पीते हैं, नमकीन खाते हैं, जलेबी भी खाते हैं। उन्हीं के सामने खुली चौकी पर जलेबी का पहाड़ लगा रहता है और पास ही बड़े-बड़े टीन के बर्तन में चना चुरमुरा। और जो लोग बड़ी-बड़ी मिठाई खा रहे हैं, दूसरों को खिला रहे हैं - वे सब लोग बैठे हुए हैं, दुकान के एकदम भीतर, पाँत-दर-पाँत टेबिल कुर्सी पर जो जितना भीतर घुस सकता है, उतने भीतर। भारत की इन्हीं सब जगहों पर हाट में बड़ी-बड़ी खरीद-बेच सम्पन्न हो जाती है। सिर्फ़ बाज़ार की चीज़ों की खरीद-बेच नहीं, अगले वर्ष कौन ज़मीन, कौन बेचेगा, कौन खरीदेगा, वह सब बातचीत यहीं से शुरू हो जाती है। कल से तो कैम्प है। कल से ही तो लोग प्रियनाथ को लेकर जितना सम्भव है दुकान के भीतर ले जाना चाहेंगे। लाँघकर अगर हो सका तो उस तरफ़ की दीवाल लाँघकर और भी भीतर ले जाना चाहेंगे। कल से? अपना नेग और साइनबोर्ड हाथ में उठाकर और एक बार दुकान की ओर देखकर वह सोचता है, यह डिमडिमी हो जाने के बाद ही तो शुरू हो जायेगा, 'दादा' 'दादा'। ना, आज नहीं। आज, घोषणा हो जाने के बाद यहाँ पर आकर, यहीं बैठकर सभी के सामने वह फिर दोठों नमकीन, एक कप चाय पीकर उठ जाएगा। हाट के लोग देख लें, सेटेलमेंट का पियोन अपने पैसे से चाय-नमकीन खाता है, खा सकता है।

इस बार प्रियनाथ झोला कन्धे पर और साइनबोर्ड हाथ में लटका लेता है। उसके बाद रास्ते के ओने-कोने पार करता हुआ हाट में घुसते समय रास्ते से एक छोटी लकड़ी उठा लेता है।

इधर छावनी के सामान वालों की दुकानें हैं। कोई-कोई छावनी मामिनी की है, एक छावनी टीन की चादर की है और अधिकांश प्लास्टिक की चादरों की हैं। इसी तरफ़ से अपना माल पत्र बाँधे हुए ले आ रहे हैं। इसी को सिर पर भी टाँगे हुए हैं। इनकी अधिकांश दुकानों में कुर्ता-कपड़ा और बनयाइनें, प्लास्टिक के दोनें भरे हुए हैं, फिर कागज़ के डिब्बे भी हैं। ठीक इसके पीछे खुला हुआ बाज़ार है। उसी खुले हुए बाज़ार के प्रारम्भ में खड़े होकर प्रियनाथ डण्डी से टीन के साइनबोर्ड को सामने

कर पीटने लगता है। कैसी तो एक ढप-ढप की आवाज़ होती है। इसीलिए प्रियनाथ उसे पुनः पीटने लगता है। इस बार सामने और बगल के दुकानदार आँख उठाकर उसकी ओर देखते हैं। आगामी कल से क्रान्तिहाट की हाट खुलते ही सेटेलमेंट का हलका कैम्प शुरू होगा। अपने दस्तावेज़ वगैरह लेकर सभी लोग मौजे के अनुसार यथासमय हाज़िर होंगे। 'होंगे' इस शब्द को काफ़ी देर खींचकर, वह अपना कथन समाप्त करता है। फिर से चलने लगता है। दो कदम चलने के बाद उसे याद आता है 'ऑपरेशन वर्गा' की बात तो बतायी ही नहीं गयी है। अर्थात् भूमि के नये बन्दोबस्त की बात अगले स्थान पर वह इसे बताएगा। किन्तु किसी भी तरह वह बात उसके मन में रहना नहीं चाहती है। हलका का मतलब है जोतदारों का मामला। कौन अपनी ज़मीन में बँटवारा कर अपनी लिस्टी (सूची में दर्ज) सेटेलमेंट का काश्तकार बनेगा। प्रियनाथ ने जलपाईगुड़ि शहर से सात मील दक्षिण में पाँचेक बीघा ज़मीन खरीद कर एक वर्ष के लिए उसे अधबटाई पर दे देता है। घर में छह महीने के लिए धान आ जाता है वहाँ से। इसकी अधबटाई पर खेती लेने वाला भी क्या अपना नाम रिकॉर्ड कराएगा?

कपड़ों की कई दुकानों की पाँत के बीच से होकर प्रियनाथ सीधा पश्चिम की तरफ़ जा रहा था। बीच में चौपाटी के बाद दाहिने-बाँये एक मशाले की दुकान है, उधर से एक नाटा व्यक्ति घोड़े पर चढ़ा आ रहा था। घोड़े पर बैठने के बाद भी उस व्यक्ति का सिर बाज़ार की दुकानों के छप्पर तक नहीं पहुँच पा रहा था। शायद फ़ॉरेस्ट के भीतर अथवा चर के खूब भीतर कहीं रहता है। घोड़े के अलावा वहाँ से आने-जाने का और कोई उपाय नहीं है। प्रियनाथ ने थोड़ा हटकर घोड़े के जाने वाले रास्ते को छोड़ दिया। पर हटकर खड़े हो जाने के बाद ही पास से घोड़े का चेहरा देखकर प्रियनाथ के आत्मसम्मान को धक्का लगा। उसे लगा कि घोड़े को चाहिए था कि उसके लिए रास्ता छोड़ दे, नहीं तो इसके बाद तो उसे हर जानवर के लिए रास्ता छोड़कर खड़े होना पड़ेगा। सुतराम घोड़ा उसे पूरी तरह छोड़कर चला जाए इसके पहले ही प्रियनाथ अपने 'हलका कैम्प' साइनबोर्ड से घोड़े को पीछे से एक धक्का मारकर रास्ते पर उतर आता है। उस धक्के से घोड़े की मकर से लेकर पिछाड़ी तक हिल जाती है और पीछे का दाहिना पैर जो प्रियनाथ की तरफ़ था, घुटने से मुड़कर टेढ़ा हो जाता है, मानो वैशाख मास की आँधी में बाज़ार का कोई छप्पर गिर गया हो। प्रियनाथ एक ही उछाल में रास्ते के किनारे हट जाता है। पीछे से घोड़ा लुढ़कता-पुड़कता टेढ़ा-मेढ़ा होकर उसी पर गिर पड़ता है। और तब घोड़ा उसे छोड़कर बायें तरफ़ की दुकान के सामने खड़ा हो जाता है। छतेरे की कहते-कहते प्रियनाथ रास्ते पर आते-आते देखता है, घुड़सवार एक लाठी के छोर पर बँधे झोले को आगे बढ़ा देता है। 'घोड़े से बिना उतर ही बाज़ार करना' इसी को कहते हैं।

मसाले की दुकानों के अन्त में दाँये-बायें बाज़ार फैला हुआ है। वहाँ पर खड़े होकर प्रियनाथ पुनः लकड़ी से अपने साइनबोर्ड को पीटता है। आवाज़ इतनी ढप-ढप हो रही थी कि प्रियनाथ को

एक बार साइनबोर्ड को ऊपर उठाकर टीन की चद्दर की परीक्षा करनी पड़ती है। मानो अपनी कीर्ति की ओर ताककर देखता है। हाट में डिमडिमी पीटने का काम हलका के साइनबोर्ड को पीट-पीट सम्पन्न करने के दौरान वह टीन को एक तरह से फाड़ ही डालता है। कहीं टीन और भी फट न जाए, इस भय से डण्डिया उसमें ज़ोर-से नहीं मारता है। एकबार दायें-बायें देखकर, टीन पर हल्के-से लकड़ी मारता है, मुँह की तरफ़ हाथ उठाकर ज़ोर-से चिल्लाता है, कल से क्रान्ति बाज़ार में सेटेलमेंट का हलका कैम्प लगेगा, आप लोग सामूहिक रूप से दल-के-दल आकर उसमें योगदान करें।

प्रियनाथ की एकाएक ऊँची आवाज़ सुनकर पान और सुखी तमाखू के दुकानदार मुँह उठाकर उसकी ओर देखते हैं। बाज़ार में तो प्रायः अनेक तरह के व्यक्ति आते ही हैं। पुरानी हाट है इसलिए इसमें भिखारियों, पागलों को भी पहचान लिया जाता है। दुकानदार कहीं उसे नया भिखारी या पागल न समझ लें, इस भय से प्रियनाथ अपने साइनबोर्ड के लिखे हुए हिस्से को घूमाकर दिखा देता है। उसके कन्धे पर झोला और सामने साइनबोर्ड है। लोगों को इससे और सन्देह होने की सम्भावना है। इसलिए प्रियनाथ को निश्चिन्त होने के लिए साइनबोर्ड को पुनः देखना पड़ता है। नहीं, उस पर सरकारी निशान बना हुआ है, सत्यमेव जयते, पुछ जाने पर भी उसे देखा जा सकता है। 'सत्यमेव जयते' लेकर तो कोई पागलपन करता नहीं है।

चार

ढोल के बदले माइक

प्रियनाथ ने तो अब यह डिमडिमी पीटना बन्द किया है, वापस जाकर उसे ऑफ़िस का घर-द्वार ठीक है या नहीं, यह देखकर इस साइनबोर्ड को टाँगा भी जा सकता है। अपने इस नये अफसर को वह अभी तक ठीक-ठीक समझ नहीं पाया है। एकदम नया अफसर आया है। विशेष रूप से 'ऑपरेशन वर्गा' (खेतों का बन्दोबस्त कराने के लिए) के लिए सरकार ने नया अफसर भेजा है। सी.पी.एम. नहीं नक्सल। पहले चूँकि नक्सली था, अब अफसर हो गया है। जोतदार को देखते ही नाराज़ हो पड़ता है। जोतदार अपनी खेती को रिकॉर्ड कराना चाहता है। यह देखकर वह सबसे पहले उसका हाथ देखता है। हाथ में कितनी ठेकें पड़ी हैं, यह गिनता है। यहाँ के कैम्प में वह स्वयं ही उपस्थित रहेगा। कई लोगों ने उससे अपने घर में रुकने के लिए कहा है, चाय-बागान के मालिकों ने अपने बंगलों में रुकने के लिए कहा है। यहाँ की प्रथा भी यही है। किन्तु, साहब ने किसी की भी बात नहीं सुनी। यहाँ पर आते ही अगर उसे पता चले कि डुग-डुगी पीटी ही नहीं गयी हैं, तो वह पकड़ा जाएगा। किसी भी हाट में प्रियनाथ ने और किसी को डुग-डुगी पीटने के लिए नहीं बुलाया है। कोई-न-कोई व्यवस्था करना ज़रूरी है।

और अब देरी करने का कोई काम नहीं है। प्रियनाथ एक बार अन्दाज़ से प्रयास कर सोचता

है कि पसरट अथवा लाख आदि की दुकानों की तरफ़ कहीं हो सकता है। मीठे की दुकान के पास की बड़ी दुकान के बाहर टीन का बण्टल जैसे उसने देखा था। वहाँ से अगर एक टीन माँगकर लायी जाए तो वह जल्दी-जल्दी पूरे बाज़ार में एकबार डिमडिमी पीटकर आ सकता है। प्रियनाथ उसी दुकान पर जाने के लिए पीछे मुड़ गया। पर हाट से निकलने के प्रवेशद्वार पर ही देखता है कि बाँयी ओर बड़े ऊँचे स्थान पर मदोन्मत्त लोगों के दल में से एक व्यक्ति ढोल बजा रहा है, और स्त्रियों का एक दल एक-दूसरे की कमर हाथ से घरकर नाच रहा है। वहाँ पर खड़े-खड़े प्रियनाथ थोड़ा सोचने लगता है कि इस साइनबोर्ड को दिखाकर उनकी ढोलक माँगी जा सकती है या नहीं। अगर हाँ, तो फिर ढोलक बजाने वाले लड़के से ही डिमडिमी पीटने के लिए कहना पड़ेगा। उसका अर्थ होगा कि पैसा मेरे हाथ से निकल जाएगा और अगर उनसे यह कहा जाए कि मैं सेटेलमेंट का चपरासी हूँ, अपनी ढोलक दे दो, ढिंढोरा पीटने के बाद लौटा दूँगा? वे लोग निश्चय ही चाय-बागान में काम करते हैं। सुतराम सेटलमेंट के चपरासी की अधिक परवाह भी नहीं करेंगे। किन्तु इससे भी बड़ी बात यह है कि उन्हें यह समझाना होगा, 'तुम अपनी ढोलक दे दो, डिमडिमी मैं पीटूँगा। ढोलवाला नहीं, उसका ढोल चाहिए। किन्तु इस तरह की एक मुश्किल बात समझाने के लिए उसे काफी हिन्दी बोलनी पड़ेगी। और इतने में मदेशी या स्त्रियाँ एक साथ ही हँस पड़ीं। प्रियनाथ पसरट की दुकान की खोज में निकल पड़ा।

इस समय जैसे इस सड़क पर भी बाज़ार फैल चुका है। एक बार झाँककर उसने देख लिया कि उसकी जीप आयी या नहीं आयी। उसके बाद वह उसी मारवाड़ी की दुकान की ओर चल दिया। उसने देखा, उसका अन्दाज़ सही नहीं है बाहर की तरफ़ कैरोसिन तेल की बेरेल हैं। दुकानदार कैरोसिन का थोक डीलर है, शर्मा की दुकान है।

'अच्छा, यहाँ पर पसरट की दुकान किस तरफ़ है?'

'इसी रास्ते से आगे मुड़ जाना, दाहिनी तरफ।'

प्रियनाथ उसी रास्ते पर दाहिनी ओर मुड़ गया। पसरट की दुकान। अनेक टीन हैं। चैन की साँस लेकर प्रियनाथ जैसे बच गया हो।

'दादा, एक टीन देंगे?'

'किसका? डालडा का या बिस्कुट का?'

'एक से ही काम चल जाएगा।'

'फुल साइज़ सात रुपया, हाफ साइज़ चार रुपया।'

'ऐं? नहीं, अर्थात् मैं वापस कर जाऊँगा।'

'वापस दे जाएँगे? पर करेंगे क्या?'

'कल से तो यहाँ बन्दोबस्त का कैम्प लगेगा...'

'कैसा कैम्प?'

'सेटलमेंट का...'

बात पूरी हो इसके पहले ही उस व्यक्ति ने कहा दिया, 'उन सब चीज़ों की मुझे कोई ज़रूरत नहीं है। आगे भी नहीं होगी।'

प्रियनाथ इस पर थोड़ा हक्का-बक्का रह जाता है। वहाँ से हटकर खड़ा रहता है। यह व्यक्ति इतनी बड़ी दुकान चला रहा है बाज़ार में किन्तु इसने यहाँ ज़मीन-जायदाद नहीं खरीदी है? अथवा यह व्यक्ति मालिक नहीं है, कर्मचारी है? प्रियनाथ के मन में एक बार विचार आया कि पूछ ले, आपका मालिक कौन है? फिर वह पीछे मुड़कर ताकने लगता है। किन्तु साहस नहीं कर पाता है, फिर थोड़ी देर खड़े रहकर विवश होकर उसे यह निर्णय करना पड़ा कि साहब से कह देगा कि डिमडिमी पीटी जा चुकी है। उसके बाद अगर साहब को सन्देह होता है तो देखा जाएगा। इस समय तो साइनबोर्ड टाँगकर कमरे को ठीक-ठाक कर लेना ज़रूरी है। इस हाट कमेटी के हाथ में चूँकि किसी को-ऑपरेटिव के तीन कमरे थे, उसी के भीतर दो कमरे कैम्प के लिए मिल गये हैं। प्रियनाथ अब उसी घर को ढूँढ़ने निकल पड़ा। चलते-चलते उसे लगा कि वह अब तक व्यर्थ में ही डर रहा था। साहब को क्या और कोई काम नहीं है जो वे आते ही लोगों से पूछने लगेंगे कि क्या डिमडिमी पिटी है या नहीं? वह तो उस पर भी दो जगह खड़े होकर साइनबोर्ड पीटकर आवाज़ लगा चुका है। मिष्ठान्न की दुकान पर पूछना अच्छा रहेगा कि हाट कमेटी का घर कहाँ है, यही सोचकर वह दुकान के भीतर घुस जाता है। और तभी वह माइक पर धीर-गम्भीर शान्त सुर में सुनने लगता है, 'भाग्य का पहिया तो सदा घूमता ही रहता है। आज जो राजा है, कल वह फकीर बन जाता है। हम लोग भाग्य के हाथ की कठपुतली हैं। पर भाग्य तो सदा खराब ही नहीं बना रहता अच्छा भी होता है। पुरुष का भाग्य देवता भी नहीं जानते स्त्रियों का भाग्य भी देवता नहीं जानते किन्तु बिना कुछ किये आपको भाग्य का फल नहीं मिलेगा। कर्म तो आपको करना ही होगा। पाँच रुपया नहीं, दस रुपया नहीं, मात्र एक रुपया में लॉटरी का टिकिट खरीद लीजिए। हर सप्ताह लॉटरी का खेल एक बार ज़रूर खेलिए। क्या पता, इस बार आपके टिकिट पर ही एक लाख रुपये का फ़र्स्ट प्राइज़ निकल आये। एक रुपये से एक लाख रुपया। लेकिन एक रुपया देकर एक टिकिट तो आपको लेना ही होगा। आप किसी दूसरे के टिकिट पर तो पुरस्कार पा नहीं सकते हैं। आइए। एक रुपया देकर एक टिकिट कटाइए।'

दुकानदार ने उसे बता दिया था, बाज़ार के एकदम पीछे की तरफ़ हाट कमेटी का शेड है। उस तरफ़ जाने के पहले प्रियनाथ लॉटरी टिकिट के रिक्शा की तरफ़ चला जाता है।

'आइए दादा, कितने टिकिट?'

'नहीं, दादा सुनिये, टिकिट नहीं लेना है, एक दूसरा काम है।'

'क्या काम है दादा, बताइए। बात भी बताइए और टिकिट भी खरीद लीजिए। सिर्फ़ एक रुपये में...'

वह लड़का अपनी सारी बातें माइक से ही कहता जा रहा था। किन्तु, प्रियनाथ की आवाज़ माइक पर नहीं सुनी जा रही थी। फलस्वरूप, प्रियनाथ को किस तरह से अप्रस्तुत होना पड़ रहा था। उसने जल्दी-जल्दी कहा- 'मतलब यह है कि कल तो यहाँ हलका कैम्प लगेगा?'

'कैसा कैम्प?'

'हलका कैम्प (भूमि बन्दोबस्त का कैम्प)। सेटेलमेंट का कैम्प। यही ज़मीन आदि की नापतौल होगी। कौन ज़मीन किसकी है, यही सब। इसके अलावा किस ज़मीन पर कौन खेती कर रहा है, यही सब रिकॉर्ड देखा जाएगा। यही बात अगर माइक से कह दी जाए तो सब इसे सुन लेंगे। सभी को इसका पता चल जाएगा।'

'अर्थात् क्या कोई कल्चरल फंक्शन होगा?'

'क्या फंक्शन?'

'हाँ, यानि कोई आर्टिस्ट आ रहा है?'

'अरे, नहीं, नहीं। यह तो सरकारी काम है, कानूनी मामला है, कोई फंक्शन नहीं है।

'तो फिर सभी को यह बात बताने के लिए क्यों कह रहे हैं?'

'हाँ, बताया तो, ज़मीन की नापतौल होगी, रिकॉर्ड होगी, ज़मीन के बन्दोबस्त का अभियान, ऑपरेशन वर्गा।'

'यह तो पार्टी का मामला है सर, हम लोग किसी पार्टी-फार्टी में नहीं हैं दादा। एक टिकिट की कीमत मात्र एक रुपया है। इसके बदले में आप एक लाख रुपया पा सकते हैं। वह लड़का एक-सी आवाज़ में यह घोषणा करता जा रहा है। उसके बाद एकाएक रुककर प्रियनाथ की ओर ताक कर कहने लगा- फंक्शन चाहे न हो, किन्तु लोग तो उसमें आएँगे?'

'हाँ, वे तो उसमें आएँगे ही। सभी लोगों को पता चल जाए इसीलिए तो थोड़ा अलाउंस करने को कह रहा हूँ।'

'वह मैं किये दे रहा हूँ। पर कल मुझे थोड़ा चांस देना होगा। मैं टिकिटों को बेचूँगा।'

'ज़रूर, ज़रूर, वह तो आप लोग कल बड़े सवेरे ही आ सकते हैं।'

'तो फिर बताइए, कैसा कैम्प है?'

'हलका का, अर्थात् इलाका का!'

'हलका? यह क्या दादा कोई नाम है। इसका एक अँग्रेज़ी नाम बता सकते हैं?'

'किसका?'

'इस फंक्शन का।'

'उसे हम लोग कैसे बता सकते हैं? यह तो गवर्नमेंट का नाम है। इसे तो लोग हरदम हलका कैम्प ही कहते हैं।'

'ओह, अच्छा, मैं सोच रहा था यह कोई नयी चीज़ है। गवर्नमेंट की भी तो देखो कितनी नयी चीज़ें हैं तो फिर बताइए मुझे क्या बोलना होगा? 'भाइयो और बहनो, तगदीर एक चीज़ है और तगदीर का खेल और एक चीज़ है।...' लड़के ने हिन्दी में टिकिट बेचने शुरू कर दिये। प्रियनाथ थोड़ी प्रतीक्षा में बना रहता है। उसके रुकने पर कहता है, 'तुम्हें यह कहना होगा, कल से यहाँ पर क्रान्ति हाट में सेटलमेंट का हलका कैम्प लगेगा। आधिकारिक रूप से कौन ज़मीन किसकी है, इसे दर्ज भी किया जाएगा। सभी अपने-अपने दस्तावेज़ वगैरह लेकर उपस्थित रहें। 'धत् दादा, यह सब तो पुलिस जैसा सुनाई देगा। सभी सोचेंगे हम लोग सरकारी आदमी हैं। फिर कोई टिकिट खरीदने आएगा ही नहीं।'

'नहीं, नहीं। यही कहना होगा, ऐसा नहीं है। उसे थोड़ा घुमा-फिराकर कहने से भी काम चल जाएगा। यह जो है, इसे थोड़ा देख लीजिए।' हाथ में कोई एक नोटिस अथवा इश्तहार था। उसी को आगे बढ़ा देता है। लड़का दो-चार लाइन पढ़ते ही उसे उलटकर उसकी खाली पीठ देखता है। उसके बाद फिर छपे हुए अंश को देखता है। फिर उसे उलट लेता है। 'यह क्या दादा, मैं क्या, इसे तो मेरे मामा भी नहीं समझ पाएँगे।' प्रियनाथ जल्दी-जल्दी उससे कहता है, 'यही सब मिला-मिलूकर थोड़ा कह दीजिए, दादा, मेरा बड़ा भला होगा।' वह लड़का थोड़ा रुककर ज़रा सोचने लगता है। उसके बाद कहता है, 'अच्छा सुनिए, मैं कह रहा हूँ, देखिए, इससे आपका काम चल जाएगा या नहीं।' उसके बाद उसी लहज़े में कहता चला जाता है- 'जीवन में सदा कितना कुछ घटता रहता है। सब ही तो नया रहता है। अभी-अभी हमारे एक नये दादा ने हमें एक नयी चीज़ सिखायी है, हलका, हलका (इलाके का कैम्प) कैम्प। कल सवेरे से ही चूँकि इसी क्रान्ति हाट में यह हलका कैम्प लगेगा। आप सब लोग निश्चय ही उस हलका कैम्प में आएँगे। उसमें घूमेंगे। इसके पहले हम लोगों ने कभी हलका कैम्प का नाम नहीं सुना है। वैसे ही कल खेल के अन्त में जब आपके दरवाज़े टेलीग्राफ का चपरासी आकर कहेगा, आपने पश्चिम बंग लॉटरी का पहला पुरस्कार पाया है, तब आप भी कहेंगे कि लॉटरी की प्राइज़ किसी को भी मिल सकता है, यह मैंने पहली बार जाना। इसीलिए तो कहा था कि जीवन में सदा ही तो कुछ-न-कुछ नया घटित होता रहता है। कल लगने वाला हलका कैम्प नया है। उसी तरह आपके लिए फर्स्ट प्राइज़ नया है। किन्तु एकठौ, एक टिकिट तो आपको खरीदना ही होगा। क्यों दादा, ऐसा प्रचार

चल जाएगा?'

'हाँ, हाँ, यह तुमने बहुत अच्छा कहा है। किन्तु हलका कैम्प नया मामला नहीं है। यह तो...'

'अच्छा, अच्छा, इसे मैं सम्हाल लूँगा। ठीक कर दूँगा।'

'और इसे नहीं कहेंगे?'

'चूँकि। माने? क्यों नहीं कहेगा?' अब ऐसा लगने लगा माइक पर कोई नाटक हो रहा है। अथवा कोई झगड़ा भी हो सकता है। दो-एक लोग सिर घुमाकर ताकने लगते हैं। एक व्यक्ति तो आगे चला भी आता है। 'आइए दादा, मात्र एक रुपया के विनिमय में एक लाख रुपया।' किन्तु, वह व्यक्ति टिकिट न खरीदकर मुँह बाये खड़ा रहता है। प्रियनाथ ने देखा कि वह लड़का अब प्रियनाथ की ओर देख भी नहीं रहा है। 'आइए, आइए पश्चिम बंग लॉटरी'- बीच में ही प्रियनाथ कह बैठता है, और यह नहीं कहा कि हलका कैम्प लगेगा, वहाँ यह कहना है कि हलका कैम्प तो लगेगा ही? किन्तु, उस लड़के ने इसका कोई जवाब नहीं दिया। प्रियनाथ को डर लगा कि कहीं यह लड़का यह न कह बैठे कि अब मैं माइक से कुछ भी नहीं कहूँगा। इसलिए प्रियनाथ जल्दी-जल्दी, 'ठीक है, ठीक है' यह कहते हुए वहाँ से आगे बढ़ गया। पीछे से लड़का भी कहने लगता है, 'मैं तो घोषणा किये दे रहा हूँ। किन्तु, हमारा रिक्शा जब कल आपके कैम्प में आएगा तब पुलिस तो कोई झमेला नहीं करेगी?'

'अरे न, न, आप तो मेरे पास चले आएँगे। मैं तो वहाँ रहूँगा ही। प्रियनाथ बाज़ार कमेटी के ऑफिस की ओर चलना शुरू कर देता है। पीछे से वह माइक पर सुनने लगता है, 'जीव का अर्थ तो है कमल पत्र पर जल बिन्दु, किन्तु जो होने वाला है, वह तो होगा ही...'

कैम्प के माने कल यहाँ कुछ भी नहीं, के.वी. (खानापूर्ति करने के लिए, खेतों का मसौदा, फील्ड सर्वे) का काम तो खेतों में होता है, रहने दो, आने दो।

थोड़ा आगे जाकर प्रियनाथ रुक जाता है, लड़का सचमुच में घोषणा करता है या नहीं। अगर नहीं कहता है तब करने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं है। और अगर कहता है तब भी उसके पास करने के लिए कुछ भी नहीं है। कैम्प में लोगों के जमा होने पर लॉटरी का रिक्शा क्यों नहीं आएगा। वह तो अपने आप ही आएगा। उसके बारे में प्रियनाथ को कुछ नहीं करना है। लॉटरी वाला लड़का एक बार भी घोषणा करता है या नहीं, यह जानने के बाद ही वह ऑफिस का कमरा ढूँढ़ने जाएगा।

'कितने दादा?'

'तू बता न कितने टिकिट?'

'तू बता'। माइक पर मदेशिया स्त्री का कोमल मधुर स्वर था।

'ले ले सुन। तू आँख बन्द कर। उसके बाद टिकिट पर हाथ रख दे। जो हाथ में आ जाए उसी को मैं खरीद लूँगा। लो, आँख बन्द कर।' खिलखिल हँसी भी माइक पर बजती रहती है। चाय बागान के शराब में मस्त किसी मजदूर और मज़दूरिनी का यह काण्ड है। 'यह देखो, लॉटरी के टिकिट खरीदने में भी लॉटरी हो रही है। आँख बन्द कर जितने टिकिट हाथ में आ जाएँगे, उतने ही ये लोग खरीद लेंगे?' यह कहकर लॉटरी वाला लड़का रुक जाता है। 'अरे, आप लोग आइए, आँख बन्द कीजिए'- फिर माइक पर खिलखिलाहट की आवाज़।

पाँच

प्रियनाथ के साहब और हाट कमेटी

हाट कमेटी के घर के सामने जीप गाड़ी खड़ी हुई है, प्रियनाथ ने दूर से देखा। साहब आदि लोग आ गये हैं। उसने अपने चलने की गति बढ़ा दी। जल्दी-जल्दी चलने में सबसे बड़ी बाधा उसके सेंडिल थे। इस हवाई सेंडिल की खोल में उसके पैर इस तरह से फँसे हुए हैं कि वह जिस तरह चलता है, उसके पंजे के बाहर सेंडिल का मुख वाला अंश उसके पैरों के पंजों के साथ फड़-फड़ करता हुआ लग सकता है, अगर उससे अधिक ज़ोर-से वह चलने लगे तो सेंडिल उसके पैरों में अटक जाता है। तब अँगुलियों के नीचे सोल का जो अंश होता है वह भी बाहर निकलना चाहता है, मानो सेंडिल उलट कर अँगुलियों के सामने चला जाएगा, अथवा बद्दी से उसकी तल्ली खुल जाएगी। बद्दी जिससे हल्ले से खुलकर बाहर न आ जाए, इससे उसे सेफ़्टीपिन से अटकाया ज़रूर गया है, किन्तु, सोल का वह अंश अगर टूट जाए तो सेफ़्टीपिन भी खुल सकता है। इसलिए अधिक जल्दी होने से सेंडिल खोलकर हाथ में लेना अच्छा है। किन्तु यह दूरी इतनी अधिक नहीं है कि सेंडिल खोलकर हाथ में लेने की ज़रूरत हो। उसने तो सबकुछ नियमानुसार किया है, इसलिए इतनी दौड़-भाग की ज़रूरत क्या है? किन्तु अपने सेंडिलों की वजह से प्रियनाथ ज़ोर-से नहीं चल पाता है। हालाँकि उसके कदमों में तेज़ी-से चलने की गति आ जाती है। दो तरफ़ के खिंचाव से प्रियनाथ के इस तरह से चलते समय उसकी कमर तो आगे आ जाती है और पैर पीछे रह जाते हैं। सेंडिल के साथ पैरों के दुतरफ़ा खिंचाव से घुटनों में बराबर एक मोच-सी आती रहती है, मानो हर बार पैर बढ़ाते समय दोनों घुटने एक बार मरोड़ ज़रूर खाते हैं।

प्रियनाथ के साहब मैदान में एक कुर्सी पर बैठे हुए थे। उनके सामने कुछ दूरी पर एक जीप खड़ी हुई थी। प्रियनाथ पीछे से ही कह उठता है, 'सर, आ गये हैं।' साहब ने गर्दन घुमाकर प्रियनाथ को देखकर कहा, 'अरे प्रियनाथ बाबू, आपने एकदम माइक-टाइक की कहाँ से जुगाड़ कर डाली?'

प्रियनाथ थोड़ा हँस पड़ा- 'तो फिर सर आप लोगों को आए अधिक देर नहीं हुई है। तो सर कमरे वगैरह सब-' कहते हुए वह बरामदे की ओर देखता है। बरामदे में उनके ऑफ़िस के लोग तथा

और भी दो-एक व्यक्ति हैं। बरामदे में चढ़ते-चढ़ते प्रियनाथ ने देखा कि कमरे-आँगन आदि सभी व्यवस्थित हैं। साफ़-सुथरे और धुले हुए हैं। जो भी सामान वगैरह था, एक कमरे के फर्श पर पड़ा हुआ है।

'अरे ओ प्रियनाथदा आपको तो बहुत पहले इसलिए भेजा गया था कि आप यहाँ पर सारा इन्तज़ाम कर रखेंगे, पर यहाँ आकर देखते हैं प्रियनाथदा कि आपका कोई पता ही नहीं है। अन्त में हम लोगों को स्वयं ही सब इन्तज़ाम कर लेना पड़ा।' अनाथ ने कहा।

'पाँच मिनिट पहले भी देखकर गया था सर, आप लोग आए ही नहीं थे। इसी बीच में आप लोग खटाक-से आ गये।' अनाथ की किसी बात का उत्तर न देकर प्रियनाथ ने साहब से कहा। तीनों कमरे एक-के-बाद एक प्रियनाथ देखकर लौट आता है, 'यह तो सारा पक्का बन्दोबस्त किया जा चुका है।'

'वह क्या? यह सब तुमने नहीं किया है? हम लोग सोच रहे थे, तुम्हीं ने यह सब व्यवस्था कर रखी है'- विनोद बाबू ने कहा।

'तो फिर मुझे तो कल ही वहाँ से चल देना चाहिए था, बाबू। आज रवाना हुआ आप लोगों से पहले बस से, और पहुँचा मात्र एक घण्टा पहले।'

'और फिर आपके ये सेंडिल', इस बार पीछे से ज्योत्स्ना ने आकर कहा, 'हम लोग तो सोच रहे थे, आपके न आने पर भी आपके सेंडिल ठीक से आ जाते।'

'रुको, पहले इस साइनबोर्ड को ठीक से लगा लें।' यह कहते हुए प्रियनाथ फिर से बरामदे से मैदान में उतर जाता है। 'अच्छा अभी अपने साइनबोर्ड को रहने दो। इसे तो बाद में लगाया तो भी चल जाएगा। इस समय देखो तो रात का भोजन वगैरह तो बनाना होगा। कल के लिए जो कुछ खरीदना हो उसके लिए बाज़ार भी कर डालो। वहाँ से लौटकर और सब इन्तज़ाम कर लिया जाएगा।' विनोद बाबू ने कहा।

'जी हाँ, चलिए। मैं और प्रियनाथ बाबू बाज़ार का चक्कर लगा आएँ।' यह कहते हुए साहब कुर्सी छोड़कर उठ खड़े हुए। जो भद्र तीन व्यक्ति अब तक पीछे खड़े हुए थे, उन्होंने आगे आकर कहा, 'मेरे अनुरोध को क्या आप थोड़ा स्वीकार नहीं करेंगे? यह तो सर हमारे यहाँ का रिवाज़ है। इसे तो बराबर हम लोग ही करते आए हैं।'

'नहीं, नहीं, आप लोगों ने जितना किया है हमारे लिए उतना ही काफ़ी है। हम सब इतने लोग हैं, सारा इन्तज़ाम ठीक कर लेंगे। अगर कोई असुविधा हुई तो आप लोगों को बता देंगे। आज तो बाज़ार का दिन है, आप लोगों को काम भी होगा।'

'नहीं। वह सब तो हो गया है। किन्तु बात यह है हमारी इस क्रान्ति हाट में किसी बाहर की पार्टी ने, वह सरकारी भी हो सकती है, और मान लीजिए कोई प्राइवेट पाटी भी हो सकती है, किसी भी दिन ऐसा नहीं हुआ कि उसे स्वयं ही रसोई बनानी पड़ी हो। फिर यह तो हमारी प्रतिष्ठा या बदनामी का भी सवाल है।'

भद्रपुरुष प्रौढ़ राजवंशी हैं। वह जब बात कर रहा था, सुहास बड़े मन से उसे सुन रहा था। मानो सुहास उसे देख भी रहा था। यह एक अनुज्ज्वल दाल, बिस्कुट के रंग का कुर्ता, सुहास ने इन लोगों में बहुतों को ऐसा ही कुर्ता पहने हुए देखा है। ये कुर्ते क्या इस तरफ़ तैयार होते हैं या ये बहुत सस्ते हैं? सुहास उस भद्रलोक को अन्त तक सारी बात कह लेने देता है, उसका कारण क्या वह इसके बात कहने के लहज़े को देख रहा था। अपने यहाँ की, इस आँचलिक भाषा को वह किस तरह से भद्र लोगों की भाषा के साथ मिला रहा है। एक बार तो सुहास के मन में विचार आया कि आज रात के लिए इन्हीं लोगों का आतिथ्य मान लिया जाए और कल से अपना बन्दोबस्त करना ठीक रहेगा या नहीं। उससे अकारण तनाव भी नहीं होता। ये लोग भी खुश होंगे और ऑफ़िस के लोग भी खुश होंगे। पैसा भी बच जाएगा। और यह शायद उसके लिए थोड़ा सीमा का अतिक्रमण करना भी होगा। सुहास कोई नीति-वागीश होने की वजह से इनके आमन्त्रण-निमन्त्रण का प्रत्याख्यान नहीं कर रहा है। उसे तो सरकार पैसा खाने-पीने के लिए भी देती है। वह रुपया खर्च कर लोगों के यहाँ खाया जाए। इतनी झँझट वह क्यों करेगा?

असल में, वह डर रहा है कि उनकी आतिथेयता स्वीकार कर ली जाए, इससे आगे चलकर कोई दबाव पैदा न हो जाए। वह अपने लिए इन्तज़ाम कर अन्य लोगों के भोजन के इन्तज़ाम के लिए इनसे कह सकता है। किन्तु इससे भी तो ये लोग जिस-जिस के घर में या जिसकी सहायता से खायेंगे, वे अपने लिए सुहास से कुछ सुविधा ले सकते हैं।

अन्ततोगत्वा उसे यह कहना पड़ता है, देखिए, हम लोगों की भी तो एक प्रतिष्ठा और बदनामी होती है। हमारा काम-काज चलता रहे। हम लोग तो काफ़ी दिनों के लिए यहाँ हैं। सब काम अच्छी तरह निपटाने के बाद हम लोगों को एक दिन आप लोग अच्छी तरह खिला-पिला देना। फिर भी यह बात हमारे ऊपर निर्भर है। मैं कैम्प में ही खाऊँगा। आप इन लोगों से बात कर लीजिए। ये लोग जैसा कहते हैं, इनकी व्यवस्था उसी के अनुसर होगी। चलिए, प्रियनाथ बाबू, आइए 'हाट घूम आए।' सुहास पीछे मुड़कर बाज़ार की ओर रवाना हो गया।

पीछे से विनोद बाबू कहते हैं, 'सर अनाथ भी आपके साथ न चला जाए, अकेला प्रियनाथ...' इस बात का कोई उत्तर दिये बिना सुहास आगे बढ़ जाता है।

छह

प्रियनाथ के साहब और हाट का नाच

यह तो बहुत बड़ा बाज़ार है, है न?' सुहास प्रियनाथ से पूछता है।

'हाँ सर, इस तरफ़ की यह सबसे बड़ी हाट है।'

'यहाँ किस-किस चीज़ की बिक्री होती है, माने फेरीवालों की फुटकर बिक्री या थोक माल की भी बिक्री होती है?'

'मैं ठीक-ठीक तो नहीं बता सकूँगा सर, फिर भी जिस तरह से पहाड़ जैसी सूखी मिर्च और जूट का ढेर यहाँ आता है, इतना माल थोक विक्रेता के अलावा और कौन खरीदेगा?' 'सूखी मिर्च? सूखी मिर्च यहाँ कहाँ तैयार होती है, अर्थात् यहाँ सूखी मिर्च इतनी पैदा होती है,- अब तक सुना तो नहीं था?'

प्रियनाथ ने हाट का एक अन्दाज़ लगा लिया था। वह दुकान पट्टी का सदर रास्ता और इस हाट कमेटी के घर की लाइन, ये दोनों शायद पूरब-पश्चिम में हैं। अब वे लोग उत्तरी मैदान से होते हुए सड़क पर पहुँच जाएँगे, वहाँ से बाज़ार में घुसेंगे। मैदान से होकर थोड़ा आगे बढ़ने पर वे लोग समझ जाते हें कि मैदान में घास तो दिखाई नहीं दे रही है, और अँधेरा होता जा रहा है, फिर थोड़ा आगे बढ़ते ही दिखायी देता है कि मैदान में दो-एक कुप्पियाँ जलने लगी हैं। यहाँ पर हण्डियों की बिक्री हो रही है। सुतराम साहब को लेकर प्रियनाथ थोड़ा और उत्तर की ओर बढ़ जाता है। उन लोगों के घूमते ही ढोलक की आवाज़ सुनायी देती है। क्या यहाँ नाच हो रहा है? ये लोग कितनी देर नाचेंगे?

'नाच रहे हैं, सर।'

'ये कौन लोग हैं?'

'यही चाय बागान के मज़दूर लोग हैं, बाज़ार के दिन इन्होंने भरपेट हड़िया की शराब पी है, अब ढोल बजाकर नाच रहे हैं।'

'हाँ, यहाँ तो चाय-बागान तो बहुत हैं, आदिवासी भी बहुत हैं (आदिवासियों की संख्या)। सुहास बात का अन्त तो नहीं करता है, रुक जाता है। साहब और भी कुछ कह रहे हैं या नहीं, इसकी प्रतीक्षा करते हुए प्रियनाथ कहने लगता है, 'हाँ सर।'

'रुको, ज़रा देखते हैं।' अब उनके सामने नाच था। वे लोग नाच के पीछे खड़े हैं। उनका मुँह हाट की तरफ़ है। नाच का मुँह भी हाट की तरफ़ है। जिस तरह से फ़िल्मों में, तस्वीरों में, सिनेमा में, बिलकुल हूबहू वैसा ही नाच, एक-दूसरे की कमर में हाथ डालकर एक-दूसरे को पकड़कर,

आलिंगनबद्ध की तरह एक ही ताल पर दोनों पैर आगे बढ़ते हैं और एक पैर पीछे करते हैं और इसी आगे-पीछे के बीच में पूरा दल घूमता जा रहा है। इसी तरह से नाचते हुए वे लोग पूरी तरह घूमते हुए घूमते रहेंगे। और जो ढोलक बजा रहा है, वह इस आवेष्टन के दो सिरों के मध्य जो खाली जगह है, जैसा कि फ़ोटो में और सिनेमा में होता है, उसमें वैसे ही ढोलक बजाता जा रहा है। लोगों के सामने कुछ दूर पर बाज़ार की दुकानों की लाइन है, छप्पर वाले कमरे हैं। उनमें रोशनी हो रही है। छप्पर की छाया मानो वातावरण में पड़ रही है। अथवा वहाँ पर थोड़े-थोड़े कुछ वृक्ष भी तो हैं। यहाँ पर सिर पर खुला आकाश है। उसी अधूरे वृत्त के आगे-पीछे होने के समय कभी-कभी आकाश का शेष आलोक आकर पड़ता है, कभी सामने के हाट की छाया से वह वृत्त प्रायः विलीन हो जाता है, नाच का आवर्तन दिखायी दे रहा है, किसी प्राकृतिक घटना की तरह। इतने पास से वे लोग देख रहे हैं, फिर भी ढोलक की आवाज़ ऐसी लग रहा है जैसे वह पहाड़, टीला और गहन जंगल के भीतर से आ रही है। 'सर चलिए न, सामने से नाच देखेंगे, मैं कुर्सी लाये दे रहा हूँ।' सुहास लगभग सिहरते हुए कहता है, 'न, न, नहीं चाहिए, हम लोग हाट चलें...'

सुहास फिर से चलने लगता है। प्रियनाथ उसके पीछे है।

सात

प्रियनाथ के साहब और हाट का माइक

उस मीठे की दुकान में तीन-चार हंडे जल रहे थे। प्रियनाथ ने देखा लॉटरी के रिक्शे पर भी मोमबत्ती का उजाला है, आइए एक रुपये के बदले एक लाख।' सुहास थोड़ा आगे बढ़ गया है, यह देखकर प्रियनाथ दौड़कर लॉटरी वाले के सामने जाकर कहता है, 'इस समय थोड़ा डिमडिमी पीटकर कह दीजिए न दादा, हमारे साहब आ गये हैं।' कहकर फिर वह वहाँ रुकता नहीं है। दौड़कर फिर सुहास के पीछे पहुँच जाता है। 'आप लोगों की इस हाट में कितना ही कुछ घटता रहता है रोज़। जी हाँ, कितना कुछ? दो टिकिट चाहिए, ये लीजिए दादा। यही तो कल यहाँ हलका कैम्प लगेगा...'

प्रियनाथ सुहास को बुलाता है, 'सर'।

'कहिए क्या बात है?'

'हमारे कैम्प का एलाउंस कर रहा है।'

'उसी कैम्प में तो आप सब आएँगे। आप लोगों की ज़मीन पर विचार किया जाएगा। किन्तु, इस हाकिम की अपेक्षा और एक बड़ा हाकिम है। वहाँ पर विचार होता है हमारी तकदीर का, भाग्य का। क्या पता, आपके लिए क्या विचार किया गया है।

'मात्र एक रुपया के विनिमय में आप लोग उस निर्णय को जान सकेंगे। क्या पता, आपको ही शायद एक लाख का प्राइज़ मिल जाए। किन्तु, अगर आप टिकिट नहीं खरीदते हैं तो आपको वह प्राइज़ नहीं मिलेगा।'

सुहास वहाँ खड़े-खड़े यह सब सुन रहा है। उसके बाद वह हँसने लगा। 'यह आपने कैसे जुगाड़ कर ली?'

'सर, देखा कि यहाँ कोई ढोल वाला नहीं है। यहाँ तक कि कोई टीन बजाने वाला भी नहीं मिला। इसीलिए बाध्य हो गया सर, वह राज़ी हो गया, पर उसने रेट थोड़ा हाई लिया।'

'वह तो लेगा ही। माइक पर घोषणा करता है।'

'वह दस रुपया माँग रहा था, मैंने कह-सुनकर उसे सात रुपया पर राज़ी कर लिया।'

'वैसे भी यह कोई अधिक नहीं है।'

'सर, मेरे पास तो इतना रुपया था नहीं। कहा था, आप लोग आएँगे तब दे देंगे।'

'विनोद बाबू के पास से ले आए हो? तो फिर आइए।'

'यही तो भूल गया था सर।'

सुहास ने अपना मनीबेग खोलकर दस रुपया का एक नोट निकाला और कहा- 'इसी समय दे आइए। बाद में विनोदबाबू से लेकर मुझे दे देना।'

'तो फिर आप थोड़ा रुकें सर, मैं अभी दे आता हूँ।' सुहास खड़ा रहा। उसी के सामने प्रियनाथ रिक्शा वाले के उस तरफ़ जाकर खड़ा हो गया। 'दादा, हमारे साहब बड़े खुश हुए हैं। ये दो रुपया रखिए, चाय और समोसा खा लेना।'

लॉटरी वाला लड़का माइक के सामने ही नाराज़ हो पड़ा, 'धत्त, मोशाई, चाय-समोसा अगर खिलाना हो तो आप लाकर खिलाइए न। हमारे हाथ में रुपया क्यों रख रहे हैं?' माइक पर इतनी ज़ोर-से बात होने से प्रियनाथ चौंक उठा। उसने गर्दन घुमाकर देखा, सुहास इसी ओर ताक रहा है।

'अच्छा दादा, अच्छा, कुछ मन में नहीं रखेंगे, इस नोट को तोड़ दें।'

सामने की चाय की दुकान पर जाकर, दो रुपया देकर उसने कहा, 'इस लॉटरी के रिक्शा पर तीन चाय और समोसा भिजवा दीजिए। रुपया देकर, बीस पैसा वापस लेकर इस सबके भीतर प्रियनाथ ने सात रुपया अपनी पॉकेट में रख लिये। 'दादा जल्दी भिजवा देना', यह कहकर सुहास के पास दौड़ लगाकर जाते समय उसके सेंडिल का मुँह मुड़ जाने से उसे थोड़ा चमेटा लग गया। अपने को सम्हाल कर, धीरे-धीरे चलकर कहने लगा- 'सर, उसे चाय और समोसा खिलाने पड़े।' एक रुपया बीस पैसा

उसने सुहास को वापस कर दिये। सुहास बोला, 'इन रुपयों का बिल मत बनवाना। मुझे सात रुपया लेकर वापस कर देना।'

'आप, थोड़ा कह देंगे सर, वह मेरी बात पर विश्वास नहीं करेगा।'

'न, न, करेगा। हम सभी ने तो बाज़ार में घुसते-घुसते माइक पर सुना था।'

'सर, इस तरफ़' प्रियनाथ सुहास को बाज़ार में घुसने का रास्ता दिखाता है।

आठ

हाट कितने तरह के

हाट का लगने, फिर जम जाने और भंग हो जाने की मानो एक बँधी हुई गति अर्थात् एक नियम होता है। किन्तु, सभी हाट एक तरह के नहीं होते हैं। इस तरफ़ चेंगमारी की हाट अथवा बड़दीधी की हाट सप्ताह में एक बार लगती है। मोटेरूप में घर-गृहस्थी की चीज़ें खरीदने-बेचने के लिए। गाँव के लोगों में से ही कोई-कोई दुकान लेकर आते हैं। बड़दीधी की हाट में चा-बागान के मजूर लोग ही सबसे बड़े ग्राहक होते हैं। उनके खरीदने लायक चीज़ें आदि उस हाट में आती हैं। किन्तु वे सब हाटें लगती हैं शाम के समय। उसके बाद शाम के थोड़ी देर बाद ही उठना शुरू हो जाती है। उदलाबाड़ी-लाटागुड़ी हाट इस समय बहुत बड़ी हाट हैं। बस के सड़क के किनारे लगने के कारण जल्दी-जल्दी लगती हैं और देर में भंग होती हैं। नदी पर बाँध बनने के कामकाज के कारण दोनों तरफ़ ही प्रायः पूरे वर्ष मिट्टी-खोदना, पत्थर काटना, इन सब कामों में लोग लगे रहते हैं। इसके अलावा फोरेस्ट के लोगों की भी संख्या कोई कम नहीं है। ६८ ईस्वी की बाढ़ में जो सब फ़ोरेस्ट के वृक्ष और पौधे आदि टूट गये या पानी में बह गये हैं- उन सब फ़ोरेस्टों को इस समय सरकार पूरी तरह खाली किये दे रही है। हो सकता है वहाँ पर अब नयी तरह से वन तैयार किया जाएगा। अथवा इस समय उसे छोड़ रखेंगे। फलस्वरूप पूरे वर्ष ही प्रायः फ़ोरेस्ट के वृक्षों की कटान जारी रहती है। गत कई वर्षों से गाँव में बिजली के लिए शाल के खम्भों की भी बिक्री होती रहती है। उसके लिए भी तो पूरे वर्ष फ़ोरेस्ट का काम लगा रहता है। इसीलिए उदलावाड़ी और लाटागुड़ी की हाट काफ़ी बड़ी है। किन्तु वह भी असल में खरीदने-बेचने की हाट है। व्यापारियों की हाट नहीं है। दोपहर के समय लगती है, उसके बाद चलती रहती है। गत वर्ष लाटागुड़ी की हाट में टीन की छत डालकर साइकिल की दुकान लगायी है इच्छोड़िया ने, बाज़ार लगने के दिन बुधवार और शनिवार को खोलता है। उदलाबाड़ी में तो साइकिल-रेडियो की दुकान पहले से ही चली आयी है। किन्तु चाहे जितनी बड़ी क्यों न हो ये सब हाटें, ग्राहकों की बदौलत चलती हैं। ग्राहकों के हाथ में अगर रुपया है तो समझो हाट

जम गयी। ग्राहकों के हाथ में अगर रुपया नहीं है तो समझ लो बाज़ार खाली। ये सब हाट-बाज़ार दुकान की तरह हैं। किन्तु, हाट कहने से तो यह क्रान्ति की हाट है, धूपगुड़ी की हाट चालसा की हाट समझनी चाहिए। इन सब हाटों में मानो ग्राहक नहीं हैं, दुकानदार भी नहीं हैं, सिर्फ़ हाट ही है। हाट हाट की तरह ही जमेगी और ग्राहक तथा दुकानदार लोग हाट के साथ अपनी सिर्फ़ संगति बिठा लेंगे। अपने को हाट के अनुसार ढाल लेंगे। हाट का भूगोल जिसे पता है, वह गलीकूचे से होकर उसमें घुस सकता है और उससे बाहर भी आ सकता है किन्तु जो उसके भूगोल को नहीं जानता है, वह किसी एक दिशा से घुस सकने के बाद भी, उससे निकलने के समय रास्ता नहीं खोज पाएगा। मानो रास्ता उसे निगलकर बाद में उगल देगा।

ये हाटें कब लगती हैं, इसकी किसी को भनक नहीं लगती है। हाट के वहाँ पर पक्का बाज़ार तो एक रहता ही है। वहाँ पर रोज़ का बाज़ार चलता रहता है। इसके अलावा भी पक्के कमरे, पक्की दुकानें, पक्की गोदामों में राशन, मिठाई की दुकानें, दवाइयों की दुकानें, सूखे मशालों की दुकानें-गोदाम, एफ़-सी-आई की गोदामें और दुकानें, को-ऑपरेटिव की भी तीन-चार और दो-एक किशोर और युवा संघ - ये सब भी तो रोज़ के ही हैं।

धूपगुड़ी हाट के थोड़ा दक्षिण में पंजाबी ड्राइवरों के लिए एक ढाबा भी खुल गया है। ओवरसिंह राय के घर के पश्चिम में पहले के तिंदवारी वाले घर की जगह अब लम्बा, खुला कमरा है। सामने कतारबद्ध खाटें बिछी हुई हैं। बहुत बड़े आकार का एक चूल्हा है। इस शेड के एक कोने में एक बकरा तथा मुर्गा बँधा हुआ है। धूपगुड़ी होकर दाहिने मुड़कर आसाम चले जाते हैं, दूरपाल्ला के ट्रक। ओवारसिंह राय ने वह जगह भाड़े पर देकर सीधे बाँसों का बेड़ा लगाकर अपना घर अलग कर लिया है। उसके बाद घर के उत्तर में बरामदा बनवाकर घर का मुँह ही घुमा दिया है। क्रान्ति, चालसा, मेटेली में ढाबा ज़रूर नहीं है, फिर भी ढाबे के आकार की मीठे की दुकान है और ट्रक हैं। ये सब हाटें, हाटवार के दिन के अलावा भी खूब धूमधाम से लगती हैं।

इसीलिए हाट के दिन यह समझ में ही नहीं आता है कि कब हाट लगती है। आगे के दिन दोपहर से ही बाँसों की गाड़ियाँ आना शुरू हो जाती हैं। ट्रक ज़रूर हरदम बाज़ार का दिन हो, इस पर विचार कर नहीं आते हैं। किन्तु बाज़ार के दिन के पहले गोदामों को तो भरना ही होगा। परिणाम यह होता है कि बाज़ार के दिन के एक दिन पहले के दिन किसी समय से शुरू कर बैलगाड़ियों के आने की किचिर-मिचिर की आवाज़ (चहकने की आवाज़) होती रहती है। प्रायः चौबीस घण्टे उठने वाली यह आवाज़ से ही ऐसा लगता है जैसे अगले दिन लगने वाली हाट पास आ गयी हो। और तभी से मनुष्यों की आवाज़ से धीरे-धीरे वातावरण भारी होने लगता है। वन में पानी बरस जाने के कारण भारी हवा जैसे हमारे गाल का स्पर्श करने लगती है, ये हाटें लगने के पहले से ही उसी तरह मनुष्य

के कण्ठस्वरों से भारी हवा कानों से टकराती रहती है। यह आवाज़ ही हवाई जहाज की आवाज़ की तरह बढ़ती रहती है। शुरू में गुंजन, फिर धीरे-धीरे वही आवाज़ बढ़ते-बढ़ते विलीन हो जाती है और अन्त में फिर वही गूँज। किन्तु हवाई जहाज की तरह यह केवल कुछ मिनिट के लिए तो होती नहीं है, यह तो लगातार चौबीस घण्टे होती रहती है। फलस्वरूप, गुंजन जैसे ही शुरू होती है समझ में आने लगती है, अथवा समझने लायक गूँज हो उठती है। उसके बाद तो वह गूँज अविराम होती रहती है। और बढ़ती जाती है। कब वह उठना शुरू हो जाती है, इसका कोई चिह्न नहीं बताया जा सकता है, किन्तु किसी एक समय ऐसा लगने लगता है मानो पूरी दुनिया में हाट की यही आवाज़ उठ रही है, सिर के ऊपर जहाज की आवाज़ की तरह, अथवा वन के भीतर होने वाली मिल्ली झंकार की तरह। उसके ऊपर वह गूँज किसी एक समय कम होना शुरू होकर जाती है किन्तु, कम होने के उस समय को पकड़ा नहीं जा सकता है। धीरे-धीरे काफी समय में वह कम होती रहती है। सहसा जब खयाल आता है, तब देखने को यह मिलता है कि उसके पहले ही पूरा वातावरण शून्य हो गया है। जैसे रोज़ का चेहरा पुनः लौट आया हो। यह समझ में ही नहीं आता है इतनी बड़ी हाट कब इतनी सूनी हो गयी है।

प्रायः इन सब हाटों का प्लान एक जैसा ही होता है। सदर रास्ते के दोनों तरफ़ पंक्ति-दर-पंक्ति कतारबद्ध घर और दुकानें। हाट सदा उन्हीं सब घरों के पीछे हो जाता है। दो दुकानों के बीच में जो फाँक होती हैं, उन्हीं के भीतर से होकर हाट में घुसा जा सकता है जहाँ से एकसाथ दो व्यक्ति सटकर घुस नहीं सकते हैं। इन फाँकों से होकर हज़ार-हज़ार मनुष्य भीतर घुसकर बैठे रहते हैं। बैल गाड़ियों के भीतर जाने का एक और रास्ता होता है। उससे होकर वे हाट के पीछे जाकर खड़ी हो जाती हैं। हाट के कारण ही जो दुकानें हाट के आगे आकर सदर रास्ते के सामने लगी रहती हैं, वही दुकानें मानो हाट को दबाकर मुख्य दुकानों के रूप में रहना चाहती हैं। मिष्ठान्न की दुकानों के बाहर तखत के ऊपर सफ़ेद चद्दर बिछाकर जलेबियों का पहाड़ लगा रहता है। कपड़े और गमछा की दुकानों और बरामदों में कपड़े और गमछे लटकते रहते हैं। यहाँ तक कि साइकिल की दुकान में रखी साइकिलें भी दुकान से उठकर रास्ते में आ जाती हैं। और इन सबसे घनी आड़ से मनुष्य का साँझा स्वर प्रबल हो उठता है। उन कण्ठों की किसी आवाज़ का कोई अर्थ नहीं किया जा सकता है, किसी एक ध्वनि को अलग भी नहीं किया जा सकता है, सारी आवाज़ें एक ध्वनि का प्रवाह हो उठती हैं, लगभग नदी के प्रवाह की तरह। नदी प्रवाह की तरह नेपथ्य में विद्यमान वह प्रबल ध्वनि समूह अपने उच्चतम कोलाहल के बल पर एक अस्तित्व प्राप्त कर लेता है और आघात-पर-आघात से हाट के बाहर स्थित इन दुकानों की पाँत को भी हाट के अन्तर्गत कर डालता है। दुकानें भी हाट के भीतर प्रवेश कर जाती हैं।

नौ

कैसी है यह हाट

सन्ध्या के बाद हाट को एक चेहरा मिल जाता है। पूरे दिन हाट जितना हो सकता है, खुलता रहता है, शाम होने के बाद वह जितना हो सकता है छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होता रहता है। और ये टुकड़े तैयार होते हैं, उज्ज्वल आलोक केन्द्रों को घेरकर।

इस समय इस हाट की थोक बिक्री वाले बाज़ार की दिशा मानो खाली है। पशुओं को बेचने की हाट की दिशा तो इस समय लगभग अँधेरे में हैं। मिट्टी की हड़िया, कलसा बिक्री का विराट इलाका हाट की पश्चिमी सीमा में फैला हुआ है। उसमें सिर्फ़ ग्राहक नहीं है, केवल यही बात नहीं है, दुकानदारों में भी कुछ उठने लगे हैं। साग-सब्ज़ी के बाज़ार में भीड़ है, अन्तिम छोर पर घरेलू हाट के लोगों की भीड़ है, सस्ते में अनेक प्रकार की चीज़ें इस समय मिल जाती हैं। वस्त्रों की दुकानों पर भी भीड़ लगी हुई है, विशेषकर नाइलोन की गंजी की दुकानों पर।

उजाला कहीं अधिक है और कहीं कम, इसी दृष्टि से हाट को कई भागों में बाँटा जा सकता है। एकदम उत्तर में, एक कोने में, एक छप्पर वाले कुमरे में चाय की दुकान का मुँह हाट की तरफ़ है। वहाँ पर हण्डा जल रहा है। छप्पर वाला घर, मानो हाट की यहीं से शुरुआत है। किन्तु, उसका बाहरी भाग जितना साफ़-सुथरा दिखायी देता है, भीतर उतना साफ़-सुथरा नहीं दिखता है। सामने खड़े होते हुए भी मनुष्य को ऐसा लगता है जैसे भीतर के अँधेरे से कोई बाहर के आलोक की दिशा में ताक रहा है। चेहरे और कुर्ते का एक-एक अंश थोड़ा उज्ज्वल और बाकी का भाग अँधेरे में विलीन हो जाता है। सामने कितनी ही बेंच पड़ी हुई हैं। उन पर भी कई लोग बैठते हैं। उनकी भी छाया उस छप्पर छाये घर के भीतर पड़ने से भीतर और भी अँधेरा हो जाता है।

उसके सामने अँधेरे का कुछ इस तरह का विस्तार है, ऐसा लगता है मानो पानी पर ही यह चालाघर बना हुआ है। उस कुछ अँधेरे को पार कर लो तो लम्बी कतार वाली रोशनी की गलियाँ हैं। दो गलियाँ हैं या तीन, समझ में नहीं आता है। किन्तु हर दुकान में हण्डा होने के कारण ऐसा लग रहा है जैसे वहाँ बड़ी खरीद-बेच हो रही है। कपड़ों की दुकान है। सभी दुकानों में रोशनी सिर्फ़ हण्डों की ही नहीं है, कहीं-कहीं बीच-बीच में गैस की लालटेन का भी उजाला हो रहा है। हण्डों का लाल आलोक पुंज के बीच में गैस की नीली शिखाओं और उन शिखाओं से विकीर्ण होने वाले आलोक का वृत्त किस तरह से एक डिज़ाइन-सी तैयार किये दे रहा है।

उस आलोक के अनेक रंगों के मिश्रण के ऊपर फिर कुप्पी का जलना अन्धकार के चक्र के बाद इस कपड़ों के बाज़ार के समकोण पर मिट्टी के बर्तनों का बाज़ार है। पंक्ति-दर-पंक्ति उल्टी हण्डियों के ऊपर कुप्पी रखी हुई हैं। लाइन में - जैसे पानी के भीतर रेत के निशान रहते हैं,

एक-के-बाद एक। कुप्पी के उजाले के घेरे के बीच-पकी मिट्टी का लाल रंग है। वैसे ही पक्की हुई मिट्टी का लाल छोंहा वृत्त है। एक-के-बाद-एक, एक-के-बाद-एक काफ़ी दूर तक। लम्बी पाँत की निर्जनता में कुप्पी की शिखा काँप रही है मिट्टी की हड़िया पर लालछोंहा वृत्त डोलता है, गोल-गोल नपी-तुली छायाएँ हाण्डी के वर्तुल पर छलकी-छलकी पड़ रही हैं - मानो अन्धकार जल की तरह तरल है। फलस्वरूप ऐसा लगता है मानो यह दृश्य सजाया गया है। अथवा यह मानो हाट के भीतर का दृश्य नहीं है।

बर्तनों के हाट के बाद ही पशुओं का हाट है। पूरी तरह अँधेरे में, एकाध टॉर्च की रोशनी बीच-बीच में चमक जाती है। एक तरह के रँभाने की आवाज़ अँधेरे से उठकर अन्धकार में ही विलीन हो जाती है। पुकार का अन्तिम अंश एक गूँज में बदल जाने से विलीन हो जाता है। पशु बाज़ार का कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा है। किन्तु सहसा इस 'हम्बा' पुकार से कैसे तो लगता है, पशु बाज़ार में व्याप्त अँधेरे में कीचड़-पानी में पैर डूब जाने से नीरवता में पशु-पक्षी, मोर, मुर्गे, बत्तख, कबूतर तथा बकरे और अन्धे हो जाते हैं। वे लोग ऐसे घने अँधेरे में धीरे-धीरे अन्धे और मूक होते रहेंगे।

पशु-बाज़ार को दाहिने ओर रखकर बायीं ओर मुड़ जाने पर, फिर एक समकोण पर थोड़ी ऊँची जगह पर धीरे-धीरे दक्षिण से और दक्षिण की तरफ़ फैला हुआ है इस हाट का सबसे बड़ा बाज़ारः थोक बिक्री का बाज़ार। इस समय यह विस्तार समझ में आता है, सम्भवतः यह जगह निर्जन, ऊँची होने की वजह से, क्रमशः उत्तर से दक्षिण की ओर और निर्जन, ऊँची होते जाने की वजह से विस्तृत लगती है। इस समय वह स्थान समझ में आ रहा है, सम्भवतः वह स्थान एकदम सूना और खाली होने की वजह से क्रमशः अधिक सूना, फिर जितना दक्षिण की ओर देखा जाए, उतना अधिक सूना और खाली। इस जगह के बीच में या अन्त में कहीं भी और अधिक उजालेवाली दुकानें या बाज़ार नहीं है। फिर इसी जगह पर फैली हुई कुप्पियाँ, मोमबत्तियाँ और लालटेनों का प्रकाश ऐसा लगता है मानो नदी के भीतर फैली रोशनी जलती हुई नावों की नदी हो। वह एक ही तरह की उज्ज्वलता का आलोक इतनी व्यापक, खाली, सूनी जगह भर में फैला हुआ है। झाड़ की रोशनी बार-बार पड़ने से मिट्टी उज्ज्वल होकर चमक रही है। फिर भी वर्षा होने के कारण काली है। और उस पर छोटे-छोटे ढेर, अधिकतर सूखी मिर्चों के, बहुत-से तो आलू के ढेर हैं, ऐसा लग सकता है सूखी मिर्चा और आलू ही जैसे इस तरफ़ की मुख्य चीज़ें हैं। थोक बाज़ार में आलू और सूखी मिर्च, बीच-बीच में खाली जगह में प्याज़ के ढेर फैले हुए हैं। एक-एक ढेर के लिए काफ़ी जगह छोड़ दी गयी है। खरीद-बेच के लिए काफ़ी जगह की ज़रूरत पड़ती है। बीच-बीच में चार मोटे बाँसों पर बड़ी-बड़ी तराजुएँ लटकती रहती हैं। विराट साइज़ की उन तराजुओं के एक पल्ले पर बाँटों का भार रखा रहता है। और एक तरफ़ का पल्ला हवा में झूलता रहता है। मोमबत्ती और कुप्पी की शिखा के आलोक से ये काठ के

विराट पल्ले और नाइलॉन की लम्बी रस्सी की अत्यन्त विशाल छाया घूमती रहती है। थोक बाज़ार की पूर्वी सीमा तक, बाज़ार की ओर मुँह किये लगी रहती है जूट की हाट। एक पाँत इसी तरफ़ को मुँह किये हुए। उसके पीछे का भाग मैदान में ही फैला हुआ है। वहाँ पर जूट लादें हुए बैलगाड़ियों की लाइन। गाड़ी से ही बिक्री। इस समय भी गाड़ी हैं और बैलगाड़ियों के बीच से तथा आगे-पीछे से लोगों का आना-जाना है। बैल गाड़ियों के पहियों की फाँक से भी देखा जाता है, उस तरफ़ के कुछ मानुसजनों का बैठे रहना अथवा चला-फिरी करना। जूट बाज़ार की बैलगाड़ियों पर बहुत-सी लालटेनें हैं। फिर सड़क से होकर जाना पड़ता है, बीच-बीच में सिर्फ़ टोर्चों का उजेला हो उठता है।

थोक बाज़ार की दिशा में मुँह किये हुए लगी, जूट हाट की पहली लाइन के अन्त में दक्षिणी सीमा पर ज़मीन के ऊपर ही पड़े हुए हैं हल और हल में लगने वाले हल के फार। हल ही अधिक हैं, फ़ोरेस्ट की बिना पैसे की लकड़ी से बने - काफ़ी बड़े, मज़बूत हल। छोटी गली के ऊपर पड़ी हुई हैं चाय बागान की चौराई और कलमी लता को काटने की छुरियाँ, हसिया, कुदाल और फावड़ा। उसके पास ही लुहार के द्वारा तैयार हँसिया, कुदाल और हथौड़े - बड़े साइज़ के। किन्तु गिनती में अधिक नहीं हैं। आजकल टाटा कम्पनी के कुदाल और कुल्हाड़ी लोहे की दुकान पर मिलने लगे हैं। उनका वजन भी अधिक होता है और उनकी धार भी अधिक होती है, दाम भी अधिक होते हैं। उसके भी पास में प्रायः अंधेरे में कुछ चेयर, टेबिल, जालीदार कुछ छोटी अलमारियाँ, यहाँ तक कि शीला लगी हुई ड्रेसिंग टेबिल भी अत्यन्त चमकदार, पॉलिश की मोम का आलोक भी फिसल जाए, रखी हुई है। आपाततः ऐसा लगता है कि शायद हाट यहीं समाप्त हो गया है। किन्तु उसके भी बाद, अँधेरे मैदान से दुर्गन्ध आ रही है। थोड़ी नज़र डालते ही लोगों का आना-जाना भी समझ में आ रहा है। खाद की एफ.सी.आई. की यूरिया और मिलावटी खाद का चोर बाज़ार है। शाम के बाद ही लगता है। थोड़े समय में ही पूरी खाद बिक जाती है।

खाद की हाट के पास पहुँचा नहीं जा सकता है। गन्ध से ही उसका आभास मिल जाता है। ऐसा लगता है जैसे अन्धकार की तरफ, उसी गन्ध को सूँघते हुए ताकते रहने पर ऐसा लगता है, ऐसा लगता रहता है - दूर-दूर अँधेरे में, मैदान-मैदान में, और दूर-दूर हाट फैलती चली जा रही है। अन्धकार से वेष्टित उसी मैदान के भीतर से आवाज़ उठती आ रही है, दबी हुई प्रतिध्वनि की तरह किन्तु धारावाहिक रूप से। जैसे बाँस के ढेर पर गाड़ियों भर बाँस फेंकने की आवाज़ हो। उस दबी हुई आवाज़ को अगर एक बार सुन लिया जाए तो फिर वह आवाज़ कान में आती ही रहती है। रुकती नहीं है। हो सकता है ट्रकों पर बाँस लोड हो रहे हों- टिटागढ़ कागज़ के कारखाने के लिए। हो सकता है फ़ोरेस्ट को सप्लाई करने का काम मिला हो किन्तु अधिकांश भाग तो कंट्रेक्टर का है। वह फ़ोरेस्ट से भी खरीदता है और किसानों से भी खरीदता है। नहीं तो गाँव के बन्दरगाह की हाट में बाँस की हाट कभी

न लगता। फिर ऐसा भी हो सकता है, यह बाँस की आवाज़ ही न हो। इस तरह की लगातार होने वाली आवाज़ अन्धकार में अनेक कारणों से उठ सकती है। हो सकता है, दिन में भी उठती रहती हो। और अँधेरे में ही अधिक सुनने को मिलती है। तिस्ता नदी किस तरफ़ है? कितनी दूर है? तिस्ता की बाढ़ में जंगल के कोई शाल-सागौन टूटकर गिर पड़े हैं। इस समय रात में उन्हीं को टुकड़ों में काटकर निकलते आ रहे हैं। हो सकता है, वह कुल्हाड़ी से काटने का शब्द हो। अथवा इस समय, शाम को, दूर के उस हाईवे से होकर ट्रक-बस जाने की आवाज़ ज़मीन को कँपाती हुई आ रही है। अथवा, पहाड़ के ऊपर की कोई बाढ़ नेवड़ा नदी से होती हुई इस समय बहती जा रही है - दोनों किनारों को धक्का देती हुई और भी वेग से और भी तेज़ी-से। कहीं लुड़कते हुए पत्थर गिरे हों। अथवा चाय बागान के जेनरेटर की आवाज़ वन, नदी में प्रतिध्वनित होती हुई चक्कर काट रही है? कुप्पी और मोमबत्ती, गैस और झाड़ के प्रकाश में बाज़ार में भरे मनुष्यों के आकार काफ़ी बड़े हो गये हैं। यहाँ पर अँधेरा ही मुख्य है। बीच-बीच में प्रकाश की छुअन, फिर किसी-किसी फाँक अथवा खाली स्थान से होकर दो-एक बार दिगन्त या किसी अन्यमनस्कता में आकाश अगर नज़र में आ जाए तो वहाँ फैला हुआ अन्धकार ही दिखायी देता है। रोशनी के अनेक वृत्तों में भी उजास नहीं है। किसी मवेशिया रमणी की पीठ से कपड़े द्वारा बँधे बच्चे का सिर हिल जाता है, ऊपर ही जागा रहता है लाल और कुछ अस्पष्ट रंग का जंगली फूलों का झाड़, काले केशों में। काला मुख अँधेरे के साथ किसी अनिश्चित परिप्रेक्ष्य में जाकर मिल जाता है। नाइलॉन की उज्ज्वलता फिसल जाती है किसी रागड़े आदिवासी की छाती से। धनुष का एक सिरा दिखायी देता है। राजवंशी रमणी की फतुई के ऊपर उठ आता है नग्न हाथ, गला और कन्धा। अन्धकार में चमक जाती है उज्जवल काले रंग की आदिवासी रमणी की झकाझक्क दन्त-पंक्ति। कहीं भी क्रूरता घट सकती है। वटवृक्ष की पिण्डी की तरह असारदर्शी मुगलों जैसा मुख खाल की असंख्य झुर्रियों के साथ नदी के रेत की तरह जागा रहता है। कहीं-कहीं ज़मीन जोती जा चुकी है। भेदहीन नुकीली पहाड़ी की चबुक पर पार्श्वमुख की धार। टीले की चौआी से समतल मैदान देखा जा सकता है। इस हाट की खरीद-बेच शेष हो जाने पर अब सिर्फ़ मानो भीड़ का ही चेहरा बहुशत वर्ष के आदिवासी घराने के मुखौटे से अलंकृत उस चेहरे पर सिर्फ़ विस्मय या विस्मय का अवसान। रूपरेखा, रंग और अंग संस्थान में कोई नवीनता नहीं है, एक मुखौटे से दूसरे मुखौटे को अलगाया नहीं जा सकता है। यद्यपि अनिवार्य रूप से हर मुखौटा अलग हो जाता है। लम्बी-लम्बी इस छायापात से उस मुखौटे की क्षणिकता यद्यपि उसकी अत्यधिक निश्चितता से विद्युतचमकित अरण्य का आभास मानो खेल-खेल जाता है। या कभी-कभी विद्युत चमकने के लिए अरण्य के अन्धकार की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस प्रतीक्षा से ही नाच, गान में पहाड़ की प्रतिध्वनि की क्षीणता आ जाती है। एकाकी ढोल में बोल उठने लगते हैं। कोई विस्मृत निर्झर बहकर चला जाता है। और यह भीड़ और सौदा, और खरीदना, बेचना, और भीड़ और सौदा के भीतर विलीन हो जाने

पर भी, विलीन नहीं हो पाती है, भीड़ होकर भी भीड़ रह नहीं पाती है, और एकबार मेले में आकार भी मानो खो जाना और लौट जाने की तरह विषादग्रस्त, आत्मविस्मृत, विच्छिन्न चेहरे, चेहरे और चेहरों की कतारें।

दस

हाट की आड़ में हाट

हाट की पूर्व दिशा से उत्तर दिशा को घेरती हुई जो सड़क मुड़ गयी है, उसी समकोण पर ही तो यह हाट लगी हुई है। हाट के पास कतार-दर-कतार दुकानों ने हाट को सड़क से आड़ में कर दिया है। अधिकांश दुकानों के मुँह सड़क की तरफ़ हैं। दो-एक दुकानों के बाद ही एक फाँक है - हाट से बाहर निकलने के लिए। इस तरह फाँकें और खाली जगहें बहुत हैं।

वैसे ही एक फाँक के पास में दुकानों की दो कतारों के बीच में जूट हाट के भी उत्तर में एक लम्बी ज़मीन पर हाट की आड़ में हाट है। खूब पास में कतार में कुप्पियाँ जल रही हैं। एक तरफ़ उस कुप्पी का आलोक बाहर नहीं निकल पा रहा है। झुके हुए मनुष्यों के चेहरों और आँखों को ही आलोकित कर पाता है। और एक ओर की शिखाओं में कोई आड़ ही नहीं है। मानो तेज़ हवा के झोंकों से कभी भी बुझ सकती हैं। सट्टा, जुआ, डुगडुगी खेलना चलता रहता है। जगह काफ़ी लम्बी है। जुए की टेबिल ज़मीन पर अथवा स्टूल के ऊपर रखे हुए हैं लाइन लगाकर, मानो बैठने के भीतर एक योजना है। किसी तरह की बातचीत या आवाज़ सुनायी नहीं देती है। कोई-कोई खड़े होकर इस टेबिल से उस टेबिल पर ताक-झाँक कर लेते हैं। अधिकांश लोग नीचा सिर कर खेल रहे हैं। जगह मानो अन्धों की तरह है। कोई कुछ देख नहीं रहा है। शाम होने के साथ-ही-साथ यह गैर कानूनी हाट लग गया है। असली हाट उठ जाएगा और यह हाट जब तक इच्छा हो, चलता रहेगा। किन्तु गैर कानूनी होने के कारण ही इसमें एक तरह की जल्दबाजी का भाव आ जाता है। सभी लोग एक जल्दबाज़ी के साथ अपना खेल समाप्त कर लेना चाहते हैं। और एक तरफ़ अल्मोनियम की देगची और ग्लास लिये कतार-की-कतार महिलाएँ बैठी हुई हैं। देगचियों के ऊपर गमछे के ढक्कन हैं। हर देगची को घेरकर भीड़ लगी हुई है। हड़िया अथवा बनायी हुई शराब। किसी भी शराब में धुत्त व्यक्ति की लड़खड़ाते हुए चीख पुकार नहीं हो रही है। खूब दबे स्वर में। लगभग फुसफुसाते हुए, आवाज़ में लटपटाहत, ठीक से समझ में नहीं आती है। किन्तु आवाज़ एक अतृप्त आकांक्षा की तरह सुनायी देती है।

ज़मीन से कोई उठने की कोशिश कर रहा है, अब तक वह ज़मीन पर लोट रहा था। घुटनों के बल उठकर उकड़ूँ बैठ जाता है, दोनों घुटनों पर दोनों हाथ लगाकर बलपूर्वक उठना चाहता है, किन्तु फिर बैठ जाता है। फिर सीधा होकर उठने की कोशिश करता रहता है, उसका सिर थोड़ा चक्कर खाता रहता है, थोड़ा हिलता है, फिर खड़े होकर अँधेरे की ओर ताकता हुआ कहता है, 'देखो, देख

लो, दे...खो, देखो, भाइयों, बहनों, देखो, हम, उठकर खड़ा हो जाऊँ। खा...आ...आ...ड़ा।' इस तरह खड़े होने और खड़े होने का विचार बरकरार रखने में, उसे थोड़ी मेहनत करनी पड़ती है जिससे उसके पैर न लड़खड़ाएँ, उसका सिर चक्कर न खाए, न ऊकाँ डोल हो, उसे सम्हालने के लिए सिर्फ़ अपनी थोड़ी कमर हिलानी पड़ती है, कमर से लेकर गले तक उसकी देह का पूरा भाग चक्कर खाने लगता है। परिणाम यह होता है कि उस अँधेरे में उसका वह एकाकी अनन्य प्रयास चलता रहता है। वह सख्त और सीधे पैर फैलाकर खड़ा हुआ है, सिर सख्त, सीधा, बीच का पेट, छाती कभी-कभी मानो टूटकर अलग हो जाना चाहती है, किन्तु, कमर हिलाकर उन्हें सम्हालना पड़ता है। इसी सम्हालने के वक़्त कोई पैर सम्भवतः घुटना मुड़ जाना चाहता है, किन्तु उस समय पेट के झूलने को उरूस्थल में लाकर उरूस्थल को भी थोड़ा हिलाकर उस टूटने को रोक लेता है और इसी के साथ उस स्थिर सिर के लटपटाते उच्चारण से वह चुनौती देता हैः 'कौन कहता है मैं नशे से मतवाला व्यक्ति हूँ। कभी नहीं। हमने कभी मतवाला होना नहीं सीखा। यह देखो। अच्छी तरह देखो। हम इन दोनों पैरों पर खड़ा हूँ। यह देखो। पक्की तौर पर देखो। हमारा यह सिर भी सीधा है। तब भी मैं मतवाला हूँ? कभी नहीं? यह देखो, हम परेड करेगा। रेडी, वन, टू, थ्री, लेफ़्ट-राइट' - वह व्यक्ति अपने दोनों पैर अधिक उठा नहीं पाता है। इतने से ही उसका पूरा शरीर उलट पड़ता है और वह ज़मीन पर गिर जाता है। वहीं लेटा रहता है।

फिर कुछ क्षण बाद वह व्यक्ति घुटनों के बल उठता है किन्तु बैठ नहीं पाता है। घुटनों और हाथों के बल चलता हुआ हड़िया की इस पाँत की ओर ही आगे बढ़ता जाता है। उसके बाद एक जगह जाकर रुक जाता है। घुटनों और पैरों के बल उखडूँ होकर बैठ जाता है। फिर खड़े होने के लिए दोनों घुटनों पर दोनों हाथों को रखकर ताकत लगाता है पर उठ नहीं पाता है अथवा उठने का प्रयास भी नहीं करता है। वहीं से अँधेरे की ओर ताकते-ताकते कहता है, 'देखो, हमने परेड भी कर ली, अभी हमको एक गिलास और दो, मैं मतवाला नहीं हूँ, हे डायना एक गिलास और दे, हे डायना हमको एक गिलास ज़रूर देना...'

जो महिला गिलास भर-भर कर हड़िया दे रही थी, उसके पास जाकर वह व्यक्ति खड़ा हो जाता है। जो लोग पी रहे थे, उनमें से कोई भी उसकी तरफ़ देख भी नहीं रहा था। महिला के पास जाकर बैठने का प्रयास करता है किन्तु दोनों पैर मोड़ते ही ढुलक पड़ता है। उसके बाद एक बार लड़खड़ाहट न सम्हाल पाने के कारण धम्म से गिर पड़ता है। ज़मीन पर सीधा बैठकर फिर वह उसी महिला की ओर हाथ बढ़ाकर कहता हैः हे डायना, हम ज़रूर पियेगा, पैसा ले, दारू दे।' वह महिला उसकी ओर मुँह किये बगैर दाहिने हाथ का एक धक्का देती है जिससे वह व्यक्ति एकदम लुढ़क पड़ता है। फिर वह उठ नहीं पाता है। हवा की तरह फिर वह बुदबुदाते हुए एक ही रट लगाये रहता है, 'जापानी टेरीलिन, साठ रुपये' का पेंट पीस, सीको घड़ी, बायें हथेली पर खोलकर रखी हुई घड़ी के रेडियम

की विदेशी चमक से अँधेरे में आदिवासी चिबुक का सुगढ़ आकार। वह व्यक्ति मुट्ठी बन्दकर डालता है। रेडियम की आभा बुझ जाती है। चिबुक का आकार अँधेरे में विलीन हो जाता है। हवा में गूँजता रहता है, 'जापानी, होंगकोंग, मेडइन यू.एस-ए.।' सट्टा और जुए भी भीड़ बड़े खेल रही है। और चक्र थम जाने पर, अथवा डुगडुगी उठा लेने पर अथवा लूडो की गोटों की तरह गोटें फेंकने पर एक बार समवेत स्वर में हिस् की ध्वनि उठती है और फिर दबी हुई हिंसात्मक नीरवता।

जुए के बोर्ड पर कुछ दिखायी नहीं देता है। कुप्पी की शिखा लोगों के चेहरों पर दमक रही थी, लकलक कर रही थी, फिसली जा रही थी। हाट के दूरदृश्य की तरह नहीं, अत्यन्त निकटवर्ती दृश्य की तरह। इतने निकट कि हाथ-पैर नहीं देखे जा सकते हैं, सिर्फ़ मुख अथवा भ्रू-रेखाएँ अथवा माथे का सपाट अंश अथवा काली, चमकती नाक का एक पक्ष। सट्टा बोर्ड की कुप्पी के आलोक में पहचाना नहीं जा सकता है। सट्टाबोर्ड के मालिक का चेहरा नेपाली, राजवंशी, मेच, कोच, गभी में से कोई कुछ भी हो सकता है, पीछे से अगर देखा जाए तो खोपड़ी सन्थाल के लम्बे ढाँचे की भी दिखायी दे सकती है।

ग्यारह

हाट की सामाजिकता

मुख्य सड़के के दोनों तरफ़ हण्डों की रोशनी, दाहिने हाथ पर थोड़ी दूर एक इंटर प्रोविंशियल ट्रक खड़ा हुआ है। बायें चाय की दुकानों पर लोगों की ठसा-ठस भीड़ है। दायें-बायें ताक कर सुहास मानो हाट के नक्शे का एक बार फिर से अन्दाज़ लगा लेता है। सुहास मीठे और चाय की दुकानों की तरफ़ बढ़ जाता है।

बाहर की बेंचों पर उसकी बैठने की इच्छा थी। किन्तु वहाँ पर इस समय बड़ी घनी भीड़ है। अखबार के टुकड़ों पर जलेबी और नमकीन रखी हुई है। अधिकतर लोग चाय बागान के मजूर और मजूरदारिन हैं। यहाँ की भाषा में इन्हें 'मदेशिया' कहते हैं। कई मजूरिनें स्वयं भी खा रही हैं और तोड़-तोड़कर गोदी के बच्चे को भी खिला रही हैं।

सुहास को भीतर जाकर ही बैठना पड़ता है और भीतर ही जब बैठना है तब अन्त में जाकर बैठना ही अच्छा है। सनमाइका की हाईबैंचें। सामने भी बैंचें हैं, कहीं-कहीं मोड़ने वाली कुर्सियाँ भी हैं। सुहास एक मुड़ने वाली कुर्सी पर अलग होकर बैठ जाता है। उसके सामने की और बगल की सारी बैंचों पर लोग बैठे हैं। सुहास की चाय पीने की इच्छा है। यद्यपि वह यह समझ सकता है कि यहाँ की चाय एकदम न पीने योग्य होगी। किन्तु इतने भीतर बैठकर चाय पीनी चाहिए या नहीं, यह वह नहीं समझ पा रहा है। लड़के के आने पर उसने कहा, 'एक कप चाय ही दीजिए, बाद में कुछ लेना होगा, तो बता दूँगा।'

किन्तु लड़का प्रायः कहने के साथ-ही-साथ लौट आता है। चाय की एक तश्तरी में ढेर सारी मिठाई लेकर। सुहास यह समझ ही नहीं पाता है कि यह मिठाई उसी के लिए है, यदि वह लड़का आकर उसी के सामने खड़ा न रहता। और सुहास कुछ कह पाये, इसके पहले ही धोती-कुर्ता पहने एक व्यक्ति उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है। सुहास समझ जाता है, वह दुकान का मालिक है। इतनी देर बैठे रहने के कारण धोती की गाँठ ढीली होकर पेट के काफ़ी नीचे चली आयी है और बनयाइन पेट के ऊपर से उसे इतना ढँक नहीं पा रही है। खूब महीन धोती और महीन बनयाइन के बीच में रोयों की एक मोटी लाइन है।

लड़के के हाथ से तश्तरी लेकर उससे कहता है, 'जा पानी लेकर आ।' फिर दोनों हाथों से सुहास के सामने तश्तरी रखकर कहता है, 'सर, लीजिए सर।' मेरी दुकान की मिठाई कलकत्ता तक जाती है। चाय-बागान के साहब लोग बागडोगरा में प्लेन पकड़ने जाते समय यहाँ से मिठाई का पैकेट लेकर जाते हैं सर। विकानी की स्वीट्स सर।'

सुहास के अगर वश में होता, अगर वह कर सकता तो उठकर भाग जाता। किन्तु उस व्यक्ति की बातों और अपनी दुकान और अपनी मिठाई की तारीफ़ से उसे थोड़ा चैन मिलता है, उसका इतना ही अन्ततोगत्वा, यही उसका अपना बचाव था। किन्तु उसके सामने वह व्यक्ति अपने दोनों हाथों में इसी तश्तरी में इतनी ढेर सारी मिठाई लिये हुए है कि उसे देखकर ही उसका पूरा शरीर सिहर उठता है। वह जल्दी-जल्दी इधर-उधर देखने लगता है। वह समझ जाता है कि उसके सामने ऊपर की बैंच पर बैठे-खाते लोग इसे देख रहे हैं। किन्तु दुकान में भीड़ लगाये बैठे हुए मदेशिया और राजवंशी मज़दूर तथा किसान इधर ताक भी नहीं रहे थे।

सुहास ने जल्दी-जल्दी इस मामले को समाप्त करने की इच्छा से कहा- 'असल में मैं मिठाई खा नहीं पाता हूँ। आप स्वयं लाये हैं इसलिए मिठाई का एक टुकड़ा दीजिए।'

'अच्छा सर, मैं ज़िद नहीं करूँगा। किन्तु आपको स्वाद तो लेना ही होगा। रोज़ एक मिठाई का स्वाद लेने पर मेरी सभी मिठाइयों का टेस्ट किया जा सकेगा। यह मिठाई लीजिए।' व्यक्ति की आवाज़ में एक तरह का आरोह-अवरोह खेल गया जो सुहास को अच्छा लगा।

तश्तरी का अर्थ था अन्ततः दो-एक मिठाइयाँ। सुहास ने जल्दी-जल्दी अपना हाथ पसारकर उस व्यक्ति को मुश्किल में डालते हुए कहा- 'एक मिठाई मेरे हाथ में दीजिए।'

'यह भी कोई बात हुई सर, आपको हाथ में दूँगा?'

'मुझे तो हाथ से खाना ही अच्छा लगेगा'- सुहास मन-ही-मन खफ़ा हो जाता है। सहसा उसे लगता है दुकान छोड़कर निकल जाये।

लगता है दुकानदार उसका चेहरा देखकर भाँप जाता है। वह सबसे नीचे से लम्बी, गोल साइज़ की सबसे बड़ी मिठाई निकालता है। सुहास कहता है, 'यह मिठाई दीजिए' ऊपर रखे हुए सन्देश की ओर इशारा करता हुआ, उसे दिखाता है। 'यह क्या हुआ सर, इतने से क्या होगा सर, यह तो मुँह में देते ही एकदम घुल जाएगी।'

'ठीक है, इसे ही दो।'

इसी बीच में वह लड़का तश्तरी लेकर आ जाता है, और उसे बैंच के ऊपर रख देता है। उसमें से सन्देश को उठाकर और एक मिठाई में चम्मच लगाते ही सुहास तश्तरी को एक ओर सरकाकर कहता है, 'नहीं, अब नहीं।'

दुकानदार हे-हे करता हुआ हँस पड़ता है। 'सर, चाय भिजवा रहा हूँ।' यह कहकर चला जाता है।

सामने की बैंच पर बैठे हुए जो लोग खा रहे थे, उनमें से एक व्यक्ति उठकर सुहास को नमस्कार कर चला जाता है। सुहास को प्रतिनमस्कार करने का समय नहीं मिल पाता है। और उसके बाद ही हाट कमेटी का वह प्रौढ़ भद्रपुरुष आकर उसके सामने की बैंच पर बैठ जाता है। सुहास से पूछता है, हाट आपको कैसा लगा? 'अब तो शाम हो रही है। शायद दोपहर के बाद खूब जमता होगा।'

'न, वह तो अभी ही खूब जमा हुआ है। इसे आप ड्थर्स की मानकर बड़ा हाट क्यों समझ रहे हैं? धूपगुड़ी का हाट तो बहुत छोटा है। धूपगुड़ी का हाट तो थोक बिक्री का हाट होता है।'

सुहास को याद आ जाता है, वह पूछता है, 'अच्छा, यहाँ क्या सूखी मिर्चा तैयार होती है या नहीं? हाट में तो सूखी मिर्च का पहाड़ लगा हुआ है, मैंने देखा है।'

इतने में दुकान पर काम करने वाला लड़का आकर चाय आदि रख जाता है।

'नहीं, नहीं, यहाँ पर सूखी मिर्चा नहीं होती है काटे में? यहाँ तो सूखी मिर्चा नहीं होती है। उदाहरण के लिए इस क्रान्ति हाट में भी एक वर्ष पहले भी सूखी मिर्च थी ही नहीं। उस समय नारायण प्रसाद की गोदाम सिलीगुड़ी में थी।'

'नारायण प्रसाद कौन हैं?'

'मान लीजिए इस तमाम इलाके का सामान वही खरीदता है। वह आसाम की सूखी मिर्चा का डीलर है। उमरा की सूखी मिर्चा की मालगाड़ी तो इस समय माल स्टेशन पर आती है।

'वह यहाँ क्या करती है?'

'नारायण प्रसाद ने यहाँ तीन वर्ष पहले चाय बागान खरीद लिया था। छह मास के बाद वह

बागान बन्द हो गया। नारायण प्रसाद ने अपनी इस बागान के गोदाम को सूखी मिर्चा का गोदाम बना लिया है। बस तभी से आसाम और तमाम जगहों पर खरीद-बेच के सभी थोक काम इसी क्रान्ति हाट में होते हैं। सेल में तो क्रान्ति हाट की इतनी ख्याति है।'

'और उस चाय बागान का क्या हुआ?'

'वह तो वर्ष भर पहले खुल गया है। फ़ेक्टरी तो और चल नहीं रही है। ग्रीन टी ज़रूर बिक जाती है। गोडाउन तो सूखी मिर्चा का ही है।' सुहास का चाय पीना हो चुका था। उसने आगे कहा, 'और आलू?' 'वह तो इसी वर्ष चालू हुए कोल्डस्टोरेज में रखा हुआ है। ओदलावाड़ी में।'

'ओदलावाड़ी में तो फिर यहाँ क्या है?'

'वह तो मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकूँगा। यहाँ पर भी एक गोदाम हो सकता है।'

सुहास पहले ही उठकर खड़ा हो गया था। इस समय उसने आहिस्ता-आहिस्ता निकलना शुरू किया। तब उस भद्रपुरुष ने पीछे-पीछे चलकर कहा- 'मेरी बातों पर थोड़ी विवेचना करके देखेंगे। इसमें तो कोई दोष नहीं है। हमारे घर-परिवार में भी तो सभी सगे-सम्बन्धी हैं।' उस भद्रपुरुष के कण्ठस्वर में इतनी आन्तरिकता थी कि सुहास को गर्दन घूमाकर उसकी तरफ़ देखना पड़ा। किन्तु दुकान में बड़ी भीड़ थी। इस तरफ़ की बैंच का एक बड़ा झुण्ड खाने-पीने के बाद दाम चुकाने जा रहा था। प्रायः लाइन लगाकर। यह समझ में आ रहा था कि वह झुण्ड था तो एक ही, उसी तरफ़ से निकल जाएगा। परिणाम यह हुआ कि सुहास को जल्दी-जल्दी निकलकर दुकान के सामने खड़ा होना पड़ा।

वह भद्रपुरुष भी पीछे-पीछे आकर खड़ा हो गया। सुहास तब उससे कुछ कहने की स्थिति में था। वह उससे कुछ कह सकता था। 'आपके इस तरह कहने पर मुझे ही लज्जा लगती है। होगा, हम तो यहाँ अभी रहेंगे ही।'

उस भद्रपुरुष ने दोनों हाथ सामने कर विनीत भाव से सिर हिला दिया।

प्रियनाथ थोड़ी दूरी पर खड़ा था। जब सुहास के साथ और भी दो-चार लोग बात कर रहे थे तब प्रियनाथ आगे आकर इनके पीछे से कहता है, 'सर, मैं कैम्प में इन चीज़ों को रख आता हूँ।'

सभी लोग गर्दन घुमाकर एकबार प्रियनाथ को देख लेते हैं। और वे उसे देख सकें, इसकी सुविधा कर देने के लिए वह अपना चेहरा खुले प्रकाश में कर देता है। इसके बाद तो सभी को उसी से बात करनी होगी। 'आप जाएँ, मैं आ रहा हूँ।' सुहास प्रियनाथ से बोला। उसके बाद एकाएक भीड़ हट गयी। सुहास ने सोचा, अब वह यहाँ से जा सकता है। किन्तु खाली जगह से निकलने के लिए पैर बढ़ाते ही खूब छोटी कद-काठी का एक व्यक्ति सामने आकर नमस्कार करता हुआ खड़ा हो गया, खूब मृदु स्वर में बोला- 'मेरा नाम नाउछार आलम है।'

'ऐ' यह कहते हुए चौंककर सुहास उसे प्रतिनमस्कार करना भूल गया। नाउछार आलम, यह नाम तो प्रायः गजेटियर में निकलता रहा है। सरकार अधिकतर केस हारती रही है- सुप्रीम कोर्ट तक। बाकी ज़मीन पर निषेघाज्ञा लागू है। नाउछार आलम- यह नाम सुनकर जिसको उसमें डकैत जैसा सोचा था, पराक्रमी, वह क्या इस तरह की छोटी-कद-काठी का भद्रलोक है? किन्तु, तत्काल अन्य सभी की ओर घूम-घूमकर नमस्कार करते हुए, बड़े स्वाभाविक अन्दाज़ में 'अच्छा तो चलता हूँ' यह कहते हुए वह भद्रपुरुष भीड़ से निकलकर बाहर चला गया।

अब?

गिरधर राठी

कविता 'अब' पढ़ते हुए एक अजीब-सा खयाल उभर अया। ४०-५० साल जिस कवि से हम गाहे-ब-गाहे ही सही, लेकिन रू-ब-रू मिलते रहे हों, उसके गुज़र जाने पर उसकी कविता क्या कुछ अलग तरह से पढ़ी जानी चाहिए? लिखे जाते समय कवि और कविता - का जो 'अब' था, गुज़र जाने के बाद कवि से, कविता से और हमारे 'अब' से उसके साथ क्या वही रिश्ता रहा आएगा जिसकी परिकल्पना या अनुभूति हमें कवि के जीते-जी होती रही थी, या हुई थी?

अजीब होने के बावजूद ऐसे खयाल का औचित्य कुछ इस तरह परखा जा सकता है: हमारे अपने समय में देखे-सुने-पढ़े गये कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व का आकलन हम जिस सख़्ती से करते हैं, उतनी सख़्ती से अन्य युगों के कवियों का (शायद?) नहीं! अमीर खुसरो ने बादशाहों के जो कसीदे पढ़े, या उनके सामने जिस तरह समर्पण किया, उसे जानकर भी हमें (शायद?) वैसा गुस्सा नहीं आता, जैसा कि चापलूसी करने वाले अपने परिचित किसी सम-कालीन कवि पर।

लिहाज़ा, कुँवर नारायण की 'अब' पर ग़ौर करें जो कि 'सब इतना असमाप्त' में, उनके निधन के बाद छपे (२०१८) संग्रह में है।

दरवाज़ा खटखटा कर 'अब' कवि के पास अचानक आ गया है। कवि उसे 'मेरे घर से, मेरी कविता से, मेरी अधूरी दुनिया से...' हुलस कर मिलवाता है। मगर अगली पंक्तियाँ हैं-

भर जाओ मुझमें अब
मुझसे भी ऊपर तक

जल्दी करो
केवल अब ही तो बचा है अब
मेरे पास

पाठकों को याद होगा, 'नयी कविता' के दौर में क्षणवाद पर घनघोर बहसें हुई थीं। विगत और आगत की अतिरिक्त चिन्ता छोड़कर वर्तमान क्षण को भरपूर जीने और जानने-समझने का वह आग्रह भी खासा उत्तेजक था। मगर यह जो 'अब' है, वह 'सदियों बाद' आया है और इतना विस्मयकारी है कि 'विश्वास नहीं होता'! इस संग्रह की कविताएँ २०१० के बाद की हैं जब कुँवर नारायण ८० से अधिक बरस पार कर चुके थे।

यह 'अब' अगर आह्लादकारी है तो यह विषाद भी छिपाये नहीं छिपता कि 'केवल अब ही तो बचा है अब मेरे पास'! संग्रह के ब्लर्ब में यह बात अच्छी तरह पकड़ी गयी है: 'संग्रह की कविताएँ बहुत अनोखे ढंग से बेचैन करती हैं और आश्वस्त भी। इनमें एक बड़े कवि के समस्त अनुभवों की काव्यात्मक फलश्रुति है और अक्सर एक भव्य उदासी का गूँजता हुआ स्वर।'

प्रबुद्ध, मितभाषी और लगभग वीतराग भारती नारायणजी ने अपने पति कवि की इसी मनोदशा को 'एक खास तरह की प्रबुद्ध उदासी का भाव' कहा है। 'कुँवर नारायण हमेशा अपनी बात बहुत धीमे स्वर में, लेकिन पूरी स्पष्टता और साहस से कहते रहे हैं।' इस दूसरे नुक्ते पर आने से पहले 'अब' को ही कुछ देर और समझने की चेष्टा:

इन्हीं दिनों संयोग से गगन शिल की पुस्तक हाथ लग गयी- देह की मुँडेर पर। इसमें एक पैराग्राफ 'अब' से शुरू होता है:

'अब नहीं तो कब?

'यह सवाल आपके साथ हमेशा रहना चाहिए। जीवन जीने की प्यास लगातार बढ़ती रहनी चाहिए।...अक्सर युवाओं को लगता है, अभी समय पड़ा है, थोड़ा अभी जी लेते हैं, थोड़ा बाद में जी लेंगे। ऐसी ग़लती मत करियेगा। अगले बरस दर्पण में यह चेहरा नहीं मिलने वाला। मित्रो! पकड़ो दौड़कर समय को। Seize the day, Seize the day!.....'

दो अलग पीढ़ियों के दो कवियों की 'अब' के साथ मुठभेड़ में कुतूहल की कमी नहीं है। वयोवृद्ध कवि के यहाँ 'अब' खुद आकर दरवाज़ा खटखटा रहा हे, और उधर ५५-६० की आयु की कवि युवाओं को आगाह कर रही है- 'पकड़ो दौड़कर समय को।' सॉल बेलो का उपन्यास (और फ़िल्म) Seize the day एक आह्वान बन जाता है। पीढ़ियों का अन्तराल ही नहीं, स्त्री-पुरुष भी शायद कोई कारक यहाँ हो? कमतर आयु में अभी उदासी नहीं, व्यग्रता है। 'अब' को भरपूर जीने की चाह और संकल्प दोनों दशाओं में है।

कमसिनी में स्वाभाविक इस व्यग्रता को 'शब्द तक' कविता में देखें:

'मैं तब की बात कर रहा हूँ

जब तुम रुकोगे कुछ देर

अभी बहुत उतावली में हो
कहीं और जाने की
कुछ और पाने की
कुछ से कुछ और हो जाने की...'

कुँवर नारायण इस कविता में 'सब कुछ-शब्द तक' छोड़ जाने से उत्पन्न 'विकलता' की ओर इशारा करते हैं, कुछ वैसी ही विकलता जैसी कि इस 'अब' से भरपूर भेंट अगर नहीं हो पायी, तो नहीं होगी।

दूसरी ओर वह वैचारिक मनोभूमि भी है, 'पहले सोचता हूँ' में,

'दृष्टा हूँ, विमुख नहीं,
विचार करते या कर्म करते या शब्द देते
सब को समेटती एक निःसंग आत्मीयता
जिसमें न विह्वलता न कातरता न आत्मदया-
केवल एक खोज का अनवरत जीवन-चक्र।'

शब्दबद्ध होने से पहले हमारे मानस में जो है- और जो कि एक कवि के तईं, शब्दबद्ध होते ही कर्म की भूमिका भी बन जाता है... यहाँ कहीं हम 'स्फोटवाद' के दायरों में आ पहुँचते हैं: वैखरी, परा, पश्यन्ती इत्यादि के उत्तरोत्तर विकसित होने वाले भाषायी स्तरों या चक्रों में। एक दूसरी कविता विटगेंस्टाइन के भाषा-दर्शन को छूती है और वहाँ इसकी ठीक उलटी स्थिति दरपेश है। वहाँ शब्दबद्ध हुए बग़ैर कोई विचार, विचार नहीं बन पाता:

'हमारी भाषा की सीमाएँ हमारे संसार की सीमाएँ हैं।'

इस उद्धरण के साथ कवि ने उस भाषा-दर्शन को एक दूसरा ही आयाम दे दिया है: पवित्रता, शान्ति, प्रेम जैसे शब्द 'भाषा से बाहर' चले गये हैं, और इसी के साथ इन तत्वों का अस्तित्व भी समाप्त हो गया है! ('शब्द जो खो जाते हैं')

कुँवर नारायण की कविता हमेशा ही भावात्मक उत्ताप और लयात्मक उछ्वास से कुछ परहेज़ करती रही है- लेकिन 'बौद्धिकता' का उस पर आरोपण कुछ ज़्यादती ही है। लेकिन यह भी सच है कि सीधे-सरल शब्दों से या बेलाग-लपेट अभिव्यक्ति से जो स्तर सहज-सुलभ होता है, वह थोड़ा मंथन

या मनन करने पर सैद्धान्तिकी या दर्शन इत्यादि की ओर ले जाने लगता है। 'केवल एक खोज का अनवरत जीवन-चक्र।' जैसे 'उत्प्रेक्षा' शब्द को देखें, 'निकटता' कविता में:

'अकेलापन एक तरह की दूरी है
.... अपने से
एक ढीठ उत्प्रेक्षा
मेरे पास सरक आती।'

यहाँ अकेलापन में दूरी, हँसी में निकटता, परायेपन में अपनापन और दूरी इत्यादि कई तरह की विरोधाभासी उलटबाँसियाँ हैं। इसे यों ही समझकर आगे बढ़ जाने के बाद उत्प्रेक्षा शब्द फिर लौटा लाया- यहाँ क्या केवल अलंकार का ज़िक्र है, या कुछ और भी? और अलंकार का ज़िक्र किसलिए?

क़ायदे से 'मानो', 'जानो' इत्यादि वाचक शब्द लगे हों, तभी उत्प्रेक्षा अर्थालंकार पूरा होता है। लेकिन डॉ. श्याम बहादुर वर्मा और डॉ. धर्मेन्द्र वर्मा ने अपने बृहत् हिन्दी शब्दकोश में यह भी बतलाया है:

> वाचक शब्द का अभाव होने पर उसे 'गम्योत्प्रेक्षा' या 'प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा' कहा जाता है। उत्प्रेक्षा के तीन भेद प्रसिद्ध हैं- वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। इनमें से प्रथम में एक वस्तु में दूसरी वस्तु की सम्भावना, द्वितीय में अ-हेतु में हेतु की कल्पना और तृतीय में अन्य फल में फल की सम्भावना की जाती है।' और उत्प्रेक्षण में जाएँ तो (१) ऊपर की ओर देखना। (२) उत्कृष्ट रूप से या ध्यान से देखना।

यहाँ कवि उत्प्रेक्षा जैसा परिभाषिक (अतः कुछेक काव्यानुशासनों द्वारा वर्जित) शब्द लाकर पाण्डित्य नहीं दिखा रहे बल्कि शायद 'ध्यान से देखने' की ओर ध्यान दिला रहे हैं। बेशक भाषा के अनेक शब्द रचनाकार की निजी जानकारी के बग़ैर भी पाठक को शास्त्रचर्चा में ले जा सकते हैं, लेकिन यहाँ जानकारी भी है, सजग प्रयोग भी, लेकिन कुछ विनोदमय खिलंदड़ापन भी है। सम्भवतः पाण्डित्य पर भी चुटकी है!

'सब इतना असमाप्त' में कुँवर नारायण की कविता के कई रंग हैं। कुछ कविताएँ सीधे-सीधे प्रहार करती हैं, जैसे 'लिस्टों से बाहर' 'दौलत की बदौलत', 'अर्थ-शास्त्र', 'बदलना चाहिए' आदि। मुद्दों और मसलों पर जीवन भर की पीड़ा जैसे यहाँ फूट पड़ती है। 'दामोलकर, पानसरे और कलबुर्गी की हत्या के बाद' लिखी गयी- 'जितना ही खुश रखना चाहता हूँ/ उतनी ही उदास होती जाती हैं मेरी कविताएँ/विह्वल प्रार्थनाओं में बदल जाते हैं शब्द!'

कुछ कविताएँ हैं जो अलंध्य विडम्बनाओं को रेखांकित करती हैं, जैसे 'ईश्वर साक्षी है'। 'बुरे वक़्तों की कविता' बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के साथ संवाद जैसी है। ब्रेस्ट की कविता थी- 'अँधेरे ज़मानों में/गाया भी जाएगा वहाँ?/ गाया भी जाएगा वहाँ!/ अँधेरे ज़मानों पर।' (जीवन मन्त्र)। कुँवर नारायण पूछते हैं: 'कैसी हो ऐसे/ बुरे वक़्तों की कविता।... कैसे हो बुरे वक़्तों की कविता...'। इसी तरह 'अधूरी कविताएँ' में कुँवरजी 'नहीं लाना चाहता/कविताओं का अन्त।' कहते समय कहीं दूसरे छोर से ब्रेष्ट से मुखातिब हैं, जिसने लिखा था-

'कितनी देर/टिकती हैं कृतियाँ? उतनी देर/... जब तक वे मचाती रहती हैं उपद्रव/ वे समाप्त नहीं होतीं।'

उक्त भाव-विचार को ही मानो इस संग्रह का नाम मिला है: सब इतना असमाप्त। 'इतना पाकर भी उतना ही आकांक्षी,/ सब कुछ जानकर भी उतना ही अनभिज्ञ,/... हर क्षण समाप्त होते हुए भी/ उतना ही असमाप्त।' (उतना ही असमाप्त)।

यहाँ भी कुँवर नारायण की कविताओं में उनकी चिरपरिचित मननशीलता है। भारती नारायणजी ने उन कुछ कविताओं की ओर भी ध्यान दिलाया है जो.. '...इधर के वर्षों की उनकी मनःस्थिति को प्रकट करती हैं, जैसे कि एक प्रेम-भाव की निरन्तरता; बढ़ती उम्र और मृत्यु के ख्याल; और बिगड़ते समाज की चिन्ता। इन सबके बीच से निकलती हुई एक दूरदृष्टि और दर्शन भी इन कविताओं में है।'

और 'फागुन' जैसी कुछ गीतात्मक रचनाएँ, और 'कुछ अश्आर' (ग़ज़ल) भी :

'ये कैसे दौर में ज़िन्दा हैं हम ख़ुदा जाने
ये कैसी नफ़रतें भर करके अपने सीनों में।'

सब इतना असमाप्त (कुँवर नारायण)
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष - २०१८

'नक्षत्रहीन समय में' कवि का होना

रघुवीर चौधरी

हिन्दी के मूर्धन्य कवि-समीक्षक, संस्कृतिचिन्तक श्री अशोक वाजपेयी का १५वाँ कविता-संग्रह 'नक्षत्रहीन समय में' पढ़कर ऊर्जा का अनुभव हुआ, बाद में प्रश्न हुआः अशोकजी जीवनभर कविता को बल्कि कला मात्र को नक्षत्र मानते रहे, कालजयी कला की इन्हें गहरी पहचान है, तब वर्तमान समय में इन्हें किसी अन्य प्रकार के नक्षत्र की अपेक्षा बल्कि अनिवार्यता क्यों महसूस हो रही है?

वर्तमान सांस्कृतिक संकट कलारूपी नक्षत्र को बुझा देगा? असम्भव! परन्तु विवेक क्षीण हो सकता है। उस विवेक की मूर्च्छा टूटे, चतुराइभरी चुप्पी टूटे, यही चाहता है कवि-मनीषी।

एक ऐतिहासिक अनुभव है कि नकारात्मक समय में- उधार जमाने में कला की ऊर्जा सतेज़ हुई है।

सिद्धान्तविहीन, परिणामलक्षी राजनीति समाज को विभाजित करती दिखायी दे तब अशोकजी जैसे कर्मशील सारस्वत को-कलासंवर्धक आयोजक को पीड़ा तो होगी ही। यह पीड़ा पत्रकारिता और हास्यविनोद के द्वारा आसानी-से व्यक्त की जाती है, परन्तु वह सतही रह जाती है। अशोकजी मनोरंजन नहीं चाहते, मनोमन्थन चाहते हैं। कविता सिद्ध हो या न हो, पर लक्ष्य तो ऊँचा ही रखना है। जोख़िम उठाना है। इसके लिए निर्भीकता और साहस की पूँजी पहले से है। पचास वर्ष से लिख रहे हैं, जानते हैं:

'हमारा समय कविता के लिए अनुकूल समय नहीं है लेकिन यह भी सही है कि प्रायः कोई भी समय कविता के लिए अनुकूल नहीं होता। कविता इस अनुकूलता के अभाव में ही अक्सर सम्भव होती हैः वह समय की सारी प्रतिकूलता से जूझकर और उसे अतिक्रमित करने का दुस्साहस करती रहती है।'

(पृ.७, एक अर्ध सदी)

केवल कविता ही नहीं, साहित्य की सभी विधाएँ विषम परिस्थितियों में अधिक सक्रिय दिखायी देती हैं, उपलब्धियाँ जो भी हों। उपलब्धियाँ कालातीत होती हैं।

अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर को अशोकजी कविता के तीन दरवाज़े मानते हैं। समान्तर रूप से मैं वह ग्रन्थ भी पढ़ रहा हूँ। 'नक्षत्रहीन समय में' के आरम्भ में ११ गद्यखण्ड हैं, जो चिन्तनात्मक होने के साथ कहीं-कहीं काव्यात्मक हैं। कुछ वाक्य रेखांकित होते गए।

'कविता सचाई पर खुलती है...

कविता भाषा में खुलती है...

हर कविता अधूरी सचाई का आख्यान है... (२)

कविता हिंसा का प्रतिरोध करती है। (४)

कविता अकेले को समुदाय से जोड़ती है और

समुदाय में अकेले की जगह बचाती है... (५)

कविता रास्ता नहीं दिखाती क्योंकि ज़्यादातर

तो उसे खुद रास्ते की तलाश होती है।' (१०) (पृष्ठ ६ से १३)

अशोकजी की कई पूर्ववर्ती कविताओं में शुद्ध सौन्दर्यबोध के प्रति पक्षपात झलकता है। मेरे पीएच.डी. छात्र अमृत प्रजापति तीन दशक पूर्व अशोकजी की कविताओं का अध्ययन कर रहे थे, उसी दौरान मैं इनके बिम्बविधान से प्रभावित हुआ। 'वह नहाती है' शृंगार के भावतल पर अपूर्व बिम्बों की रचना करती है :

'मेरा प्रेम छूता है जल को/जल उसकी देह के दिगम्बर वैभव को-

प्राचीन तन्वंगी/अनन्त के ओसारे में/कवि के गवाक्ष के नीचे लज्जारूण जल से...।' (पृ. १६, आविन्यो)

निजी दृष्टिपात परलक्षी बनकर समय और स्थल में विस्तृत होता है, स्नानागार नदीतट बनता है।

१२८ पृष्ठ के प्रस्तुत संकलन में अशोकजी का मुख्य प्रश्न है-

'इस घिरते गाढ़ होते अँधेरे में

क्या कहीं कोई रोशनी इसकी एक नन्हीं-सी दरार पुकारती है?' (पृ. १७)

रोशनी कहीं दिखाई नहीं देती- ऐसा कथन निरा गद्य होता, कविता बनती है उस नन्हीं-सी दरार की पुकार के अंकन से। दृश्य बारीक बनकर श्राव्य अनुभव करवाता है। यह बिम्ब दो इन्द्रियों के समवेत कार्य का संकेतक है। एक छोटी कविता में ऐसे एक-दो बिम्ब भावक को कवि के कथ्य से जोड़ते हैं। 'बढ़ती लाचार या चतुर चुप्पी' के उल्लेख द्वारा अशोकजी सांस्कृतिक संकट का निर्देश करते हैं।

आज की राजकीय परिस्थिति इन्हें प्रश्नाकुल बनाती है, भारत की राजनीति तथा पक्षों के चरित्र के विषय में इन्हें बहुत कुछ कहना है, परन्तु इनकी कविता सीमित दायरे में पाठक को बाँधती नहीं, रोशनी की नन्हीं-सी दरार की धार से गाढ़ अँधेरे को-नक्षत्रहीन अँधेरे को काटने की चुनौती देती है।

कुछ तो हो पाया है।
'मैं सोच भी नहीं पाया
कि जल्दी-से
कुछ तारे और नक्षत्र अपने झोले में भर सकता था
जहाँ मैंने शब्द भर लिये थे।
यह तो ग़नीमत है
कि मैं जल्दी में भी कुछ शब्द तो ले आया
अन्यथा ख़ाली हाथ आता
और ख़ाली हाथ जाता।' (पृ. २३)

कवि नक्षत्र के स्थान पर शब्द ला पाया, यह भी कोई छोटा आश्वासन नहीं है, क्योंकि पता नहीं कब शब्द नक्षत्र बन जाएँ। शब्द को शक्ति देता है समय-शब्द अपना मार्मिक संकेत गँवा बैठते हैं तब समय उनकी खोई शक्ति लौटाता है

समय बोलता है अब भी
कविता की कम होती जाती जगहों से,
शब्दों में मन्द पड़ते अन्तःकरण से (पृ. २६)

शाब्दिक अकर्मण्यता भी प्रस्तुत संकलन की अन्तरंग गूँज है। 'शब्द बहुत दूर हो गए हैं' रचना द्विमार्गी है। हमारे शब्दों ने हमें छोड़ दिया है? या हम जानबूझकर चुप हैं? परिस्थितिजन्य भय से या स्वार्थवश? वृक्ष के रूपक में बारीकी है :

'हम वृक्ष इन दिनों आई
ललछौंही-सी हरीतिमा को
उस पर बैठे पक्षी की नीली काया के सुगठन को,
उस पर रेंगते कीड़ों की कतार को
पूरी तरह देख नहीं पाते।' (पृ. ३३)
हम देखकर भी पूरा देख नहीं पाते, देखने का संकल्प गँवा बैठे हैं।

अज्ञेयजी ने कहा था: 'दुःख सबको माँजता है; पर आज के समाज को दुःख द्वारा सम्भव आन्तरिक विकास नहीं चाहिए।' 'अपने हिस्से' रचना उपभोक्ता-सभ्यता का विवेकपूर्ण मूल्यांकन है:

इधर सुख ने इतनी जगहें हथिया ली हैं
और दुःख को इतना पिछवाड़े ढकेल दिया है
कि ऐसा भ्रम आम है
कि सुख बढ़ रहा है, दुःख घट रहा है!
सुख-दुःख इतने शत्रु नहीं थे पहले
और कई बार वे साथ होते थे:
पर अब सुख आततायी है
और दुख को हमेशा खदेड़ता रहता है। (पृ. ३८)

अर्थान्तरन्यास शैली की इस रचना के अन्त में जो निष्कर्ष है, उसमें भी वैचारिक ताज़गी है: 'थोड़ा-सा सुख/थोड़ा-सा दुःख/उनके बीच भी बहुत कुछ/जिसे हम नाम नहीं दे पाते।' (पृ. ३५)

'नक्षत्रहीन समय में: पाँच कविताएँ- इस उधार ज़माने की झाँकी करवाने हेतु लिखी गई हैं, किन्तु इनका समय-निरपेक्ष पाठ भी सम्भव है। कवि या कोई सर्जक कलाकार अपनी विवशता स्वीकार कर सकता है:

'हम रास्ता नहीं हैं
जिन पर से चलकर कोई भूला-भटका
अपने घर पहुँच सकता है!' (पृ. ४३)

इस रचना का आरम्भ पढ़कर लगता है कि कवि यहाँ विचार या कथ्य की घोषणा नहीं करेंगे। सर्जन के आरम्भ में अशोकजी कलात्मक बिम्ब रचते थे, उसका सातत्य है यहाँ:

'हमने ध्यान नहीं दिया
पत्तियाँ धीरे-धीरे अपनी लय में झर रही थीं
हलकी-सी बारिश थी
जिसमें पदचापें सुनाई नहीं देती थीं।'

झरती पत्तियाँ, हलकी-सी बारिश और पदचाप-रहित नीरवता के द्वारा एक साथ विविध इन्द्रियों का व्यत्यय जगाते बिम्ब का विधान होता है। कविता के पाँचवें चरण का अन्त मुख्य है: 'हम तो अपने नक्षत्रहीन/बुझे तारों और बेसाफ़ रंगवाले समय में/कविता में बचे-खुचे रंग खोज रहे हैं।' आक्रोश,

हताशा और आश्वासन मिलाकर संमिश्र कथ्य निवेदित करते हैं। न होने में भी जो होना है। कवि मानों प्रतिकार भूलकर तात्त्विक भूमिका के निकट पहुँचते हैंः 'हम 'हैं' और 'नहीं' हैं' के बीच/भुरभुरी रेत है/ जो धीरे-धीरे समय के पार खिसक रही है।' (पृ. ८८) फकीर कहेंगेः सब हवा है, सब धुँआँ है परन्तु कवि धरती से जुड़ा है अतः होने-न-होने के बीच भुरभुरी रेत का अस्तित्व उसे लक्षित होता है। 'अब इतना' की आखिरी पंक्ति हैः 'और कविता कुछ थामने-बचाने की कोशिश में लगी है।' (पृ. ४७)

'एक पंक्ति की तेरह कविताएँ' उल्लेखनीय है।

यहाँ कवि वक्रता की सहायता से चिन्तन को काव्यात्मक बना पाए हैंः 'शब्द में समा नहीं सकता संसारः संसार से परे नहीं हो सकता शब्द।' (पृ. ४८) और अन्तिमः 'प्रार्थना एक वृक्ष है जिसकी हर पत्ती गुनगुनाती है पर अपने लिए कुछ नहीं माँगती।' (पृ. ४९)

प्रस्तुत संग्रह की कुछ छोटी कविताएँ स्मृति में अंकित हो जाती हैं। देवता मन्दिर के गर्भगृह के अधिपति हैं, बाहर के सौन्दर्य से अनभिज्ञ हैं। कवि देवता के भीतरी अस्तित्व को कबूल करने से पूर्व बाह्य सृष्टि का सौन्दर्य देखता है, अधिक भाग्यवान हैः

'मन्दिर की चौकोर छत पर
बिछ गई है शिरीष के फूलों की हरी-पीली चादर
अन्दर बैठे देवताओं को इसकी कोई खबर नहीं।' (पृ. ५१)

अनुगामी कविता 'एक चिड़िया हरी डाल पर बैठी है'- गीत की आवर्तन-शैली में लोकदर्शन करती है। अशोकजी की विशेषता है कि इनके अनुगामी वाक्य का हम अनुमान नहीं कर सकते, इस कारण भी ताज़गी का अनुभव होता है। 'अब बचा क्या है?' का पहला चरण हैः

'समय अधिक न बचा हो
सपने तो बचे हैं।' (पृ. ५५)

'पूछना चाहता हूँ' रचना का आरम्भ देखिएः

'मैं पूछना चाहता हूँ सूर्यास्त से
उस बच्ची के बारे में जो मलबे के नीचे दबी रहकर भी बच गई।' (पृ. ५८)

'उठाए हूँ पृथ्वी' दीर्घ कविता है। यहाँ प्रत्यक्ष रूप में तो पृथ्वी है ही, संकल्पना के रूप में भी है। एक समर्थ कवि ही ऐसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में इतनी सारी क्रियाओं का विनियोग कर सकता है। यहाँ तीनों काल और पूरा ब्रह्माण्ड चिन्तनशील दृश्यात्मकता के द्वारा जुड़ते हैं अैर एक निष्कर्ष तक पहुँचते

हैं- 'कविता ही मेरी पृथ्वी है।'

'आततायी की प्रतीक्षा' प्रतिकार प्रधान रचना है। प्रजातन्त्र किसी आततायी के द्वारा नष्ट होता है? या प्रजाजन भी ज़िम्मेदार हैं? कवि स्पष्ट हैं:

'यह कहना मुश्किल है कि वह खुद आ रहा है
या कि लोग उसे ला रहे हैं।' (पृ. ७५)

इसी दौर में 'अब हम' रचना की कुछ पंक्तियाँ देखें:

'हमारा न होना साबित है,
अपने होने को साबित करने की हमें अब दरकार नहीं...
वैसे अब हमें सच की ख़ास ज़रूरत नहीं,
झूठ से काम अच्छा निकलता है,
सह सच जैसा अड़ियल भी नहीं है।' (पृ. ७६)

यहाँ व्यंग्य पाठक का सद्भाव जीत लेता है। 'वे' रचना में व्यंग्य के साथ अन्याय और हिंसा के प्रति आक्रोश भी है। अपना समय केवल नक्षत्रहीन नहीं, अपराधी भी है। शोभायात्रा बच्चे को शवयात्रा लगती है। (पृ. ८२) कई पंक्तियाँ आगे बढ़ने से रोकती हैं: 'कविता छोटे मुँह बड़ी बात करके ही कविता होती है।' (पृ. ६०)

'भले हमारे बोलने से शायद ही फ़र्क पड़ता
पर हम चुप रहे यह चतुराई है।' (पृ. ६३)

'हर बार सच नहीं जीतता' (पृ. ६७) कहते वक्त भी कवि की अन्तरतम अभिलाषा तो यही है: सत्य जीतता है, संगठित सत्य जीतता है। देखिए:

'कुछ सुस्ता लें तो फिर उस ओर जाएँगे...
हार का भी कोई-न-कोई गीत तो होगा!' (पृ. १०४)

'हर रोज़' की नास्तिवाचक स्थापनाओं में भी संकेत तो विधायक हैं- जागरूक पाठक के लिए। 'इतने' रचना का प्रत्येक वाक्य चुभता है: 'शब्द इतने कम क्यों? भय इतना अधिक क्यों?'... 'अपनी विफलता में हमें इतना चैन क्यों?' (पृ. ११२) 'अच्छे दिन तब आएँगे' भले ही मुखर रचना हो, है प्रासंगिक और विचारपूर्ण:

'जब अखबार और चैनल पूँछ नहीं हिला रहे होंगे। जब अपने से असहमत का सम्मान करने की आदत होगी... मदद हर मोड़ पर पेड़ की तरह मिलेगी।' (पृ. ११७)

'अब भी' जैसी रचनाएँ छात्रों के पाठ्यक्रम में स्थान पानी चाहिए।

'हारा हुआ भी आगे चलता है

हारा हुआ आदमी भी आदमी बना रहता है।' (पृ. ११८)

'फिर आवाज़ दो'- कैसी आवाज़? जो सपनों पर भरोसा करने को कहती है। 'खिड़की पर भोर आई है।' (पृ. १२७) उस भरोसे का संकेत है।

तुम्हारी खिड़की पर एक चिड़िया आयी है

अपने पंखों पर पूरी भोर लिये हुए

खोलो खिड़की

ताकि 'बहुत नीला' 'प्रात नभ'

अन्दर आ सके।

खिड़की पर भोर आई है।

नक्षत्रहीन समय में (अशोक वाजपेयी)

राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

प्रकाशन वर्ष - २०१६

भीतर के अँधेरे की कलात्मक माँग

मिथलेश शरण चौबे

भले ही ज़्यादातर निजी ज़िन्दगी की आँच से ही किसी का लेखन उर्जस्वित हो; साहित्य पढ़कर, लेखक के बारे में बहुधा बहुत मामूली बातें ही पता चलती हैं। उन बातों पर साहित्यिक (?) समाज की आरोपित व्याख्याएँ अकसर हावी रहती हैं जिनमें सरलीकृत छिछले आक्षेप का आनन्द ज़्यादा प्रकट होता है, कुछ प्रेरणीय किस्म के मुमुक्षु भाव की घोर अवहेलना ही हमें मिल पाती है।

लेखक अपने लेखन से ही जो दे रहा है, वही इतना भी क्या कम है। अपनी साहित्यिक अभिव्यक्तियों के बीच बहुत सारा प्रकट करते लेखक के बारे में हमें और क्या जानने की दरकार रहती है। यह जानना क्या किसी लेखकीय उपक्रम के उस रहस्य को उजागर कर सकता है जहाँ से हम कुछ सीखना यदि चाहते हैं तो एक पूर्ण-अपूर्ण सबक पा सकें जोकि सायास रूप से लेखक का अभीष्ट नहीं ही होगा।

हिन्दी में एक असाहित्यिक किस्म की रवायत ने अपनी प्रमुख जगह बना ही ली है : कुछ लेखकों को सर्वकालिक महान घोषित कर हर उल्लेखजन्य-अनुल्लेखजन्य जगहों पर उन्हीं को उद्धृत करना और दूसरा कुछ लेखकों के नामोल्लेख से भी पूरी तरह बचना। ऐसा लेखकों को पूरी तरह पढ़ने-समझने के बाद करना सम्भव नहीं हो सकता, अर्थात् नहीं पढ़े गए के निषेध का प्रायोजित-सा बर्ताव इस दूसरी कोटि को निर्मित करता है। कथाकार कृष्ण बलदेव वैद इस दूसरी कोटि के असंदिग्ध वासी हैं।

'प्रवास और प्रवास' वैद साहब से समास सम्पादक की हुई वार्ता की क़िताब है। संवाद विधा बहुधा जिस अल्पता की गिरफ़्त में हाँफ़ती, बनावटी प्रश्नों के तयशुदा उत्तरों में फँसती तथा अवदान-पुरस्कार-विवाद की त्रयी के प्रलोभन में उलझती रहती है, उससे कुछ सहज ही जानने-सीखने लायक हासिल कर पाने की उम्मीद व्यर्थ ही रह जाती है। अपवाद भी हैं, हमें ऐसे ही अपवादों की उम्मीद करना चाहिए।

हमें इस उम्मीद के लालच में भी ज़रूर पड़ना चाहिए कि किसी लेखक द्वारा बताए उसके

जीवन वाकयों से कुछ ऐसा मिल सकता है जो जीवन कर्म के बीच से हमें उठाकर सृजनात्मक कर्म की ओर उन्मुख कर सके। जहाँ अपनी दुनिया में टहलते हुए अन्यों की दुनिया से आपसदारी की प्रक्रिया का निपट सच भी हम निस्संगता से अनुभव कर सकें।

घटित के बीहड़ से अघटित की उर्वरता का स्वप्न जिन कल्पनाओं के नैरन्तर्य से लेखन में मूर्त हो पाता है, सिर्फ़ लेखन को पढ़कर उस पार्श्व में छुपे अविलीन सच को महसूस करना संभव नहीं लगता। यदि लेखन से इतर बताये गये सच के प्रति हम शंकित हों तो! हमें असंदिग्ध से बचना चाहिए, संदिग्ध की गरिमा पर भी यकीन करते हुए।

अनेक मूर्धन्य लेखकों से, विस्तृत रूप में नहीं हो सके संवाद से यह कल्पना की जा सकती है कि वे खुद अपने बारे में तफ़तीस से बता रहे होते तो हम उनकी निजी दुनिया से सघन रूप से जुड़ सकते थे। हो सकता है वह जुड़ाव हमारे सृजनात्मक होने के कुछ बन्द दरवाज़े खोल पाता।

इस वक़्त यह जानना और भी ज़रूरी है। तुरन्ताक्रान्त लेखकीय दौर में जबकि सोशल मीडिया में रचनाओं के औपचारिक प्रशंसकों से मुग्ध लेखकों की भीड़ में निरन्तर इज़ाफा हो रहा है; लेखकीय उपक्रम का अत्यन्त सरलीकरण हुआ है। आसन्न लोकप्रिय मसलों पर रपटाक्रान्त रचनाओं के बहुल उत्सर्जन के दौर में, रचना प्रक्रिया की जिस कदर अवमानना हो रही है, लेखकीय-कर्म को सामान्यीकृत किया जा रहा है; लेखन प्रेरक स्थितियों के साथ लेखकीय नैतिकता के युग्म की अनिवार्यता को समझना न केवल ज़रूरी है बल्कि साहित्य पर भरोसा करने की एकमात्र प्रविधि है।

बचपन सीखने और आवेग की सम्भावना की सबसे निर्मल अवस्था होती है। इस संवाद में वैद साहब ने अपने बचपन के दौर को, अपने स्कूली दिनों को अपने लेखक बन सकने के अर्थ में कृतज्ञतापूर्वक याद किया है। डिंगा ('वैद साहब १९४७ में भारत के विभाजन के बाद डिंगा, जो पाकिस्तान में आ गया था, से दिल्ली आ गए') के हाकिम सिंह हाईस्कूल का माहौल, हेडमास्टर नरोत्तम सिंह जौहर का सहयोग उनकी स्मृति में है। लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज की वेदपाठ की कक्षा का तो उन्होंने अपने लेखक होने की सम्भवता में अनिवार्य वरदान ही माना है।

वैद साहब हिन्दी के विभाजन पीड़ित लेखकों में शुमार हैं लेकिन उसकी विभीषिका के उथले वृत्तान्तों के बखान से विलग उनके लेखन में जैसा कि इस संवाद में वे बताते हैं कि निर्वासन की पीड़ा एक रिश्ते की मानिंद ताउम्र चिपकी रही। इस रिश्ते को निर्मल वर्मा के शब्द ज़्यादा सघनता से चरितार्थ कर करते हैं : 'कुछ रिश्तों से हम कभी बाहर नहीं निकल सकते, निकलने की कोशिश करें तो निकलने की कोशिश में मांस के लौथड़े बाहर आ जाएँगे, खून में टिपटिपाते।' खुद वैद साहब इस तरह याद करते हैं : 'विभाजन के विस्फोटक विस्थापन ने उस पर मुहर लगाकर मुझे हमेशा के लिए स्थायी

तौर पर क्षत-विक्षत कर दिया और स्थायी जलावतन बना दिया। मैं बसा-रसा कभी भी नहीं, कहीं भी नहीं।'

लेखक बनने के दौर में एक लेखक अनेक लेखकों को पढ़ता है। कुछ उसे अत्यन्त आकर्षित करते हैं, उनसे वह लेखकीय तड़प हासिल करता है। कुछ लेखक उसे लेखन के औचित्य और नैतिक प्रश्नों का आलोक देते हैं। कुछ लेखक मित्र व कलाकार मित्रों का साहचर्य साहित्य और कलाओं के प्रति आश्वस्तिपरक आस्था का भाव उत्पन्न कराते हैं। वैद साहब इस दृष्टि से हिन्दी के उदार 'कृतज्ञता ज्ञापक' लेखक हैं जिनकी कृतज्ञता का दायरा समय व भाषा, वय तथा स्थान के विस्तारों को नापता है। इकबाल, डिकेंस, हार्डी, लॉरेंस के लेखन को पसन्द करने वाले वैद साहब ने काफ़्का, कामू, सापर, दोस्तोएवस्की, चेखव, तुर्गनेव, गोर्की, जेम्स ज्वॉयस, प्रूस्त, वर्जीनिया वुल्फ, हेनरी जेम्स, फ़ॉस्टर, अज्ञेय, जैनेन्द्र, रेणु, हजारी प्रसाद आदि को पढ़ना अपने लेखन की निर्मिति के लिए अवदान स्वरूप माना है। उन्होंने भीष्म साहनी, रामकुमार, निर्मल वर्मा, श्रीपत राय, नीरद चौधरी, मोहन राकेश, श्रीकान्त वर्मा, अशोक सेक्सरिया, कृष्णा सोबती, प्रयाग शुक्ल, मनोहर श्याम जोशी, कमलेश्वर, महेन्द्र भल्ला, सुरेश अवस्थी, प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र, नेमिचन्द्र जैन, अशोक वाजपेयी तथा समास सम्पादक से अपने साहचर्य को भी याद किया है। इनसे हुई मुलाकातें, कलाओं व राजनीति पर संवाद, अपने लेखन पर प्रतिक्रियाएँ, व्यक्तित्त्व पर बेबाक राय को वैद साहब अपने लिए अत्यन्त मूल्यवान बताते हैं। चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन तथा दार्शनिक दयाकृष्ण से मैत्री व साहचर्य वैद साहब की स्मृति में सबसे सघनता से उपस्थित हैं।

सेमुएल बेकेट, जेम्स ज्वॉयस, हेनरी जेम्स के लेखन को पढ़ना तो वैद साहब ने अपने उपन्यासों की निर्मिति के लिए अपरिहार्य कारण ही माना है। हार्वर्ड, पॉट्सडैम, बोस्टन, कॉलेज स्टेशन जैसी जगहों में प्रवास और अध्यापन की नौकरी के दौरान कुछ विदेशी शख्सियतों से अपने सम्पर्कों की याद भी वैद साहब की जीवन चर्या में घुली हुई है, इनमें आई ए रिचर्ड्स, डोना लुइजा कुमारस्वामी, हक्सले प्रमुख हैं।

प्रश्नकर्ता के प्रश्न वैद साहब की आलोचकीय मुद्रा से भी रूबरू कराते हैं। अज्ञेय के आरम्भिक दोनों उपन्यासों से ज़्यादा सशक्त और महत्त्वपूर्ण उन्होंने 'अपने-अपने अजनबी' को माना है, हालाँकि ऐसा मानने की कोई विस्तृत व्याख्या नहीं की है। 'आलोचना की आलोचना का संगीत' की ओर ध्यानाकृष्ट कराते हुए उन्होंने हिन्दी आलोचना में अपने अनलिखे उपक्रम को शीर्षकों से व्यक्त कर अपना अफ़सोस प्रकट किया है। एक लेखक लिखित मूर्त से अलिखित अमूर्त को भी याद कर लेखकीय आकांक्षा और किसी विधा विशेष को लेकर अपने मापदण्ड भी प्रकट कर सकता है, यह जानना दिलचस्प है।

संगीत, चित्रकारी और सिनेमा की दुनिया से गहरे सम्बद्ध रहते हुए वैद साहब ने अपने लेखन और अध्यापन में सर्वथा अनूठी युक्तियों को साकार किया है। चार दशक तक अध्यापनरत रहे वैद साहब ने भारतीय उच्च शिक्षा की जकड़बंदियों और हार्वर्ड जैसे संस्थानों के खुलेपन पर विचार किया है। भारत में साहित्य शिक्षा की खराब हालत पर प्रश्नकर्ता की चिंता के विलोम स्वरूप वैद साहब के, चंडीगढ़ के अँग्रेज़ी विभाग में ट्यूटोरियल ग्रुप, पॉट्सडेम में एक महीने की स्टारलेक राइटिंग वर्कशॉप जैसे प्रयोग साहित्य शिक्षण के लिए बेहतर रहे।

भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रोफ़ेसर और विद्यार्थियों के बीच व्यवहार की अनुलंघ्य दूरी, श्रेष्ठता बोध व दैन्य का आरोपण जिस कदर हावी रहता है; वह ज्ञान के, सीखने-समझने के मार्ग को अवरुद्ध ही रखता है। हार्वर्ड और पॉट्सडेम में खुलापन, अध्यापकों की उदारता और उच्च शैक्षिक आकांक्षा का सम्मान कुछ स्थिर दृश्यों की तरह वैद साहब की स्मृति में है। प्रोफ़ेसर डग्लस बुश, आर्चीबाल्ड मेक्लीश, आई ए रिचड्र्स की दी हुई सीख, पारिवारिक चिन्ता के समाधान स्वरूप की गई फ़ेलोशिप की अनुशंसा, सच में अत्यंत मानवीय और भारतीय शैक्षिक संसार के लिए नज़ीर की तरह हो सकती हैं।

वैद साहब १९८१ का अपना भारत भ्रमण भी याद करते हैं। इस दौरान वे बहुधा लेखकों-कलाकारों के घरों में ही ठहरे और उनसे साहित्य व कलाओं पर संवाद के साथ ही उन जगहों के बारे में विस्तार से जाना। बदरीविशाल पित्ती-हैदराबाद, अयप्पा पणिक्कर दृत्रिवेंद्रम, जयन्त महापात्र-कटक, नवनीता देवसेन कोलकाता से हुई उनकी मुलाकतें उनके लिए दीर्घजीवी साबित हुई। वे भारत भवन, भोपाल को अपने जीवन का सुन्दरतम अनुभव मानते हैं। वहाँ 'अन्तरभारती' को उन्होंने राइटिंग वर्कशॉप की तरह ही बाधाविहीन रखा।

साहित्य की दुनिया के अलावा कुछ ज़रूरी मसलों पर भी वैद साहब का सुचिंतित और बेबाक विचार इस संवाद में मिलता है। भारतीयता का प्रश्न, वैद साहब जैसे विस्थापन पीड़ित और विदेश में अध्यापनरत-निवासरत लेखक के समक्ष, हमारी नज़र में किंचित असुविधाजनक लग सकता है, उनके लिए यह ऐसा एकदम नहीं है। भारतीयता को भ्रमित करते हठधर्मी सरलीकरण के बरअक्स वे बताते हैं- 'भारतीयता को हिन्दुत्व का पर्याय मैंने कभी नहीं माना, न अपने मन में, न अपने लेखन में। जब तक अन्य अनेक धर्मों के अनुयायियों को, और खास तौर पर मुसलमानों को, भारतीयता की अवधारणा बनाते समय हम भूलते रहेंगे तब तक वह अवधारणा दूषित ही रहेगी।'

वैद साहब ने लेखकीय उपक्रम, लेखन का समय, लेखन में प्रयोग, प्रयोग का औचित्य, भाषा का चयन, लेखन का प्रयोजन आदि पर सूक्ष्मता से विचार किया है। वे स्वयं को पथ की खोज करने वाला लेखक बताते हैं। उनकी दृष्टि में प्रयोग का कारण 'अपने समय व स्थान के लेखकों के काम से गहरा असन्तोष' है। उनका लेखन 'भीतर के अँधेरे की कलात्मक माँग' है। अंग्रेज़ी भाषा और

साहित्य के अध्येता और विदेश में अध्यापनरत रहने के बावजूद 'किसी भी भारतीय भाषा में लिखने को एक भारतीय लेखक का नैतिक धर्म' उनकी ताउम्र कायम रही नैतिक ज़िद है। हम अनुमान लगा सकते हैं कि उन्हें अंग्रेज़ी में लिखने के तरक्की उन्मुख प्रलोभन मिले होंगे। वैद साहब द्वारा अपने उपन्यासों को अनुपन्यास कहा जाना, आत्महंता जैसा लग सकता है लेकिन इसी स्थिति में उन्होंने अपने उपन्यासों को औपन्यासिक विस्तार से विभूषित किया है।

संवाद की इस क़िताब के अन्त में संवादी का वैद साहब के लेखन पर एक निबन्ध 'भाषा का नृत्य' शामिल है। इस निबन्ध में उनके लेखन की विलक्षणताओं की वजहों और विलक्षण के औचित्य पर सुचिंतित विचार किया गया है, मसलन वैद साहब के लेखन में प्रयोग पर- 'वे वैसे गद्य नहीं लिखते जैसे हिन्दी में पिछले कुछ दशकों में ज़्यादातर लिखा जाता रहा है। वे उस तरह गद्य लिखते हैं जैसा भारत में शताब्दियों से संगीत गया जाता रहा है, चित्रकला होती रही है, नाचा जाता रहा है।'

लेखकीय जीवन के तुरन्त बाद लेखन में प्रवेश का यह एक ऐसा दरवाज़ा हो सकता है, जिसमें से होकर लेखक को उसके अपने लेखन-प्रत्ययों के साथ जाना जा सके।

लेखक के अप्रकट सूक्ष्म को प्रकट स्थूल तक लाने की संवाद-युक्ति इस किताब में पूछे प्रश्नों से अनेक बार झलकती है।

इस विस्तृत संवाद को पढ़कर कुछ प्रश्न उभरते हैं : वैद साहब के मित्र और हिन्दी के दो बड़े लेखक निर्मल वर्मा और कृष्णा सोबती का पाठक और प्रभावित वर्ग वैद साहब से ज़्यादा बड़ा लगता है, इन दोनों पर आलोचकीय उद्यम भी वैद साहब से ज़्यादा है। हिन्दी के पाठक वर्ग और आलोचकीय उद्यम की इस अनदेखी पर क्या लेखक ने कभी विचार किया। युवा लेखकों के लिए जीवन व लेखन के संघर्ष और प्रयोग, जिनसे प्रवाह में अपने पथ की खोज में निकला जा सके तो इस संवाद में मिल पायेगा लेकिन एक सयाने लेखक से कोई प्रत्यक्ष पुकार नहीं मिल पाती। यह वैद साहब की अपनी निजता है लेकिन किसी संवाद को पढ़ने के हमारे अपने प्रलोभन भी होते हैं।

अपनी भाषा में सर्वथा प्रयोग उन्मुख गद्यकार की जीवंत स्मृतियों को जानने के लिए तो यह किताब पढ़ी ही जा सकती है, इसे लम्बे और लगभग स्थायी प्रवासी लेखक की अपने देश, अपनी स्मृतियों, अपनी भाषा के प्रति निश्छल आतुर ललक को जानने के लिए भी पढ़ा जाना चाहिए।

प्रवास और प्रवास (कृष्ण बलदेव वैद से उदयन वाजपेयी का संवाद)
रज़ा पुस्तक माला, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष - २०१८, कीमत-१६६ रुपये

लिखने के ढंग में लेखन का रहस्य

मिथलेश शरण चौबे

'सारी मुहब्बत तो मुझे रूप (फॉर्म) से थी। मेरी दिलचस्पी इसमें नहीं थी कि उसमें सन्देश क्या है, या उसकी सामाजिक प्रासंगिकता क्या होनी चाहिए या लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता क्या होनी चाहिए।'

शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी

भाषाएँ, हर तरह की दीवारों में रोशनदान, खिड़कियाँ और दरवाज़े खोल देती हैं। साहित्य को रच रही भाषा का स्वप्न, हमेशा ही साहित्य को उसके होने के उदात्त का अनुभव कराना रहता होगा। कोई भाषा अपने औपचारिक बर्ताव को, निर्धारित पद्धतियों में आवृत्ति को, प्रचलित रूपाकारों में ही प्रकट होने की विवशता को कब तक बर्दाश्त कर सकती है। लेखकों के स्वप्न से ज़्यादा बड़े और अर्थगर्भी स्वप्न भाषा के होते होंगे। भाषा लेखक के ऊपर ही निर्भर नहीं होती लेकिन लेखक सिर्फ़ भाषा पर निर्भर होता है। भाषाएँ चाहती हैं कि उन्हें उनके तय प्रारूपों से भिन्न भी बरतने का जोखिम उठाया जाए। वे किन्हीं विधाओं में निरन्तर प्रतिकृत होने के अभिशाप के विरुद्ध भी कल्पना करती होंगी। उन्हें अपनी संरचना, अपने तिलिस्म, अपनी आवाजाही के अकल्पनीय का स्वप्न भी उद्वेलित करता होगा। उनके माध्यम से जिसे साहित्य रूप में रचा जाता है, उसके प्रति भी उनकी कोई आकांक्षा रहती होगी। हो सकता है, वे अपने को तरह-तरह से बरतने की सुघड़ता के बारे में सोचकर, बरतने वाले लेखक के प्रति आश्वस्त भी होती हों !

भाषा पर ही टिका हुआ लेखक, क्या भाषा के इन स्वप्नों के बारे में सोचता है ?

हम जो व्यक्त कर रहे हैं, वह उस भाषा की महती कृपा से कर पा रहे हैं जिसकी आकांक्षा को लेकर हमारे मन में अत्यल्प ही विचार आता है। लेखन एकतरफ़ा घटित नहीं हो सकता। लेखक अपने व्यक्त के लिए व्याकुल हो और जिसके सहारे उसकी व्याकुलता चरितार्थ हो सकेगी, उसे भूल जाए, सम्भव नहीं लगता। इस असम्भावित के लिए लेखन में अनुकरण की प्रक्रिया चलती रहती है। किसी को लेखक बनना है तो कुछ महान हो चुके लेखकों की पद्धति और विषय अनुरूप लिखने से भी यह काम आसानी-से हो जाएगा, यह चलन में है। सिर्फ़ विषय के चुनाव और किसी अनुकरण से लेखन कर्म पूर्ण नहीं हो सकता।

किसी भी रचना के लिए बाहर को जितना ज़्यादा जवाबदेह बनाया जाएगा, रचना उतनी ही बाहरी और बेगानी बनकर रह जायेगी। उसकी आन्तरिक शक्ति को पहचानकर, उसे रचना होता है। उसकी कला, उसके मूल्य, उसमें अन्तर्निहित सृजनात्मक आकांक्षा के माध्यम से ही उसके आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

उपन्यासकार का सफ़रनामा किताब उर्दू के मशहूर कथालेखक, आलोचक और सम्पादक शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी से समास सम्पादक के संवाद की निर्मिति है। फ़ारुक़ी साहब जैसा कि संवादी बताते हैं 'साहित्य में कलात्मक मूल्यों' को प्रतिष्ठित करने के विरल घटित अध्यवसाय में जीवन भर संलग्न रहे जबकि हमारा समय ग़ैर साहित्यिक मूल्यों के आरोपण और कतिपय काल्पनिक मूल्यों का पक्षधर बना रहा। आलोचना में बहुप्रचलित समाजशास्त्रीय पद्धति इसका साक्ष्य है।

छोटी उम्र में ही साहित्यिक दुनिया से सक्रिय रिश्ता फ़ारुक़ी साहब का बन पड़ा। आठवीं कक्षा में पढ़ते समय उन्होंने हस्तिखित 'गुलिस्तान' पत्रिका निकाली; ग्यारहवीं, बारहवीं कक्षा की पढ़ाई के दौरान कुछ कहानियाँ और एक उपन्यास लिखा। वे पढ़ते भी बहुत थे। उस दौर के लोकप्रिय लेखकों राजेन्द्र सिंह बेदी, इस्मत चुगतई, कृष्ण चन्दर और कुर्तुल हैदर को उन्होंने पढ़ा। कुछ पठित उपन्यासों के हवाले से उन्होंने अपनी पाठकीय निराशा के बारे में बताया है। दरअसल, ट्रेन टू पाकिस्तान, फूल सुर्ख हैं, पेशावर एक्सप्रेस, जब खेत जागे, और इंसान मर गया जैसे अफ़सानों को 'पढ़कर यह लग रहा है कि लेखक उसे खुद नहीं सह रहा है। वह तुम्हें बता रहा है कि देखो, यह हो गया। वह उस दर्द से इतना दूर है कि न तो वह उसमें शरीक है न वह जानता है कि शरीक होने वालों पर क्या गुज़र रही है।'

शेक्सपियर को पढ़कर फ़ारुक़ी साहब ने साहित्य की वास्तविक शक्ति को महसूस किया, उन्हें अपने लेखन का मार्ग समझ आया जो तरक्की पसन्दों और कट्टरपन से सर्वथा अलग था। इसीलिये शेक्सपियर को अपनी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी खोज उन्होंने माना है। थॉमस हार्डी को वे दूसरी बड़ी खोज बताते हैं: 'जिसने मेरे अन्तस को समृद्ध किया।'

साहित्य में कलात्मक मूल्यों की निरन्तर अल्पता को महसूस करते हुए उन्होंने अपनी आकांक्षा को चरितार्थ करते हुए 'शबखून' पत्रिका निकाली। यह उनके जीवन का एक साहित्यकार के रूप में अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी काम साबित हुआ। उनकी शख्सियत में शबखून के प्रकाशन की शै झलकती है। जिस दौर में पत्रिकाओं के प्रकाशन का एक पैटर्न ही चल रहा हो, कुछ उदार और नितान्त साहित्यिक मूल्यों पर आग्रह करती पत्रिका का निकालना दुष्कर कर्म है। आर्थिक चुनौतियाँ तो अलग ही हैं। फ़ारुक़ी साहब ने 'शहराज़ाद' नाम से न केवल अनुवाद किए बल्कि 'जावेद जमील' नाम से खुद ही कहानी और अन्य नामों से लेख वगैरह लिखकर पत्रिका का स्तर और अंक की समग्रता को कायम

रखा। शबखून के लिए उनकी पत्नी ज़मीला ने यदि आर्थिक उत्तरदायित्त्व का सहर्ष निर्वाह किया तो फ़ारुक़ी साहब ने अंक वांछित लेखन सामग्री का। फ़ारुक़ी साहब ने अपने नाम से जितना मूल्यवान लेखन किया, दूसरे नामों से, उससे कम नहीं। ऐसी पत्रिकाएँ दो-एक ही होती हैं जिनके निकालने की वजह गहरी कलात्मक-साहित्यिक हो और जिसके निकालने का उद्यम सम्पादक को अन्य नामों से वांछित लेखन कर पूर्ण करना पड़े। उनकी इस ज़िद और महत्त्वाकांक्षा ने उन्हें भरापूरा ही बनाया, इसीलिये वे कह पाते हैं: 'यह पत्रिका न होती तो फ़ारुक़ी साहब भी न होते।' इस पत्रिका की उल्लेखनीयता यह भी है कि इसका कोई विशेषांक नहीं निकला तथा कुछ मूल्यों के लिए यह सदा प्रतिबद्ध रही : 'लेखक को हमेशा अपने दिल की बात कहने की आज़ादी मिलना चाहिए, उसे किसी राजनैतिक कार्यक्रम का मातहत नहीं होना चाहिए, प्रयोगधर्मिता को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, लेखक पर ग़ैरलेखकीय ज़िम्मेदारी नहीं ठोकी जाना चाहिए।'

दूसरे नाम से लिखना केवल शबखून की विवशता ही नहीं थी। फ़ारुक़ी साहब ने गल्प की कला और उसके यकीन में आस्था को निरन्तरता देने के लिए, दूसरे नामों से अफ़साने लिखे। उन्होंने ग़ालिब के जीवन पर 'ग़ालिब अफ़साना' लिखा लेकिन उसे विश्वसनीय बनाने के लिए लेखक का नाम बेनी माधव रुसवा रखा जिसकी भाषा ग़ालिब के समय की पुरानी उर्दू रखी। अपनी कल्पना से ग़ालिब-रुसवा के संवाद और रुसवा के शेर लिखे। इस वक़्त के और भी पहले का किस्सा लिखने की कल्पना करने पर रुसवा को रुखसत कर उमर शेख मिर्ज़ा के नाम से 'आफ़ताबे ज़मीं' कहानी लिखी।

फ़ारुक़ी साहब का उपन्यास 'कई चाँद थे सरे आसमाँ' पिछले बीस-तीस बरस की हिन्दी-उर्दू के कथा लेखन की एक बड़ी उपलब्धि है। उपन्यास के एकदम नए रूपाकार, उसके समय का विस्तार, वर्णन का वैचित्र्य और कल्पना व इतिहास का रसोन्मुख मेल उसे न केवल विस्मयपूर्ण पठनीयता प्रदान करते हैं बल्कि एक भिन्न औपन्यासिक आस्वाद भी देते हैं। सलीम जाफ़र के कथात्मक अवदान और दाग़ की अम्मा, वज़ीर खानम के चरित्र के रहस्य को शायरी, प्रेम, जुनून, ज़िद के आवेग पर, काव्यात्मक भाषा से एक-एक कथा के सिलसिले को अन्य कथाओं के प्रस्ताव के मानिन्द जिस तरह अतीत और कल्पना में गोताखोरी के साथ प्रतिकृत किया है, वह औपन्यासिक रचाव की भव्यता है। वे खुद ही इस उपन्यास के बारे में बताते हैं : 'उपन्यास में मैंने इस थीम का प्रवेश कराया कि कला और ज़िन्दगी का परस्पर विनिमय है, कला जीवन बन सकती है, जीवन कला। जब ऐसा होता है, चमत्कार हो जाता है।'

उपन्यास को लेकर फ़ारुक़ी साहब के विचार मूलतः औपन्यासिक कला के बारे में ही हैं। उपन्यास में 'वर्णन' को वे अत्यंत ज़रूरी मानते हैं, 'कई चाँद थे सरे आसमाँ' इसका साक्ष्य है। फ़ारुक़ी साहब ने ए.एस. बायट के हवाले से वर्णनात्मकता को स्पष्ट किया है; वर्णन की शक्ति से ही पाठक

के मन में दृश्य चरितार्थ हो पाते हैं।

कुछ अप्रचलित अनोखी बातें भी इस संवाद से पता चलती हैं। मुसहफ़ी उस्ताद थे और आतश शागिर्द। आतश के लेखन तेवर से मुसहफ़ी इतने प्रभावित थे कि वे उसी रंग में लिखने लगे, उनका सातवाँ और आठवाँ दीवान इसका प्रमाण है। इसी तरह ग़ालिब और दाग़ के बारे में कुछ सूक्ष्म बातें भी इस संवाद में आती हैं जिनसे दाग़ की काबिलियत, ग़ालिब में अँग्रेज़ी राज के स्थायित्व की समझ का न होना तथा उनकी जानबूझकर की गई अनदेखी के साथ ही अकबर इलाहाबादी के हवाले से सामुदायिक जीवन में आए बदलाव भी बयाँ हैं। अमीर मीनाई द्वारा अपने नाई की दरयाफ्त पर यात्राओं के दौरान उसके लिए दीवान लिखना भी दिलचस्प किस्सा है जो रचनाशीलता, उदारता, दूसरे का सम्मान और मौलिकता जैसे अभिप्रायों को प्रकट करता है।

लेखन में सामाजिक प्रतिबद्धता की अपेक्षा के बरक्स फ़ारुक़ी साहब ज़ोज़ेफ ब्रोड्स्की की उक्ति पर आग्रह प्रकट करते हैं : 'लेखक की सबसे बड़ी सामाजिक ज़िम्मेदारी ये है कि वह अच्छा लिखे।' नए पुराने के द्वन्द्व को उन्होंने संकट नहीं माना, पुराने को नया नकारता नहीं है, नया पुराने के ऊपर टिप्पणी होता है। आलोचनात्मक उद्यम पर भी उनकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है : 'सब पर नहीं लिखा, जिस पर मन आया, लिखा। मैं किसी पर लिखने के लिए बाध्य नहीं हूँ।'

संवाद में प्रश्नों का काम पूछने के भाव से मुक्त होकर संवाद को नैरन्तर्य देना, हो जाता है।

इस किताब में संवाद की सम्पन्नता के ठीक बाद फ़ारुक़ी साहब का एक निबन्ध 'फ़िक्शन की सच्चाइयाँ' शामिल है। शीर्षक से ही यह भाव स्पष्ट है कि हमारे यहाँ फिक्शन अर्थात् उपन्यास या अफ़साना के अर्थ संशय पर अलग-अलग दृष्टियाँ मौजूद हैं। आम तौर पर किन्हीं आग्रहों के आधार पर उसे एकतरफ़ा परिभाषित कर दिया जाता है जैसे हक़ीक़त बयान, आदि। फ़ारुक़ी साहब ने किसी रचना के फ़िक्शन हो पाने की शर्त पर बहुत ठोस विचार दिया है। उनका मानना है कि फ़िक्शन हक़ीक़त के आधार पर नहीं लिखा जा सकता। इसे दूसरे शब्दों में झूठ पर आधारित भी कहा जा सकता है। हक़ीक़त होने का दावा करने वालों से उनका प्रश्न भी है : 'फिर ऐसी तहरीर को फ़िक्शन कहने का औचित्य क्या है ?' उनके विचार से फ़िक्शन कल्पना की निर्मिति है जिसमें अन्य तत्त्वों का समावेश सहायक तो हो सकता है लेकिन आधार नहीं हो सकता। उनका विचार है कि जो भी अफ़साने किसी ने गढ़े हैं, वे दरअसल हमारे ख्वाब हैं। बस होता इतना भर है कि अफ़सानानिगार हमें इस बात पर मजबूर करता है कि हम उसके वाकये को सच मानें।

फ़ारुक़ी साहब प्रेमचंद, इयन वाट और लूकाच जैसे लेखकों के हवाले से फ़िक्शन के पैगाम या मकसद को फ़िक्शन के लिए नुकसानदेह मानते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में फ़िक्शन एक तरह से फ़ैसला देने वाला बन जाता है जबकि उसका असली रचनात्मक उत्कर्ष यही हो सकना चाहिए कि उसे

पढ़ने वाला, अपने फ़ैसले खुद ले सके। रोज़मर्रा के घटित और फ़िक्शन में वर्णित की प्रभावोत्पादकता की तुलना करते हुए फ़ारुक़ी साहब ने फ़्लोबे के उपन्यास 'मादाम बोवरी' में मादाम बोवरी की खुदकुशी और मारिओ वार्गास लिओसा के उपन्यास 'द बेड गर्ल' में बुरी लड़की की उच्छृंखलता के हवाले से यह स्पष्ट किया है कि सामने घटित से ज़्यादा हम फ़िक्शन के घटित से अपना तादात्म्य स्थापित कर जाते हैं, उसे पढ़कर छटपटाते हैं।

फ़िक्शन के बारे में इस निबंध से कुछ बातें स्पष्ट हो पाती हैं : यह जानते हुए भी कि फ़िक्शन में जो पढ़ रहे हैं वह फ़र्ज़ी है, हम उसे हक़ीक़त मानते हैं। फ़िक्शन में घटित हमारे लिए अतीत नहीं होता, वह हर बार पढ़ते हुए नैरन्तर्य का बोध कराता है। अफ़सानानिगार अफ़साने के आंतरिक सौंदर्य का साधक होता है।

फ़ारुक़ी साहब के निजी जीवन के कुछ प्रसंगों और लेखन में उनके मार्ग तथा उसके निर्वाह के सतत अध्यवसाय से हमें साहित्य में मौलिक रास्ते का ज़िद भरा लेकिन आनन्दपूर्ण संघर्ष मिलता है। एक लेखक बनने का अपारंपरिक ढंग, अफ़साने के समय से उसकी भाषा के साम्य हेतु लेखक और भाषा को गढ़ने की कवायद, आलोचनात्मक उद्यम के निर्वाह में अफ़साने को स्थगित करने का नैतिक लेखकीय जोखिम तथा फ़िक्शन की मुकम्मल समझ देने के अर्थ में इस किताब को पढ़ा जाना चाहिए। फ़ारुक़ी साहब से हुए सम्वाद को पढ़कर, उन्हें और उनके लेखन को जानने की उत्सुकता ज़रूर पैदा हो सकेगी। दाग़ के एक शेर को उन्होंने ही उद्धृत किया है :

ऐ दाग़ उसी शोख़ के मज़मून भरे हैं
जिसने मेरे अशआर को देखा, उसे देखा।

उपन्यासकार का सफ़रनामा (शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी से उदयन वाजपेयी का संवाद)
रज़ा पुस्तक माला, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : २०१८ , कीमत : १६६ रुपये

लेखक परिचय

कुमार शहानी– भारत के महानतम् फ़िल्मकारों में गिने जाते हैं। सिनेमा पर गहरा विचार किया ळै। 'माया दर्पण', 'तरंग', 'कस्बा', 'भावान्तरण', 'चार अध्याय' इनकी प्रसिद्ध फ़िल्में हैं जो भारत और विश्व के सिनेमा में कालजयी कृतियाँ मानी जाती हैं। कुमार संसार के बड़े सिनेमा-अध्यापक के रूप में ही सहज स्वीकृत हैं। इनकी फ़िल्मों को राष्ट्रीय पुरस्कार समेत कई भारतीय और 'प्रिंस क्लाउस' समेत कई अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हैं। दिल्ली में रहते हैं।

जगदीश स्वामीनाथन – स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के देश के महानतम चित्रकार और चिन्तक। आधुनिक भारतीय चित्रकला को पारम्परिक लघुचित्रों और जनजातीय सृजनात्मकता से जोड़कर उसे ऊर्जस्वित किया। चित्र संसारभर के बड़े संग्रहालयों और जाने-माने चित्र संग्रहाकों के पास। चित्रकला की कई पीढ़ियों को प्रभावित किया है। भारत भवन, भोपाल के रूपंकर संग्रहालय के संकल्पक और स्थापक निदेशक। १९९४ में दिल्ली में हृदयाघात से मृत्यु।

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी – हमारे समय के महान लेखक। १९६६ से 'शबख़ून' पत्रिका का सम्पादन और लगभग उसी वक़्त उर्दू में आलोचना लेखन आरम्भ। उनकी 'लफ़्ज़ ओ मानी', 'शेर ग़ैर शेर और नस्र', 'इस्बात ओ नफ़ी', 'तनक़ीदी अफ़कार' आधुनिक आलोचना की और 'तफ़हीमे-ग़ालिब' तथा 'शेर ए शोर अंगेज़' उर्दू की क्लासिकी शाइरी पर बेहतरीन किताबें। कहानी संग्रह 'सवार और दूसरी कहानियाँ', 'कई चाँद थे सरे आसमाँ' उपन्यास प्रकाशित। इसके बाद एक और उपन्यास 'कब्ज़े ज़माँ' छपा। राजकमल प्रकाशन से हाल में रज़ा पुस्तक माला के तहत फ़ारूक़ी साहब से बातचीत की किताब 'उपन्यासकार का सफ़र' शाया हुई है। 'कब्ज़े ज़माँ' का हिन्दी में लिप्यान्तर शीघ्र ही राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित होने जा रहा है। आप इलाहाबाद में रहते हैं।

वागीश शुक्ल – हिन्दी के गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक। समास के नियमित लेखक। इनकी दो पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं जिसके कुछ अंश समास- छः और पन्द्रह में प्रकाशित हुए हैं। इन दिनों बस्ती (उ.प्र.) में रहते हैं।

अशोक वाजपेयी – हिन्दी के मूर्धन्य कवि, व्याख्याता, अनुवादक और निबन्धकार-आलोचक। दो दर्जन से अधिक कविता संग्रह और आलोचना ग्रन्थ प्रकाशित जिनमें 'यहीं-कहीं-वहीं', 'दुःख एक चिट्ठी रसा है', 'तिनका-तिनका' और 'इस नक्षत्रहीन समय में' कविता संग्रह और 'फिलहाल' आदि प्रमुख आलोचना संग्रह हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के रबीन्द्रनाथ टैगोर के बाद सबसे महत्वपूर्ण कला संस्थाओं के आकल्पक और निर्माता। 'भारत भवन' आदि अनेक संस्थाओं के स्थपति। 'पूर्वग्रह', 'बहुवचन' जैसी अनेक विचारोत्तेजक साहित्यिक-कला पत्रिकाओं के संस्थापक-सम्पादक। कविताओं और अन्य लेखन का बीस से अधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं।

ख़ालिद जावेद – बरेली में कई साल तक दर्शन शास्त्र पढ़ाते रहे। फिर उर्दू में एम.ए., पीएच.डी. और इन दिनों जामिया मिल्लिया इस्लामिया में उर्दू के प्रोफेसर हैं। ख़ालिद जावेद के दो कहानी संग्रह 'बुरे मौसम में' और 'आख़िरी दावत' तथा दो उपन्यास 'मौत की क़िताब' और 'नेमक ख़ाना' प्रकाशित हैं।

मदन सोनी – हिन्दी के प्रख्यात आलोचक और अनुवादक। 'कविता का व्योम और व्योम की कविता,' 'विषयान्तर' तथा निर्मल वर्मा पर 'कथापुरुष' पुस्तकें। बर्टोल्ट ब्रेख़्त और कालिदास के नाटकों के बुन्देली में अनुवाद। हर्मन हेस के उपन्यास 'सिद्धार्थ' और उम्बर्टो इको के उपन्यास 'द नेम ऑफ़ द रोज़' के हिन्दी अनुवाद 'ख़ाली नाम गुलाब का' प्रकाशित हुए हैं। इन दिनों पुणे में रहते हैं।

ध्रुव शुक्ल – हिन्दी के कवि, कथाकार, उपन्यासकार और टिप्पणीकार। ध्रुव के कई कविता संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी' और 'एक बूँद का बादल' प्रमुख हैं। इनके दो उपन्यास प्रकाशित। कहानी संग्रह 'हिचकी', सामयिक विषयों पर टिप्पणियों का संग्रह, 'एक नागरिक की डायरी', महात्मा गाँधी की प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिन्द स्वराज' पर केन्द्रित सुदीर्घ निबन्ध, 'पूज्य पिता के सहज सत्य' आदि प्रकाशित हुए हैं। ध्रुव को अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए है। हिन्दी साहित्य की पत्रिका, 'पूर्वग्रह' में सम्पादन सहयोग और 'साक्षात्कार' का सम्पादन किया है। आप भोपाल में रहते हैं और ध र्मपाल शोध संस्थान के निदेशक हैं।

अखिलेश – अपनी पीढ़ी के जाने-माने चित्रकार। चित्रकला पर हिन्दी में लेखन। कई किताबें और अनुवाद प्रकाशित। जगदीश स्वामीनाथन के सान्निध्य में भारत भवन, भोपाल में कई वर्षों काम किया है। इन दिनों स्वतन्त्र चित्रकार हैं और कलाओं आदि पर लेखन करते हैं। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ संगीत एवं कला अकादमी, भोपाल के निदेशक हैं और भोपाल में रहते हैं।

मिथिलेशशरण चौबे – हिन्दी के युवा कवि और आलोचक। कुँवर नारायण पर आलोचना पुस्तक 'कुँवर नारायण का रचना संसार' प्रकाशित और कविता संग्रह 'लौटने के लिए जाना' प्रकाशित हैं। आपको 'मीरा सम्मान' और 'रमेश दत्त दुबे युवा रचनाकार सम्मान' मिले हैं। कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और लेख प्रकाशित हुए हैं। 'समास' में सम्पादन सहयोग भी किया हैं।

रामशंकर द्विवेदी – अनुवादक और समीक्षक। बांग्ला की श्रेष्ठ कृतियों का ४५ वर्षों से बांग्ला से हिन्दी

में निरन्तर अनुवाद। रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के सौन्दर्य बोध पर 'साहित्य और सौन्दर्य बोध' पुस्तक प्रकाशित। समास के पिछले कुछ अंकों में आपके किये अनुराधा महापात्र, जीवनानन्द दास आदि के कई अनुवाद प्रकाशित। महाश्वेता देवी के उपन्यास 'झाँसी की रानी', सुनील गंगोपाध्याय की आत्मकथा 'अधूरा सफ़र' आदि के अनुवाद प्रकाशित। उरई (उ.प्र.) में रहते हैं।

जयश्री पुरवार – बांग्ला से हिन्दी की अनुवादिका। शंख घोष, जय गोस्वामी आदि महत्वपूर्ण बांग्ला कवियों की कविताओं की पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित। हाल ही में बांग्ला कवि अनुराधा महापात्र की कविताओं के किये हिन्दी अनुवाद 'गोधुलि गगन में' प्रकाशित।

शिरीष ढोबले – हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और कहानीकार। दो कविता संग्रह 'उच्चारण' और 'पर यह तो विरह' प्रकाशित हुए हैं। कविताओं के अनुवाद कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में हुए हैं। रज़ा पुरस्कार, कथा पुरस्कार, अशोक वाजपेयी पुरस्कार, भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार आदि से विभूषित। इन दिनों उदयपुर के प्रसिद्ध चिकित्सा महाविद्यालय में हृदय की शल्यचिकित्सा विभाग की स्थापना के कार्य में संलग्न हैं। उदयपुर और इन्दौर में रहते हैं।

देवेश राय – हमारे समय के श्रेष्ठ बांग्ला उपन्यासकार। वे आधुनिक समय के सबसे आधुनिक गल्प लेखक कहे जाते हैं। उपन्यास लिखते हुए उन्होंने विशिष्ट प्रकार के गद्यस्थापत्य की रचना की है।

मनोज कुमार झा – कविता की एक पुस्तिका 'हम तक विचार' तथा दो कविता संग्रह 'तथापि जीवन' एवं 'कदाचित अपूर्ण' प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख और समकालीन चिंतकों एवं दार्शनिकों के अनुवादों का नियमित प्रकाशन। भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार (२००६) एवं भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता के युवा पुरस्कार (२०१५) एवं अन्य पुरस्कारों से सम्मानित।

अरुण देव – युवा कवि और आलोचक। 'क्या तो समय', कविता संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ से १९९३ में और 'कोई तो जगह हो', कविता संग्रह राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित। 'कोई तो जगह हो' के लिए राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीय सम्मान। नेपाली, मराठी, बांग्ला, असमिया, कन्नड़, अंग्रेजी आदि भाषाओं में कविताओं के अनुवाद और कुछ लेख प्रकाशित। नौ वर्षों से हिन्दी की चर्चित वेब पत्रिका 'समालोचन' का संपादन।

अनुराधा महापात्र – बांग्ला भाषा की अनोखी कवि और गद्य लेखिका। अनेक कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं और कविताओं का कई भारतीय विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। कोलकाता में रहती हैं और स्वतन्त्र लेखन करती हैं।

सुफ़ी तबस्सुम – उर्दू के महान नज़्म लेखक। प्रसिद्ध किताब 'टूट बटूट' अनेक भाषाओं में अनुदित हुई हैं और बच्चों की कविताओं के मील का पत्थर है।

शुन्तारो तानीकावा – जापान के श्रेष्ठ कवियों में एक। क़रीब पचास कविता संग्रह प्रकाशित हैं।

जापान और अन्य देशों में अत्यन्त लोकप्रिय और साथ ही बेहद प्रयोगधर्मी लेखक। कविताओं के अनुवाद दुनियाभर की साठ से अधिक भाषाओं में हो चुके हैं। टोकियो में रहते हैं।

शशिकान्त अनन्ताचारी – सृजनशील फ़िल्मकार, लोकनाट्य और लोककला परम्पराओं में गहरी रुचि। पुणे के भारतीय फ़िल्म और टेलीविजन संस्थान से डिप्लोमा किया है। तमिलनाडु की लोकनाट्य परम्पराओं पर कई डॉक्युमैन्टिरी फ़िल्में बनायी हैं। चेन्नई में रहते हैं।

योगेश प्रताप शेखर – दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया (बिहार) में हिन्दी पढ़ाते हैं। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में गहरी रुचि है। 'आलोचना', 'वाक्', 'तद्भव' आदि पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित हैं। 'हिन्दी के रचनाकार आलोचक' नामक पुस्तक भी प्रकाशित। अभी आदिकालीन साहित्य पर काम कर रहे हैं।

जेम्स डब्ल्यू. डॅगलस – अमेरिका के प्रसिद्ध शान्तिवादी लेखक और कार्यकर्त्ता। महात्मा गाँधी से बहुत प्रभावित। जे.एफ. कैनेडी और महात्मा गाँधी की हत्याओं पर शोधपरक पुस्तकों के लेखक। गाँधी की हत्या पर पुस्तक 'अकथनीय गाँधी' (Unspeakable Gandhi) हाल ही में अँग्रेज़ी में प्रकाशित हुई है। अमेरिका में रहते हैं।

विकास कपूर – जोधपुर के जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग कॉलेज के वरिष्ठ शिक्षक। समर्पित रंगकर्मी। साहित्य और सिनेमा में गहरी रुचि।

गिरधर राठी – हिन्दी के वरिष्ठ कवि, अनुवादक और निबन्धकार। लम्बे समय तक राष्ट्रीय साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली की पत्रिका 'समकालीन साहित्य' का सम्पादन करते रहे हैं।

रघुवीर चौधरी – गुजराती भाषा के जाने-माने कवि और आलोचक।

चेतना ज्योतिषी ब्योहार – कथक नर्तकी और संगीतज्ञ। कथक-केन्द्र, नयी दिल्ली की निदेशक रही हैं।

संगीता गुन्देचा – कवि, कथाकार, निबन्धकार, अनुवादक और नाट्यशास्त्र-विशेषज्ञ। 'एकान्त का मानचित्र' 'नाट्यदर्शन', 'उदाहरण काव्य' (मम्मट के काव्यप्रकाश में उद्धृत प्राकृत-संस्कृत कविताओं के हिन्दी अनुवाद), 'मटमैली स्मृति में प्रशान्त समुद्र', 'कावालम नारायण पणिक्कर : परम्परा एवं समकालीनता', 'भास का रंगमंच', 'समकालीन रंगकर्म में नाट्यशास्त्र की उपस्थिति' प्रकाशित। भारत सरकार के संस्कृति मन्त्रालय की साहित्य की कनिष्ठ अध्येतावृत्ति। उच्च अध्ययन केन्द्र नान्त (फ्राँस) की अध्येतावृत्ति। इन दिनों मालवी उपन्यास पर कार्य एवं कला, साहित्य और सभ्यता पर केन्द्रित पत्रिका 'समास' (रज़ा फाउण्डेशन, नयी दिल्ली) में सहयोग और राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, भोपाल में सहायक आचार्या।

ISSN-2394-2355

समास १७

समास-१६

प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय

जगदीश स्वामीनाथन

कुमार शहानी

शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी

अशोक वाजपेयी

देवेश राय

वागीश शुक्ल

सूफ़ी तबस्सुम

शुन्तारो तानीकावा

जेम्स डब्ल्यू. डॅगलस

ध्रुव शुक्ल

ख़ालिद जावेद

शिरीष ढोबले

अनुराधा महापात्र

शशिकान्त अनन्ताचारी

गिरधर राठी

रघुवीर चौधरी

अरुण देव

मनोज कुमार झा

चेतना ज्योतिषी ब्योहार

मिथिलेशशरण चौबे

विकास कपूर

योगेश प्रताप शेखर

समास, प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी द्वारा द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३६, सफदरजंग डेवलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित। मुद्रक : भण्डारी ऑफसेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.) सम्पादक : उदयन वाजपेयी
Samas, A literary Quarterly Magazine, Language : Hindi, Published by Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation, C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016 Edited by Udayan Vajpeyi.